श्रीउदयनग्रन्थावलिः

(प्रथमो भागः)



१) आत्मतत्त्वविवेकः
२) न्यायपरिशिष्टम्
३) लक्षणमाला

उदयनाचार्यप्रणीतः

आत्मतत्त्वविवेकः

(शङ्करमिश्रकृतकल्पलताव्याख्योपेतः)

(१)

सम्पादकः

किशोरनाथ झा

पूर्व प्रवाचकः

प्रयागस्थ–गङ्गानाथझा–केन्द्रीय–संस्कृत–विद्यापीठस्य

श्रीवल्लभविद्यापीठ श्रीविट्ठलेशप्रभुचरण आ०हो० ट्रस्ट
वैभव को-औपरेटिव्ह सोसाइटी, पूना बेंगलोर रोड,
कोल्हापुर, महाराष्ट्र- ४१६००८
के सम्पूर्ण अनुदान से प्रकाशित

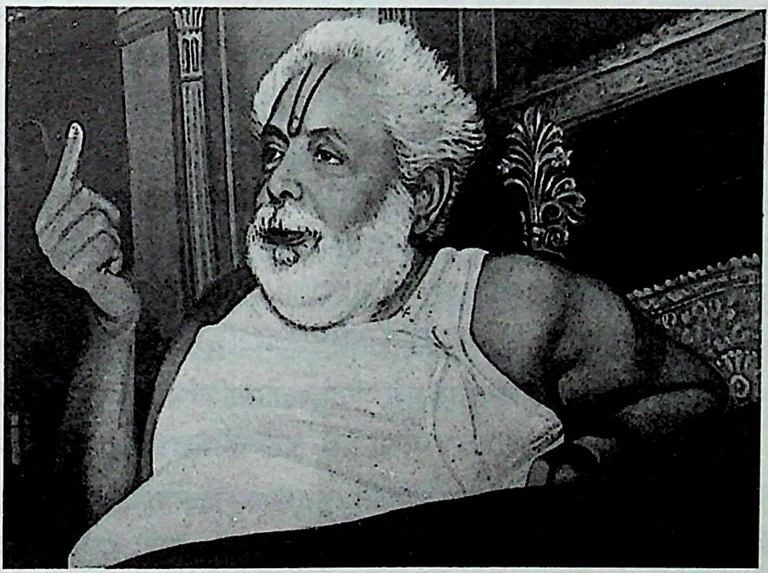
प्रकाशक :
किशोरनाथ झा
ग्रा० बिट्ठो, पो० सरिसब-पाही
जि० मधुबनी - ८४७४२४ (बिहार)
१००० प्रतियाँ (२००८ ई०)

मुद्रक : रमा आर्ट्स,
४, चुनावाला इन्डस्ट्रिअल् एस्टेट्,
कोंडिविटा, अंधेरी (पूर्व),
मुंबई : ४०० ०५९.

मूल्य -

टाइप सेटिङ -
एकेडेमी प्रेस, दारागञ्ज, इलाहाबाद २११००६

समर्पणम्



स्वाराज्यलब्धपदवल्लभसम्प्रदाय-
सद्दीक्षिताय विमलाय यशःसिताय।
गोस्वामिदीक्षितबुधाय समर्पितैषा
वेदान्ततत्त्वविदुषे महते कृतिर्मे।।

ग्रन्थसम्पादकः किशोरनाथः

आत्मतत्त्वविवेक की भूमिका

भारतीय ज्ञानों की निधि *वेद* में सांसारिकबन्धनों से मुक्ति हेतु उसके उपायरूप में आत्मदर्शन की बात कही गयी है। *बृहदारण्यक उपनिषद* में स्पष्ट उक्त है कि आत्मा का दर्शन, श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन करना चाहिये। **'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः मैत्रेय्यात्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या वा विज्ञानेनेदं सर्वं विज्ञातं भवति'** ४।२।५।१। शंकर भगवत्पाद ने इसकी व्याख्या (भाष्य) में कहा है कि पहले आचार्य मुख से आगमोक्त आत्मा का श्रवण करना चाहिये पश्चात् तर्क से उसका मनन करना चाहिये। **'श्रोतव्यः पूर्वमाचार्यत आगमतश्च पश्चान्मन्तव्यस्तर्कतः'**।

श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्यो मन्तव्यश्चोपपत्तिभिः।
मत्वा च सततं ध्येय एते दर्शनहेतवः।।

अभियुक्त के इस वचन का भी यही स्वारस्य प्रतीत होता है। उपपत्ति या तर्क के द्वारा आत्मा का मनन *न्यायशास्त्र* से ही संभव है। अतः आत्मदर्शन के साधन मननस्वरूप उपासना के सम्पादन हेतु *न्यायशास्त्र* का आविर्भाव हुआ होगा।

'श्रवणम् अनु ईक्षा दर्शनम् अन्वीक्षा' इस व्युत्पत्ति के अनुसार श्रवण के पश्चात् दर्शन अर्थात् शास्त्र के अनुमत रीति से अनुमान करना ही 'अन्वीक्षा' पद का अर्थ होता है। इसकी प्रक्रिया का सम्पादक शास्त्र 'आन्वीक्षिकी' कहलाता है। *न्यायभाष्य* में उक्त है – **'प्रत्यक्षागमाभ्यामीक्षितस्यान्वीक्षणमन्वीक्षा तया प्रवर्तते इत्यान्वीक्षिकी न्यायविद्या न्यायशास्त्रम्'** (१।१।१)।

इस *आन्वीक्षिकी* का अपना वैशिष्ट्य है, जो अन्य शास्त्रों से इसको अलग करता है। यह अध्यात्म शास्त्र होकर भी अन्य शास्त्रों के परिज्ञान हेतु प्रक्रिया का निर्देश करता है। अतएव शास्त्रान्तर के परिज्ञान हेतु प्रदीप की तरह

यह उपकारक होता है।

यहाँ यह आशंका नहीं होनी चाहिये कि अभ्युदय और निःश्रेयसके अर्थात् ऐहिक उत्कर्ष तथा मोक्ष के उपयोगी विषय का परिज्ञान तो प्रमाण तथा प्रमेय के विवेचन से ही संभव है पुनः उनसे भिन्न संशय आदि चौदह पदार्थों का विचार यहाँ क्यों किया गया है।

न्यायभाष्यकार ने स्पष्ट कहा है कि *उपनिषद्* आदि विद्या की तरह यह केवल अध्यात्म विद्या ही नहीं है अपितु उनसे यह भिन्न है – इसको समझाने के लिए ही यहाँ (न्यायदर्शन में) संशय आदि पदार्थों का विवेचन हुआ है। अतएव वेद, *वार्ताशास्त्र* (कुसीद, कृषि तथा वाणिज्य का बोधक शास्त्र) तथा *राजनीतिशास्त्र* से भिन्न चौथी विद्या के रूप में यह स्वतन्त्र *न्यायशास्त्र* मान्य है। '**इमास्तु चतस्रो विद्याः पृथक् प्रस्थानाः प्राणभृतामनुग्रहायोपदिश्यन्ते। यासां चतुर्थीयमान्वीक्षिकी न्यायविद्या तस्याः पृथक् प्रस्थानाः संशयादयः पदार्थाः, येषां पृथग्वचनमन्तरेणाध्यात्मविद्यामात्रमियं स्यात् यथोपनिषदः। तस्मात् अस्याः आन्वीक्षिक्याः असाधारणाः प्रतिपाद्याः संशयादयः निग्रहस्थानान्ताः चतुर्दश पदार्थाः, ये खलु नान्येषु शास्त्रेषु विवेचनाय परिगृहीताः विद्यन्ते**' (१।१।१।)।

विवेच्य विषय तथा विवेचना की सरणि के भेद से शास्त्र में भेद होता रहा है। दोनों ही दृष्टियों से अन्य शास्त्रों की अपेक्षा यह *आन्वीक्षिकी* न्याय विद्या भिन्न है। अतः मोक्षशास्त्र या अध्यात्मविद्या होकर भी यह शास्त्र अन्यशास्त्रों के परिज्ञान में सहायक होने से *प्रक्रियाशास्त्र* (मैथोडोलौजी) के रूप में प्रसिद्ध है। कौटिल्य ने *अर्थशास्त्र* के विद्यारंभ प्रकरण मे इसको सभी विद्याओं का प्रदीप, सभी कर्मों का उपाय तथा सभी धर्मों का आश्रय कहा है –

प्रदीपः सर्वविद्यानामुपायः सर्वकर्मणाम्।

आश्रयः सर्वधर्माणां शश्वदान्वीक्षिकी मता।।

यहाँ विवेच्य के रूप में प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति तथा निग्रहस्थान रूप सोलह पदार्थों का परिग्रह हुआ है। यद्यपि नैयायिक अनियत पदार्थवादी कहे जाते हैं। इनकी दृष्टि में पदार्थों की इयत्ता का अवधारण नहीं है।

तथापि इन पदार्थों के तत्त्वज्ञान होने से अपवर्ग की सिद्धि अवश्य होती है। अतः इन सोलह पदार्थों का यहाँ विवेच्य के रूप मे परिग्रह हुआ है।

यहाँ विवेचना की सरणि भी पृथक् है। पहले पदार्थों का नाममात्र से कथन अर्थात् उद्देश होता है। पुनश्च उन पदार्थों का स्वरूप परिचायक लक्षण और प्रभेद प्रस्तुत किया जाता है। इसके पश्चात् इस पदार्थ का यह लक्षण संगत है या नहीं – इसकी परीक्षा की जाती है। इस प्रक्रिया से पदार्थों का तत्त्वज्ञान होता है। न्यायभाष्यकार ने इसी ओर संकेत करते हुए कहा है – **'त्रिविधा चास्य शास्त्रस्य प्रवृत्तिरुद्देशो लक्षणं परीक्षा चेति'**। इस तरह शास्त्रान्तर से विवेच्य का भेद तथा विचार की स्वतन्त्र–सरणि इस शास्त्र की स्वतन्त्र महत्ता सिद्ध करती है।

प्रतिपादन के समय जितना कहने से उस प्रतिपाद्य का स्पष्ट परिज्ञान हो जाये, उतना अवश्य कहने का निर्देश यहाँ आचार्य उदयन ने *न्याय कुसुमाञ्जलि* के उपक्रम में स्पष्ट किया है – **'यावदुक्तोपपन्न इति नैयायिकाः'**। *न्यायभाष्य* में भी यह बात आयी है। न्याय के स्वरूप के परिचय में उक्त है – जितना कहने से साधनीय अर्थ की सिद्धि हो, उसके लिए प्रतिज्ञा आदि पाँच अवयव यहाँ निर्दिष्ट हैं। उन कथनों के समूह की अपेक्षा से ये अवयव कहलाते हैं, जो परम न्याय अर्थात् अनुमान के अंग होते हैं। **'साधनीयस्यार्थस्य यावति शब्दसमूहे सिद्धिः परिसमाप्यते तस्य पञ्चावयवाः प्रतिज्ञादयः समूहमपेक्ष्यावयवा उच्यन्ते। सोऽयं परमो न्यायः'**।१।१।१।

इस न्यायविद्या की उत्पत्ति कब और कहाँ हुई – इस जिज्ञासा के समाधान में जयन्तभट्ट ने *न्यायमञ्जरी* में कहा है कि सृष्टि के आरम्भ से ही वेद की तरह ये विद्याएँ भी ईश्वर का अनुग्रह–दान स्वरूप आविर्भूत हुईं। संक्षेप तथा विस्तार से उपपादन करने की दृष्टि से भिन्न भिन्न शास्त्रों के भिन्न भिन्न कर्ता माने जाने लगे। **'सृष्टेरारम्भादेवार्थात् आदिसर्गात् प्रभृति वेदवदिमाः विद्याः प्रवृत्ताः संक्षेपविस्तरविवक्षया तु तांस्तान् कर्तॄन् आचक्षते'**। (पृष्ठ ५) विचार करने पर यह बात संगत प्रतीत होती है।

विभिन्न प्राचीन ग्रन्थों में इसके उद्धरण वचनों से इसकी प्राचीनता, महत्ता तथा प्रचार की दृष्टि से व्यापकता प्रतीत होती है। *ऋग्वेद* के अस्य वामीय

सूक्त में तथा *ब्राह्मण* ग्रन्थों में इस शास्त्र के अनुकूल पदार्थ-विवेचन उपलब्ध है। *उपनिषद्* में तत्त्वज्ञान के विचार के समय युक्तिवाद का विस्तार से व्यवहार हुआ है। *रामायण, महाभारत, श्रीमद्भागवत* तथा *मनुस्मृति* आदि में इस शास्त्र का उल्लेख तथा उपयोग के निर्देश से इसका माहात्म्य उपपन्न होता है।

छान्दोग्य उपनिषद के नारद-सनत्कुमार संवाद में विद्या का विवरण देते हुए वाकोवाक्य पद का उल्लेख हुआ है। **शंकर भगवत्पाद** ने उस पद से न्याय विद्या का ग्रहण किया है। *सुबालोपनिषद्* का द्वितीय खण्ड **जयन्तभट्ट** के उपर्युक्त मत को पुष्ट करता है। वहाँ *वेद* आदि विद्या के साथ *न्याय* का उल्लेख हुआ है – **'तस्यैतस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमिवैतदृग्वेदो यजुर्वेदः ... न्यायो मीमांसा धर्मशास्त्राणि'** इति। *गौतम धर्मसूत्र* राजा को *वेद* तथा *आन्वीक्षिकी* में कौशल हासिल करने का उपदेश देता है –

राजा सर्वस्येष्टे ब्राह्मणवर्जं साधुकारी स्यात्।

साधुवादी त्रय्यामान्वीक्षिक्यां चाभिविनीतः।। अध्याय ११।

बाल्मीकि रामायण के अरण्यकाण्ड तथा उत्तरकाण्ड में *आन्वीक्षिकी* विद्या का उल्लेख हुआ है –

हेतूपचारकुशलान् हैतुकाँश्च बहुश्रुतान्। उत्तरकाण्ड ७।९४।८।

महाभारत के शान्तिपर्व में उक्त है –

त्रयी चान्वीक्षिकी चैव वार्ता च भरतर्षभ।

दण्डनीतिश्च विपुला विद्यास्तत्र निदर्शिताः।। ५९।२१।३३।

श्रीमद्भागवत के तृतीय स्कन्ध में उक्त है –

आन्वीक्षिकी त्रयी वार्ता दण्डनीतिस्तथैव च।

एवं व्याहृतयश्चासन् प्रणवो ह्यस्य दह्रतः।।१२।४४।।

पुनः इसके दशम स्कन्ध में उक्त है –

सरहस्यं धनुर्वेदं धर्मान् न्यायपथांस्तथा।

तथा चान्वीक्षिकीं विद्यां राजनीतिञ्च षड्विधाम्।। (८५।३८)

मनुस्मृति तथा *याज्ञवल्क्य* स्मृति कहती है –

त्रैविद्येभ्यस्त्रयीं विद्याद् दण्डनीतिञ्च शाश्वतीम्।

आन्वीक्षिकीञ्चात्मविद्यां वार्तारम्भांश्च लोकतः।। (मनु०-७।४३।)

पुराणन्यायमीमांसाधर्मशास्त्राङ्गमिश्रिताः।

वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश।। (याज्ञ०१।३।)

विष्णुधर्मोत्तरपुराण मे भी इन चतुर्दश विद्याओं का परिगणन *याज्ञवल्क्य स्मृति* की तरह हुआ है –

अङ्गानि वेदाश्चत्वारो मीमांसा न्यायविस्तरः।
पुराणं धर्मशास्त्रं च विद्या ह्येताश्चतुर्दश।। ३ ख०५ अ०।

म०म० सतीशचन्द्र विद्याभूषण ने *हिस्ट्री औफ इण्डियन लौजिक* में लिखा है कि एक समय था जब अफगानिस्तान में भी इस शास्त्र का प्रचार प्रसार होता रहा। अतएव खुर्दा अवेस्ता में इस *गौतमीय न्याय* का उल्लेख उपलब्ध है। पूर्व में वर्मादेश तक इसका अध्ययन-अध्यापन होता रहा। अतएव वर्मी लिपि में नव्यन्याय के ग्रन्थ मिलते हैं – (भारत सरकार के शिक्षामन्त्रालय द्वारा प्रकाशित और महामहिम सर्वपल्ली राधाकृष्णन् द्वारा सम्पादित *पूर्व पश्चिम दर्शन के इतिहास* मे नैयायिक विभूति भूषण भट्टाचार्य के निबन्ध में यह बात कही गयी है। उत्तर में चीन देश तक इसका प्रचार रहा है। क्योंकि इस शास्त्र का प्रतिपक्षी बौद्ध दार्शनिकों ने उन देशों में अधिक समृद्धि लाभ की है।

यद्यपि प्राचीन, महत्त्वपूर्ण तथा व्यापक होने पर भी इस शास्त्र की निन्दा भी इन्हीं ग्रन्थों में – अर्थात् *रामायण- महाभारत* तथा *मनुस्मृति* आदि में उपलब्ध है। यथा *रामायण* के अरण्यकाण्ड में उक्त है कि कुछ लोकायतिक ऐसे भी हैं, जो केवल अनर्थ के साधन में लगे रहते हैं तथा अपने को पण्डित मानते हैं धर्मशास्त्र के रहने पर भी आन्वीक्षिकी की बुद्धि पाकर गर्व से बोलते हैं।

कच्चित् लोकायतिकान् ब्राह्मणांस्तात सेवसे।

अनर्थकुशला ह्येते बाला पण्डितमानिनः।।

धर्मशास्त्रेषु मुख्येषु विद्यमानेषु दुर्वुधाः।

बुद्धिमान्वीक्षिकीं प्राप्य निगर्वं प्रवदन्ति ते।।

(१००।३८-३९। अरण्यकाण्ड)

महाभारत में उक्त है कि अपने को पण्डित मानने वाले वेदनिन्दक ब्राह्मण अनर्थक आन्वीक्षिकी रूप तर्क विद्या में अनुरक्त रहते हैं –

भवेत्पण्डितमानी च ब्राह्मणो वेदनिन्दकः।
आन्वीक्षिकीं तर्कविद्यामनुरक्तो निरर्थिकाम्।। (अनुशासनपर्व ३७।१२)

मनुस्मृति का कथन है – जो व्यक्ति *हेतुशास्त्र* (न्यायविद्या) का अवलम्बन कर वेद तथा *स्मृति* की निन्दा करता है उसका समाज से बहिष्कार करना चाहिये। वह नास्तिक तथा वेदका निन्दक है –

योऽवमन्येत ते मूले हेतुशास्त्राश्रयाद् द्विजः।
स साधुभिर्बहिष्कार्यो नास्तिको वेदनिन्दकः।। २।११।

तथापि यहाँ विचार अपेक्षित है। *मनुस्मृति* के उपसंहाराध्याय में उक्त है कि ऋषियों के द्वारा किया गया धर्म का उपदेश *वेद* एवं *शास्त्र* के अविरोधी तर्कों से जो अनुसन्धान करता है वह धर्म को समझता है, अन्य नहीं।

आर्षं धर्मोपदेशं च वेदशास्त्राविरोधिना।
यस्तर्केणानुसन्धत्ते स धर्मं वेद नेतरः।। (मनु० १२ अ०)

महाभारत कहता है कि अनेक वादियों के द्वारा उक्त *न्यायशास्त्र* अनेक हैं। किन्तु उनमें से उसी का ग्रहण करना चाहिये, जो हेतु (सत्तर्क), आगम तथा सदाचार से युक्त हों।

न्यायतन्त्राण्यनेकानि तैस्तैरुक्तानि वादिभिः।
हेत्वागमसदाचारैर्यद्युक्तं तत्प्रगृह्यताम्।। (शान्तिपर्व २१०।२२।)

इससे सिद्ध होता है कि केवल शुष्क तर्क करने की निन्दा की गयी है। वह हेय एवं अनाश्रयणीय है तथा हेतु, आगम तथा सदाचार से संवलित तर्क उपादेय तथा अवलम्बनीय है। प्राचीन काल में दो परम्परा न्यायशास्त्र की रही होगी, जिसका संकेत *महाभारत* के उपर्युक्त श्लोक में उपलब्ध होता है। प्रतीत होता है कि इसी दोष से रक्षा हेतु न्यायभाष्यकार स्पष्ट कहते हैं – **'प्रत्यक्षागमाभ्यामीक्षितस्यान्वीक्षणमन्वीक्षा तया प्रवर्तते इत्यान्वीक्षिकी'**

फलतः *वेदानुगामिनी न्याय विद्या* उपादेय है और केवल तर्क करनेवाली *न्याय विद्या* हेय है। दूसरी *तर्क विद्या* में शास्त्र की प्रक्रिया तो अपनायी गयी किन्तु उसका आन्तरिक अभिप्राय प्रकट नहीं हो पाया, अतएव निन्दा की पात्र हुई। पहली विद्या प्रशंसित होकर व्यवहार में मान्य हुई। *वेदान्त दर्शन* में **'तर्काप्रतिष्ठानात्'(२।१।११।)** इस सूत्रसे इसी शुष्क तर्कविद्या का खण्डन किया गया है और वेदानुगामिनी तर्क विद्या का अनुमत न्यायसूत्र **'दुःखजन्म-प्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः (१।१।२।)** अपने मत की पुष्टि हेतु **शंकर भगवत्पाद** द्वारा *वेदान्तसूत्र के भाष्य* में उल्लिखित हुआ है। इससे *न्याय शास्त्र* के प्रति *वेदान्त* भाष्यकार की निष्ठा ही प्रतीत होती है।

इस विद्या के आदि प्रवर्तक **महर्षि गोतम** माने जाते हैं। इन्हीं का दूसरा नाम **अक्षपाद** है। इन्होंने पाँच अध्यायों में *न्यायसूत्रों* का प्रणयन कर इस आन्वीक्षिकी को सुशृङ्खलरूप में प्रस्तुत किया, जिससे शास्त्र रूप में इसकी प्रतिष्ठा हुई। *न्यायभाष्य* के उपसंहार में उक्त है कि श्रेष्ठ वक्ता अक्षपाद ऋषि को यह विद्या प्रतिभात हुई थी।

'योऽक्षपादमृषिं न्यायः प्रत्यभाद् वदतां वरम्'।

न्यायवार्त्तिककार ने भी इसकी पुष्टि की है। इन्होंने *वार्त्तिक* के आरम्भ में कहा है कि संसार में शान्ति के लिए (कल्याण के लिए) श्रेष्ठ मुनि **अक्षपाद** ने *न्यायशास्त्र* को कहा है। इससे यही सिद्ध होता है कि **महर्षि गोतम** *न्यायशास्त्र* के वक्ता हैं कर्ता नहीं।

यदक्षपादः प्रवरो मुनीनां शमाय शास्त्रं जगतो जगाद। (वार्त्तिक)

गोतम ऋषि के सूत्र प्रणयन से पहले पदार्थों का परिचय इधर उधर *महाभारत* आदि में उपलब्ध था। अतएव उसको *न्यायविद्या* की संज्ञा देना उपयुक्त होगा। **महर्षि गोतम** ने सूत्र का प्रणयन कर उस विद्या को शृङ्खलाबद्ध करके *शास्त्र* का स्वरूप दिया। अत एव पाँच अध्यायों में विभक्त यह *न्यायशास्त्र* अपनी स्वतन्त्र-विचार की पद्धति से – उद्देश, लक्षण तथा परीक्षा के द्वारा– पदार्थों का प्रतिपादन तथा सिद्धान्त का स्थापन किया है। प्रथम अध्याय में उद्देश अर्थात् सोलह पदार्थों के नाम मात्र का कथन और मुख्य रूप से चौदह

पदार्थों का लक्षण एवं प्रकार उक्त हुए हैं। पञ्चम अध्याय में जाति और निग्रह स्थान के लक्षण एवं प्रभेद प्रदर्शित हुए हैं। द्वितीय अध्याय में प्रमाण-चतुष्टय की परीक्षा हुई है। तृतीय अध्याय में आत्मा आदि छह प्रमेयों का परीक्षण किया गया है। शेष प्रमेयों की परीक्षा, मोक्ष के साधन का कथन, अन्यदार्शनिकों के मतों का खण्डन एवं इसी क्रम से सृष्टि के निर्माता, अदृष्ट के अधिष्ठाता तथा वेद के वक्ता के रूप में ईश्वर की सिद्धि चतुर्थ अध्याय में की गयी है। इस प्रकार अपनी विचार सरणि से शास्त्र के विवेच्य विषयों का पूर्णाङ्ग विचार यहाँ उपपन्न होता है। इससे शास्त्र की इतिकर्तव्यता सम्पादित होती है। पश्चात् *भाष्य*, *वार्त्तिक* तथा *तात्पर्यटीका* आदि के द्वारा पल्लवित-पुष्पित होकर चिन्तन धारा के विस्तार एवं गाम्भीर्य से यही शास्त्र 'तन्त्र' का रूप धारण करता है। विद्या, शास्त्र तथा तन्त्र पदों का पर्याय रूप में व्यवहार होने पर भी इनमें उपरि निर्दिष्ट क्रमसे आन्तरिक भेद मानना असंगत नहीं होगा। इससे विचार की यथाक्रम परिपक्वता तथा परिष्कार ही सिद्ध होता है।

स्कन्दपुराण के कुमारिका खण्ड के निम्न पद्य से –

अक्षपादो महायोगी गोतमस्तपसि स्थितः।
गोदावरीसमानेता अहल्यायाः पतिस्तथा।।५५।५।

तथा भुवनेश्वर के अनन्त वासुदेव मन्दिर में उत्कीर्ण आचार्य **उदयन** के निम्न निर्दिष्ट श्लोक से –

कोऽयं ललाटतटनेत्रपुटस्य गर्वात्
खर्वी करोति जगदित्यभिधायि शम्भौ।
यः साभ्यसूयमकरोच्चरणेऽक्षिलक्ष्मीं
जीयात् स गोतममुनिर्मुनिवृन्दवन्द्यः।।

इस भ्रान्ति का निराकरण हो जाता है कि **गोतम** और **अक्षपाद** दो ऋषियों के नाम हैं। एक ने *न्यायशास्त्र* के प्रथम अध्याय गत सूत्रों की रचना की तथा अपर ने द्वितीय से पञ्चम अध्याय गत सूत्रों की। **म०म० फणिभूषण तर्कवागीश, म०म० गंगानाथ झा** तथा **म०म० गोपीनाथ कविराज** ने भी **महर्षि गोतम** को ही *न्यायसूत्र* का प्रणेता कहा है तथा पैर में आँख रहने से उन्हीं ऋषि का नाम **अक्षपाद** माना है। इस तरह *पुराण, शिलालेख* तथा बीसवीं

फलतः *वेदानुगामिनी न्याय विद्या* उपादेय है और केवल तर्क करनेवाली *न्याय विद्या* हेय है। दूसरी *तर्क विद्या* में शास्त्र की प्रक्रिया तो अपनायी गयी किन्तु उसका आन्तरिक अभिप्राय प्रकट नहीं हो पाया, अतएव निन्दा की पात्र हुई। पहली विद्या प्रशंसित होकर व्यवहार में मान्य हुई। *वेदान्त दर्शन* में **'तर्काप्रतिष्ठानात्'** (२।१।११।) इस सूत्रसे इसी शुष्क तर्कविद्या का खण्डन किया गया है और वेदानुगामिनी तर्क विद्या का अनुमत न्यायसूत्र **'दुःखजन्म-प्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः** (१।१।२।) अपने मत की पुष्टि हेतु **शंकर भगवत्पाद** द्वारा *वेदान्तसूत्र* के *भाष्य* में उल्लिखित हुआ है। इससे *न्याय शास्त्र* के प्रति *वेदान्त* भाष्यकार की निष्ठा ही प्रतीत होती है।

इस विद्या के आदि प्रवर्तक **महर्षि गोतम** माने जाते हैं। इन्हीं का दूसरा नाम **अक्षपाद** है। इन्होंने पाँच अध्यायों में *न्यायसूत्रों* का प्रणयन कर इस आन्वीक्षिकी को सुशृङ्खलरूप में प्रस्तुत किया, जिससे शास्त्र रूप में इसकी प्रतिष्ठा हुई। *न्यायभाष्य* के उपसंहार में उक्त है कि श्रेष्ठ वक्ता अक्षपाद ऋषि को यह विद्या प्रतिभात हुई थी।

'योऽक्षपादमृषिं न्यायः प्रत्यभाद् वदतां वरम्'।

न्यायवार्त्तिककार ने भी इसकी पुष्टि की है। इन्होंने *वार्त्तिक* के आरम्भ में कहा है कि संसार में शान्ति के लिए (कल्याण के लिए) श्रेष्ठ मुनि **अक्षपाद** ने *न्यायशास्त्र* को कहा है। इससे यही सिद्ध होता है कि **महर्षि गोतम** *न्यायशास्त्र* के वक्ता हैं कर्ता नहीं।

यदक्षपादः प्रवरो मुनीनां शमाय शास्त्रं जगतो जगाद। (वार्त्तिक)

गोतम ऋषि के सूत्र प्रणयन से पहले पदार्थों का परिचय इधर उधर *महाभारत* आदि में उपलब्ध था। अतएव उसको *न्यायविद्या* की संज्ञा देना उपयुक्त होगा। **महर्षि गोतम** ने सूत्र का प्रणयन कर उस विद्या को शृङ्खलाबद्ध करके *शास्त्र* का स्वरूप दिया। अत एव पाँच अध्यायों में विभक्त यह *न्यायशास्त्र* अपनी स्वतन्त्र-विचार की पद्धति से – उद्देश, लक्षण तथा परीक्षा के द्वारा– पदार्थों का प्रतिपादन तथा सिद्धान्त का स्थापन किया है। प्रथम अध्याय में उद्देश अर्थात् सोलह पदार्थों के नाम मात्र का कथन और मुख्य रूप से चौदह

पदार्थों का लक्षण एवं प्रकार उक्त हुए हैं। पञ्चम अध्याय में जाति और निग्रह स्थान के लक्षण एवं प्रभेद प्रदर्शित हुए हैं। द्वितीय अध्याय में प्रमाण-चतुष्टय की परीक्षा हुई है। तृतीय अध्याय में आत्मा आदि छह प्रमेयों का परीक्षण किया गया है। शेष प्रमेयों की परीक्षा, मोक्ष के साधन का कथन, अन्यदार्शनिकों के मतों का खण्डन एवं इसी क्रम से सृष्टि के निर्माता, अदृष्ट के अधिष्ठाता तथा वेद के वक्ता के रूप में ईश्वर की सिद्धि चतुर्थ अध्याय में की गयी है। इस प्रकार अपनी विचार सरणि से शास्त्र के विवेच्य विषयों का पूर्णाङ्ग विचार यहाँ उपपन्न होता है। इससे शास्त्र की इतिकर्तव्यता सम्पादित होती है। पश्चात् *भाष्य*, *वार्त्तिक* तथा *तात्पर्यटीका* आदि के द्वारा पल्लवित-पुष्पित होकर चिन्तन धारा के विस्तार एवं गाम्भीर्य से यही शास्त्र 'तन्त्र' का रूप धारण करता है। विद्या, शास्त्र तथा तन्त्र पदों का पर्याय रूप में व्यवहार होने पर भी इनमें उपरि निर्दिष्ट क्रमसे आन्तरिक भेद मानना असंगत नहीं होगा। इससे विचार की यथाक्रम परिपक्वता तथा परिष्कार ही सिद्ध होता है।

स्कन्दपुराण के कुमारिका खण्ड के निम्न पद्य से –

अक्षपादो महायोगी गोतमस्तपसि स्थितः।
गोदावरीसमानेता अहल्यायाः पतिस्तथा।।५५।५।

तथा भुवनेश्वर के अनन्त वासुदेव मन्दिर में उत्कीर्ण आचार्य उदयन के निम्न निर्दिष्ट श्लोक से –

कोऽयं ललाटतटनेत्रपुटस्य गर्वात्
खर्वी करोति जगदित्यभिधायि शम्भौ।
यः साभ्यसूयमकरोच्चरणेऽक्षिलक्ष्मीं
जीयात् स गोतममुनिर्मुनिवृन्दवन्द्यः।।

इस भ्रान्ति का निराकरण हो जाता है कि गोतम और अक्षपाद दो ऋषियों के नाम हैं। एक ने *न्यायशास्त्र* के प्रथम अध्याय गत सूत्रों की रचना की तथा अपर ने द्वितीय से पञ्चम अध्याय गत सूत्रों की। म०म० फणिभूषण तर्कवागीश, म०म० गंगानाथ झा तथा म०म० गोपीनाथ कविराज ने भी महर्षि गोतम को ही *न्यायसूत्र* का प्रणेता कहा है तथा पैर में आँख रहने से उन्हीं ऋषि का नाम अक्षपाद माना है। इस तरह *पुराण*, *शिलालेख* तथा बीसवीं

शताब्दी के चिन्तकों का मत सुदृढ़ करते हैं कि **अक्षपाद** और **गोतम** एक ही ऋषि का नाम है, जो अहल्या के पति तथा पवित्र नदी गोदावरी को लाने वाले हैं। *ऋग्वेद* में (१।१४।८५) वर्णित है कि **गोतम** ऋषि को एक कूप था। इस सूक्त का ऋषि **रहूगण गोतम** हैं। इन्हीं का उल्लेख *शतपथ ब्राह्मण* में भी दृष्टिगोचर होता है। यहाँ उक्त है कि विदेघमाधव राजा के पुरोहित यही **रहूगण गोतम** थे।

विदेघोऽथ माधवो अग्निं वैश्वानरं मुखे बभार।

तस्य गोतमो रहूगण ऋषिः पुरोहित आस।। (शतपथ ब्राह्मण ४।१।)

न्यायसूत्र के प्रणेता यही **गोतम** हो सकते हैं। आज भी मिथिला में अहल्यास्थान में (दरभंगा जिला के जोगियार स्टेशन के निकट) गोतम कुण्ड नाम से प्रसिद्ध एक कूप है, जिसका जल पीने से *न्यायशास्त्र* में प्रवीणता होती है – ऐसी जनश्रुति है। *न्यायदर्शन* के वक्ता **गोतम** की जन्मस्थली मिथिला ही है – यह चिरकाल से प्रसिद्ध है। अतएव **बाल्मीकि** ने *रामायण* में कहा है कि सीता के पिता राजर्षि जनक के पुरोहित अहल्या के पुत्र **शतानन्द** थे अर्थात् **रहूगण गोतम** इनके पिता रहे हैं। नाटककार **भास** ने यद्यपि **मेधातिथि** ऋषि को न्यायसूत्र का प्रणेता कहा है **'भोः काश्यप गोत्रोऽस्मि साङ्गोपाङ्गं वेदमधीये। मानवीयं धर्मशास्त्रं माहेश्वरं योगशास्त्रं बार्हस्पत्यमर्थशास्त्रं मेधातिथेर्न्यायशास्त्रं प्राचेतसं श्राद्धकल्पम्'** (प्रतिमानाटक ५ अंक) तथापि इसी **गोतम** ऋषि का नामान्तर है **मेधातिथि** – यह मानना चाहिये। *महाभारत* के शान्ति पर्व का पद्य यहाँ प्रमाण के रूप में उपलब्ध है

'मेधातिथिर्महाप्राज्ञो गोतमस्तपसि स्थितः'। इति २६६।४५।

इस महर्षि **गोतम** के देश को लेकर विवाद नहीं है। चिरकाल से इनका स्थान मिथिला मान्य है। मिथिला के अहल्यास्थान में गोतमकुण्ड नाम से वह कूप आज भी विद्यमान है, जिसका उल्लेख *ऋग्वेद* के सूक्त में हुआ है। किन्तु इनके काल के विषय में विवाद है। हम लोगों की परम्परा ख्रीष्टपूर्व षष्ठ शतक न्यायसूत्र की रचना का काल मानती है।

सूत्रात्मक इस न्यायदर्शन की धारा का प्रवाह आज तीन दिशाओं में हमलोगों को उपलब्ध है। इसमें नव्यन्याय अन्तर्भूत नहीं है।

इसकी पहली धारा *भाष्य, वार्त्तिक, विवरणपञ्जिका, तात्पर्यटीका* तथा *परिशुद्धि* के रूप में एक दिशा में प्रवाहित हुई। इस धारा की विशेषता रही है– समानतन्त्र *वैशेषिक दर्शन* के साथ *न्याय दर्शन* के सिद्धान्तों के समन्वय का प्रयास, *बौद्धदार्शनिक* के द्वारा न्यायसिद्धान्तों पर किये गये आक्षेपों का सयुक्तिक खण्डन तथा सम्प्रदाय से भिन्न तत्काल प्रचलित मान्यताओं का उल्लेख एवं निराकरण। *वार्तिक* के पश्चात् एवं *तात्पर्यटीका* से पहले काश्मीर के नैयायिक **जयन्त भट्ट** ने *न्यायमञ्जरी* का प्रणयन कर इस धारा को आगे बढ़ाया है। इनके चिन्तन में विशेष बात लक्ष्य करने योग्य है कि प्रवर के रूप में *न्यायभाष्य* के अनुगामियों का एवं आचार्य के रूप में *वार्त्तिक* के अनुगामियों का विचार यहाँ स्पष्ट एवं विविक्त रूप में उद्धृत है। पश्चात् काल के वैपरीत्य से प्रतिस्पर्धी **बौद्धदार्शनिक** के उच्छेद हो जाने पर **आचार्य उदयन** के पश्चात् यह धारा स्थिर हो गयी या सूखने लगी। फिर भी तत्त्वचिन्तामणिकार **गंगेश** के पुत्र **वर्धमान उपाध्याय**, जैन आचार्य **अभय तिलक** तथा **श्रीकण्ठ** यथाक्रम *प्रकाश, अलंकार* तथा *टिप्पणक* लिखकर इस धारा के उज्जीवन हेतु प्रयत्न शील हुए। **उदयनाचार्य** के प्रति श्रद्धालु **वरदराज मिश्र** ने तेरहवीं शताब्दी में *तार्किकरक्षा* का प्रणयन कर इस धारा की अग्रगति हेतु अपनी तत्परता दिखायी।

किन्तु न्यायदर्शन के विकास में आरम्भ काल से ही बौद्ध दर्शन की प्रतिस्पर्धिता का जो अविस्मरणीय योगदान रहा, उसका पर्यवसान **उदयन** की कृतियों में ही हो गया आगे वह धारा अवरुद्ध हो गयी। *लंकावतार सूत्र* में उपपादित *बौद्ध दर्शन* का क्षणिकत्ववाद तथा बाह्यार्थभङ्गवाद का खण्डन *न्यायभाष्य* में मिलता है। उस वैचारिक–प्रतिस्पर्धा मूलक खण्डन मण्डन का पर्यवसान *आत्मतत्त्वविवेक* में हुआ है। क्योंकि उस समय में भारत से बौद्ध दार्शनिक का ह्रास अधिक मात्रा में होने लगा था।

न्यायवार्त्तिक में **वात्स्यायन** के *भाष्य* की मान्यता पर आक्षेप करने वाले **दिङ्नाग, वसुबन्धु** तथा **नागार्जुन** के मतों का निराकरण हुआ है। **उद्योतकर** ने आरम्भ में ही मंगल पद्य में अपना संकल्प स्पष्ट रूप से कहा है –

'कुतार्किकाज्ञाननिवृत्तिहेतुः करिष्यते तस्य मया निबन्धः'।

पुनश्च **धर्मकीर्ति** ने बौद्ध–मान्यता की सिद्धि हेतु **उद्योतकराचार्य** के मतों का निराकरण कर अपना मत स्थापित किया। जिसका खण्डन एवं

न्यायमत का साधन वाचस्पतिमिश्र के द्वारा तात्पर्य टीका में हुआ है। इन्होंने भी आरंभ में अपना संकल्प स्पष्ट कहा है –

इच्छामि किमपि पुण्यं दुस्तरकुनिबन्धपङ्कमग्नानाम्।

उद्योतकरगवीनामतिजरतीनां समुद्धरणात्।।

बौद्धदार्शनिक का ग्रन्थ ही दुस्तरकुनिबन्ध शब्द से यहाँ अभिप्रेत है, जहाँ उद्योतकर की मान्यता उस पंक में मग्न हो गयी है अर्थात् फँस गयी है, उसका उससे उद्धार करने के लिए ही *तात्पर्य टीका* के प्रणयन में ये प्रवृत्त हुए हैं।

पुनश्च धर्मकीर्ति के मतों के समर्थक बौद्ध दार्शनिक आचार्य ज्ञानश्री मित्र, इनके शिष्य रत्नकीर्ति तथा *न्यायबिन्दु* के व्याख्याता धर्मोत्तर आदि आविर्भूत हुए, इन आचार्यों के द्वारा तात्पर्य टीकाकार की मान्यता का खण्डन किया गया।

अब आचार्य उदयन ने *तात्पर्यटीका* की व्याख्या *परिशुद्धि* में, प्रशस्त पाद के संग्रह-ग्रन्थ की व्याख्या *किरणावली* में तथा *आत्मतत्त्वविवेक* में ज्ञानश्रीमित्र आदि बौद्धाचार्यों के सिद्धान्तों का खण्डन कर न्यायसम्मत मान्यताओं को निर्मल किया।

न्यायदर्शन की प्रधान धारा यहाँ पर्यवसित हो गयी। भारत में बौद्ध महाविहारों के नष्ट हो जाने पर प्रतिस्पर्धी चिन्तक ही नहीं रहे तो धारा के प्रवाह का अवरुद्ध हो जाना स्वाभाविक ही है।

इसकी दूसरी धारा के प्रवर्तक हैं न्यायसार के प्रणेता काश्मीर के नैयायिक आचार्य भासर्वज्ञ। इनका विचार मौलिक है किन्तु उपर्युक्त मूल–धारा से हटकर इनकी स्वतन्त्र मान्यता रही है। *वैशेषिक* के साथ इनका कभी सौमनस्य नहीं रहा अपितु वैमत्य रहा है। अतएव मूलधारा में इनको सम्मिलित नहीं किया जा सकता है। इन्होंने *न्यायदर्शन* सम्मत उपमान प्रमाण को भी नहीं माना है। नित्यसुखाभिव्यक्ति को मोक्ष का स्वरूप मानकर मूलसंप्रदाय संमत आत्यन्तिक दुःखनिवृत्तिरूप मोक्ष की उपेक्षा की है। न्यायसूत्रकार पर कटाक्ष करते हुए इन्होंन कहा है कि सूत्रकार के आदेश से पदार्थ अपना धर्म नहीं छोड़ देता है। यदि सूत्रकार का अविचारित वचन को प्रमाण माना जाये तो परीक्षासूत्र ही व्यर्थ हो जायेंगे। (द्रष्टव्य न्यायभूषण पृ० ९०) *वैशेषिक दर्शन* की उपेक्षा में

इन्होंन कहा है कि – न्यायशास्त्र की व्याख्या में मैं प्रवृत्त हूँ। अतः वैशेषिक के साथ विरोध या मतभेद मेरे लिए दोषाधायक नहीं है (न्यायभूषण पृ० १६३)। तथापि इनकी प्रसिद्धि अपने मौलिक चिन्तन के कारण अधिक हुई।

इनकी कृति *न्यायसार* की अट्ठारह व्याख्याएँ विभिन्न समय में विभिन्न विद्वानों के द्वारा की गयी उपलब्ध हैं। *न्यायसार* पर इनकी स्वोपज्ञ व्याख्या *न्यायभूषण* की भी अनेक व्याख्याएँ हुई हैं, जिनका उल्लेख वासुदेव सूरि ने *पदपञ्जिका* (न्यायसार की व्याख्या) में *'भूषणभूषण'* नाम से किया है। *न्यायरत्न* की *द्युतिमालिका* व्याख्या में *'भूषणप्रकाश'* नामक दूसरी व्याख्या उल्लिखित है। पद्मनाभ कृत *'भूषणविन्यास'* भी सुनी जाती है। इससे इस संप्रदाय की विद्वत्प्रियता प्रमाणित होती है। बौद्ध आचार्य ज्ञानश्रीमित्र ने नैयायिक शंकर (अज्ञात परिचय), वृद्ध वाचस्पतिमिश्र के गुरु त्रिलोचनाचार्य तथा वृद्ध वाचस्पति मिश्र के साथ *न्यायभूषण* के निर्माता इस भासर्वज्ञाचार्य का भी उल्लेख क्षणभंगवाद के उपसंहार में किया है –

दुर्नीताश्रमवेदिकादृढतरस्तम्भानमून् शङ्कर-
न्यायालकरण त्रिलोचनवचस्पत्याह्वयान् हेलया।
उन्मूल्य क्षणभंग एष विहितो यत्पुण्यमाप्तं मया
तेन स्तात् परपारगस्त्रिभुवने ज्ञानश्रियोऽयं जनः।।

यहाँ न्यायविद्यावेदिका के चार स्तम्भों में से एक स्तम्भ के रूप में न्याय भूषणकार भासर्वज्ञ आचार्य का उल्लेख, इनकी प्रसिद्धि का साक्ष्य प्रस्तुत करता है।

इस दर्शन की तीसरी धारा *वृत्ति* के रूप में प्रवाहित हुई। यहाँ शास्त्रीय सिद्धान्तों की अच्छी तरह जानकारी के लिए वृत्तिकारों का प्रयास श्लाघनीय है। न तो यहाँ वैशेषिकों के मत से परहेज है नहीं चतुर्ग्रन्थिका की तरह शास्त्रार्थ के विचार–गाम्भीर्य का अवसर है। अतः खण्डन मण्डन का क्रम यहाँ स्वल्पमात्रा में उपलब्ध है। किन्तु अपने सिद्धान्त के प्रतिपादन में, सूत्रकार के अभिप्राय के वैशद्य में तथा सम्प्रदाय की रक्षा में यह वृत्ति जागरूक रही है। वृत्ति की परिभाषा करते हुए *काव्यमीमांसा* में राजशेखर ने कहा है – 'सकलसारविवरणं वृत्तिः'।

सूत्रार्थप्रधानो ग्रन्थो वृत्तिः हरदत्त की *पदमञ्जरी* नामक *काशिका* की व्याख्या के आरम्भ में उक्त है। यद्यपि न्यायसूत्र की वृत्तिस्वरूप व्याख्या धारा निरन्तर प्रवाहित होती रही है। तथापि इनमें कालजयी कुछ विशिष्ट वृत्तियों का उल्लेख करना यहाँ अप्रासङ्गिक नहीं होगा। रघुनाथ शिरोमणि के गुरु वासुदेव सार्वभौम के वंशधर काशीनाथ विद्यानिवास के पुत्र **विश्वनाथसिद्धान्त पञ्चानन** की कृति *न्यायसूत्र की वृत्ति* चिरकाल से भारतभर में पठन-पाठन में विद्यमान है। यहाँ सम्प्रदाय अर्थात् *चतुर्ग्रन्थिका* (न्यायभाष्य, वार्तिक, तात्पर्यटीका तथा परिशुद्धि) से भिन्न अपना स्वतन्त्र अभिप्राय भी यथास्थान युक्ति एवं प्रमाण के साथ प्रस्तुत किया गया है। अत एव परवर्ती नैयायिकों में इनका अधिक आदर है।

दूसरा उल्लेखनीय वृत्ति है, **नवीन वाचस्पति मिश्र** का *न्यायतत्त्वालोक*। यह गंगानाथ झा केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ इलाहाबाद से प्रकाशित है। यह वृत्ति प्राचीन एवं नवीन न्याय के मध्य सेतुबन्ध की तरह दोनों में पारस्परिक समन्वय तथा सम्प्रदायानुमत सिद्धान्तों के संग्रह में मर्यादित है।

तीसरी वृत्ति **रामभद्र सार्वभौम** की कृति *न्यायरहस्य* कलकत्ता से प्रकाशित है। यह वृत्ति सूत्रपाठ के प्रसङ्ग में अधिक जागरूक तथा कलेवर से समृद्ध है।

चौथी वृत्ति मैथिल नैयायिक **केशव मिश्र** की रचना है *गौतमीय सूत्र प्रकाश*। यह वृत्ति भी गंगानाथ झा केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ से प्रकाशित है। इसका वैशिष्ट्य है सूत्रों का पाठ निर्धारण, प्रकरण विभाग तथा प्रकरणगत सूत्र संख्या का निर्देश। अध्याय के अन्त में परिकर श्लोक के रूप में इन विषयों का कथन यहाँ देखा जाता है। अपनी वृत्ति की प्रशंसा में यहाँ उक्त है –

> **आस्ते यद्यपि पूर्वपण्डितकृता व्याख्यैव संख्यावता-**
> **मानन्दाय तथापि केशवकवेर्वाचामियं गुम्फना।**
> **व्याख्या-सौष्ठव शब्द-लाघव-मिथः संबन्धपूर्वापर-**
> **प्रत्यर्थ-प्रतिबद्धनिर्मलगुणा कुत्रान्यतो लभ्यताम्।।**

अवधेय है कि तर्कभाषाकार **केशवमिश्र** से यह **केशवमिश्र** भिन्न हैं।

यद्यपि न्यायसूत्रवृत्ति की परम्परा खृष्टीय दशम या एकादश शतक से आरंभ हुई है। आज हमलोगों के समक्ष दश ग्यारह वृत्तियाँ प्रकाशित रूप में

उपलब्ध हैं। लगभग तीस वृत्तियाँ या तो प्रकाशन की अपेक्षा में मातृकागारों में सुरक्षित हैं अथवा इनमें से कुछ काल कवलित भी हो गयीं हैं। देश की दृष्टि से देखी जाये तो सर्वाधिक वृत्तियाँ, संख्या में लगभग तेइस, बंगाल में लिखी गयी। दश मिथिला में, दो दक्षिण प्रान्त में तथा चार पाँच मध्यदेश वाराणसी आदि में लिखी गयीं। लगभग चालिस वृत्तियों का सन्धान हमलोगों का मिलता है। इस प्रकार से न्यायशास्त्र की धाराओं से परिचय हो जाने पर अब **आचार्य उदयन** के विषय में परिचय प्रस्तुत करना आवश्यक प्रतीत होता है पश्चात् ग्रन्थ के प्रतिपाद्य का साररूप में परिचय भी दिया जायेगा।

आचार्य उदयन का परिचय

आचार्य उदयन दार्शनिक गगन-मण्डल के प्रकाशमान नक्षत्र के समान विराजमान हैं। इन्होंने *आत्मतत्त्वविवेक* के उपसंहार में कहा है कि न्याय (शास्त्र) ने लोक-व्यवहार तथा *आगम (वेद)* के ऊपर छाये हुए प्रतिपक्षियोंके सिद्धान्त रूप सघन कुहाशे का निराकरण कर न्यायशास्त्र सम्मत मुक्ति का मार्ग प्रशस्त किया है –

बहुतरपरतन्त्रप्रान्तरध्वान्तभीतेः–
स्तिमितपथिकरक्षासार्थवाहेन यत्नात्।
तदिदमुदयनेन न्यायलोकागमानां
व्यतिहतिमवधूय व्यञ्जितं वर्त्म मुक्तेः।।

प्राचीन विद्वानों का स्वभाव रहा है कि ये कहीं भी अपना परिचय लिपि-बद्ध नहीं करते। भले ही इन्होंने शास्त्रीय अनेक ग्रन्थों का प्रणयन कर सारस्वत भण्डार की अभिवृद्धि की हो, शिखरोपम वैदुष्य की ऊँचाई प्राप्त कर ली हो। **आचार्य उदयन** भी इसी कोटि में है। इसलिए इनके जीवन-परिचय हेतु हमलोगों को जनश्रुति पर ही निर्भर होना पड़ता है। कोई दृढ प्रमाण उपलब्ध नहीं है। मिथिला में प्रसिद्ध विद्वानों के द्वारा चिरकाल से समादृत अनेक किंवदन्तियाँ इस प्रसंग में हमलोगों के समक्ष उपलब्ध हैं। **आचार्य उदयन** के यत्किञ्चित् परिचय की उपलब्धि इन्हीं जनश्रुतियों के आधार पर संभव है।

जनश्रुति के आधार पर *मिथिलातत्त्वविमर्श* में (पूर्वार्द्ध पृ० १०६) **महामहोपाध्याय परमेश्वर झा** ने (बीसवीं शताब्दी के प्रथम चरण) कहा है

कि मिथिला के प्रसिद्ध **करियन** ग्राम में **आचार्य उदयन** का जन्म हुआ था। यह ग्राम दरभंगा जिला के उत्तर, कमतौल रलवे स्टेशन के पास, आज भी विद्यमान है, जहाँ आचार्य उपाधिधारी इनके वंशज रहते हैं। इसी को आधार मानकर *हिस्ट्री ऑफ नव्यन्याय इन मिथिला* (History of Navya Nyaya in Mithila) में **प्रो० दिनेश चन्द्र भट्टाचार्य** ने इस स्थान का उल्लेख आचार्य उदयन की जन्मभूमि के रूप में किया है। (द्रष्टव्य पृ० ५)। चूँकि ख्रीष्टीय त्रयोदश चतुर्दश शतक से मिथिला की पञ्जी व्यवस्था उपलब्ध है। अतः **आचार्य उदयन** का वंश-परिचय तथा माता पिता का नाम हम लोगों को किसी स्रोत से विदित नहीं है। आर्या सप्तशती के उपसंहार में एक पद्य है –

उदयनबलभद्राभ्यां सप्तशती शिष्यसोदराभ्यां मे।
द्यौरिव रविचन्द्राभ्यां प्रकाशिता निर्मलीकृत्य।।७०१।।

इसके आधार पर इस *आर्यासप्तशती* के प्रणेता आचार्य **गोवर्धन** को **उदयनाचार्य** का गुरु कहा जाता है तथा **बलभद्र** को इनका सोदर। किन्तु इससे बहुत विद्वान् असहमत हैं। यद्यपि समय दोनों का एक ही है। गोवर्धन, धोयी तथा जयदेव (गीत गोविन्द के रचयिता) एक ही राजा लक्ष्मण सेन के आश्रित थे, जो ख्रीष्टीय एकादश शतक में विद्यमान थे। **आचार्य उदयन** का भी यही समय रहा होगा। ख्रीष्टीय दशम शतक का बौद्ध आचार्य **ज्ञानश्रीमित्र** तथा रत्नकीर्ति ने **वाचस्पतिमिश्र** की *तात्पर्यटीका* के विषयों का खण्डन किया है और उक्त दोनों बौद्ध दार्शनिकों का नामोल्लेखपूर्वक खण्डन *आत्मतत्त्वविवेक* में तथा अन्यत्र **आचार्य उदयन** ने किया है।

यद्यपि एक करियन गाँव समस्तीपुर रोसरा (उत्तर बिहार) के निकट भी है, जहाँ इस आचार्य के नाम पर बीसवीं शताब्दी के द्वितीय तृतीय चरण में एक महाविद्यालय भी स्थापित हुआ है। इस परिसर के लोग यहीं उनका वासस्थल मानते हैं। यहाँ मान्यता के अनुसार उनके निर्दिष्ट वासस्थल की मिट्टी लेकर वसन्त पञ्चमी के दिन अभिभावक अपने बच्चों को अक्षरारम्भ कराते हैं। इनकी धारणा है कि उस स्थल की मिट्टी से अक्षरारम्भ कराने पर बालक मेधावी, प्रसिद्ध विद्वान् तथा बुद्धिमान् होता है। यहाँ इनको छन्दोग अर्थात् सामवेदी तथा शाण्डिल्य गोत्रीय कहते हैं। तथापि विद्वज्जन **म०म० परमेश्वर झा** के प्रति आदरातिशय से इनके कथन पर ही विश्वास करते हैं अर्थात् उदयन को

कमतौल रेलवे स्टेशन के निकट के ही करियन ग्राम का वासी मानते हैं।

इसका विपरीत मत महामहोपाध्याय **शतीश चन्द्र विद्याभूषण** का *हिस्ट्री औफ इण्डियन लौजिक* में (History of Indian Logic) में मिलता है। इन्होंने **उदयन** को मधुबनी मण्डल कार्यालय से तीन किलोमीटर उत्तर पूर्व में विद्यमान **मङरौनी** गाँव का कहा है। यह भी यहाँ कहा गया है कि यह गाँव **कमला** नदी से चार कोश पूरब में उस समय बसा हुआ था – किसी **उपपुराण** में यह उल्लिखित है। आज कल समय के अन्तराल में हजार वर्षों के बीत जाने पर भी कमला इस ग्राम के पूरब दिशा में बहती है किन्तु उन्नीसवीं शताब्दी तक **मङरौनी** से पश्चिम होकर ही कमला की धारा प्रवाहित हो रही थी। अब पश्चिम दिशावाली धारा मृतप्राय हो गयी है।

कमतौल रेलवे के निकट **करियन** गाँव **वागमती** नदी के तट पर बसा हुआ है। इस धारा की भी पवित्रता कमला नदी से कम नहीं है। अतः यदि **उदयन** इस **करियन** के होते तो **वागमती** की चर्चा होती **कमला** की नहीं। इस विषय में अधिक विचार *मिथिला की सारस्वत सुषमा* नामक ग्रन्थ में विद्वद्वर श्री **विनयानन्द झा** ने तर्कपूर्ण रीति से किया है, जो हृदयङ्गम होता है। इनकी युक्तियाँ **म०म० शतीशचन्द्र विद्याभूषण** के मत की पुष्टि करती है।

दूसरी जनश्रुति इनके पाण्डित्य के प्रसङ्ग में है कि कान्यकुब्ज के राजा जयचन्द्र के समय में उनके द्वार पण्डित वेदान्त में निष्णात **श्री हीर** नामक विद्वान् को **आचार्य उदयन** ने शास्त्रार्थ में परास्त किया था। इस अपमान को सहन करने में असमर्थ वह पण्डितपुङ्गव **श्री हीर** ने अपने वैकुण्ठवास के समय शिशु पुत्र श्रीहर्ष (नैषधीयचरित महाकाव्य के रचयिता) से कहा कि जिसने मुझे शास्त्रार्थ में परास्त किया है, उस नैयायिक को इसी राजसभा में तुम परास्त करना।

समय के अन्तराल में चिन्तामणि मन्त्र की उपासना से सकल शास्त्रों में पारङ्गत होकर **श्रीहर्ष आचार्य उदयन** के साथ शास्त्रार्थ की प्रतीक्षा करते रहे। जब उन्हें यह ज्ञात हुआ कि उस दार्शनिक का स्वर्गवास हो गया तो न्याय सिद्धान्तों का खण्डन परक तथा अद्वैत वेदान्त का प्रतिष्ठापक *खण्डनखण्ड खाद्य* नामक विख्यात ग्रन्थरत्न का प्रणयन कर उन्होंने अपने पिता के वचन का अनुपालन किया। **उदयनाचार्य** द्वारा किये गये प्रमा के लक्षण – **तत्त्वानुभूतिः**

प्रमा – का खण्डन यहाँ देखा जाता है।

तीसरी जनश्रुति भी इनके पाण्डित्य से संबद्ध है। एक बार बौद्ध दार्शनिक के साथ शास्त्रार्थ में उनकी युक्ति को अप्रमाण कहकर आचार्य ने अपनी प्रतिभा से उद्भूत युक्तियों से अर्थात् तत्काल स्फूर्त तर्कों से बौद्धाचार्य को परास्त कर दिया। आपके तर्क में क्या प्रमाण है – बौद्ध दार्शनिक के द्वारा पूछे जाने पर उदयनाचार्य ने कहा कि मेरा तर्क स्वयं प्रमाण होता है'। हमलोग *व्याकरण*, *मीमांसा* तथा *तर्कशास्त्र* को जिस रास्ते से ले जायेंगे, वही रास्ता होगा भले ही वह कुपथ हो। जिस दिशा में सूर्य उदित होता है, वही पूर्व दिशा कहलाती है। उदय के लिए सूर्य दिशा के अधीन नहीं होता है।

वयमिह पदविद्यां तर्कमान्वीक्षिकीं वा
यदि पथि विपथे वा वर्तयामः स पन्थाः।
उदयति दिशि यस्यां भानुमान् सैव पूर्वा
नहि तरणिरुदीते दिक्पराधीनवृत्तिः।।

भविष्य पुराण के परिशिष्ट में आचार्य उदयन से संबद्ध एक कथा उपलब्ध है, जो इस प्रकार है – एक दिन बौद्ध दर्शन तथा माया तन्त्र में निष्णात एक बौद्ध संन्यासी अनेक शिष्यों के साथ मिथिला की राजधानी आया और दूत के माध्यम से मिथिला नरेश को अपना संवाद भेजा कि वेद आदि शास्त्रों के प्रति श्रद्धा या आदर व्यर्थ है, इन शास्त्रों के अभ्यास से केवल गला सूखता है, फल की प्राप्ति नहीं होती है। अतः बौद्ध दर्शन का अध्ययन करना चाहिये, तदनुकूल आचरण करने से ही जीवन की सफलता प्राप्त होती है। उसी दूत के द्वारा आस्तिक मिथिलाधिपति ने उनको अपना संवाद भेजा कि कल प्रातः सभा में आबें तथा अपना पक्ष प्रस्तुत करें, वहीं इसका स्पष्टीकरण हो जायेगा।

उस दूत के वापस लौटने के पश्चात् मिथिलेश ने उदयनाचार्य आदि पण्डितों को बुलबाया और कहा कि आप सब बाहर से समागत इस बौद्ध संन्यासी से इस शर्त पर शास्त्रार्थ करें कि जो हारेगा वह विजयी के मत का स्वीकार करेगा। राजा का आदेश सुनकर सभी मैथिल पण्डित चुप्पी लगा गये। तब उदयनाचार्य ने कहा कि शास्त्रार्थ में जय पराजय तो भगवदिच्छा पर निर्भर है किन्तु हम सब उस बौद्ध संन्यासी के साथ शास्त्रार्थ अवश्य करेंगे।

प्रातः राजसभा में मैथिल विद्वद्वृन्द एकत्रित हुए। वह बौद्ध संन्यासी भी आया। संन्यासी ने कहा कि बौद्धदर्शन के बहिर्भूत विद्वान् के साथ हम बौद्ध दार्शनिकों का शास्त्रार्थ कैसे हो सकता है। इस पर **आचार्य उदयन** ने बौद्ध सिद्धान्तों का पूर्वपक्ष रूप में प्रस्तुत कर अपने अनुकूल न्यायशास्त्र की दृष्टि से उन सिद्धान्तों का खण्डन कर दिया। इस तरह शास्त्रार्थ में अनेको दिन बीत गये। बौद्ध संन्यासी अपनी पराजय तो मन में समझ ही रहा था फिर भी उसने राजा से कहा कि मेरे प्रतिपक्षी मेरे शास्त्र के अनुसार नहीं कहते हैं तथापि मैं अपने शास्त्र की श्रेष्ठता के सिद्ध्यर्थ आपके आराध्य विष्णुरूप में विद्यमान शालग्राम शिला को अपना सिद्धान्त कहकर आप सबके समक्ष जलमय कर देता हूँ पश्चात् बौद्ध मत को प्रामाणिक मानकर आप सब बौद्ध मत का अनुसरण करें। वेद के प्रामाण्य के समर्थक सनातनी विद्वान् यदि जलरूप में परिणत शालग्राम शिला को अपना सिद्धान्त कहकर पूर्ववत् शिलामय बना देंगे तो मैं इनकी मान्यता का स्वीकार कर लूँगा। **आचार्य उदयन** ने कहा – ये माया में चतुर हैं, अपनी माया की महिमा से हम लोगों को परास्त करना चाहते हैं। हम लोग भी माया तन्त्र जानते हैं, इनका शर्त हम लोगों को मञ्जूर है। संन्यासी ने शिलामय शालग्राम को जलमें परिणत कर दिया। फिर आचार्य उदयन ने इस जलमय शालग्राम को शिला में परिवर्तित कर दिया। इस अपूर्व घटना से सभा के अन्य सदस्य विस्मित एवं आनन्दित हो गये। **आचार्य उदयन** की प्रशंसा होने लगी तथा साधुवाद मिलने लगा।

अवसर की अनुकूलता देखकर **आचार्य उदयन** ने राजा तथा सभासद से कहा कि आप सब जो मेरी प्रशंसा कर रहे हैं, वह मुझे समुचित नहीं प्रतीत होता है। मेरे प्रतिपक्षी ने शालग्राम शिला को जलमय किया और मैंने पुनः इसे शिलारूप में स्थापित किया – इसमें तो हम दोनों का मत बराबर पर ही स्थिर रहा। मैं राजा के समक्ष एक प्रस्ताव रखता हूँ। राजद्वार पर आकाश का स्पर्श करता हुआ जो यह ताड़ का पेड़ है, इस पर आरूढ होकर मैं 'वेद प्रमाण है' कहकर और मेरे प्रतिपक्षी वेद प्रमाण नहीं है – कहकर नीचे गिरेंगे, इसमें जीवित रहनेवाले के मत का अनुगमन आप सब करेंगे, उसी मत को समीचीन मानेंगे। इस प्रस्ताव से बौद्ध संन्यासी तो प्रसन्न हो गया किन्तु इस परीक्षा में प्राण का संकट देखकर राजा असमञ्जस में पड़ गये। तब पक्ष एवं प्रतिपक्ष के

विद्वानों ने कहा कि इस शर्त में आपका कोई दोष नहीं होगा। क्योंकि इस शर्त में हम दोनों का स्वेच्छा से ऐकमत्य है।

अब उत्सुकता, आशंका तथा आश्चर्य से सभा एवं सभापति इन दोनों की ओर देखने लगे। दोनों ही यथानियम उस वृक्ष पर आरूढ होकर नीचे गिरे। शिर के बल गिरने से बौद्ध संन्यासी का प्राणान्त हो गया और **आचार्य उदयन** को खरोंच तक नहीं लगा। अब वेदस्वरूप परमेश्वर का वाचातीत माहात्म्य के दर्शक लोगों के समक्ष वेद पर श्रद्धा और भक्ति बढ़ने लगी। राजा एवं सभा के सदस्यों के द्वारा आचार्य **उदयन** का सम्मान, अभिनन्दन तथा विविध उपहार मिला। आचार्य **उदयन** पूर्ववत् अपने घर पर आकर शास्त्र का अध्ययन-अध्यापन तथा तत्त्व-चिन्तन में लगकर समय-यापन करने लगे।

आचार्य उदयन भगवान् जगन्नाथ के दर्शन हेतु पुरी धाम पहुँचे। जैसे ही प्रभु के दर्शन हेतु मन्दिर के प्राङ्गण में इन्होंने पदार्पण किया, मन्दिर के खुले हुए सब दरबाजा बन्द होने लगे। यह देखते ही आचार्य के मन में तामस भाव जग गया। इन्होंने प्रभु से वहीँ कहा - प्रभो! आप ऐश्वर्य के मद से मत्त हो गये हो। मुझे दर्शन नहीं देकर मेरा अपमान करते हो। किन्तु जान लो जब बौद्ध दार्शनिक आएगा तो मेरे ही अधीन आप का अस्तित्व रहेगा -

ऐश्वर्यमदमत्तोऽसि मामवज्ञाय वर्तसे।
समायाते पुनर्बौद्धे मदधीना तव स्थितिः।।

उसी समय लोगों के देखते ही देखते मन्दिर के सभी दरबाजे खुल गये। आचार्य उदयन भगवान् जगन्नाथ का दर्शन कर कृतार्थ हुए और कुछ दिनों तक भगवान् की पूजा अर्चना करते रहे। इस बीच भगवान् जगन्नाथ ने प्रधान पुजारी को स्वप्न दिया कि यह (आचार्य उदयन) मेरा ही अंश-अवतार है। इसने कुतार्किक बौद्धों को शास्त्रार्थ में पराजित कर मेरा अस्तित्व समर्थित किया है। इसको मेरा परिधान पीताम्बर देकर सत्कृत करो। भगवान् के आदेश का तत्काल पालन किया गया। आचार्य उदयन ने भी भगवान् का प्रसाद पाकर अपने को निरतिशय सौभाग्यशाली माना।

इनके शिष्य एवं उपशिष्यवृन्द अध्यापन के द्वारा शास्त्रों के प्रचार प्रसार में लगे रहे एवं सनातन धर्म को समृद्ध किया।

बार्धक्य पाकर आचार्य काशीधाम आकर गंगा के तट पर मणिकर्णिका तीर्थ में इस जीर्ण शरीर का त्यागकर परमात्मा में विलीन हो गये। इस पुराण कथा से इतना तो अवश्य माना जा सकता है कि भगवान् विष्णु के अंशावतार यह **आचार्य उदयन** मिथिला में आविर्भूत हुए तथा *वेद* एवं *शास्त्र* की रक्षा हेतु सन्नद्ध रहकर कुतार्किक *बौद्ध आचार्यों* को परास्त किया। (भविष्य पुराण का परिशिष्ट, उदयन चरित, अध्याय ३० श्लोक १ से ८४)

एक जनश्रुति के अनुसार बंगाल के वारेन्द्रकुल में आचार्य उदयन का जन्म हुआ। ये उदयन भादुरी के नाम से प्रसिद्ध हुए। किन्तु इस जनश्रुति की विश्वसनीयता नहीं है। बारहवीँ शताब्दी के उत्तरार्ध में बंगाल में राजा वल्लाल सेन द्वारा ब्राह्मणों का श्रेणी विभाग हुआ है। अत एव एकादश शतक के आचार्य **उदयन** का वारेन्द्रकुल में जन्म लेना किसी प्रकार संभव नहीं है। मिथिला में भी तेरहवीं शताब्दी में *पञ्जीप्रबन्ध* की व्यवस्था राजशासन के अन्तर्गत हुई है। अतएव इस आचार्य के पूर्वज एवं सन्तति के विषय में *पञ्जीप्रबन्ध* में कुछ उपलब्ध नहीं है।

विद्वानों की धारणा रही है कि **आचार्य उदयन** का काल ख्रीष्टीय दशम शतक रहा है क्योंकि –

'तर्काम्बराङ्कप्रमितेष्वतीतेषु शकान्ततः।

वर्षेषूदयनश्चक्रे सुबोधां लक्षणावलीम्।।

इस पद्य के अनुसार ९०६ शकवर्ष में उन्होंने *लक्षणावली* का प्रणयन किया, जिसे ईस्वी वर्ष में परिवर्तित करने पर ९८४ ई० दशम शतक होता है।

किन्तु ज्ञानश्रीमित्र *निबन्धावली* तथा रत्नकीर्ति *निबन्धावली* के प्रकाशन के पश्चात् **उदयन** की कृतियों में इन दोनों ही बौद्ध दार्शनिकों की मान्यताओं के खण्डन से सिद्ध होता है कि ख्रीष्टीय एकादश शतक के उत्तरार्ध में **आचार्य उदयन** के पाण्डित्य का प्रसार हुआ होगा। क्योंकि ज्ञानश्रीमित्र ने तात्पर्य टीकाकार वाचस्पति मिश्र के मतों का खण्डन नाम निर्देश पूर्वक किया है और उनका समय *न्यायसूची निबन्ध* में –

न्यायसूचीनिबन्धोऽसावकारि सुधियां मुदे।
श्रीवाचस्पतिमिश्रेण वस्वङ्कवसुवत्सरे।।

वस्वङ्कवसु वत्सर अर्थात् ८९८ शकाब्द के अनुसार ख्रीष्टाब्द ९७६ होता है। अतएव मध्य में ज्ञानश्रीमित्र के रहने से ख्रीष्टीय एकादश शतक का पूर्वार्ध इस बौद्ध दार्शनिकों का समय मानना होगा और इनका खण्डन *आत्मतत्त्व विवेक*, *न्यायकुसुमाञ्जलि* तथा *किरणावली* में उपलब्ध रहने से उक्त शतक का उत्तरार्ध ही आचार्य उदयन का समय मानना सङ्गत होगा। *मिथिला के नव्यन्याय का इतिहास* में (पृ० ५२ में) प्रो० दिनेशचन्द्र भट्टाचार्य ने भी यही कहा है। इस तरह मिथिला के अलङ्कारभूत पण्डित उदयनाचार्य का समय ख्रीष्टीय एकादशशतक ही युक्तिसंगत प्रतीत होता है।

न्याय दर्शन में तात्पर्याचार्य से वाचस्पति मिश्र (तात्पर्य टीकाकार) का और केवल आचार्य से उदयनाचार्य का उल्लेख ग्रन्थों में उपलब्ध है। इस आचार्य के तीन व्याख्या ग्रन्थ, दो लक्षण ग्रन्थ तथा दो प्रकरण ग्रन्थ उंपलब्ध हैं। न्याय दर्शन के पञ्चम अध्याय के सूत्रों की वृत्ति *न्यायपरिशिष्ट* या *प्रबोधसिद्धि* नाम से प्रसिद्ध है। *तात्पर्यटीका* की व्याख्या *परिशुद्धि* जो *न्यायनिबन्ध* नाम से भी प्रसिद्ध है एवं *प्रशस्तपादभाष्य* (पदार्थ धर्म संग्रह) की व्याख्या *किरणावली* प्रसिद्ध है। *न्यायदर्शन* के सोलह पदार्थों के लक्षण *लक्षणमाला* में तथा वैशेषिक दर्शन के सात पदार्थों के लक्षण *लक्षणावली* में किये गये हैं। *आत्मतत्त्वविवेक* में *न्यायदर्शन* के अनुमत आत्मा की और *न्यायकुसुमाञ्जलि* में ईश्वर की सिद्धि की गयी है। *न्यायकुसुमाञ्जलि* के दो प्रकार उपलब्ध हैं। एक में कारिका मात्र है, जिसकी सर्वप्रथम व्याख्या हरिदासभट्टाचार्य ने की है। पश्चात् उनकी भी अनेक उपव्याख्याएँ हुई। और एक स्वोपज्ञव्याख्या के साथ कारिका उपलब्ध है। इनकी अनेक व्याख्याएँ हुई हैं। *मूलकुसुमाञ्जलि* यही है। हरिदास भट्टाचार्य कृत व्याख्या के साथ इसका संक्षिप्त रूप है।

आत्मतत्त्वविवेक का संक्षिप्त प्रतिपाद्य

यह *आत्मतत्वविवेक* चार परिच्छेदों में विभक्त है - १. क्षणभंगवाद, २. बाह्यार्थभङ्गवाद, ३. गुण तथा गुणी का अभेदवाद तथा ४. अनुपलम्भवाद। इन चारों परिच्छेदों में यथाक्रम इन विषयों की युक्ति एवं प्रमाण के आधार पर निराकरण किया गया है। आत्मा के निराकरण एवं नैरात्म्य के साधन हेतु बौद्ध दार्शनिकों के द्वारा प्रधान रूपसे उठाये गये पूर्वपक्षों का आचार्य उदयन ने यहाँ खण्डन कर आत्मतत्त्व की सिद्धि की है।

प्रथम परिच्छेद में सत्त्वहेतु से क्षणभंगवाद का पदार्थों के क्षणिकत्व का तथा बौद्ध दार्शनिकों के सम्मत कुर्वद्रूपत्व का निराकरण हुआ है। विनाशित्व हेतु से भी पदार्थों के क्षणिकत्व का निराकरण तथा भावपदार्थ के स्थैर्य का साधन हुआ है। बौद्ध आचार्य **ज्ञानश्रीमित्र** द्वारा प्रचारित अपोहवाद-अतद्व्यावृत्तत्व-का निराकरण, **सौत्रान्तिक** की मान्यता बाह्याकारवाद का, **वैभाषिक** के मत-बाह्यस्वलक्षणवाद का तथा **आचार्य धर्मकीर्ति** के पिण्डैक्यवाद का खण्डन तथा बौद्ध संमत जातिबाधक युक्तियों का निराकरण यहाँ **आचार्य उदयन** ने दृढ प्रमाणों के आधार पर किया है।

योगाचार मतानुसारी **बौद्ध आचार्यों** के मान्य ज्ञान तथा ज्ञेय के अभेद का, चित्रज्ञानवाद का, **माध्यमिक** सम्प्रदाय के शून्यवाद का खण्डन, **नैयायिकों** के सम्मत अवयवी का सयुक्तिक साधन, परमाणु-मान्यता का समर्थन तथा ज्ञान के स्वतः प्रामाण्य का निराकरण आदि विषयों का विवेचन यहाँ द्वितीय परिच्छेद में हुआ है।

बौद्ध आचार्यों के मान्य गुण तथा गुणी में अभेद का खण्डन तथा उन दोनों में परस्पर भेद की सिद्धि हेतु प्रमाण एवं युक्ति का प्रदर्शन यहाँ तृतीय परिच्छेद में हुआ है। अवधेय है कि सहोपलम्भ नियम के आधार पर बौद्ध आचार्यों ने गुण तथा गुणी में अभेद की सिद्धि की है, जिसका खण्डन यहाँ आचार्य **उदयन** ने किया है।

अन्तिम परिच्छेद में (चतुर्थ परिच्छेद में) प्रमाण के बलपर आत्मसिद्धि की बाधक युक्तियों का खण्डन और प्रत्यक्ष, अनुमान तथा आगम प्रमाणों से उसकी (आत्माकी) सिद्धि की गयी है। नित्य, विभु तथा ज्ञानाधिकरण स्वरूप जीवात्मा के नानात्व की प्रतिष्ठा यहाँ ग्रन्थकार का अभिप्रेत है। अत एव यहाँ इन्द्रिय-आत्मवाद, मन आत्मवाद तथा शरीर आत्मवाद का सयुक्तिक खण्डन दृष्टिगोचर होता है। आम्नाय के प्रामाण्य का स्थापन, जगत् के कर्ता रूप में ईश्वर की सिद्धि, न्यायमतानुसार दुःखात्यन्ताभावरूप अपवर्ग का समर्थन तथा सभी आस्तिक दर्शनों के समन्वय का प्रयास यहाँ हुआ है।

इस संसार में आध्यात्मिक, आधिदैविक तथा आधिभौतिक इन अनेक प्रकारों के दुःखों से छुटकारा हेतु उपाय के अन्वेषण में संलग्न मानव आत्यन्तिक

दु:ख की निवृत्ति स्वरूप मोक्ष के साधन रूप में आत्मतत्त्व के ज्ञान को ही प्राप्त करता है। मानव मात्र के हितैषी ऋषियों के द्वारा प्रणीत तथा अगाध ज्ञान से संपन्न आचार्यों के द्वारा पल्लवित केवल हित के उपदेश स्वरूप शासन में तत्पर शास्त्रों के अवलोकन से ज्ञात होता है कि आत्मतत्त्व का ज्ञान ही मोक्ष के साधन के रूप में उपादेय है।

इस आत्मतत्त्व के प्रसङ्ग में भारतीय दार्शनिक वृन्द दो दलों में विभक्त हैं। बौद्धदार्शनिक नैरात्म्य ज्ञान को ही तत्त्वज्ञान मानकर उसको आत्यन्तिक दु:खनिवृत्तिरूप निर्वाण (मोक्ष) का उपाय मानते हैं और वैदिक परम्परा के प्रति अधिक श्रद्धालु नैयायिक वृन्द आत्मतत्त्वज्ञान को । दोनों ही मतों में निषेध्य अथवा विधेय रूपमें आत्मतत्त्व का ही ज्ञान अपेक्षित होता है।

नैयायिक की दृष्टि में नैरात्म्यज्ञान तत्त्वज्ञान नहीं हो सकता है। यथा मैं गौरवर्ण हूँ, मैं श्यामवर्ण हूँ आदि देह से अभिन्न रूप में प्रतीयमान ज्ञान तत्त्वज्ञान नहीं हो सकता है। मैं सुखी हूँ इत्यादि प्रतीति को हेतु मानकर किये गये अनुमान से सिद्ध आत्मज्ञान ही तत्त्वज्ञान की कोटि में आता है। अतः यह आत्मतत्त्व अवश्य निरूपणीय है।

इसके विरोध में उपर्युक्त चार मत **आचार्य उदयन** के समय में प्रसिद्ध रहे होंगे। अतः उन मतों का पूर्वपक्ष के रूप में वैशद्य के साथ उपपादन करके पश्चात् उनका खण्डन तथा अपनी मान्यता का समर्थन यहाँ किया गया है।

किसी भी सन्दिग्ध पदार्थ की सिद्धि हेतु बाधक प्रमाणों का खण्डन तथा साधक प्रमाणोंकी प्रस्तुति आवश्यक होती है। अतएव **आचार्य उदयन** ने इन दोनों ही प्रक्रियाओं का अवलम्बन कर इस आत्मतत्त्व का विवेचन किया है।

भावपदार्थ के क्षणिकत्व की सिद्धि हेतु **बौद्ध दार्शनिक** का कहना है कि 'प्रत्येक सत् पदार्थ क्षणभंगुर होता है यथा बादल' – 'यत् सत् तत् क्षणिकम् यथा जलधरः'। इस प्रकार सत् होने के कारण घट तथा पट आदि पदार्थ भी क्षणभंगुर हैं। यहाँ विवाद का विषय प्रत्येक भाव पदार्थ सत् कोटि में प्रविष्ट है। सत्त्व (विद्यमानत्व) हेतु से अनुमान प्रमाण के बल पर भाव पदार्थ मात्र में क्षणिकत्व उपपन्न होता है। चूँकि आत्मा नामक पदार्थ भी सत्कोटि में आता है अतएव उसका भी क्षणिकत्व सिद्ध होता है, नित्यत्व नहीं।

इसके उत्तर में नैयायिक का कहना है कि क्षणिकत्व रूप साध्य के साथ सत्त्वरूप हेतु की व्याप्ति में प्रमाण नहीं है। अतः भाव पदार्थ के क्षणिकत्व में प्रदर्शित अनुमान मान्य नहीं हो सकता है। बौद्ध दार्शनिक अनुमान प्रमाण के दो अवयव मानते हैं – १. दृष्टान्त और २. उपनय। प्रकृत में 'यत् सत् तत् क्षणिकम् यथा घटः' यह अंश उदाहरण है। और 'संश्च विवादाध्यासितः शब्दादिः' यह अंश है उपनय। उदाहरणवाक्य के बल पर सत्त्वहेतु में क्षणिकत्व साध्य की व्याप्ति का ज्ञान होता है और उक्त उपनय वाक्य के बल पर पक्षधर्मता अर्थात् पक्षमे हेतु की वृत्तिता (विद्यमानता) का ज्ञान होता है। किन्तु बौद्ध दर्शन में अवयवी मान्य नहीं है। इस दर्शनमें घट तथा पट आदि पदार्थ परमाणुपुञ्ज रूप ही होते हैं। अतः घट आदि अवयवी इस क्षणिकत्व के अनुमान में दृष्टान्त नहीं हो सकते हैं। यहीँ यह भी विचारणीय है कि वादी तथा प्रतिवादी – दोनों – का स्वीकार्य पदार्थ ही दृष्टान्त होता है। बौद्ध दर्शन में घट की क्षणिकता मान्य है किन्तु न्यायदर्शन में वह असिद्ध है। यहाँ घट पदार्थ स्थिरात्मक तथा अवयवी के रूप में मान्य है। फलतः क्षणिकत्व के अनुमानमे घट दृष्टान्त नहीं हो सकता है। घट के स्वरूप के विषय में दोनों की दृष्टियों में सर्वथा भेद है।

पुनश्च बौद्ध आचार्य का यहाँ कहना है कि क्षणविशेष में बखार के बीज में अंकुर उत्पन्न करने की सामर्थ्य नहीं देखी जाती है किन्तु भिन्न क्षण में खेत में उन्हीं बीजों के डालने पर अंकुर उत्पन्न करने की सामर्थ्य रहने से अंकुर उत्पन्न होते हैं। बखार के बीज में अंकुर उत्पन्न करने की सामर्थ्य नहीं रहती है। और खेत में डाले गये उन्हीं बीजों में अंकुर उत्पन्न करने की सामर्थ्य देखी जाती है। इससे सिद्ध होता है कि क्षण विशेष में विद्यमान बखार के बीज से अन्यक्षण में विद्यमान खेत में डाले गये बीज भिन्न होते हैं। इस प्रकार बखार के बीज तथा खेत में डाले गये बीज में भेद स्पष्ट ही देखा जाता है, जो भाव पदार्थ का क्षणिकत्व सिद्ध करता है। इस तरह विचार करने पर उपर्युक्त आपत्ति का निराकरण तथा भाव पदार्थ की क्षणिकता सिद्ध होती है।

यहाँ नैयायिक का समाधान यह है कि जैसे अन्धकार और प्रकाश एक स्थान में नहीं रह सकते हैं उसी तरह एक ही बीज में सामर्थ्य और असामर्थ्य रूप दो विरोधी धर्मों का समावेश संभव नहीं है।

पुनश्च बौद्ध दार्शनिक कहते हैं कि अन्वय तथा व्यतिरेक के बल पर यहाँ उक्त भेद की सिद्धि करके भाव पदार्थ की क्षणिकता सिद्ध हो जायेगी। जिन बीजों में अंकुर उत्पन्न करने की सामर्थ्य होगी उन बीजों से अंकुर उत्पन्न होंगे। खेत में डाले गये बीजों से अंकुर उत्पन्न होते हैं, अतः उनमें अंकुर उत्पन्न करने की सामर्थ्य मानी जाती है। बखार के बीजों में अंकुर उत्पन्न करने की सामर्थ्य नहीं है, अतः बखार के बीजों से अंकुर उत्पन्न नहीं होते हैं। इस प्रकार अन्वय तथा व्यतिरेक से बखार के बीज और खेत में डाले गये बीज में भिन्नता के कारण एक में असामर्थ्य और दूसरे में सामर्थ्य होने से एकत्र दो विरुद्ध धर्मों का समावेश नहीं होता है।

इसके समाधान में **आचार्य उदयन** का वक्तव्य है कि सामर्थ्य दो प्रकार की होती है – १. फलोपधायक और २. स्वरूपयोग्य। फलोपधायक रूप सामर्थ्य मानने पर अनुमेय और अनुमान में– साध्य और साधन में– अभेद हो जायेगा। अतः अनुमिति ही नहीं होगी। दोनों में अभेद इस प्रकार होता है। बखार के बीज में यदि अंकुर उत्पन्न करने की क्षमता होती तो वह अवश्य अंकुर उत्पन्न करता। इसी प्रकार क्षेत्रपतित बीज यदि अंकुर उत्पन्न करने में असमर्थ होता तो वह अंकुर उत्पन्न नहीं करता, इस अन्वय, पुनश्च बखारके बीज अंकुर उत्पन्न नहीं करते हैं, अतः उनमें अंकुर उत्पन्न करने की सामर्थ्य नहीं है। खेत में डाले गये बीज अंकुर उत्पन्न करते हैं, अतः उनमें अंकुर उत्पन्न करने की सामर्थ्य मान्य है – इस व्यतिरेक से सामर्थ्य एवं कारित्व में तथा असामर्थ्य और अकारित्व में अभेद स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है।

यदि दूसरा कल्प, स्वरूपयोग्यता रूप सामर्थ्य, माना जाये तो खेत में डाले गये बीजों से सद्यः उत्पन्न कुर्वद्रूपत्व की महिमा से उन बीजों में अंकुर उत्पन्न करने की सामर्थ्य रहने के कारण बखार के बीज के क्षण से उस क्षेत्र पतित बीज का क्षण भिन्न होगा। इस प्रकार दोनों बीजों में विलक्षणता के कारण भेद उपपन्न होता है, जो भाव पदार्थों के क्षणिकत्व का साधक हो सकता है।

इसका उत्तर देता हुआ नैयायिक कहता है कि कुर्वद्रूपत्व की कल्पना में प्रमाण उपलब्ध नहीं है। अतः इसके बल पर बखार के बीज एवं खेत में डाले गये बीज में भेद नहीं सिद्ध किया जा सकता है। बीज जातीय सभी बीजों में अंकुरजननसामर्थ्य समान रूप से मान्य है। बीजत्व ही अंकुर जनकता का

प्रयोजक होता है। उक्त सहकारी के रहने पर बीज अंकुर उत्पन्न करने में समर्थ होता है और उसके नहीं रहने पर वह अंकुर उत्पन्न नहीं कर पाता है। इस तरह सहकारी की समवधानता तथा असमवधानता से ही बीजों में अंकुर की उत्पादकता तथा अनुत्पादकता देखी जाती है। इसके लिए कुर्वद्रूपत्व की न तो अपेक्षा है न ही उसके मानने में प्रमाण ही उपलब्ध है।

उपर्युक्त युक्ति के अनुसार सत्त्व हेतु से भाव पदार्थों के क्षणिकत्व का नैयायिक के द्वारा निराकरण होने पर भी दुराग्रही बौद्ध आचार्य विनाशित्व हेतु से इस क्षणिकत्व की सिद्धि हेतु प्रयत्नशील हैं।

चूँकि भाव पदार्थों का विनाश अवश्य होता है, इसलिए वह निर्हैतुक ही मान्य है। जो अवश्यं भावी है, उसमें किसी हेतु की अपेक्षा नहीं होती है। प्रत्येक भाव पदार्थ एकक्षण में उत्पन्न होता है और अपर क्षण में स्वयम् अर्थात् अकारण ही विनष्ट हो जाता है। भाव पदार्थ का स्वभाव है उत्पन्न होना और विनष्ट होना। अत: वह क्षणिक ही मान्य है।

यहाँ नैयायिक का कहना है कि भाव पदार्थ अकारण ही विनष्ट होता है अर्थात् भावपदार्थ का विनाश निर्हैतुक होता है – इसके विवेचन के समय पाँच प्रकारों के विकल्प उपस्थित होते हैं। भाव पदार्थ में क्षणिकत्व के साधक विनाशित्व हेतु १. क्या प्रतियोगी स्वरूप होता है, या २. निरुपाख्य (जिसका कुछ नाम नहीं दिया जा सकता है) होता है, या ३. प्रतियोगी क कार्य होता है, या ४. प्रतियोगी से व्यापक होता है या ५. अभाव स्वरूप वह प्रागभाव के समान अहेतुक होता है।

यहाँ पहला विकल्प मान्य नहीं हो सकता है। परस्पर विरुद्ध स्वभाव वाली दो वस्तुओं में अभेद की उपपत्ति असंभव है। निषेध्य घट और निषेधक घटके विनाश में अभेद मानना प्रतीति का विपरीत है। आचार्य उदयन ने बौद्ध दार्शनिक का उपहास करते हुए कहा है कि भाव पदार्थ का स्वभाव विधिस्वरूप होता है, अतएव आत्मा मान्य है। निषेध अर्थात् विधि का विपरीत स्वरूप यदि भाव पदार्थ हो अर्थात् आत्मा हो तो यह सुनकर भी मतिमान् (बौद्ध दार्शनिक) लज्जित क्यों नहीं होते हैं।

विधिरात्मास्ति भावस्य निषेधस्तु ततः परः।
सोऽपि चात्मेति कः प्रेक्षः शृण्वन्नपि न लज्जते।।

दूसरा विकल्प भी संभव नहीं है। भाव की निवृत्ति को निरुपाख्य मानने पर अलीक पदार्थ का (जिसका अस्तित्व संभव नहीं है, ऐसे पदार्थ वन्ध्यापुत्र आदि का) देश एवं काल से परिच्छिन्न करना संभव नहीं रहने से बौद्ध की दृष्टि में इस प्रकार की भाव-निवृत्ति का सद्भाव कभी कहीं नहीं हो सकेगा अथवा सर्वदा सर्वत्र उसका सद्भाव हो जायेगा, जिसका परिहार संभव नहीं होगा।

तीसरा विकल्प भी युक्तिहीन है। विनाश प्रतियोगी का कार्य होता है - यह हेतु ही सिद्ध नहीं हो सकता है। क्योंकि विनाश का कारण केवल प्रतियोगी नहीं होता है। मुद्गर तथा पत्थर आदि से भी घट आदि भाव पदार्थ का विनाश होता हुआ देखा जाता है।

चौथा विकल्प भी मान्य नहीं है। बौद्ध की दृष्टि में व्याप्ति का निश्चायक होता है - तादात्म्य और तदुत्पत्ति। घटध्वंस एवं उसका प्रतियोगी घट - इन दोनों में तादात्म्य तथा तदुत्पत्ति में से कोई एक भी संबन्ध यहाँ संभव नहीं है। क्योंकि भाव पदार्थ का ध्वंस भाव पदार्थ की अपेक्षा अव्यापक होता है।

पाँचवाँ विकल्प भी संभव नहीं है। विनाश अभाव स्वरूप होता हुआ प्रागभाव के समान अहेतुक होता है। अभिप्राय यह है कि विना किसी हेतु द्वारा उत्पन्न नहीं होता है, अभावस्वरूप होने से, यथा प्रागभाव कारण के बिना होता है। यदि विनाश को सहेतुक मानेंगे तो जैसे घट उत्पन्न होने से पुनः निवृत्त हो जाता है उसी प्रकार विनाश भी उत्पन्न होकर निवृत्त हो जायेगा। ऐसी स्थिति में विनष्ट वस्तु का पुनः प्रकट होने की आपत्ति होगी।

इसके अयुक्त होने में युक्ति यह है कि नैयायिक भी अनुमान कर सकता है कि प्रागभाव भी उत्पन्न होता है अभाव होने से, जैसे ध्वंस उत्पन्न होता है। अथवा प्रागभाव उत्पन्न होता है विनाशी होने से यथा घट। अथवा यदि प्रागभाव उत्पन्न नहीं होता है अतएव वह नष्ट भी नहीं होगा, क्योंकि वह अनुत्पन्न है। जो उत्पन्न नहीं होता है वह नष्ट भी नहीं होता है, यथा आकाश तथा अलीक पदार्थ शशशृङ्ग आदि। यहाँ नैयायिक कहता है कि यदि यहाँ मेरा हेतु गलत है तो वही

अभावत्व आपका भी हेतु है, अतः वह भी गलत होगा। इस प्रकार उपपन्न होता है कि विनाश निर्हेतुक नहीं सहेतुक ही होता है।

ज्ञातव्य है कि उपर्युक्त अनुमानों एवं तर्कों में यही दोष है कि भाव पदार्थ के साथ ही उक्त व्याप्ति के होने से उपर्युक्त अनुमान एवं तर्क अप्रयोजक (असाधक) होते हैं। भाव पदार्थ ही उत्पन्न होने से विनाशी होते हैं या अनुत्पन्न होने से नष्ट नहीं होते। अतः ध्वंस या प्रागभाव में वह नियम लागू नहीं हो सकता है। प्रागभाव का कारण नहीं होता है और ध्वंस का नाश नहीं होता है। फलतः विनाशित्व हेतु से भी भाव पदार्थों का क्षणिकत्व सिद्ध नहीं हो सकता है।

इस तरह भाव पदार्थों के क्षणिकत्व का निराकरण करके आचार्य उदयन ने प्रत्यभिज्ञा के बल पर भाव पदार्थों के स्थैर्य की सिद्धि की है।

यही वह देवदत्त है, जिसे मथुरा में देखा था - इस प्रतीति को प्रत्यभिज्ञा कहते हैं। यहाँ तत्ता और इदन्ता (यही वह है) इस प्रतीति में एक अंश में स्मरण का समावेश है, जो अतीत काल तथा देश से संबद्ध है और एक अंश में वर्तमान काल तथा देश के संबन्ध के साथ इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न प्रत्यक्षज्ञान का समावेश है। यहाँ प्रत्यभिज्ञा अतीत और वर्तमान दोनों कालों का अवगाहन करती है। एक ही विषयक स्मरण तथा प्रत्यक्ष का सामानाधिकरण्य (एक अधिकरण में रहना) अन्यथा उपपन्न नहीं हो सकता है। भाव पदार्थों को क्षणिक मानने पर यह प्रत्यभिज्ञा नहीं हो सकेगी। चूँकि यह प्रत्यभिज्ञा निर्भ्रान्त रूप से सबका अवश्य अनुभूत एवं मान्य है, अतः भाव पदार्थों का स्थैर्य विघ्न बाधा के बिना सिद्ध होता है।

इसके विरोध में बौद्ध आचार्य का कहना है कि स्थैर्य से रहित अर्थात् प्रतिक्षण परिवर्तनशील दीपक की ज्वाला (लौ) में भी यही वह ज्वाला है - ऐसी प्रत्यभिज्ञा होती है। अत प्रत्यभिज्ञा के उपर्युक्त लक्षण में अतिव्याप्ति दोष होता है।

इसकी प्रतिरक्षा में नैयायिक कहता है कि यद्यपि यही वह देवदत्त है जिसे मथुरा में मैंने देखा था तथा यही वह दीपक की ज्वाला है - दोनों में एक जैसी प्रत्यभिज्ञा की प्रतीति स्थूल दृष्टि से होती है सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर

दोनों में अन्तर अवश्य है। प्रत्यभिज्ञा में अवान्तर विरुद्ध धर्म के संबन्ध की प्रतीति नहीं होती है और दीपक की ज्वाला में मान्द्य एवं आधिक्य स्वरूप अवान्तर विरुद्ध धर्मों के संबन्ध की प्रतीति होती है। चूँकि अवान्तर अनेक विरुद्ध धर्मों का प्रत्येक क्षण के साथ सम्बन्ध रहता है, अतः उसमें व्यभिचार की प्रयोजकता मान्य नहीं है। फलतः भाव पदार्थों के स्थैर्य की साधिका प्रत्यभिज्ञा सर्वथा निर्दुष्ट सिद्ध होती है।

यहाँ दूसरी युक्ति यह है कि अनेक गोव्यक्तियों में एक आकार की जो अनुभव साक्षिक अनुगत प्रतीति होती है – इस प्रतीति की सिद्धि भाव पदार्थों का स्थैर्य मानने पर ही संभव है। अतः उनका क्षणिकत्व मान्य नहीं हो सकता है।

देश तथा काल से जन्य भेद के रहने पर भी गोव्यक्ति समूह में गोत्वरूप एक अनुगत जाति मानी जाती है। इसके नहीं मानने पर शब्द तथा लिङ्ग के विकल्प में सामर्थ्य नहीं रहने के कारण बहुत प्रकारों की अनुपपत्ति होगी। यथा शब्द के साथ अर्थ का संबन्ध वाच्यवाचकभाव ज्ञात नहीं होगा। इसके अज्ञात रहने पर वाक्यार्थबोध नहीं हो पायेगा। अनुमिति स्थल में हेतु और साध्य के बीच व्याप्ति लक्षण के (अव्यभिचरित संबन्ध के) ज्ञात नहीं होने पर अनुमिति नहीं हो सकेगी। यह मेरा इष्ट साधन है – इस प्रकार के सविकल्पक ज्ञान होने पर जो प्रतीति वस्तु का अवगाहन करती है, वह अनुमिति के अभाव में नहीं होगी। इष्टसाधनता ज्ञान के नहीं होने पर नए देखे गये वस्तु विशेष में पूर्वानुभूत इष्टसाधनता की तरह उसके सजातीय इष्टसाधनता का ज्ञान तो उक्त अनुमिति के बिना संभव ही नहीं है। ऐसी स्थिति में कहीं किसी की प्रवृत्ति नहीं होगी। अतः वाक्यार्थ के ज्ञान हेतु पद पदार्थों का ज्ञान, अनुमान तथा सविकल्पक ज्ञान आदि स्थलों में प्रवृत्ति के उपपादन हेतु एक नित्य अनुगत धर्मरूप जाति का स्वीकार आवश्यक है। इसके मान लेने पर भाव पदार्थों की क्षणिकता का निराकरण स्वतः हो जाता है।

इसके विरोध में बौद्ध आचार्य अतद्व्यावृत्तिस्वरूप 'अपोह' पदार्थ मानते हैं। इनका कथन है कि अनेक गोव्यक्तियों में अनुगत व्यवहार की उपपत्ति हेतु नैयायिकवृन्द जाति (सामान्य) पदार्थ मानते हैं, जिससे पदार्थों की क्षणभंगुरता का निराकरण करते हैं। वह जाति 'अपोह' से भिन्न पदार्थ नहीं है। गो पद के

श्रवण के पश्चात् गोत्व आदि सामान्य धर्म अश्वत्व आदि के अभाव स्वरूप विशेषण से अनुरञ्जित होकर गोव्यक्ति की प्रतीति को बुद्धि में उपारूढ करता है, जो अन्य की निवृत्तिरूप विषय का अवगाहन करने वाला सामान्य (जाति) से भिन्न अपोह का ही ज्ञान है। **अपोहत्वं नाम अतद्व्यावृत्तत्वम् (तद्भिन्नभिन्नत्वम्)** गो से भिन्न यावतीय सांसारिक पदार्थों का भेद जहाँ प्रतीत होता है उसका भेद तो केवल गो में ही रहेगा। नैयायिक की जाति भी यही कार्य करती है।

नैयायिक वृन्द अपोह नहीं मानकर जाति मानते हैं। क्योंकि अपोह में लोक-प्रतीति का विरोध दृष्टिगोचर होता है। अनुभव के आधार पर ही किसी वस्तु की सिद्धि होती है। *तात्पर्य टीका* में वाचस्पति मिश्र ने स्पष्ट कहा है – **'संविदेव हि भगवती वस्तूपगमे नः शरणम्'**। गोशब्द के सुनने पर यह गोव्यक्ति है – इस प्रकार की प्रतीति होती है, जो विधि स्वरूप का अवगाहन करती है। विद्वान् से लेकर पांसुलपाद हालिक तक को इसी प्रकार का बोध होता है। यह गौव्यक्ति गौ से भिन्न के भेदरूप बुद्धि का अवगाहन नहीं करती है। इसलिए अपोह पदार्थ में युक्ति का सर्वथा अभाव ही है।

यदि शब्द सुनने पर केवल अन्य निवृत्ति की प्रतीति हो तो अर्थक्रिया (व्यवहार) के अनुरोध से दैनन्दिन व्यवहार में घट के आनयन में जो व्यक्ति की प्रवृत्ति होती है, वह नहीं हो सकेगी। घट के आनयन हेतु व्यक्ति घट से भिन्न पदार्थ के भेद का उल्लेख करके कभी भी कहीँ भी प्रवृत्त नहीं होता है। अपि तु विधि मुखेन प्रतीयमान घट के लिए प्रवृत्त होता है। यह प्रवृत्ति अपोह के खण्डन में ही साक्ष्य देती है। कोई भी व्यक्ति पर्वत पर आग है – यह शब्द सुनकर पर्वत पर अविच्छिन्न रूप से (निरन्तर) धूँआ उठते हुए देखकर पर्वत पर आग का निश्चय करता है। यहाँ विधि रूप (भावरूप) आग अर्थ की ही प्रतीति होती है, आग से भिन्न के भेद की नहीं।

बौद्ध आचार्य ज्ञानश्रीमित्र का कथन है कि अपोह स्थल में विधि रूप प्रतीति तो मुझे भी मान्य है। विधिरूप प्रतीति का अपलाप या उपेक्षा संभव नहीं है। उसके बिना शास्त्रीय प्रक्रिया का निर्वाह नहीं हो सकता है। किन्तु गौरूप भाव पदार्थ में अर्थभेद का भेद भी गौणरूप में प्रतीत होता है – यही मेरा

अभिप्राय है। विशेषण के इतर व्यावर्तन स्वभाव की उपपत्ति अपोह के अर्थात् अन्य निवृत्ति की निवृत्ति के अवलम्बन से ही सिद्ध होता है। अन्यथा नैयायिक की भी गोत्व-जाति गोव्यक्ति के विशेषण रूप में व्यवहृत नहीं हो सकेगी। विशेष्य को अन्य से पृथक् करना ही विशेषण का कर्तव्य होता है। यथा इन्दीवर तथा पुण्डरीक पदों से अर्थ की प्रतीति के अवसर पर यथाक्रम नीलकमल तथा श्वेत कमल की प्रतीति होती है, किन्तु इसके अन्तस् में नीलभिन्न भेद एवं श्वेत भिन्न भेद आदि रहते ही हैं। इसी प्रकार गोव्यक्ति की प्रतीति के अवसर पर गोत्व आदि विशेषण की प्रतीति प्रधानरूप से तथा गोभिन्न भेद की प्रतीति अप्रधान या गौणरूप से होती है।

इसके समाधान में नैयायिक कहता है कि निषेध की प्रतीति निषेध्य की प्रतीति के बिना संभव नहीं है। अतः अपोहवाद की प्रतिष्ठा हेतु गोत्व आदि जाति की सत्ता बौद्ध आचार्य को भी माननी ही होगी।

'यह गौ है' - इस ज्ञान में गोशब्द से जायमान गोभिन्न भेद स्वरूप अपोह दो निषेधों की प्रतीति कराता है। जहाँ पहला गो व्यक्ति के निषेध को समझाता है और दूसरा निषेध गो से भिन्न महिष आदि के भेद को। इन दोनों निषेध्यों में से पहले में जिस किसी गौ व्यक्ति का निषेध और दूसरे में जिस किसी महिष व्यक्ति का निषेध करने पर अगौ से व्यावृत्त धर्म (भेदत्व) साकल्य रूप में सभी गोव्यक्ति का एवं सभी महिष व्यक्ति का स्वीकार करने में असमर्थ होकर जिस किसी गौव्यक्ति को एवं जिस किसी महिष व्यक्ति को लेकर कृतार्थ हो जायेगा। उससे भिन्न गौव्यक्ति एवं महिषव्यक्ति की प्रतीति नहीं करा पायेगा। इसके निराकरण हेतु प्रत्येक गौ एवं प्रत्येक महिष का अंगुली निर्देश पूर्वक निषेध क्या सहस्रजन्मों में भी कोई कर सकता है अतः पहले निषेध स्थल में गोत्व जाति से युक्त सकल गौ व्यक्तियों के निषेध हेतु गोत्व जाति का, एवं दूसरा निषेध स्थल में महिषत्व जाति से युक्त सकल महिष व्यक्तियों के निषेध हेतु महिषत्व जाति का स्वीकार आवश्यक है। इस प्रकार अपोह के बल पर जाति (सामान्य) के खण्डन हेतु तत्पर आचार्य **ज्ञानश्रीमित्र** के लिए भी अपोह की सिद्धि हेतु गोत्व आदि जाति को मानना आवश्यक है।

सौत्रान्तिक–सम्प्रदाय का सम्मत आकारवाद का निराकरण

ज्ञान और ज्ञेय में आकार का साम्य भले ही न हो किन्तु सविकल्पक ज्ञान अपने आकाररूप में स्फुरित होने वाला बाह्य विषय नीलत्वादि में ही प्रवृत्त कराता है, उसमें प्रवृत्त प्रयोजनाकांक्षी व्यक्ति उसके सदृश स्वलक्षणात्मक वस्तु को वैसे ही प्राप्त कर लेता है जैसे मणि की प्रभा देखकर मणि के इच्छुक व्यक्ति मणि के लिए प्रवृत्त होकर मणि प्राप्त कर लेता है।

इस मत के निराकरण में नैयायिक कहता है कि दाह आदि अर्थक्रिया (व्यवहार) के प्रति सामर्थ्य नहीं होने से ज्ञानाकार में भी प्रवृत्ति नहीं हो सकती है। क्योंकि व्यवहार में बहिरूप बाह्य अर्थ ही दाह आदि के लिए समर्थ होता है उसका ज्ञान नहीं।

यदि कहा जाये कि ज्ञानाकार और बाह्यवस्तु में अभेद का आरोप करके अर्थक्रिया हेतु किसी की प्रवृत्ति हो सकती है तो यह भी युक्त नहीं प्रतीत होता है। क्योंकि बाह्यवस्तु में ज्ञानाकार का आरोप संभव नहीं है। स्वप्रकाश होने के कारण ज्ञानस्वरूप के भासित होने से उसमें उसके अस्वरूप भूत बाह्यवस्तु का आरोप नहीं हो सकता है। रज्जु के यथार्थ ज्ञान हो जाने पर उसमें सर्प का आरोप नहीं होता है।

यहाँ जो दृष्टान्त दिया गया है वह भी सिद्ध नहीं होता है। मणि के इच्छुक व्यक्ति मणि समझकर ही मणि की प्रभा देखकर प्रवृत्त होता है और मणि की प्राप्ति करता है। प्रभाबुद्धि से वह प्रवृत्त ही नहीं होता है।

आकारवादी **सौत्रान्तिक** के मत में ज्ञान में ही नहीं भासित होने वाले अर्थ की सत्ता में कोई प्रमाण नहीं मिलता है। ज्ञान द्वारा यदि बाह्य अर्थ का भान होता है तो उसी से 'घटं जानाति' 'पटं जानाति' आदि व्यवहार बन जायेगा। ऐसी स्थिति में इस व्यवहार की उपपत्ति के लिए उस ज्ञान में भासित होने वाला घट तथा पट आदि को बाह्य से अतिरिक्त ज्ञान का आकार कहना प्रामाणिक नहीं हो सकता है। घट एवं पट आदि यदि ज्ञान का आकार होता तो 'ज्ञानं घटः' यही व्यवहार होता किन्तु वैसा न होकर 'घटस्य ज्ञानं' व्यवहार होता है। इस प्रकार सौत्रान्तिक संप्रदाय का आकारवाद सिद्ध नहीं होता है।

वैभाषिक सम्प्रदाय के बाह्य स्वलक्षणवाद का निराकरण

यदि बाह्याकारवाद दोषग्रस्त होने से मान्य नहीं है तो बाह्य भूत स्वलक्षण ही विकल्प का विषय माना जाये। यद्यपि वह स्वलक्षणात्मक बाह्यविषय व्यक्तिगत रूप से संकेत का विषय नहीं होने से शब्दप्रयोग के योग्य नहीं हो सकता है। तथापि अतद्व्यावृत्तिरूप संबन्ध के द्वारा वह स्वलक्षणात्मक बाह्य व्यक्ति साधारण रूपता को प्राप्त करता है और शब्दप्रयोग के योग्य होता है। क्योंकि जैसे एक गौ अगोव्यावृत्त होती है वैसे अन्य गौ भी अगोव्यावृत्त होती है। अगोव्यावृत्ति सभी गौ व्यक्तियों का समानधर्म है, जिसके द्वारा स्वलक्षणात्मक गोव्यक्ति भी संकेत का विषय तथा शब्द प्रयोग के योग्य हो जाती है।

इसके उत्तर में नैयायिक कहता है कि 'अगौ' क्या वस्तु है। क्या एक गौ व्यक्ति से जो भिन्न है या उस गौ में रहनेवाली गोत्व जाति से जो रहित है। यहाँ पहला कल्प मानने पर अन्य गौ में गौशब्द का प्रयोग और सविकल्पक ज्ञान की प्रवृत्ति नहीं हो सकेगी। क्योंकि अश्व तथा महिष आदि की तरह अन्य गौ भी उस एक गौ से भिन्न है। अपि च अतिव्याप्ति दोष भी होगा। क्योंकि महिष तथा हाथी आदि, जो उस गौ से भिन्न है, उनकी व्यावृत्ति होने से अश्व में भी गौ का व्यवहार होने लगेगा। यदि कहा जाये कि अश्व केवल गौ से भिन्न महिष आदि से ही व्यावृत्त नहीं होता है, बल्कि गौ से भी भिन्न होता है। तो क्या आपका अभीष्ट गौ गौ से भी व्यावृत्त नहीं होता? अर्थात् वह गौ अपने से भिन्न गौ से भी व्यावृत्त होता है। **वैभाषिक** यदि मानें कि गौ अपने से भिन्न गौ से भिन्न होने पर भी स्वयं गौ तो है ही। यहाँ नैयायिक पूछता है कि उसके गौ होने का प्रमाण यदि अगोव्यावृत्त अपोह को माना जाये तो पुनः वही दोष होगा अर्थात् अश्व में गो व्यवहार की आपत्ति होगी। महिष आदि विभिन्न पशुओं को अगौपद से लेकर उसकी व्यावृत्ति अश्व में रहेगी ही। यदि गोत्वरूप कोई पदार्थ है, जो केवल गौ में ही रहता है, अन्य किसी भी पशु में या वस्तु में नहीं, तो प्रश्न होगा कि वह गोत्व यदि अन्य व्यावृत्त रूप अपोह से भिन्न विधि स्वरूप मान्य है तो गोत्व जाति ही सिद्ध हुई।

द्वितीय पक्ष मानने पर अर्थात् यदि यह कहा जाये कि उस गौ व्यक्ति में वर्तमान गोत्व धर्म से शून्य जो वस्तु है, उससे व्यावृत्त अर्थात् भिन्न जो होगा, वह गोत्व धर्म से युक्त ही होगा, तो इससे नैयायिक की गोत्व जाति ही सिद्ध

होती है – इसमें विवाद या विप्रतिपत्ति नहीं है।

धर्मकीर्ति के पिण्डैक्यवाद का निराकरण

धर्मकीर्ति का कहना है कि परस्पर में एकाकार पिण्ड ही साधारण रूप है। पिण्डों की एकाकारता ही उनकी अनुगत बुद्धि का विषय होता है। पिण्डगत कोई जाति मान्य नहीं है। अतएव जाति के खण्डन के लिए अतद्व्यावृत्त रूप अपोह की भी आवश्यकता नहीं है। यही है बौद्ध आचार्य **धर्मकीर्ति** के पिण्डैक्यवाद का स्वरूप। यहाँ नैयायिक का कहना है कि पिण्ड का एकत्व संभव नहीं है। क्योंकि प्रत्येक पिण्ड परस्पर विरुद्ध धर्मों से युक्त है। पिण्डों का काल्पनिक एकत्व भी संभव नहीं है। क्योंकि शावलेय आदि सभी पिण्ड भिन्न भिन्न रूप में ही भासित होते हैं।

धर्मकीर्ति यदि कहें कि पिण्ड भले ही भिन्न भिन्न रूप में भासित होते हों किन्तु उनके धर्मों में एकत्व का अभिमान होता है और वही आभिमानिक एकत्व अनुगत प्रतीति का विषय होता है । तो नैयायिक कहेगा कि धर्मी से अतिरिक्त धर्म के मानने पर मेरे साथ बौद्ध आचार्य **धर्मकीर्ति** का कोई विवाद ही नहीं है। वास्तविक अनुगत धर्म (जाति) का अस्तित्व आप का भी मान्य होने से विवाद की गुञ्जाइस ही नहीं रहती है।

धर्मकीर्ति का कहना है कि स्वलक्षणात्मक पिण्डों में पारस्परिक भेद रहने पर भी उनमें समानाकार सविकल्पक ज्ञान उत्पन्न करने की सामर्थ्य मानी जाती है। इस सामर्थ्य के रहने पर गौ का व्यवहार होता है और नहीं रहने पर अगौ का व्यवहार होता है। यह सामर्थ्य स्वकारणनियंत होती है। अतः इसके संबन्ध में यह प्रश्न नहीं उठता है कि वह गौपिण्डों में क्यों रहता है तथा अश्व आदि पिण्डों में क्यों नहीं रहता है।

यहाँ नैयायिक कहता है कि गोत्व गोपिण्डों में रहता है अन्यत्र नहीं – इस व्यवस्था के अनुरोध से गोपिण्डों में गोत्व के वृत्तित्व नियामक रूप में एक अतिरिक्त जाति की कल्पना करनी पड़ेगी। तब गोत्व सामान्य में दूसरा सामान्य और उसमें दूसरा सामान्य मानने पर ऊर्ध्वमुखी अनवस्था तथा गोत्वगत वृत्तित्व के नियमन हेतु गो पिण्डों में दूसरी जाति पुनश्च उस जाति के नियमन हेतु उन गोपिण्डों में दूसरी जाति की कल्पना करने पर अधोमुखी अनवस्था

होगी। इस प्रकार उभयमुखी अनवस्था से त्राण हेतु जाति का अनुगत व्यवहार के असाधारण कारण के रूपमें मानना ही उचित है।

अपोह की सिद्धि हेतु व्यग्र बौद्ध दार्शनिक का कहना है कि अनेक व्यक्ति वृत्ति जाति (सामान्य) के मानने में बाधक प्रमाण विद्यमान हैं, अतः अनायास अपोह की सिद्धि हो जायेगी।

यहाँ नैयायिक कहता है कि शंकित एवं निश्चित दोनों ही प्रकारों के बाधक प्रमाण यहाँ अनुपलब्ध हैं। अतः अनुगत व्यवहार की सिद्धि हेतु जाति का स्वीकार आवश्यक है। यहाँ अनुगत व्यवहार का अन्य किसी प्रकार से सिद्ध नहीं होना ही बाधक प्रमाण की शंका को दूर कर देता है। निश्चित बाधक प्रमाण भी अनुपलब्ध ही है। यहाँ दो विकल्प उठाये जा सकते हैं। क्या वह जाति के स्वरूप का बाधक होगा या उसके ज्ञान का।

पुनः प्रथम कल्प में दो विकल्प उठते हैं - जाति के स्वरूप का अनुपलंभ होगा या विरुद्ध धर्म का अध्यास होगा। इसमें प्रथम कल्प संभव नहीं है। क्योंकि वह असिद्ध है। यहाँ नाना गवादि व्यक्तियों में भासित होने वाले गोत्व आदि सामान्य का स्वरूप चिन्तन ही आरम्भ किया गया है न कि नहीं भासित होने वाले सामान्य का चिन्तन। अतः गोत्व आदि सामान्य का अनुपलम्भ कहना असंगत है।

विरुद्ध धर्म का अध्यासरूप द्वितीय कल्प जाति का बाधक नहीं हो सकता है। क्योंकि जैसे अवयवी की सिद्धि के समय युक्ति दिखायी गयी है, वैसी ही युक्तियाँ यहाँ जाति की सिद्धि एवं उसके बाधक का खण्डन करती हैं। प्रश्न होता है कि अवयवी अवयव समूह गत प्रत्येक अवयव में समग्ररूप से रहता है या एक अंश से। यदि समग्ररूप से रहता है तब एक अवयव में समग्र रूप से रहने पर अपर अवयव में अवयवी के अभाव का ज्ञान होगा। यदि अवयव में एक अंश से रहेगा तब वह एक अंश यदि उस अवयव से भिन्न अवयव होगा तो उसका भी अंशान्तर होगा। इस प्रकार अनवस्था दोष होगा। इसके उत्तर में नैयायिक ने कहा है अवयव में अवयवी न तो समग्ररूप से रहता है नहीं अंश रूप से किन्तु स्वरूप से रहता है।

इसी प्रकार जाति भी व्यक्ति समूह के मध्य प्रत्येक व्यक्ति में न तो समग्र रूप से रहता है न ही अंश रूप से, किन्तु स्वरूप से रहता है। अतएव

जाति में विरुद्ध धर्म का संसर्ग नहीं होता है। अवयवी की तरह जाति के प्रसंग में भी विरुद्ध धर्म के संसर्ग की शंका एवं समाधान ऊहनीय है।

जातिके ज्ञान का भी बाधक नहीं हो सकता है – इसके उपपादन हेतु सात विकल्पों को उठाकर उनके निराकरण द्वारा नैयायिक के पक्षधर आचार्य उदयन ने जाति की सिद्धि की है।

प्रश्न होता है कि ज्ञान के बाधक से यहाँ क्या अभिप्रेत है – १. जाति का ज्ञान संभव नहीं है, २. जाति के ज्ञान का कोई कारण नहीं है, ३. नाना विषयक ज्ञान जातिज्ञान का बाधक होता है, ४. जाति का ज्ञान परोक्षात्मक होता है, ५. जाति का ज्ञान निर्विषयक होने से प्रमात्मक नहीं होता है, ६. जाति का ज्ञान इन्द्रिय जन्य नहीं होता है, ७. जाति का ज्ञान साक्षात्कारात्मक नहीं होता है।

यहाँ प्रथम कल्प जातिज्ञान के स्वरूप का खण्डन नहीं हो सकता है। क्योंकि वह अनुभव से बाधित है। यह गौ है, यह भी गौ है – इस प्रकार की अनुगत प्रतीति होती है, जो जाति ज्ञान का स्वरूप है। इसका अपलाप नहीं किया जा सकता है। द्वितीय कल्प भी यहाँ संभव नहीं है, क्योंकि सामान्य का ज्ञान उत्पन्न होता है, जो कारण के बिना संभव नहीं है। 'यही वह गौ है' इस अनुभव में पूर्वदृष्ट गोव्यक्ति तथा दृश्यमान गोव्यक्ति में एक अनुगत धर्म गोत्व का ज्ञान उत्पन्न होता है। तृतीय कल्प भी संभव नहीं है। यदि जातिविषयक ज्ञान में विरुद्ध धर्मों का अध्यास होता तो जाति विषयक ज्ञान एक नहीं होकर नाना होता, तब नाना विषयक ज्ञान से जाति की सिद्धि नहीं होती। क्योंकि अनेक व्यक्तियों में विद्यमान एक अनुगतधर्म के रूप में जाति मानी जाती है। यहाँ कहना है कि 'यही वह है – तदेवेदम्' यह ज्ञान तत्पदार्थ और इदं पदार्थ में एक धर्मवत्त्व को सूचित करता हुआ सामान्य (जाति) में एकत्व उपपन्न करता है। यहाँ तत्ता अंश में परोक्षत्व और इदन्ता अंश में प्रत्यक्षत्व को लेकर विरुद्ध धर्मों का अध्यास सिद्ध करना तथा उसके आधार पर ज्ञान में पारस्परिक भेद सिद्ध करके जाति में एकत्व का बाध दिखाना संगत नहीं है। क्योंकि संस्कार या स्मृति के द्वारा उपनीत विशेषणांश में प्रत्यभिज्ञात्मक एक विशिष्ट प्रत्यक्ष ज्ञान मान्य है। 'यही वह है – तदेवेदम्' में दो धर्मी में एक धर्म गोत्व (जाति) का ज्ञान होता है। अतः तृतीय कल्प भी सिद्ध नहीं होता है।

चतुर्थ कल्प जातिज्ञान को परोक्ष कहना संगत नहीं है। उसके परोक्ष मानने पर बौद्ध मत में परोक्ष ज्ञान में यथार्थ विषय के नहीं रहने से उस ज्ञान से (जाति विषयक परोक्ष ज्ञान से) जाति की सिद्धि नहीं होगी – यह संगत नहीं है। क्योंकि जातिविषयक ज्ञान में परोक्षत्व या अपरोक्षत्व सिद्ध नहीं होता है। 'यही वह है' इस प्रकार की प्रत्यभिज्ञा में संस्कार सहित इन्द्रियजन्यता के रहने से वह परोक्षात्मक ज्ञान माना ही नहीं जायेगा।

पञ्चम विकल्प – जाति का ज्ञान निर्विषयक होने से प्रमात्मक नहीं हो सकता है – भी संगत नहीं है। क्योंकि ज्ञान में विषय जिस रूप में प्रकाशित होता है, वहाँ उसी रूप में वह विषय मान्य होता है और उसी ज्ञान को प्रमा कहते हैं। विषय के खण्डन के विना ज्ञान का खण्डन संभव ही नहीं है। 'यही वह गौ है' इस प्रत्यभिज्ञा में अथवा यह गौ है यह भी गौ है इत्यादि अनुगत प्रतीति में जो सामान्य (जाति) स्वरूप गोत्व का भान होता है – उसका निराकरण संभव नहीं है। यह बात हमने (नैयायिकों ने) पहले ही क्षणभंग के निराकरण के समय प्रस्तुत की है। अतः जाति विषयक ज्ञान प्रमारूप में ही मान्य है। षष्ठ पक्ष अर्थात् जाति विषयक ज्ञान इन्द्रिय–जन्य नहीं होता है – भी असंगत है। ज्ञान की इन्द्रिय जन्यता के अभाव में वह परोक्षज्ञान होगा और परोक्षज्ञान में बौद्धदृष्टि में यथार्थ विषय भासित नहीं होता है। अतः जातिज्ञान की इन्द्रिय जन्यता नहीं रहने से जाति की सिद्धि संभव नहीं है। इसके उत्तर में नैयायिक का कहना है कि जातिविषयक ज्ञान में इन्द्रिय का अन्वय और व्यतिरेक का अनुविधायित्व है। अतः वह ज्ञान परोक्षात्मक नहीं अपरोक्षात्मक ही होता है। गौ के साथ चक्षुरिन्द्रिय के सन्निकर्ष होने पर ही 'यह गौ है यह भी गौ है' 'एवं यही वह गौ है' इत्यादि प्रतीति होती है, जहाँ गोत्व जाति का अपरोक्षात्मक ज्ञान उत्पन्न होता है। इस प्रकार जाति ज्ञान का इन्द्रिय जन्यत्व ही सिद्ध होता है, उसका बाध संभव नहीं है।

सप्तम विकल्प – जाति का ज्ञान असाक्षात्कारी होता है – संगत नहीं है। साक्षात्कारत्व विशिष्ट ज्ञान के प्रति इन्द्रिय का अन्वयव्यतिरेकानुसारित्व का व्यभिचार नहीं होता है किन्तु अव्यभिचार ही दृष्ट है। जो ज्ञान साक्षात्कारी होता है उसमें इन्द्रिय जन्यत्व रहता है। इन्द्रियजन्यत्व का व्यभिचार नहीं रहने से जाति विषयक ज्ञान उपर्युक्त रीत्या इन्द्रियजन्य होने से साक्षात्कारी अवश्य होता है। अतएव इस प्रकार के ज्ञान से जाति की सिद्धि होती है।

योगाचार मतावलम्बी विज्ञानवादी बौद्ध दार्शनिक भाव पदार्थ मात्र को क्षणिक विज्ञान स्वरूप मानते हैं। चूँकि बाह्य पदार्थ सत् नहीं होता, अतः स्थिर, विभु तथा नित्य आत्मा का अस्तित्व यहाँ मान्य नहीं है। जैसे दीप की ज्वाला प्रतिक्षण परिवर्तित होती रहती है तथा स्वरूपान्तर ग्रहण करती है। इसी प्रकार क्षणिक अतएव दूसरे ही क्षण में विनाश होनेवाला यह आन्तर विज्ञान उत्पाद-विनाश परम्परा से युक्त है, यही आन्तरिक क्षणिक विज्ञान यथार्थ वस्तु कहलाता है। इस मत में भाव पदार्थ ज्ञेय रूप में प्रतीत होता है।

आचार्य उदयन ने इस मत के निराकरण हेतु पहले तीन विकल्पों को उठाकर इनका सयुक्तिक खण्डन किया है। इसी से क्षणिक विज्ञानवाद निराकृत हो जाता है। विकल्पों का स्वरूप इस प्रकार है – १. क्या ग्राह्य भूत बाह्य पदार्थ (घट तथा पट आदि) और उनके ग्राहक में अभेद है, २. क्या ग्राह्य और ग्राहक-विषय तथा ज्ञान-अभिन्न जातीय रूप में मान्य है? ३. क्या ग्राह्य विषय (घट तथा पट आदि) अलीक है (मिथ्या है)।

पहला विकल्प मान्य नहीं हो सकता है। क्योंकि ग्राह्य तथा ग्राहक के अभेद की सिद्धि में जो हेतु दिये गये हैं – सहोपलम्भ या ग्राह्यत्व या प्रकाशमानत्व वे हेतु नहीं होकर हेत्वाभास हैं।

अ. यथा ज्ञान और विषय अभिन्न है, क्योंकि दोनों में सहोपलंभ है – साथ साथ ही दोनों उपलब्ध होते हैं। विज्ञानवादी की मान्यता में विषय तथा ज्ञान का नियमतः एक साथ ही प्रतीति होती है।

आ. घटरूप विषय घट के ज्ञान से अभिन्न है, क्योंकि वह ग्राह्य है। तथा इ. घटज्ञान घट से अभिन्न है क्योंकि ज्ञान स्वप्रकाश है – ये तीनों ही हेतु हेत्वाभास हैं। इस मत में ग्राह्य तथा ग्राहक में अभेद होने से परामर्श, हेतु, पक्ष, साध्य तथा अनुमिति में अभेद होगा। इनमें परस्पर हेतु हेतुमद्भाव संभव ही नहीं है। फलतः अनुमान की उच्छेद रूप आपत्ति यहाँ होती है। अतः ग्राह्य तथा ग्राहक में – विषय तथा ज्ञान में – अभेद नहीं हो सकता है।

अपि च इस मान्यता के अनुसार नील, रक्त तथा श्वेत आदि परस्पर विरुद्ध अनेक आकारों का परिस्फुरण करनेवाला सब को प्रतीत होनेवाला एकात्मक चित्रज्ञान की उपपत्ति नहीं हो सकेगी। ग्राह्य तथा ग्राहक में अभेद

मानने पर अनेक विरुद्ध स्वभावशाली ज्ञान हो ही नहीं सकता है। अतः चित्रज्ञान को भी आकारभेद से भिन्न मानना होगा। इस स्थिति में चित्रकार एक ज्ञान नहीं रह जायेगा। क्योंकि चित्रज्ञान यदि परस्पर विरोधी धर्मों का उल्लेख करता है तो वह ज्ञान एक होता हुआ उन अनेक विरोधी धर्मों से अभिन्न कैसे हो सकता है और यदि उन विरोधी धर्मों का उल्लेख नहीं करता है तो वह नीलाकार एवं धवलाकार कैसे हो सकता है?

यदि यह कहा जाये कि बिना उल्लेख हुए ही नील, रक्त तथा धवल आदि विरोधी धर्म चित्रज्ञान के विषय होंगे तो यह असंगत होगा। क्योंकि ज्ञान के स्वप्रकाशत्वमत में विषयों का उल्लेख किये बिना कोई ज्ञान ही नहीं हो सकता है।

द्वितीय विकल्प भी मान्य नहीं है। बाह्य विषय को ज्ञान का सजातीय मानने पर उसमें ग्राह्यत्व ही उपपन्न नहीं होगा। जैसे ज्ञान से अभिन्न नील आदि विषय सिद्ध नहीं होता है वैसे ज्ञान से अभिन्न जातीय नील आदि विषय भी नहीं हो सकता है। सजातीय मानने पर भी नीलादि में ग्राह्य लक्षण का अभाव नहीं हटता है। क्योंकि सजातीय ही यदि ग्राह्य हो तो घट, पट एवं पुस्तक आदि सभी विषय एक जैसे ज्ञान के सजातीय ही हैं। अतः जिस ज्ञान में घट विषय हो रहा है उसमें पट भी अनिवार्य रूप से विषय होने लगेगा। तब घट ज्ञान में पट विषयतारूप अतिप्रसंग हो जायेगा।

नील आदि विषय को ज्ञान सजातीय नहीं मानकर यदि जड़ माना जाये तो उसका प्रकाशन ही नहीं होगा। नीलादि यदि प्रकाशमान हो, तभी वह ज्ञान-सजातीय सिद्ध हो सकेगा। यह भी युक्ति विरुद्ध है। क्योंकि यह बात ज्ञान के संबन्ध में भी समान है। ज्ञान को स्वप्रकाश नहीं मानने वाले तार्किक के मत में विषयों के प्रति प्रकाशात्मक ज्ञान अपने में जड़ ही होता है। वैसे ही ज्ञान को स्वप्रकाश मानने वाले बौद्ध दार्शनिक के मत में अपने लिए प्रकाशात्मक भी ज्ञान अपने से भिन्न ज्ञान के प्रति जड़ ही होता है अर्थात् स्वप्रकाश होने के कारण ज्ञान अपने को तो भासित कर देता है किन्तु अन्य ज्ञान को भासित करने में वह भी जड़ होता है। जैसे जड़ होते हुए भी ज्ञान का प्रकाश असंभव नहीं है वैसे ही जड़ होते हुए भी नीलादि विषय का भी भान असंभव नहीं होगा।

तृतीय विकल्प भी मानने योग्य नहीं है। क्योंकि इस पक्ष में ग्राह्य अंश

अलीक है और ग्राहक अंश (ज्ञान) ही यथार्थ है। अतः बाह्य वस्तु में किसी भी प्रकार से ग्राह्य का कोई लक्षण नहीं बन सकता है। नील आदि ग्राह्य पदार्थ पूर्वसरणि के अनुसार ज्ञान से भिन्न या अभिन्न कुछ नहीं हो सकता है। अब ग्राह्यलक्षण के अभाव में ग्राह्य रूप लक्ष्य असंभव होगा। ऐसी स्थिति में नियत वस्तु के ग्रहण के लिए सामग्रीगत सामर्थ्य का आश्रय लेना भी संभव नहीं है। क्योंकि विचार के द्वारा जो वस्तु सिद्ध है उसके विषय में कारण (सामग्री) चिन्ता का अवसर आता है, न कि जो वस्तु असिद्ध है – उसके संबन्ध में। यहाँ प्रश्न होता है कि क्या ग्राह्यलक्षण के निर्वचन नहीं होने से बाह्य वस्तुओं की प्रकाशमानता (प्रतीति) खण्डित होती है या उसकी सत्ता?

यहाँ प्रथम पक्ष मान्य नहीं है। लक्षण का ज्ञान नहीं होने पर कारण मात्र से स्पष्ट रूप से दीख पड़ने वाले भी लक्ष्य का अपलाप नहीं किया जा सकता है। क्योंकि वस्तु का अज्ञान तो उसकी दुर्ज्ञेयता से भी हो सकता है। अपि च बाह्य वस्तु की प्रतीति के अभाव से उसके ग्राह्यलक्षण का निषेध नहीं किया जा सकता है। अतः ग्राह्य लक्षण का निषेध करने के लिए भी अनुयोगी के रूप में बाह्य वस्तु की प्रतीति माननी ही होगी।

दूसरा पक्ष भी सिद्ध नहीं होता है। क्योंकि लक्षण की अनुपपत्ति से वस्तुसत्ता की निवृत्ति तभी संभव है यदि उसकी असत्ता के कारण लक्षण बन जाये। यदि वस्तु की सत्ता एवं असत्ता दोनों दशाओं में लक्षण नहीं बन सकता है तब असत्ता के प्रति ही क्यों आग्रह है? सत्ता के प्रति ही आग्रहशील होइए।

यदि असत्त्व ही ग्राह्य का लक्षण है – ऐसा कहा जाये तो प्रतिवन्दी का उत्तर होगा कि सत्त्व ही क्यों न ग्राह्य का लक्षण माना जाये।

यदि सत्त्व को ग्राह्य का लक्षण मानने पर उपर्युक्त दोष होगा कि किसी एक सद्वस्तु का ज्ञान होने पर सत् संबन्ध के कारण अन्य सभी सत् पदार्थों का भान होने लगेगा। यहाँ भी प्रतिवन्दी उत्तर होगा कि ग्राह्य को असत् मानने पर किसी एक असत् का ज्ञान होने पर असत् संबन्ध के कारण अन्य सभी असत् का भान होने लगेगा। इस तरह देखा जाता है कि दोनों ही पक्षों में समान ही दोष होता है।

यदि ज्ञानजन्य व्यवहार के विषय को ग्राह्य का लक्षण कहा जाये तो भी जिज्ञासा होगी कि घटज्ञान से घट का ही व्यवहार होगा – इसका नियामक क्या

होगा। यदि सामग्रीगत सामर्थ्य के प्रभाव से उस वस्तु के ज्ञान से उसी वस्तु का व्यवहार होगा, दूसरी वस्तु उस ज्ञान से व्यवहार में नहीं आयेगा तो नैयायिक का कथन होगा कि सामर्थ्य सत्पदार्थ में ही संभव है न कि असत् पदार्थ में– यह एक विशेष बात है।

जैसे सद्वस्तु का ज्ञान होने पर इच्छा होती है, इच्छा होने पर प्रयत्न किया जाता है और प्रयत्न से प्रवृत्ति होती है और प्रवृत्ति से वस्तु की प्राप्ति होती है, जो अलीक वस्तु में संभव ही नहीं है। तात्पर्य यह है कि सत् वस्तु ही प्राप्त होती है असत् वस्तु की प्राप्ति ही नहीं हो सकती है।

यदि ज्ञान, इच्छा, प्रयत्न, प्रवृत्ति तथा प्राप्ति रूप व्यवहार को भी अलीक माना जाये तब अलीक में अलीक व्यवहार के होने में कोई बाधा नहीं होगी। अब इसके उत्तर में नैयायिक का कहना है कि बौद्ध के मत में ग्राह्य के लक्षण घटकीभूत व्यवहार ही असिद्ध हो गया और उसको द्वार बनाकर जो ग्राह्य का लक्षण कहा गया था – वह उपपन्न नहीं हो सकेगा।

यदि यह माना जाये कि सत्त्व का भेद या उसका अभेद किसी भी रूप में ग्राह्य का लक्षण नहीं हो सकने के कारण इस विश्व को विचार का अयोग्य ही क्यों न मान लिया जाए तो नैयायिक पूछता है कि क्या इस स्थिति में संसार की तात्त्विकता ही लुप्त हो जाती है? या तात्त्विकता के नष्ट होने से जगत् शून्य में पर्यवसित होता है?

यहाँ प्रथम पक्ष सङ्गत नहीं है। क्योंकि यदि सब कुछ अतात्त्विक होगा तब इतनी सीढ़ीतक इस विचार के पहुँचने के पश्चात् तात्त्विकता में कोई प्रमाण नहीं रहेगा। यदि इस विचार की तात्त्विकता का साधक कोई प्रमाण नहीं है तो यह अतात्त्विक कैसे सिद्ध होगा। क्योंकि यही एक विचार तात्त्विक सिद्ध हो जायेगा। अब जिस दृष्टि से इस विचार में तात्त्विकता सिद्ध होती है उसी दृष्टि से विचार के विषय आत्मा तथा उसका ज्ञानाधिकरणत्व, विभुत्व, नित्यत्व तथा नानात्व भी सिद्ध होगा।

यहाँ शून्यवादी माध्यमिक बौद्ध का मत द्वितीय विकल्प के रूप में उठाया गया है। यदि संसार में तत्त्वके नाश होने पर संसार का शून्य में पर्यवसान होगा, तो यह मान्य नहीं है। तब हेय एवं उपादेय रूप बाह्य जगत् और ज्ञान का अभाव होने से द्वेष, भय और रागादि से छुटकारा तो मिल जायेगा,

परम शान्ति तो होगी किन्तु शून्यता के ग्राहक प्रमाण सर्वं शून्यं का बाधक होगा। क्योंकि वह शून्य से भिन्न होगा। यदि प्रमाण नहीं मान्य हो तो यह जगत् पूर्ण ही हो जायेगा। सर्वं पूर्णं यही क्यों नहीं माना जाये। दूसरी बात यह है कि तब प्रमाण के भी शून्य हो जाने से शून्यता की सिद्धि कैसे होगी? यदि प्रमाण से शून्यता की सिद्धि नहीं मानकर वचनमात्र से शून्यता की सिद्धि मानी जाये तो तुल्ययुक्ति से विश्व की पूर्णता ही स्वीकार करने में क्या आपत्ति होगी।

शून्यता को यदि परतः अर्थात् प्रमाणान्तर से सिद्ध करना चाहेंगे तो जिज्ञासा होती है कि वह पर (प्रमाणान्तर) आपका मान्य होगा। अतएव सर्वं शून्यं सिद्ध नहीं हुआ। क्योंकि वह प्रमाणान्तर तो शून्य से भिन्न सिद्ध हो गया। दूसरी बात प्रमाणान्तर रूप ग्राहक से भिन्न शून्यस्वरूप ग्राह्य में विषयविषयिभाव भी मानना पड़ेगा। प्रमाणभूत पर यदि तात्त्विक नहीं होकर संवृति रूप है अर्थात् कल्पना मात्र है तो विश्व एवं शून्यता में कोई भेद (वैशिष्ट्य) नहीं रहा। ऐसी स्थिति में शून्यता की रक्षा किससे होगी।

यदि उसे असंवृतिरूप अर्थात् तात्त्विक मानें तो प्रमाण की किसी अन्य प्रमाण से सिद्धि मानने पर पुनः उसकी भी किसी अन्य प्रमाण से सिद्धि मानने पर अनवस्था दोष होगा। यदि च शून्यता का साधक प्रमाण स्वयं असिद्ध हो तो वह प्रमाण शून्यता को कैसे सिद्ध कर सकेगा। यदि उस प्रमाण की सिद्धि को अनवस्था के भय से परतः न मानकर स्वतः मानेंगे तो आ गये रास्ते पर। तब इस पद्धति से वेदान्त सम्मत स्वयंप्रकाश ब्रह्माद्वैत पक्ष ही निर्दोष सिद्ध होगा न कि शून्य वाद। इस प्रकार सर्वं शून्यं यह पक्ष प्रमाण की कसौटी पर खरा नहीं उतरता है।

दो परिच्छेदों में क्षणभंगवाद तथा बाह्यार्थभङ्गवाद के निराकरण हो जाने पर भी नैरात्म्यवाद की सिद्धि हेतु तत्पर योगाचार मतावलम्बी क्षणिक विज्ञानवादी बौद्ध दार्शनिक गुण तथा गुणी में अभेद का उपपादन कर नैयायिक-सम्मत ज्ञानात्मक गुण के अधिकरण गुणी आत्मा के खण्डन हेतु प्रयत्नशील हैं। बौद्ध दार्शनिक का कहना है कि गुण तथा गुणी की साथ साथ उपलब्धि देखकर दोनों में अभेद ही मान्य है। अनुमान होता है – गुणी गुण से भिन्न नहीं है, गुण के साथ ही गुणी की उपलब्धि होने से। इसमें दोष दिखाकर नैयायिकों ने दोनों में परस्पर भेद की सिद्धि की है। सफेदी और शंख की साथ साथ

उपलब्धि होती है किन्तु कामला रोग से ग्रस्त व्यक्ति इन्द्रिय दोष के कारण पीला रंग शंख में देखता है। अतः गुण तथा गुणी में अभेद उपपन्न नहीं होता है। यहाँ शंख की उपलब्धि होती है किन्तु उसकी सफेदी उपलब्ध नहीं होती है। इसलिए यह मानना आवश्यक है कि गुण तथा गुणी का—श्वेतवर्ण एवं शंख का—सहोपलम्भ भी होता है और पृथक् पृथक् उपलम्भ भी होता है।

यदि कहा जाये कि पाण्डुरोग की दशा में श्वेतशंख की निवृत्ति हो जाती है और वहाँ नया ही पीला शंख उत्पन्न हो जाता है तो यह मन नहीं मानता है। उसी व्यक्ति के नीरोग हो जाने पर इन्द्रिय दोष के अभाव में वही शंख उसी व्यक्ति को सफेद दीखता है।

यह भी मान्य नहीं हो सकता है कि समनियत रूप में नहीं किन्तु असमनियत रूप में सह उपलब्धि का नियम गुण तथा गुणी में अभेद सिद्धि का हेतु होता है। क्योंकि घट का अभास्वर रूप आलोक के भास्वर रूप के साथ ही नियमतः उपलब्ध होता है, किन्तु घट एवं आलोक का रूप परस्पर भिन्न ही मान्य है, अपि च प्रतीति में विरोध के कारण गुण तथा गुणी का अभेद संभव नहीं है। किसी ने पहले घट को देखा पश्चात् उसने उसका स्पर्श किया और तब वही व्यक्ति उसका प्रतिसन्धान करता है कि जिस घट को मैंने पहले देखा था उसी घट का आज स्पर्श कर रहा हूँ। गुण से भिन्न गुणी (आत्मा) के नहीं मानने पर यह प्रतिसन्धान नहीं हो सकता है। जैसे देवदत्त जिस विषय का प्रत्यक्ष करता है उसका प्रतिसन्धान यज्ञदत्त नहीं कर सकता है। और यज्ञदत्त के द्वारा किये गये वस्तु के प्रत्यक्ष का प्रतिसन्धान देवदत्त नहीं कर सकता है। इसी प्रकार आँख से देखी गयी वस्तु का त्वगिन्द्रिय से एवं त्वगिन्द्रिय से स्पर्श की गयी वस्तु का आँख से प्रतिसन्धान नहीं हो सकता है। देखा जाता है कि एक वस्तु का प्रतिसन्धान दो इन्द्रियों से – आँख और त्वगिन्द्रिय से – होता है। इस दर्शन तथा स्पर्शन रूप दो प्रकारों के भेदावगाही प्रत्यक्षात्मक ज्ञान का आश्रयभूत विषय एक ही घट है, जो प्रतिसन्धान का विषय होता है। फलतः अलग अलग दो ज्ञानों के अभिन्न विषय का अवगाहन करनेवाला प्रतिसन्धान गुण से भिन्न गुणी प्रतिसन्धाता का अस्तित्व सिद्ध करता है। क्योंकि उक्त प्रत्यभिज्ञात्मक प्रतिसन्धान अपने से भिन्न प्रतिसन्धाता के अभाव में उपपन्न नहीं हो सकता है। अन्यथा उक्त प्रतिसन्धान का आश्रय कौन होगा – इसकी जिज्ञासा ही बनी रहेगी।

इस विचार को आगे बढ़ाते हुए आचार्य उदयन ने पूर्वपक्ष के रूप में यहाँ पाँच विकल्प उठाये हैं। विकल्प निम्नलिखित है। क्रमशः उन विकल्पों का निराकरण कर गुण तथा गुणी में भेद की सिद्धि की है। दर्शन एवं स्पर्शन से जो एक विषयक प्रत्यभिज्ञा होती है १. क्या वे दोनों इन्द्रियाँ केवल रूप को या केवल स्पर्श को विषय करती हैं अथवा २. रूप और स्पर्श के समुदाय को या ३. रूप और स्पर्श के समुदाय से भिन्न अवयवी को या ४. बाह्यवस्तु से रहित केवल बाह्यवस्तु के आकार को या ५. खरगोस के सींग की तरह अलीक विषय को अपना विषय बनाती हैं।

इनमें पहला कल्प संभव नहीं है। क्योंकि रूप और स्पर्श सर्वथा भिन्न होने से एक इन्द्रिय से – केवल आँख या केवल त्वगिन्द्रिय से – उन दोनों का ग्रहण नहीं हो सकता है। रूप केवल आँख से और स्पर्श केवल त्वगिन्द्रिय से परिगृहीत होता है। प्रत्येक इन्द्रिय में केवल अपना विषय ग्रहण करने की सामर्थ्य है। अतएव रूप त्वगिन्द्रिय से और स्पर्श आँख से परिगृहीत नहीं हो सकते हैं। इसके नहीं मानने पर जन्मान्ध व्यक्ति को भी नील एवं पीत विषयक ज्ञान होने लगेगा और आँख से भी शीत एवं उष्ण स्पर्श का प्रत्यक्ष होने लगेगा।

दूसरा कल्प मानने पर अर्थात् दर्शन तथा स्पर्शन क्रिया द्वारा एक अर्थ के ग्रहण का अर्थ यदि रूप और स्पर्श के समुदाय का ग्रहण होगा तब इसकी प्रतीति में रूप और स्पर्श का समुदाय ही विषय होगा, जो संभव नहीं है। यहाँ पुनः चार विकल्प उठते हैं– १. क्या वह समुदाय उपादान रूप एकदेश के कारण होगा या २. एककाल के कारण होगा या ३. उपादेय रूप एककार्य के कारण होगा या ४. रूप और स्पर्श – इन दोनों का एक ही कारण है, अतः एक समुदाय होगा?

इनमें से प्रथम कल्प (उपादान रूप एकदेश के कारण रूप तथा स्पर्श का एक समूह बन जायेगा) नहीं हो सकता है। क्योंकि दोनों के भिन्न भिन्न उपादान नियत हैं। बौद्ध दार्शनिक भी रूप का रूप और स्पर्श का स्पर्श ही उपादान कारण मानते हैं। अतः दोनों का एक उपादान संभव नहीं है। यदि नैयायिक की तरह दोनों का एक उपादान मान्य हो तो गुण से भिन्न गुणी सिद्ध ही हो जायेगा, जो दोनों का एक उपादान के रूप में मान्य होगा।

भूतल आदि एक अधिकरण के कारण रूप और स्पर्श का एक समुदाय

बनाना भी संभव नहीं है। गुण से भिन्न गुणी के नहीं मानने पर चक्षु से ग्राह्य भूतल रूप विशेष होगा और चक्षु से ग्राह्य घट भी रूप विशेष होगा। इस प्रकार रूप विशेष स्वरूप भूतल में रूप विशेष स्वरूप घट आश्रित है – इसका निश्चय चक्षुसे हो सकता है। क्योंकि एक ही चाक्षुष ज्ञान में आश्रय आश्रयि भाव से दोनों – भूतल तथा घट – संबद्ध हैं। किन्तु उसी भूतल में स्पर्श भी है – यह किस प्रमाण से ज्ञात होगा? चाक्षुष ज्ञान में स्पर्श आदि का भान नहीं हो सकता है। अतः भूतल रूप एक अधिकरण को लेकर रूप तथा स्पर्श का एक समुदाय नहीं बन सकता है।

यदि स्पर्श का भान त्वगिन्द्रिय का व्यापार है तो यह भी कार्य का साधक नहीं हो सकता है। त्वगिन्द्रिय के द्वारा भूतल और घट का स्पर्श होने पर स्पर्श विशेष स्वरूप भूतल तथा स्पर्श विशेष स्वरूप घट का ही परस्पर आधाराधेयभाव प्रतीत होगा, उस घट के रूप का नहीं। क्योंकि रूप के ग्रहण में त्वचा असमर्थ है। फलतः रूप और स्पर्श का एक समुदाय नहीं बन सकता है।

यदि यह माना जाये कि रूप तथा स्पर्श आदि का समुदायात्मक भूतल एवं रूप तथा स्पर्श आदि का समुदायात्मक घट में परस्पर आधार आधेय भाव बन जायेगा तो यह भी संभव नहीं है। क्योंकि तब यहाँ परस्पराश्रय दोष होगा। एकाधारता की प्रतीति होने पर ही रूप तथा स्पर्श के समुदाय की प्रतीति होगी और जब रूप तथा स्पर्श का समुदाय प्रतीत हो लेगा तब उसकी एकाधारता की प्रतीति होगी। इस प्रकार यहाँ अन्योन्याश्रय स्पष्ट है।

एक काल होने के कारण भी रूप तथा स्पर्श का समुदाय नहीं बन पायेगा। क्योंकि रूप तथा स्पर्श के एक कालिक होनेमें प्रमाण नहीं मिलता है। यदि कदाचित् एक कालिक मान भी लिया जाये तो एक कालिक होने के कारण उनका समुदाय मानने पर रासभ तथा करभ को भी एक कालिक होने के कारण समुदाय स्वरूप मानना होगा।

एक कार्यता के कारण भी रूप एवं स्पर्श का समुदाय नहीं बन पायेगा। क्योंकि रूप एवं स्पर्श आदि का कोई एक कार्य (उपादेय) वादी या प्रतिवादी के मत में होता नहीं है अर्थात् रूपादि को उपादान मानकर इससे किसी एक उपादेय की उत्पत्ति नहीं होती है।

एक कारणता से रूप तथा स्पर्श आदि का समुदाय नहीं बन सकता है। क्योंकि रूप और स्पर्श का एक कारण है ही नहीं। यदि किसी निमित्त के बिना भी रूप तथा स्पर्श के समुदाय का व्यवहार मानेंगे तो इसमें अतिप्रसंग दोष होगा, अर्थात् भिन्न कालिक तथा भिन्न देशीय रूप तथा स्पर्श में भी समुदाय व्यवहार होने लगेगा।

यदि विकल्प घटक तृतीय कल्प माना जाये अर्थात् रूप और स्पर्श से भिन्न अवयवी मान्य हो तो रूप तथा स्पर्श के द्वारा इन गुणों से अतिरिक्त वस्तु का ग्रहण मान्य होगा तो नैयायिक को वह मान्य है ही। वही वस्तु गुण से भिन्न गुणी है।

चतुर्थ कल्प अर्थात् वस्तु से रहित ज्ञान का आकार ही चाक्षुष एवं स्पार्शन प्रत्यक्षों का विषय होता है तो यह संभव नहीं है। क्या वह विज्ञानवाद का अवलम्बन करके होगा या दो चन्द्रोंकी दर्शन की तरह विसंवादी (अर्थशून्य) ज्ञान को मानकर होगा। यदि विज्ञानवाद स्वीकार करें तो रूप आदि गुणों के प्रति ही क्यों आपका पक्षपात है। जैस गुणी कोई वस्तु नहीं है वैसे रूप आदि गुण भी कोई वस्तु नहीं होगा। इस तरह गुणी के साथ गुण का भी विलोप आपको (बौद्ध आचार्य को) मानना होगा। द्वितीय कल्प भी संभव नहीं है। क्योंकि वस्तु की प्राप्ति एवं अर्थक्रिया कारित्व वहाँ सिद्ध है। यदि प्राप्ति और अर्थक्रिया (प्रयोजन सिद्धि) रूप आदि गुणों की होती है तो यही क्यों नहीं मान लिया जाये कि उक्त दोनों रूप आदि गुणों की नहीं किन्तु गुणी द्रव्य की ही होती है।

पञ्चम विकल्प भी संभव नहीं है। चाक्षुष एवं स्पार्शन प्रत्यक्ष यदि अलीक को (अत्यन्त असत् पदार्थ को) विषय करे तो द्रव्य के समान रूप आदि गुण भी अलीक हो जायेंगे। तब गुणी के साथ साथ गुण की भी सत्ता लुप्त हो जायेगी। इंस प्रकरण के उपसंहार में यही कहना है कि गुण तथा गुणी (द्रव्य) भिन्न भिन्न पदार्थ उपपन्न हैं। इनमें परस्पर अभेद सिद्ध नहीं होता है। अतः गुण तथा गुणी के अभेद से आत्मा के अस्तित्व का निराकरण सिद्ध नहीं होता है।

अनुपलंभवाद प्रकरण में नैरात्म्य वाद की सिद्धि हेतु बौद्ध दार्शनिक का कहना है कि जिस वस्तु की सत्ता हम मानते हैं, उस वस्तु की कहीं न कहीं उपलब्धि होती है। यदि आत्मा कहीं रहती तो वह उपलब्ध होती। चूंकि उपलब्ध

नहीं होती है, अतः वह वस्तु नहीं है। यथा खरहा का सींग आदि अलीक पदार्थ। इस प्रकार अनुपलब्धि प्रमाण से आत्मा का अभाव अर्थात् नैरात्म्य सिद्ध होता है।

इस पर नैयायिक का कहना है कि अनुपलब्धि से यहाँ क्या अभिप्रेत है? क्या सभी की अनुपलब्धि अथवा कुछ वस्तु की अनुपलब्धि? यदि सभी की अनुपलब्धि माना जाए तो सभी व्यक्तियों के अनुभव के विषय आत्मा में अनुपलब्धि सन्दिग्ध है? अतः हेतु में यहाँ सन्दिग्धासिद्धि दोष होगा। एक व्यक्ति के ज्ञान का विषय अपर व्यक्ति के ज्ञान का विषय नहीं हो सकता है।

दूसरा कल्प भी संभव नहीं है। इन्द्रिय में दोष रहने पर उपलम्भयोग्य वस्तु की भी अनुपलब्धि देखी जाती है। अतः नैरात्म्य का साधक अनुपलम्भ हेतु व्यभिचरित है। व्यभिचरित हेतु साध्य का साधक नहीं होता है। हेतु मे दृश्यत्व विशेषण के निवेश करने पर भी व्यभिचार का वारण नहीं होता है। आत्मा का दृश्यत्व बौद्ध शास्त्र में मान्य नहीं है। अतः 'दृश्यत्वे सति अनुपलब्धेः' हेतु से नैरात्म्य का साधन या आत्मा की असत्ता का साधन नहीं हो सकता है। फलतः क्षणभंग के निराकरण में उक्त युक्ति से आत्मा के अभाव-साधन हेतु प्रयुक्त अनुपलंभ हेतु से अनुमान करते समय पक्षरूप में आत्मा के सिद्ध रहने के कारण नास्तित्व रूप साध्य स्वतः असिद्ध है, अतएव यहाँ बाध दोष होता है। यदि उक्त आत्मा को असिद्ध मानें.तो आश्रयासिद्धि दोष होगा। फलतः अनुपलम्भ हेतु बौद्ध दार्शनिक के अभीष्ट नैरात्म्य का साधक नहीं होता है। इस आत्मतत्त्व के सद्भाव में प्रमाणों में सर्वश्रेष्ठ प्रत्यक्ष ही उपलब्ध है। अहं प्रत्यय स्वरूप (बोध) सविकल्पात्मक प्रत्यक्ष प्रत्येक व्यक्ति को होता है। बौद्ध दार्शनिक यह नहीं कह सकते हैं कि आत्मा बाह्य प्रत्यक्ष का अविषय रहने से निर्विकल्पक रूप मूल प्रत्यक्ष से विच्छिन्न है, अतः उसमें वस्तुशून्यता है अर्थात् वह प्रमेय ही नहीं हो पायेगा। और इसके मान लेने पर उसका विज्ञान स्वरूप प्रत्यक्ष ही नहीं होगा। नैयायिक के मत में आत्मा का सुखादि युक्त होने पर मानस प्रत्यक्ष होता ही है। यही यहाँ मूल है, अतः निर्मूलत्व की शंका नहीं की जा सकती है।

अपि च 'यही वह घट है जिसको कल मैंने देखा था' – इस प्रत्यभिज्ञा के विषय भूत घट स्थिर सत्ता का लाभ करता है। इसी प्रकार जिस घट को कल

मैंने देखा था उसी घट का आज मैं स्पर्श कर रहा हूँ – इस कार्यकारणभाव को एक सन्तानात्मक प्रत्यभिज्ञा हेतु से पूर्वापर कालावगाही दर्शन एवं स्पर्शन स्वरूप दो क्रियाओं से जन्य जो बोध युगल, वह एक कर्तृक होता है। अतः अहं बोध से इसका निश्चय होने पर इस बोध का विषयभूत आत्मा का स्थिररूप में अवधारण होता है, जिससे उपर्युक्त प्रत्यभिज्ञा स्पष्टरूप से सिद्ध होती है। इससे आत्मतत्त्व की ही सिद्धि होती है।

इस आत्मतत्त्व के सद्भाव में आगम प्रमाण भी उपलब्ध है। '**अविनाशी वा अरे अयमात्मानुच्छित्तिधर्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो। लक्ष्यं तदेवाक्षरं सौम्य विद्धि**' – 'यह आत्मा अविनाशी है, इसका उच्छेद नहीं होता है। हे श्वेतकेतु! वह आत्मा आप ही हो। यही अविनाशी आत्मा लक्ष्य है – श्वेतकेतु! आप यह बात समझो' – इस प्रकार के श्रुतिवाक्य के द्वारा उस आत्मा के सुनने पर मोक्ष के इच्छुक व्यक्ति सत्तर्क के आधार पर श्रुत आत्मतत्त्व का मनन करता है। जब मन में यह सुप्रतिष्ठित हो जाता है, तब एकाग्रमन से इसका ध्यानस्वरूप निदिध्यासन करता है।

श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्यः मन्तव्यश्चोपपत्तिभिः।

मत्वा च सततं ध्येय एते दर्शन हेतवः।। इस वाक्य का यही तात्पर्य है।

आगमेनानुमानेन ध्यानाभ्यासरसेन च।

त्रिधा प्रकल्पयन् प्रज्ञां लभते योगमुत्तमम्।।

यहाँ उपर्युक्त श्लोक की पुष्टि की गयी है। यहाँ उत्तम योग के लाभ की जो बात कही गयी है, उसका तात्पर्य है– श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन रूप तीनों ही सीढ़ी पार करके आत्मज्ञान की प्राप्ति। इस आत्मज्ञान की प्राप्ति से मिथ्याज्ञान का नाश होता है, इसके नाश से राग, द्वेष तथा मोहात्मक दोष का नाश होता है, दोष के अभाव में प्रवृत्ति नष्ट होती है और प्रवृत्ति के अभाव में जन्म नहीं होता है। जन्म के नहीं होने पर सांसारिक दुःख नहीं होता है। इस प्रकार आत्मज्ञान दुःखात्यन्ताभावरूप मोक्ष के साधनरूप में प्रतिष्ठित होता है। **दुःखजन्मप्रवृत्तिदोष मिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः।** १।१।२। इस न्यायसूत्र का भी यही आशय है। यहाँ सञ्चित एवं सञ्चीयमान

कर्म समूह का तत्त्वज्ञान रूपी अग्नि में भस्म हो जाने पर भी प्रारब्ध कर्म का (जिस कर्म का फल आरंभ हो गया है) नाश भोग से ही होता है।

ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन। तथा

नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि। इन वाक्यों का आपाततः प्रतीयमान विरोध उक्त रीति से समाहित होता है।

दार्शनिक शङ्करमिश्र का संक्षिप्त परिचय

इस कल्पलता व्याख्या के प्रणेता दार्शनिक **शङ्कर मिश्र** का जन्म मिथिला के सिद्धपीठ स्वरूप भगवती सिद्धेश्वरी एवं सिद्धेश्वर शिव के सान्निध्य में सरिसव नामक ग्रामरत्न में ख्रीष्टीय पञ्चदशशतक में 'सोदरपुर सरिसब मूलक' प्रसिद्ध कुलमें हुआ है – इसमें किसी की विचिकित्सा नहीं है। आरंभ से ही शङ्करमिश्र का कुल पाण्डित्य के लिए विख्यात रहा है। पण्डितराज भानुदत्तमिश्र ने *कुमारभार्गवीय* नामक कृति में अपने पूर्वजों के पाण्डित्य एवं सच्चारित्र्य का यथार्थ वर्णन किया है। प्रायः अन्य किसी कुल के विद्वानों में पाण्डित्य की इतनी दीर्घ परम्परा उपलब्ध नहीं है।

इसी भानुदत्त के पौत्रीपुत्र **कवीन्द्र गंगानन्द** ने अपनी कृति *भृङ्गदूत* के उपक्रम में इस सरिसब ग्राम के प्रसंग में कहा है

मीमांसायां श्रवणसुमुखी शेमुषी तावकी चेत्
चित्ते चेत्ते किमपि कविताकर्णने कौतुकं वा।
तत्र भ्राम्यन् वुधजनचतुःपाठिकासु प्रयत्नात्
शोभाशालि प्रिय सरिसबग्रामरत्नं परीयाः।।

तर्कानर्कप्रातिमकृतिभिर्जल्पितानल्पकालं
चैत्यारूढो मधुकर यदि श्रोष्यसि श्रोत्रपेयम्।
जाड्यं जन्मावधि मतिभवं ते तदा संप्रणश्येत्
न स्यात् कस्य प्रियसख गुणः सत्समाजाश्रयेण।।

शङ्कर मिश्र का सौभाग्य रहा है कि इन्होंने अपने पिता **अयाची** इस उपनाम से प्रसिद्ध **भवनाथ मिश्र** से ही सभी विद्याओं को अधिगत किया। अतएव अपनी कृतियों में इन्होंने पिता के लिए सर्वत्र श्रद्धातिशय व्यक्त किया

है। इनको अपनी विद्या एवं अपने गुरु के अध्यापन पर इतना विश्वास रहा है कि कल्पलता के उपसंहार में एवं अपनी अन्य कृतियों में भी स्पष्ट लिखा है –

स्वभ्रातुर्जीवनाथस्य व्याख्यामाख्यातवान्मयि।
मत्पिता भवनाथो यां तामिहालिखमुज्ज्वलाम्।।

अश्रुत्वा मत्पितुर्व्याख्यामदृष्ट्वा मत्कृतामिमाम्।
आत्मतत्त्वविवेकस्य कस्य व्याख्यानकौशलम्।।

इनकी व्याख्या का वैशिष्ट्य है कि बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में प्रकाशित *ज्ञानश्रीमित्रनिबन्धावली* का पूर्वपक्ष शङ्कर मिश्र को पन्द्रहवीं शताब्दी में ही पाँच सौ वर्ष लगभग पहले परम्परा से ज्ञात था। अतएव इनकी व्याख्या ग्रन्थ के अभिप्राय प्रकाशन में सर्वथा उपयोगी है।

मनुस्मृति में उक्त है कि तपस्या और ज्ञान ऐहिक अभ्युदय एवं अपवर्ग का साधक होता है, एक से पाप का नाश होता है और दूसरे से अमृत की प्राप्ति

तपो विद्या च विप्रस्य निःश्रेयसकरावुभौ।
तपसा कल्मषं हन्ति विद्ययाऽमृतमश्नुते।।

अयाची उपनाम से प्रसिद्ध भवनाथ का घराना ही इस पर विश्वास करता रहा है। इनमें एक और गुण जुड़ गया अप्रतिग्रह व्रत। अतएव इनका आसन इसमें और अधिक ऊँचा हो गया। *कुमारभार्गवीय* चम्पू में पण्डितराज भानुदत्त मिश्र ने दो पद्यों में इनका परिचय इस प्रकार प्रस्तुत किया है –

बहुविधगुणधामा श्रौतसौजन्यसीमा
समजनि भवनाथो भूषणं भूतधात्र्याः।
प्रसरति बहिरन्तः पूरयित्वा मुरारेः
स्मितचयवचनापच्छद्मना यस्य कीर्तिः।।२४।

स्वामी त्रिभुवनवन्द्यः श्रीवत्सं लाञ्छनं कृतवान्।
इति किं पतिव्रतासौ भवनाथलक्ष्म मेदिनी विदधे।।२५।।

आचारतरङ्गिणी में दुर्गानाथ मिश्र ने इनके विषय में लिखा है –

हरिहरपदलीनः कर्मकाण्डे प्रवीणः
सदसि गुणिगणानां वेदवादे धुरीणः।

सुरपुरगतकीर्तिर्याचनाशून्यवृत्तिः
प्रविदितमिथिलायां कोऽपि दूबे बभूव।।

तीन भाइयों में दूसरा (मध्यम) होने से इनका घर में पुकारने का नाम 'दूबे' रहा होगा – ऐसी प्रसिद्धि है। स्वयं **शंकर मिश्र** ने *गौरी दिगम्बर प्रहसन* में इनके प्रसंग में लिखा है –

यस्यान्ते वासिभिः प्राज्ञैरासमुद्रं वसुन्धरा।
विद्याविनोदव्यसनव्यापारैकपरा कृता।।

इस प्रकार तपस्वी एवं अप्रतिग्रहव्रती असाधारण विद्वान् के घर में यदि भगवदवतार नहीं हो तो वह अन्यत्र कैसे संभव हो सकता है।

जनश्रुति के अनुसार शङ्करमिश्र के पिता के अप्रतिग्रह का प्रमाण यह भी है कि पाँच वर्षों का शिशु शङ्कर समवयस्क बच्चों के साथ गाँव के राज–पथ पर खेल रहा था। उस समय मिथिला नरेश (कुछ विद्वानों के मतानुसार शिवसिंह और कुछ विज्ञों के मत से भैरव सिंह) उस रास्ते से जा रहे थे। इस शिशु के भव्य एवं उन्नत ललाट को देखकर महाराजा ने उसे अपने निकट बुलवाया और परिचय पूछा। फिर उससे श्लोक सुनाने का आग्रह किया। बालक ने राजा से जिज्ञासा की कि स्वरचित श्लोक सुनाऊँ या दूसरे का। राजा ने कहा एक अपनी रचना सुनाओ और एक ऐसा सुनाओ जिस में आधा पद तुम्हारा हो और आधा दूसरे का। यह दोनों ही पद्य मिथिला में प्रसिद्ध है –

बालोऽहं जगदानन्द न मे बाला सरस्वती।
अपूर्णे पञ्चमे वर्षे वर्णयामि जगत्त्रयम्।।

सहस्त्रशीर्षा पुरुषः सहस्त्राक्षः सहस्त्रपात्।
चलितश्चकितश्छन्नः प्रयाणे तव भूपते।।

इस पर प्रसन्न होकर राजा ने स्वर्ण मुद्राओं से बालक की अँजुरी भर दी। घर वापस लौटने पर बालक शंकर ने अपनी माँ को उन सारी स्वर्णमुद्राओं को देने लगा तो माँ ने उसे रोक दिया। माँ ने उन स्वर्णमुद्राओं का स्पर्श तक नहीं किया, घर ले जाने की तो बात ही दूर रही। तत्काल उस शिशु के नाल काटने वाली दगरिन को बुलाया गया और सारी स्वर्णमुद्राएँ उसको दे दी गयी। क्योंकि बालक शंकर के जन्म के समय अर्थाभाव के कारण दगरिन को कुछ भी

पारिश्रमिक एवं वक्सीस नहीं दिया जा सका था। उस समय शिशु की पहली कमाई देने की प्रतिश्रुति शिशु की माँ के द्वारा की गयी थी। उसी वचन का पालन इस तरह दगरिन को स्वर्ण मुद्राएँ देकर किया गया था। दगरिन ने भी उस धन से गाँव के उत्तर भाग में अपने आवास के निकट एक तालाब बनबा कर पूर्त कर्म स्वरूप धर्माचरण संपन्न किया, जो आज भी 'चमैनियाँ डाबर' के नाम से प्रसिद्ध एवं विद्यमान है।

चूँकि स्वयं बाबा वैद्यनाथ (स्वयंभूज्योतिर्लिङ्ग) श्रेष्ठ तपस्वी अयाची प्रसिद्ध भवनाथ मिश्र के घर में अवतरित हुए थे। अतः उनके मुख से 'बालोऽहं जगदानन्द' श्लोक का उच्चारण एवं उसकी रचना अत्युक्ति या विस्मय जनक नहीं माना जा सकता है। पाँच सौ से अधिक वर्षों के बीत जाने पर भी अपनी सन्तति के मेधाकामी पिता आज भी **'बालोऽहं जगदानन्द'** श्लोक अपने बच्चों को रटाते हुए देखे जाते हैं। बच्चों को इस श्लोक का अभ्यास कराना मैथिलों की संस्कृति में रच बस गयी है।

दरभंगा संस्कृत विश्वविद्यालय के पूर्व प्रति कुलपति तथा राष्ट्रपति सम्मानित **डा० त्रिलोकनाथ झा** ने *'शंकर मिश्र'* नामक एक निबन्ध मैथिली में लिखा है। इसमें इन्होंने लिखा है कि **भवनाथ मिश्र** के आवास के निकट अपनी छोटी सी पुष्पवाटिका में कोड़ाइ गोराई करते समय भवनाथ मिश्र को सुवर्ण मुद्राओं से भरा हुआ एक ताम्र घट मिला। अर्थ की दृष्टि से स्वयं नितान्त विपन्न रहने पर भी **भवनाथ मिश्र** ने वह पूर्णघट शासक को सौंप दिया। धर्मशास्त्र के अनुसार भूमिगत द्रव्य पर राजा का ही अधिकार होता है। इस प्रकार चरित्र संपन्न निर्लोभ तथा अप्रतिम विद्वान् के घर में भगवान् शंकर स्वरूप दार्शनिक शंकर मिश्र का जन्म होना स्वाभाविक जैसा ही प्रतीत होता है।

क्षेत्र तथा बीज की शुचिता, वातावरण तथा परिसर का वैशद्य, संस्कार संपन्न कुलपरम्परा का अनुकरणीय आदर्श इनको जन्म से ही घर में उपलब्ध था। विद्या तथा सदाचार से संपन्न पिता से ही विद्याओं के अधिगत होने से वैदुष्य में प्रौढ़ि एवं आत्मविश्वास इनको उपलब्ध था, जो ग्रन्थ के प्रणयन एवं उपादेय दुरूह ग्रन्थों के व्याख्यानों में प्रतिफलित हुआ है।

इनकी इक्कीस कृतियाँ सुनी जाती हैं। इनमें न्याय तथा वैशेषिक से

संबद्ध ग्यारह कृतियाँ हैं, धर्मशास्त्र के तीन तथा शेष साहित्यविद्या से संबद्ध हैं। यथा – कणादरहस्य, भेदरत्न, वादिविनोद इनकी मौलिक कृति के रूप में परिगणित हैं। *वैशेषिक सूत्रों* की व्याख्या *उपस्कार, आत्मतत्त्वविवेक* की व्याख्या *कल्पलता, न्यायकुसुमाञ्जलि* की व्याख्या *आमोद, न्यायलीलावती* की व्याख्या *कण्ठाभरण, खण्डनखण्ड खाद्य* की *आनन्दवर्धिनी* या *शाङ्करी* व्याख्या, *किरणावली* की *निरुक्ति प्रकाश, त्रिसूत्रीनिबन्धव्याख्या* तथा *तत्त्वचिन्तामणिमयूख* – दार्शनिक ग्रन्थों की व्याख्या है। *छन्दोगाह्निक उद्धार, प्रायश्चित्त प्रदीप* तथा *श्राद्ध प्रदीप* धर्मशास्त्र परक ग्रन्थ हैं, शेष *रसार्णव, गौरीदिगम्वरप्रहसन, मनोभवपराभवनाटक, कृष्णविनोदनाटक, रसकल्लोलसारोद्धार, दुर्गासप्तशतीव्याख्या* तथा *पण्डितविजय* साहित्यविद्या में परिगणित है। *रसार्णव* के उपक्रम में इन्होंने कहा है कि तर्क के अभ्यास से परिश्रान्त मन के विश्राम (विनोद) हेतु मैंने जिन श्लोकों की रचना की, उन्हीं का संग्रह है यह रसार्णव –

तर्काभ्यासपरिश्रान्तस्वान्तविश्रान्तिहेतवे।
ये श्लोका विहितास्तेषां संग्रहोऽयं विधीयते।।

तत्त्वचिन्तामणिमयूख, किरणावली निरुक्ति प्रकाश तथा *न्यायत्रिसूत्रीनिबन्ध* (परिशुद्धि) की व्याख्या को छोड़कर सभी दार्शनिक ग्रन्थ एवं इनकी उपादेय ग्रन्थों की व्याख्याएँ प्रकाशित एवं उपलब्ध है। *रसार्णव* के दो संस्करण प्रकाशित हैं। एक वार प्रसिद्ध शिक्षाविद् डा० अमरनाथ झा – कुलपति इलाहाबाद विश्वविद्यालय द्वारा सम्पादित, इण्डियन प्रेस इलाहाबाद से १९२० ई० में प्रकाशित हुआ। पुनश्च गंगानाथ झा केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ से १९९१ ई० में प्रकाशित हुआ है। *गौरीदिगम्वरप्रहसन* भी म०म० मुकुन्द झा वक्सी द्वारा सम्पादित एवं प्रकाशित है। **पण्डितराज जगन्नाथ** की कृति *भामिनीविलास* से लगभग दो सौ वर्ष पहले इस *रसार्णव* में अन्योक्तिमूलक काव्य दृष्टिगोचर होते हैं, जो अप्रस्तुतप्रशंसा के अच्छे उदाहरण हैं किन्तु प्रचार के अभाव में इस काव्यविधा का प्रवर्तक के रूप में **पण्डितराज जगन्नाथ** ही सहृदय समाज में प्रसिद्ध हैं। इनकी ख्याति दार्शनिक रूप में ही हुई। अन्य ग्यारह कृतियाँ या तो मातृकागारों में उपलब्ध हैं या काल कवलित हैं। इनके उद्धरण यत्र तत्र इनकी प्रकाशित कृतियों में उपलब्ध है।

अवधेय है कि बौद्धदार्शनिक ज्ञानश्रीमित्र ने जैसे क्षणभंगवाद के उपसंहार में वृद्धवाचस्पति मिश्र आदि चार नैयायिकों का उल्लेख न्यायविद्या वेदिका के स्तम्भ रूप में किया है। द्रष्टव्य यहीं पृष्ठ १६ में उद्धृत पद्य, इसी प्रकार पन्द्रहवीं शताब्दी में भी न्यायविद्यावेदिका के स्तम्भ रूप में एक ही परिसर में चार नैयायिक हमलोगों को उपलब्ध होते हैं – ज्येष्ठ समसामयिक यज्ञपति उपाध्याय, शङ्कर मिश्र, इनके समसामयिक पक्षधर प्रसिद्ध जयदेव मिश्र तथा नवीन वाचस्पति मिश्र। इन चारों ही दार्शनिकों का वैशिष्ट्य है कि अपने घर में ही पिता या पितृव्य से इन लोगों ने विद्या अधिगत की, किसी दूसरे के घर जाकर या किसी विद्यालय (चतुष्पाठी) में अध्ययन नहीं किया। रुचि के अनुसार इनका कार्यक्षेत्र भिन्न भिन्न रहा है। नव्यन्याय में यज्ञपति तथा जयदेव मिश्र अधिक विख्यात हुए। तीन चार पीढी तक इन दोनों की सारस्वती प्रतिस्पर्धा अभिवृद्ध होती रही, दोनों की शिष्य परम्परा एक दूसरे के खण्डन मण्डन में लगी रही। *तत्त्वचिन्तामणि* की यज्ञपतिकृत *प्रभा* का खण्डन जयदेवमिश्र कृत *तत्त्वचिन्तामणि* की व्याख्या *आलोक* में, पुनश्च *आलोक* का खण्डन नरहरि उपाध्याय के *दूषणोद्धार* में एवं इस *दूषणोद्धार* का खण्डन तथा *आलोक* का मण्डन मधुसूदन ठक्कुर कृत *कण्टकोद्धार* में देखा जाता है। दाक्षिणात्य, वंगाभिजन तथा मैथिल नैयायिक आलोक की व्याख्या करना अपनी प्रतिष्ठा समझते थे। अतएव प्रत्येक प्रान्त में इस आलोक का अध्ययन–अध्यापन तथा व्याख्या का प्रणयन बहुत दिनों तक होता रहा। पश्चात् रघुनाथ शिरोमणि की *दीधिति* एवं इसकी *जागदीशी* तथा *गादाधरी* व्याख्या का अध्ययन–अध्यापन होने लगा। किन्तु यज्ञपति के स्वतन्त्र चिन्तन को सब ने सम्मान किया है। पक्षता प्रकरण में सार्वभौम मत, मिश्रमत (पक्षधर मिश्र मत) तथा उपाध्याय मत (यज्ञपति उपाध्याय का मत) विशद रूप में उल्लिखित है, भले रघुनाथ शिरोमणि की मान्यता यहाँ मानी गयी है। द्वितीय वाचस्पति मिश्र की ख्याति धर्मशास्त्रीय निबन्धकार के रूप में अधिक मिली। अपनी अन्तिम कृति *पितृभक्तितरङ्गिणी* के उपसंहार में इन्होंने लिखा है –

शास्त्रे दश स्मृतौ त्रिंशन्निबन्धाः येन यौवने।
निर्मितास्तेन चरमे वयस्येष विनिर्ममे।।

न्यायदर्शन में *तत्त्वचिन्तामणिप्रकाश* तथा *न्यायतत्त्वालोक* नामक

न्यायसूत्रवृत्ति इनकी कृति अधिक विख्यात हुई। इन्होंने न्यायतत्त्वालोक में उस सेतुका निर्माण किया है, जिससे प्राचीन एवं नवीन न्याय की चिन्तनधारा जोड़ी जा सकती है। गंगानाथ झा केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ इलाहाबाद से १९९२ ई० में यह प्रकाशित है।

किन्तु शङ्कर मिश्र का पाण्डित्य इन चारों में भी अधिक उत्कृष्ट प्रतीत होता है। इनकी मौलिक कृति एवं व्याख्यानों में ग्रन्थकार के अभिप्रायों को समझाने के लिए पूर्वपक्षों के मूल की उद्धरण के साथ प्रस्तुति से उत्तरपक्ष का परिज्ञान सुलभतया हो जाता है। वागाडम्बर भी इनको पसन्द नहीं है, जिससे पाठक का मन उलझता नहीं है। इनकी दृष्टि में विस्तृत उक्ति से मति मारी जाती है और संक्षिप्त उक्ति से अभिप्राय का ज्ञान नहीं होता है। अतः व्याख्याकार संक्षेप एवं विस्तार को छोड़कर अपेक्षित वक्तव्य के द्वारा अभिप्राय प्रकाशित करना चाहता है –

विस्तरोक्तं मतिं हन्ति समासोक्तं न गृह्यते।
समासविस्तरौ हित्वा वक्तव्यं यद् विवक्षितम्।।

इसका अनुपालन इन्होंने सर्वत्र किया है। भाषा, विषय तथा इसकी प्रस्तुति के सन्दर्भ में महाकवि भारवि की उक्ति से दार्शनिक शङ्कर मिश्र सहमत प्रतीत होते हैं। भारवि ने कहा है –

विविक्तवर्णाभरणा सुखश्रुतिः प्रसादयन्ती हृदयान्यपि द्विषाम्।
प्रवर्तते नाकृतपुण्यकर्मणां प्रसन्नगम्भीरपदा सरस्वती।।

भवन्ति ते सभ्यतमा विपश्चितां मनोगतं वाचि निवेशयन्ति ये।
नयन्ति तेष्वप्युपपन्ननैपुणा गम्भीरमर्थं कतिचित् प्रकाशताम्।।

स्तुवन्ति गुर्वीमभिधेयसम्पदं विशुद्धिमुक्तेरपरे विपश्चितः।
इति स्थितायां प्रतिपूरुषं रुचौ सुदुर्लभा सर्वमनोहरा गिरः।।

(सर्ग १४।४–६ श्लोक)

आत्मतत्त्वविवेक का विभिन्न संस्करण

सबसे पहले प० जयनारायण तर्क पञ्चानन और प० मदनमोहन तर्क पञ्चानन ने इस ग्रन्थ का सम्पादन किया था, जो १८४९ ई० में कलकत्ता से प्रकाशित हुआ था। पुनश्च १८९३ ई० में विद्योदय पत्रिकामे इसका प्रकाशन

हुआ। तृतीय संस्करण प० वाइ सार्वभौम द्वारा यह ग्रन्थ संपादित प्रकाशित हुआ कलकत्ता से १९०१ में तथा इसके पहले नवद्वीप से १९०० ई० में। इसमें **रघुनाथ शिरोमणि** की *दीधिति* **गदाधर** की दीर्घतिव्याख्या तथा **मथुरानाथ** की *रहस्य* व्याख्या का समावेश था। **प० श्री विनयानन्द झा** ने *मिथिला की सारस्वत सुषमा* में यह सूचना दी है। किन्तु अधो हस्ताक्षरी को प्रयास करने पर भी इन संस्करणों का कहीँ दर्शन नहीं हुआ है।

ख्रीष्टीय बीसवीं शताब्दी के प्रथम चरण में अनेक व्याख्याओं के साथ इस *आत्मतत्त्वविवेक* का प्रकाशन आरंभ हुआ। महामहोपाध्याय युगल पुण्यश्लोक **विन्ध्येश्वरी प्रसाद द्विवेदी** तथा **लक्ष्मणशास्त्री द्रविड़** के सम्पादन में एशियाटिक सोसाइटी कलकत्ता से चार व्याख्याओं के साथ यह ग्रन्थ प्रकाशित हुआ। इसमें मैथिल दार्शनिक युगल **शङ्कर मिश्र** की *कल्पलता*, **भगीरथ ठक्कुर** की *प्रकाशिका* बंगाभिजन नैयायिक शिरोमणि **रघुनाथ भट्टाचार्य** की *दीधिति* एवं **मथुरानाथ** तर्काचार्य की *रहस्य* व्याख्या का समावेश है। अन्तिम व्याख्या *रहस्य* केवल आरम्भिक अंश के उपलब्ध रहने से अपूर्ण है। शेष तीन व्याख्याएँ पूर्णतः उपलब्ध हैं। इसका द्वितीय संस्करण १९८६ ई० में प्रकाशित किया गया, जो आजकल उपलब्ध है। इसके प्रथम संस्करण के कुछ समय पश्चात् महामहोपाध्याय **गोपीनाथ कविराज** की आज्ञा से पण्डितराज **राजेश्वर शास्त्री** के द्वारा सम्पादित **शंकर मिश्र** की *कल्पलता*, **रघुनाथ शिरोमणि** की *दीधिति* तथा **श्रीराम तर्कालंकार** की *दीधिति-टिप्पणी* के साथ यह ग्रन्थ चौखम्बा संस्कृत सीरिज से प्रकाशित हुआ। किन्तु यहाँ बाह्यार्थभंगवाद का पूर्वार्ध तक ही प्रकाशित हो सका। आगे का प्रकाशन किसी कारणवश अवरुद्ध हो गया।

१९४० ई० में श्रेष्ठ नैयायिक **नारायणाचार्य** कृतव्याख्या के साथ यह ग्रन्थ म०म० वामाचरणभट्टाचार्य के अन्तेवासी **ढुण्ढिराज शास्त्री** द्वारा सम्पादित यह ग्रन्थ चौखम्बा संस्कृत सीरिज से प्रकाशित हुआ। इसके परिशिष्ट के रूप में **रघुनाथ शिरोमणि** की *दीधिति* एवं **गदाधर भट्टाचार्य** कृत *दीधितिव्याख्या* भी प्रकाशित है।

इस सम्पूर्ण ग्रन्थ का हिन्दी में प्रशस्त अनुवाद कर पण्डित प्रवर **केदारनाथ त्रिपाठी** (प्रोफेसर काशी हिन्दू विश्वविद्यालय) ने १९८३ ई० में इसे प्रकाशित

करबाया। बंगला में इस ग्रन्थ के क्षणभंगवाद तथा बाह्यार्थ भंगवाद का आरम्भिक अंश का अनुवाद तथा सुबोध व्याख्यान नैयायिक प्रवर **दीननाथ त्रिपाठी** की कृति कलकत्ता संस्कृत कौलेज से प्रकाशित है। इन्होंने सम्पूर्ण आत्मतत्त्वविवेक का इस प्रकार अनुवाद एवं व्याख्यान का प्रणयन किया है, किन्तु इतना ही अंश अब तक प्रकाश में आया है।

दो वर्ष पहले २००६ ई० के जुलाई में मेरे आत्मीय बन्धु, असाधारण दार्शनिक-चिन्तक तथा उदारमना **गोस्वामी श्याम मनोहर जी** से मुझे *कल्पलता* व्याख्या के साथ *आत्मतत्त्वविवेक, आमोद, प्रकाश* तथा *मकरन्द* के साथ *न्यायकुसुमाञ्जलि, न्यायपरिशिष्ट* (जिसका नामान्तर प्रबोधसिद्धि भी है) तथा *लक्षणमाला* का नवीन संस्करण प्रकाशित करने का आदेश मिला। तत्काल ही मुझे स्मरण पथारूढ़ हुई कविकुलगुरु **कालिदास** की सूक्ति – **प्रायः प्रत्ययमाधत्ते स्वगुणेषूत्तमादरः** और मैंने स्वीकार कर लिया इनका आदेश। यद्यपि मैं इस कार्य के योग्य अपने को नहीं मानता हूँ तथापि इनका मैं जन्म से ही अधिक स्नेह भाजन रहा हूँ, बहुत दिनों तक एक साथ रहने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। मेरे पितृचरण पण्डित **कृष्णमाधव झा** आजीवन इनके पूर्वज के आश्रित रहे हैं, यथार्थ यही है कि हमारी दो पीढ़ी गोस्वामिकुलावतंस महाराज गोकुलनाथ जी की सन्तति का आश्रय पाकर प्रतिपालित है तथा स्वाभिमान पूर्वक विद्यार्जन में लगी रही है। अतः इनके आदेश का पालन करना मैंने अपना सौभाग्य समझा। बड़ा मन्दिर से (इनके पैतृक गृह से) मैं लालित पालित हूँ। अतः मैं इस कार्य के सम्पादन हेतु सोत्साह प्रवृत्त हुआ। इन्हीं के सत्प्रयास से इन ग्रन्थों का प्रकाशन–भार श्री वल्लभ विद्यापीठ श्री विठलेश प्रभु चरण आ०हो० ट्रस्ट, वैभव को औपरेटिव्ह सोसाइटी, पूना बंगलोर रोड, कोल्हापुर (महाराष्ट्र) ने लिया है। मैं इन ग्रन्थों के सम्पादन एवं प्रकाशन का श्रेय मेरे प्रति इनकी अहैतुकी कृपा को ही देता हूँ। अतः मैं इनकी एवं उपर्युक्त ट्रस्ट के प्रति कृतज्ञ एवं अधमर्ण हूँ।

अन्य सारस्वत कार्य में व्यस्तता के कारण इसके प्रकाशन में कुछ विलम्ब अवश्य हुआ, जिसे मैं अपना अपराध मानता हूँ। इसके लिए मित्रवर **श्री श्याममनोहर जी** मुझे क्षमा अवश्य करेंगे। **वाल्मीकि** *रामायण* में उक्त है कि

यदि किञ्चिदतिक्रान्तं विश्वासात् प्रणयेन वा।
तत्सर्वं क्षमितव्यं मे नहि कश्चिन्नापराध्यति।।

यतः *कल्पलता* व्याख्या के साथ *आत्मतत्त्वविवेक* का प्रकाशन हो रहा है। अतः व्याख्याकार के संक्षिप्त परिचय की प्रस्तुति यहाँ अनपेक्षित नहीं होगी।

उपसंहार में मैं उन गुरुजनों को प्रणतिपरम्परा से पूजा करना चाहूँगा जिनके आशीर्वाद से, अनुग्रह पूर्वक विद्यादान से तथा छोटे बड़े सहयोग से यह कार्य सम्पन्न हुआ है। कविकुल गुरु कालिदास ने कहा है –

सिद्ध्यन्ति कर्मसु महत्स्वपि यन्नियोज्याः
सम्भावना गुणमवेहि तमीश्वराणाम्।

इस कार्य में मैं जिनका उपकार भार से अवनत हूँ, उनके प्रति वाल्मीकि रामायण में उक्त हनुमान् के प्रति भगवान् राम की उक्ति ही मेरी भी शरण है –

मय्येव जीर्णतां यातु यत्त्वयोपकृतं प्रधीः।

तथापि एकेडेमी प्रेस, इलाहाबाद के व्यवस्थापक **श्रीमान् सुरेन्द्रमणि त्रिपाठी** एवं उनके सहयोगी कार्यकर्ता **ब्रह्मानन्द मिश्र** को मैं साधुवाद देता हूँ, हृदय से आभार मानता हूँ। इन्होंने धैर्यपूर्वक कार्य अच्छी तरह सम्पन्न किया।

पाठकों से मेरी साञ्जलि प्रार्थना है कि मित्र की दृष्टि से इसका अवलोकन–अध्ययन करें तथा दोषों का गजनिमीलन कर गुण के लेश से तृप्त होते रहें–
मधुलिह इव मधुविन्दून् विरलानपि भजत गुणलेशान्

पुनश्च –

तद्विद्वांसोऽनुगृह्णन्तु चित्तश्रोत्रैः प्रसादिभिः।
सन्तः प्रणयिवाक्यानि गृह्णन्ति ह्यनसूयवः।।
गच्छतः स्खलनं क्वापि भवत्येव प्रमादतः।

(श्लोकवार्त्तिकम्)

सुधीजनों का आश्रव

किशोरनाथ झा

□□

विषय-सूची

□□

श्रीमदुदयनाचार्य प्रणीतः

आत्मतत्त्वविवेकः

शंकरमिश्रविरचितया कल्पलता व्याख्यया सहितः

स्वाम्यं यस्य निजं जगत्सु जनितेष्वादौ ततः पालनं
व्युत्पत्तेः करणं हिताहितविधिव्यासेधसम्भावनम्।
भूतोक्तिः सहजा कृपा निरुपधिर्यत्नस्तदर्थात्मक-
स्तस्मै पूर्वगुरूत्तमाय जगतामीशाय पित्रे नमः।।

कल्पलता-

संसारपटकुविन्दं जगदण्डकलशकुलालमीशानम्।
सर्गप्रलयसितासितकुसुमस्रङ्मालिनं वन्दे।।

प्रारिप्सितस्य निर्विघ्नं समाप्तिमुद्दिश्य कृतं मङ्गलं शिष्यशिक्षायै निबध्नाति। **स्वाम्यमिति।** तस्मै सर्वजनप्रसिद्धाय। **जगतामीशाय** जगज्जननानुकूल-कृतिशक्तिमते नमः। वेदप्रामाण्यग्रहौपयिकमाप्तत्वं दर्शयितुं पितृत्वेन तं रूपयति। **पित्र इति।** अविप्रलम्भकायेत्यर्थः। **पूर्वगुरूत्तमाय** पूर्वगुरवो *मनुकपिलादयस्तेभ्य* उत्तमायेत्यर्थः। तथा चेश्वर एव वेदवक्ता तदनु स्मर्तारः परं *मन्वादय* इति भावः। रूपकस्योपमाभेदत्वेन तन्निर्वाहाय पितृसाम्यमाह । **स्वाम्यमिति।** पितुरपि जनितेषु स्वाम्यमीशस्यापि तथैव तेषु यथेष्टविनियोगाधिकार इत्यर्थः। **निजमिति।** स्वाभाविकमित्यर्थः। **आदौ जनितेष्विति** सम्बन्धः। तथा च जनकस्यापि जनकत्वमीश्वरस्य ध्वनितम्। अन्यदपि पितृसाम्यमाह। **ततः पालनमिति।** हितोपदेशतदाचरणादिना रक्षणमित्यर्थः। अन्यदपि पितृसाम्यमाह **व्युत्पत्तेरिति।** यथा पिता अध्यापनादिना पुत्रान् व्युत्पादयति तथेश्वरोऽपि प्रयोज्य-प्रयोजकदेहभेदमाश्रित्य प्राणिनो गवादिपदजाते पटादिनिर्माणे च व्युत्पादयतीत्यर्थः। साम्यान्तरमाह। **हिताहितेति।** हिताहितयोः हितविध्यहितव्यासेधयोः **सम्भावनं** प्रापणं ज्ञापनमिति यावत्। **हितविधिः** स्वर्गकामो यजेतेत्यादिः। **अहितव्यासेधो**

न कलञ्जं भक्षयेदित्यादि। तदुभयमुपदिश्य ज्ञापयति। ननु कथमत्र विश्वास इत्यत आह **भूतोक्तिरि**ति। यथा पितुः पुत्रान् प्रति विधिनिषेधयोः सत्योक्तिस्तथेश्वरस्यापीत्यर्थः। सत्यत्वे मानमाह **सहजे**ति। धर्मिग्राहक-मानादाप्तत्वेनैव सिद्धेः। तथा च भ्रमप्रमादविप्रलिप्साविरहात् तदुक्तिः सत्येति भावः। ननु स्वप्रयोजनाभावात् कथं हिताहिते उपदिशेदित्यत आह **कृपे**ति। **निरुपधिरेव** परदुःखप्रहाणेच्छास्येत्यर्थः। ननु सापि परं दुःखिनं दृष्ट्वा स्वस्मिन् दुःखोत्पत्तेर्भवति न हीश्वरस्य दुःखमत आह **निरुपधिरि**ति। अन्यथासिद्धिशङ्कारहितेत्यर्थः। यद्वा अनौपाधिकीत्यर्थः। उपधिः कारणं तच्च नित्यत्वादेव नास्तीति स्वाभाव्यादेव तथेति भावः। न च तर्हि सुखिनमेव सर्वं सृजेदिति देश्यम्। अदृष्टसापेक्षत्वात्। **यत्नस्तदर्थात्मकः** तस्याः कृपायाः अर्थः परदुःखप्रहाणं तदात्मको यत्नः। यद्वा तदर्थो जगत्प्रयोजनं तदेवात्मा यस्य यत्नस्येत्यर्थः। यद्वा तत्पदेन हिताहितप्रवृत्तिनिवृत्ती उच्येते, ते अर्थः प्रयोजनं यस्य तदात्मकस्तद्रूप इत्यर्थः। अत्र सर्वत्र यस्येत्यावर्तनीयम्।

इह खलु निसर्गप्रतिकूलस्वभावं सर्वजनसंवेदनसिद्धं दुःखं जिहासवः सर्व एव तद्धानोपायमविद्वांसोऽनुसरन्तश्च सर्वाध्यात्मविदेकवाक्यतया तत्त्वज्ञानमेव तदुपायमाकर्णयन्ति न ततोऽन्यम्। प्रतियोग्यनुयोगितया च आत्मैव तत्त्वतो ज्ञेयः। तथाहि यदि नैरात्म्यं यदि वात्मास्ति वस्तुभूतः उभयथापि नैसर्गिकमात्मज्ञानमतत्त्वज्ञानमेव इत्यत्राप्येकवाक्यतैव वादिनामत आत्मतत्त्वं विविच्यते।

कल्पलता- प्रेक्षावत्प्रवृत्त्यर्थमभिधेयं प्रयोजनं च दर्शयति- **इहे**ति। इह ग्रन्थे **आत्मतत्त्वं विविच्यत** इति सम्बन्धः। यद्वा इह संसारे **तत्त्वज्ञानमेव तदुपायमाकर्णयन्ती**ति सम्बन्धः। नन्वात्मतत्त्वविवेकस्यासुखत्वाद दुःखाभावत्वाच्च न पुरुषार्थत्वमतः कथं तदर्थिनोऽत्र प्रवर्तन्तामत आह - **तदुपायमि**ति। दुःखहानोपायमित्यर्थः। पुरुषार्थसाधनत्वादात्मतत्त्वविवेकोऽपि पुरुषार्थ एवेति भावः। भवेदेवं यदि दुःखहानमपि मुख्यः पुरुषार्थो भवेन्न त्वेवं सुखेच्छया तत्र वृत्तेरत आह **निसर्गप्रतिकूलस्वभावमि**ति। अतः स्वरसत एव तद्धानेच्छेत्यर्थः। ननु दुःखमपि सुखाभावान्नान्यदित्यत आह **सर्वजने**ति। सर्वजनप्रतीतिसाक्षिकं तदित्यर्थः। आत्मानमधिकृत्य प्रवर्तत इत्यध्यात्मं शास्त्रम्। **एकवाक्यतै**कमत्यम्। तथा च सर्वतान्त्रिकसिद्धं तत्त्वज्ञानस्य मोक्षोपायत्वमि-

त्युक्तम्। तथाप्यनपेक्षिताभिधानं माभूदत उक्तम् **अनुसरन्तश्चेति**। मोक्षोपायमनुसन्दधाना इत्यर्थः। अनुसरणं प्रति हेतुः **अविद्वांस** इति। अहिकण्टकादिदुःखहानोपायविद्वत्तायामप्यात्यन्तिकदुःखहानोपाये न वैदुष्यमिति भावः। **आकर्णयन्तीति** श्रौतं ज्ञानमभिप्रैति। तच्चात्मा वा अरे श्रोतव्य इत्याद्युपनिषदां श्रवणात्। एवकारेण लभ्यमप्यन्ययोगव्यवच्छेदं काशीमरणादेः स्वातन्त्र्येण मोक्षोपायत्वशङ्कां निराकर्तुं पुनराह- **नान्यदिति**। यद्वा उपायमेव तत्त्वज्ञानमिति विशेषणसङ्गत एवायमेवकारः तत्त्वज्ञानार्थिप्रवृत्तिवैफल्य-शङ्कानिरासाय। ननु भवतु तत्त्वज्ञानं मोक्षहेतुस्तथाप्यात्मतत्त्वं किमिति विविच्यत इत्यत आह **आत्मैव तत्त्वतो ज्ञेय** इति। ननु *बौद्धा* नैरात्म्यज्ञानं तत्त्वज्ञानमाहुस्तथा च कथमेकवाक्यतेत्यत आह- **प्रतियोग्यनुयोगितयेति**। तेषामपि प्रतियोगितया आत्मतत्त्वं ज्ञाने स्फुरतीति मतं यत इति भावः। यद्वा यथा देहेन्द्रियादिभ्य आत्मा भिन्न इति तत्त्वज्ञानं तथात्मनः शरीरादिकं भिन्नमित्यपि तत्त्वज्ञानम्। देहेन्द्रियादिहानौपयिकमेवेति दर्शयति- **प्रतियोगीति**। नन्वहं गौर इत्यादिप्रकारकमात्मज्ञानमयत्नसिद्धमेवेत्यत आह- **नैसर्गिकमिति**। स्वाभाविकमयत्नसिद्धमिति यावत्। अहं सुखीत्यादिप्रकारकात्मज्ञानस्य तत्त्वज्ञानत्वेऽपि न मिथ्याज्ञाननिवर्तकत्वमतस्तदप्यतत्त्वज्ञानमेवेति भावः। ननु नैरात्म्यवादिनां शरीरे अहं प्रत्ययस्तत्त्वज्ञानमेवेत्यत उक्तं **यदि नैरात्म्यमिति**। अयत्नसिद्धत्वात् तेषामप्येतादृशं ज्ञानमनादेयमित्यर्थः। **आत्मतत्त्वं विविच्यत इति**। शरीरादिभ्यो नित्यः सुखज्ञानादिगुणवानात्मा विवेकेन भेदेनोपदर्श्यत इत्यर्थः।

तत्र बाधकं भवदात्मनि क्षणभङ्गो वा बाह्यार्थभङ्गो वा गुणगुणिभेदभङ्गो वा अनुपलम्भो वेति।

कल्पलता- बाधनिरासमन्तरेणोच्यमानमप्यात्मनि प्रमाणमतन्त्रमेवातो विशिष्ट आत्मनि बाधकमाशङ्क्य निराचष्टे **तत्रेति**। नैरात्म्यवादिनामस्मदभिमतात्मनि बाधकान्येतान्येवेति क्रमशो निरसनीयानि। *वेदान्तिनो*ऽप्यापाततो नैरात्म्यवादिन एवेति तन्मतमपि दूष्यत एव। तथा च *श्रुतिभ्यः* समधिगतेऽप्यात्मनि सङ्कसुकतानिवृत्तये न्यायः प्रवर्तनीयः। स च न बाधकनिरासमन्तरेणाङ्गं धारयतीति प्रथमं बाधकनिरासारम्भ इति भावः। क्षणभङ्गादिपदं च तत्साधकप्रमाणपरम्। तत्र **क्षणभङ्गे** नित्यत्वभङ्गः। **बाह्यार्थभङ्गे** ज्ञानभिन्नात्मनोऽसिद्धिः। बाह्यत्वं च ज्ञानभिन्नत्वमेव। **गुणगुणिभेदभङ्गे**ऽपि तथा। **अनुपलम्भे** तु स्वरूपस्यैवासिद्धिः।

शरीरादिभिन्नात्माननुभवश्चात्रानुपलम्भः।

विचारप्रवर्तकसंशयमूलं च क्षणभङ्गे विप्रतिपत्तयः। सत्त्वं क्षणमात्रवृत्त्यनेकवृत्तिधर्मव्यापकताव्याप्यं न वा, सत्त्वमुत्पत्तिव्याप्यं न वा, कार्यं स्वोपादानसमानकालीनं न वा, भावः स्वोत्पत्त्यव्यवहितोत्तरक्षणवर्तिध्वंसप्रतियोगी न वा। *एकदेशिमते*नान्त्यशब्दे विधिकोटिप्रसिद्धिः निषेधकोटिप्रसिद्धिस्त्वलीके *सौगतानां* मते।

तत्र न प्रथमः प्रमाणाभावात्। यत् सत् तत् क्षणिकं यथा घटः संश्च विवादाध्यासितः शब्दादिरिति चेत्, न प्रतिबन्धासिद्धेः।

कल्पलता- पराभिमतं क्षणिकतायां प्रमाणमाह- **यत् सदिति।** व्याप्तिपक्षधर्मताज्ञानमात्रमनुमितिजनकं तदुपदर्शकौ चोदाहरणोपनयावेवेति द्व्यवयव एव प्रयोगो *बौद्धा*भिमतः। विवादास्पदत्वमिह पक्षतावच्छेदकम्। शब्दादिरिति त्वधिकं स्फुटार्थम्। यद्वा शब्दादित्वेनैव पक्षता। विवादास्पदत्वमन्त्यशब्दे सिद्धसाधनवारणाय। शब्दादिरिति चालीकस्य पक्षतानिरासाय। अन्यथा तत्र सत्त्वस्य हेतोरसिद्धौ भागासिद्धिः स्यात्। आदित्वं प्रामाणिकत्वं पक्षतावच्छेदकम्, सत्त्वं चार्थक्रियाकारित्वं हेतुरिति तयोर्भेदः। अन्यथा तयोरैक्ये व्याप्तिग्राहकमानादेव साध्यसिद्धावनुमानवैयर्थ्यं स्यात्। यद्वा सत्त्वेनैव पक्षता हेतुता च, अनुमितिस्तु प्रकारभेदं लिङ्गोपधानादिकमादायेति न दोषः। घटः प्रसाध्याङ्को दृष्टान्तः। न च सत्त्वेन तस्यापि पक्षत्वे दृष्टान्तत्वानुपपत्तिः। साध्यवत्तया निश्चितत्वमात्रेणैव दृष्टान्तता न तु पक्षभिन्नत्वमपि तन्त्रम्। न चांशतः सिद्धसाधनं विशेषतः सिद्धावपि सामान्यसिद्धेरुद्देश्यत्वात्। घटभिन्नसत्त्वेन वा पक्षता। **प्रतिबन्धेति।** प्रतिबन्धो व्याप्तिस्तस्याः क्षणिकत्वनिरूपिताया असिद्धेरित्यर्थः। क्षणिकत्वनिरूपिता व्याप्तिरन्त्यशब्दत्वादौ प्रसिद्धा सत्त्वे प्रतिषिध्यत इति नाप्रसिद्धिः।

सामर्थ्यासामर्थ्यलक्षणविरुद्धधर्मसंसर्गेण भेदसिद्धौ तत्सिद्धिरिति चेत्। न, विरुद्धधर्मसंसर्गासिद्धेः। प्रसङ्गविपर्ययाभ्यां तत्सिद्धिरिति चेत्। न, सामर्थ्यं हि करणत्वं वा, योग्यता वा। नाद्यः, साध्याविशिष्टत्वप्रसङ्गात्। व्यावृत्तिभेदादयमदोष इति चेत्। न, तदनुपपत्तेः। व्यावर्त्यभेदेन विरोधो हि तन्मूलम्।

कल्पलता- सामर्थ्येति। प्रतिक्षणं क्वचित् सामर्थ्यं क्वचिदसामर्थ्यमिति विरुद्धधर्माध्यासात् क्षणिकत्वसिद्धौ व्याप्तेः सिद्धिरित्यर्थः। यद्यपि

विरुद्धधर्माध्यस्तत्वादेव भेदसिद्धिरिति सत्त्वहेतोर्वैयर्थ्यं तथापि ततो भेदमात्रमनेन तु क्षणिकत्वमिति प्रकारभेद इति भावः। **विरुद्धेति।** स्वरूपयोग्यत्वस्वरूपायोग्यत्वयोर्ययोर्विरोधस्तयोः संसर्ग एव नास्ति संसृष्टत्वेनानुभूयमानकारित्वाकारित्वयोः साहित्यासाहित्ययोस्तु न विरोध इत्यर्थः। **प्रसङ्गेति।** प्रसङ्गाभ्यां विपर्ययाभ्यां चेत्यर्थः। तथाहि कुशूलस्थं बीजं यद्यङ्कुरसमर्थं स्यादङ्कुरं कुर्यात्, न च करोति तस्मान्न समर्थमेवं क्षेत्रपतितं यद्यसमर्थं स्यान्न कुर्यात्, करोति च तस्मान्नासमर्थमिति प्रसङ्गाभ्यां विपर्ययाभ्यां च कुशूलस्थक्षेत्रपतितबीजयोर्भेदः। तथा च क्षणिकत्वमेव पर्यवस्येदिति भावः। **समर्थस्य क्षेपायोगादिति।** तत्कालीनं सामर्थ्यं तत्कालीनफलोपधानलक्षणं कारित्वमापादयतीति यदा कदाचित् करणेन न सिद्धसाधनम्। **करणमिति।** फलोपधानमित्यर्थः। **साध्याविशिष्टत्वादिति।** आपाद्याविशिष्टत्वात्। साध्यसाधनयोरिवापाद्यापादकयोरपि भेदे सत्यापादनप्रवृत्तेः। असमर्थव्यावृत्तिरापादिका, अकारित्वव्यावृत्तिश्चापाद्येति नापाद्याविशेष इत्याह **व्यावृत्तीति।** व्यावृत्त्योरपि भेदः प्रकृते नास्तीत्याह **नेति।** कथं नास्तीत्यत आह **व्यावर्त्यभेदेनेति।** तन्मूलं व्यावृत्तिभेदमूलमित्यर्थः।

स च न तावन्मिथो व्यावर्त्यप्रतिक्षेपाद् गोत्वाश्वत्ववत्। तथा सति विरोधादन्यतरापाये बाधासिद्ध्योरन्यतरप्रसङ्गात्।

कल्पलता- विरोधमेव प्रतिक्षिपति **स चेति।** अन्योन्यव्यावर्त्यं प्रतिक्षिप्तवत्योर्गोत्वाश्वत्वलक्षणव्यावृत्त्योर्भेदः सम्भवतु, गोत्वस्य व्यावर्त्यां विशिष्टां गोव्यक्तिमश्वत्वं प्रतिक्षिपति अश्वत्वव्यावर्त्यां चाश्वव्यक्तिं गोत्वमिति हि तयोर्भेदः। प्रकृते तु नैवमित्यर्थः। ननु प्रकृतेऽपि तथैवं किं न स्यादत आह **तथा सतीति।** यदि कारित्वं सामर्थ्येन प्रतिक्षिप्येत तदापाद्यबाधः स्यात्। यदि कारित्वेन सामर्थ्यं प्रतिक्षिप्येत तदापादकासिद्धिरित्यर्थः। आपाद्यबाधो गुण एवेति चेत्, न। आपाद्यापादकयोः क्वापि सामानाधिकरण्यं न स्यादिति मूलशैथिल्यं विपर्ययापर्यवसानं चेति भावः।

नापि तदाक्षेपप्रतिक्षेपाभ्यां वृक्षत्वशिंशपात्ववत् परापरभावानभ्युपगमात्। अभ्युपगमे वा समर्थस्याप्यकरणमसमर्थस्यापि वा करणं प्रसज्येत। नाप्युपाधिभेदात् कार्यत्वानित्यत्ववत् तदभावात्। न च शब्दमात्रमुपाधिः पर्यायशब्दोच्छेदप्रसङ्गात्।।

कल्पलता- ननु गोत्वाश्वत्ववत् परस्परात्यन्ताभावसामानाधिकरण्यं मास्तु वृक्षत्वशिंशपात्ववद् व्याप्यव्यापकभाव एव व्यावृत्योः स्यादेतावतापि भेदः सिद्ध्यत्येवेत्यत आह नापीति। **आक्षेपः** सङ्ग्रहः। **प्रतिक्षेपो** व्यवच्छेदः। तथा च वृक्षत्वस्य पनससङ्ग्राहकत्वं शिंशपात्वस्य च तद्व्यवच्छेदकत्वम्। न चैकस्यैतदुपपद्यते इति तयोर्भेदोऽस्तु, स च व्याप्यव्यापकभावाधीनः। प्रकृते च तथाभ्युपगमे सामर्थ्यस्य व्यापकत्वे कथमापादकत्वं व्यभिचारात्। व्याप्यत्वे तु सामर्थ्यं विनापि कारित्वं स्यादित्यनिष्टमित्यर्थः।

ननु गोत्वाश्वत्ववत् परस्परपरिहारो वृक्षत्वशिंशपात्ववत् सामान्यविशेषभावो वा मास्तु, उक्तदोषात्। किं तु कार्यत्वानित्यत्ववत् समव्याप्तिरस्तु। तथा च स्यादेवापाद्यापादकभावो भेदाधीन इत्यत आह नापीति। उक्तो- पाधेरन्यस्मादुपाधिभेदादित्यर्थः। प्रागभावावच्छिन्नसत्तायोगित्वं कार्यत्वं ध्वंसाविच्छिन्नसत्तायोगित्वमनित्यत्वमित्युपाधेर्भिन्नत्वमस्तु प्रकृते तु न तथोपाधिरस्तीत्याह तदभावादिति। ननु समर्थपदवाच्यत्वादन्यदेव कारिपदवाच्यत्वमिति कथं न भेद इत्यत आह न चेति। शब्दभेदादेव यद्यर्थभेदस्तदैकस्मिन्नर्थे शब्दानां वृत्तिः पर्यायत्वं तन्न स्यादित्यर्थः।

नापि विकल्पभेदः स्वरूपकृतस्य तस्य व्यावृत्तिभेदकत्वे ऽसमर्थव्यावृत्तेरपि भेदप्रसङ्गात्। विषयकृतस्य तु तस्य भेदकत्वे ऽन्योन्याश्रयप्रसङ्गात्। न च निर्निमित्त एवायं व्यावृत्तिभेद- व्यवहारोऽतिप्रसङ्गात्।

कल्पलता- कारित्वप्रकारकज्ञानात् समर्थत्वप्रकारकं ज्ञानमन्यदिति तद्भेदादपि न भेद इत्यत आह नापीति। **स्वरूपकृतस्येति**। ज्ञानव्यक्तिभेद- मात्रकृतस्येत्यर्थः। **अन्योन्याश्रयेति**। विषयभेदाधीनो विकल्पभेदो विकल्पभेदाधीनश्च विषयभेद इत्यन्योन्याश्रय इत्यर्थः।

नापि द्वितीयः। सा हि सहकारिसाकल्यं वा प्रातिस्विकी वा। न तावदाद्यः पक्षः सिद्धसाधनात्, परानभ्युपगमेन हेत्वसिद्धेश्च। यत् सहकारिसमवधानवत् तद्धि करोत्येवेति को नाम नाभ्युपैति। यमुद्दिश्य साध्यते। न चाकरणकाले सहकारिसमवधानवत्त्वमस्माभिरभ्युपेयते यतः प्रसङ्गः प्रवर्तेत।

कल्पलता- योग्यतापक्षं दूषयति नापीति। सा हीति। प्रति स्वं नियता प्रातिस्विकी। यथा बीजेषु बीजत्वं तन्तुषु तन्तुत्वम्। तत्तत्कारणतावच्छेदिका जातय इत्यर्थः। सिद्धसाधनादिति। संग्रहं विवृणोति यदिति। परानभ्युपगमेनेति। विवृणोति न चेति। अकुर्वतः कुशूलस्थस्य बीजस्य परेण *नैयायिकेन* सहकारिसमवधानानभ्युपगमात् तर्कस्य पराभ्युपगममादायैव प्रवृत्तेरित्यर्थः।

प्रातिस्विकी तु योग्यता अन्वयव्यतिरेकविषयीभूतं बीजत्वं वा स्यात् तदवान्तरजातिभेदो वा सहकारिवैकल्यप्रयुक्तकार्याभाववत्त्वं वा।

कल्पलता- बीजे सत्यङ्कुरं तद्विना नेत्यन्वयव्यतिरेकौ। तदवान्तरजातिभेदः कुर्वद्रूपवत्त्वं पराभ्युपगतमित्यर्थः। उभयसाधारणीं योग्यतामाह सहकारीति। सहकारिवैकल्यप्रयुक्तो व्याप्यो यः कार्याभावस्तद्वत्त्वमित्यर्थः। शिलाशकले कार्याभावो न सहकारिवैकल्यप्रयुक्तः किं तु शिलात्वप्रयुक्त एव बीजे सहकारिसाकल्ये कार्याभावो न भवत्येव।

न तावदाद्यः, अकुर्वतोऽपि बीजजातीयस्य प्रत्यक्षसिद्धत्वात्। तवापि तत्राविप्रतिपत्तेः।

कल्पलता- अकुर्वतोऽपीति। यदि कुशूलस्थं बीजं स्यात् तदा कुर्यादिति प्रसङ्गः, न च करोति तस्मान्न बीजमिति विपर्ययश्च व्यभिचारबाधाभ्यामनुपपन्न इत्यर्थः।

न द्वितीयः, तस्य कुर्वतोऽपि मयानभ्युपगमेन दृष्टान्तस्य साधनविकलत्वात्। को हि नाम सुस्थात्मा प्रमाणशून्यमभ्युपगच्छेत्। स हि न तावत् प्रत्यक्षेणानुभूयते तथानवसायात्। नाप्यनुमानेन लिङ्गाभावात्। यदि न कश्चिद्विशेषः कथं तर्हि करणाकरणे इति चेत्, क एवमाह नेति। परं किं जातिभेदरूपः सहकारिलाभालाभरूपो वेति नियामकं प्रमाणमनुसरन्तो न पश्यामः। तथापि योऽयं सहकारिमध्यमध्यासीनोऽक्षेप करणस्वभावो भावः, स यदि प्रागप्यासीत् तदा प्रसह्य कार्यं कुर्वाणो गीर्वाणशापशतेनाप्यपहस्तयितुं न शक्यते इति चेत्, युक्तमेतत्। यद्यक्षेपकरणस्वभावत्वम् भावस्य प्रमाणगोचरः स्यात्, तदेव कुतः सिद्धमिति नाधिगच्छामः। प्रसङ्गतद्विपर्ययाभ्यामिति चेत्, न। परस्पराश्रयप्रसङ्गात्। एवंस्वभावत्वसिद्धौ हि तयोः प्रवृत्तिः तत्प्रवृत्तौ चैवंस्वभावत्वसिद्धिरिति।

कल्पलता- कुशूलस्थं बीजं यदि कुर्वद्रूपत्वजातिमत् स्यात् कुर्यात् क्षेत्रपतितबीजवदिति प्रसङ्गं निरस्यति **न द्वितीय इति**। तस्य जातिविशेषस्य। **दृष्टान्तस्येति**। क्षेत्रपतितेऽपि बीजे कुर्वद्रूपत्वं नास्ति। तथा चापादकविकलो दृष्टान्त इत्यर्थः। ननु तवानभ्युपगममात्रेण कथं जातिविशेषविरह इत्यत आह **को हीति**। प्रमाणाभावाधीन एवानभ्युपगमो ममेति भावः। प्रमाणाभावमेवोपपादयति **स हीति**। अनुभव आलोचनम्, तस्यैव तन्मते प्रमाणत्वात्। **तथानवसायादिति**। अवसायः सविकल्पकं तदेवालोचनोन्नायकम्। तदभावादालोचने प्रमाणान्तरं नास्तीत्यर्थः। **लिङ्गाभावादिति**। स चानुपलम्भादिति भावः। ननु करणान्यथानुपपत्त्युन्नेय एव जातिविशेषस्तदभावश्चाकरणोन्नेयः कुशूलस्थ इत्याह **यदीति**। अर्थापत्तावन्यथोपपत्तिशङ्कामाह **क एवमाहेति**। सहकारिलाभाधीनं करणं तदलाभाधीनमकरणमिति। यद्यपि निश्चय एव तथाप्यापाततः सन्देहादप्यर्थापत्तिर्दूषिता भवति। तमेवाह **परमिति**। बीजस्याक्षेपकरणस्वाभाव्ये साध्येऽपि पूर्वापरबीजयोरैक्ये दोषमाह **तथापीति**। वस्तुत एवाक्षेपकरणस्वाभाव्ये दोषोऽयं न त्वन्यथापीति परिहरति **युक्तमेतदिति**। अक्षेपकारित्वस्वाभाव्यं वास्तवं शङ्कते **प्रसङ्गेति**। बीजं यदि अक्षेपकरणस्वभावं न स्यात् न कुर्यात् करोति च, तस्मादक्षेपकारिस्वभावमिति प्रसङ्गविपर्ययाभ्यामक्षेपकारिस्वाभाव्यसिद्धिरित्यर्थः। परिहरति **न परस्परेति**। अक्षेपकरणस्वाभाव्यस्य प्रतियोगिनः प्रसिद्धौ तदभावमादाय प्रसङ्गप्रवृत्तिस्तत्प्रवृत्तौ च स्वाभाव्यसिद्धिरित्यर्थः।

स्यादेतत्। कार्यजन्मैव अस्मिन्नर्थे प्रमाणं विलम्बकारिस्वभावानुवृत्तौ कार्यानुत्पत्तिः सर्वदेति चेत्, न। विलम्बकारिस्वभावस्य सर्वदैवाकरणे तत्त्वव्याघातात्। ततश्च विलम्बकारीत्यस्य यावत्सहकार्यसन्निधानं तावन्न करोतीत्यर्थः। एवं च कार्यजन्म सामग्र्यां प्रमाणयितुं शक्यते न तु जातिभेदे। ते तु किं यथानुभवं विलम्बकारिस्वभावाः परस्परं प्रत्यासन्नाः कार्यं कृतवन्तः किं वा यथा त्वत्परिकल्पनं क्षिप्रकारिस्वभावा इत्यत्र कार्यजनन मजागरूकमेवेति।

कल्पलता- ननु विलम्बकारित्वे कदापि कार्यजन्म न स्यादिति, तदन्यथानुपपत्त्यैवाक्षेपकारित्वसिद्धिरिति शङ्कते **कार्येति**। विलम्बकारित्वे ऽपि कार्यजन्मोपपद्यत एवेत्याह **विलम्बेति**। ननु विलम्बकारित्वस्वाभाव्यं चेत् तदा ध्वंसपर्यन्तं तत्स्वाभाव्यानुवृत्तौ कार्यजन्म न स्यादेवेति विलम्बकारित्वमन्यथा

समर्थयति ततश्चेति। ततश्च यदधीनं कार्यजन्म तत् तदेव गमयेत् न त्वक्षेपकारित्वमित्याह एवं चेति। न तु जातिभेदे पराभ्युपगते। विलम्बकारित्वे ऽपि कार्यजन्मोपपादयति ते त्विति। सामग्रीघटकाः सहकारिण इत्यर्थः। तथा चाक्षेपकारित्वे कार्यजन्माप्रयोजकमिति भावः।

नापि तृतीयः, विरोधात्। सहकार्यभावप्रयुक्तकार्याभाववाँश्च सहकारिविरहे कार्यवाँश्चेति व्याहतम्। तस्माद् यद् यदभाव एव यन्न करोति तत् तत्सद्भावे तत् करोत्येव इति तु स्यात्। एतच्च स्थैर्यसिद्धेरेव परं बीज सर्वस्वमिति।

कल्पलता- ननु कुशूलस्थं बीजं यदि सहकारिविरहप्रयुक्तकार्याभाववत् स्यात्, कुर्यात्। न च करोति, तस्मान्न तथेति, प्रसङ्गविपर्ययौ स्यातामित्यत आह नापीति। कुशूलस्थस्य सहकारिवैधुर्यमुभयसिद्धम्। तथा च सहकारिविधुरं बीजं यदि सहकारिविरहप्रयुक्तकार्याभाववत् स्यात् तदा कुर्यादिति विरुद्धमित्याह विरोधादिति। तस्मात् यत् सहकारिविरहान्न करोति तदेव सहकारिसत्वे करोतीत्यायातम्। तच्च स्थैर्यसिद्धावेव स्यादित्याह तस्मादिति।

एतेन समर्थव्यवहारगोचरत्वं हेतुरिति निरस्तम्। तादृग्-व्यवहारगोचरस्यापि बीजस्याङ्कुराकरणदर्शनात्। नासौ मुख्यस्तत्र व्यवहारः तस्य जननिमित्तकत्वात्। अन्यथा त्वनियमप्रसङ्गादिति चेत्, कीदृशं पुनर्जननं मुख्यसमर्थव्यवहारनिमित्तम्। न तावदक्षेपकरणं, तस्यासिद्धेः। नियमस्य च सहकारिसाकल्ये सत्येव करणं करणमेवेत्येवं स्वभावत्वेनाप्युपपत्तेः। ततश्च जननिमित्त एवायं व्यवहारो न च व्याप्तिसिद्धिरिति।।

कल्पलता- ननु कुशूलस्थं यदि समर्थव्यवहारगोचरः स्यात् तदा कुर्यात्, न च करोति तस्मान्न समर्थव्यवहारगोचर इति प्रसङ्गविपर्ययौ स्यातामित्यत आह एतेनेति। अत्रापि प्रसङ्गे मूलशैथिल्यं विपर्यये च बाध इत्याह तादृगिति। ननु मुख्यसमर्थव्यवहारजनकत्वनिबन्धनौ प्रसङ्गविपर्ययाविति नोक्तदोष इति शङ्कते नासाविति। अन्यथेति। यदि यथा कथञ्चित् समर्थव्यवहारनिबन्धनमेव करणं स्यात् तदा भ्रान्ततादृशव्यवहारगोचरशिलाशकलादेरप्यङ्कुरः स्यादित्यर्थः।

यद्वा कुशूलस्थस्यापि मुख्यसमर्थव्यवहारगोचरत्वे ततोऽप्यङ्कुरः स्यादित्यनियमप्रसङ्ग इत्यर्थः। मुख्यव्यहारं प्रति निमित्तं विकल्प्य दूषयति न

तावदिति। अनियमप्रसङ्गं परिहरति नियमस्य चेति। कुशूलस्थस्य मुख्यसमर्थव्यवहारगोचरत्वे ऽप्यङ्कुराजननं सहकारिवैधुर्यप्रयुक्तमिति नानियम इत्यर्थः। एवं बीजं जनयत्येवेत्यत्यन्तायोगव्यवच्छेदो नियमः। सहकारिसमवहितमेव जनयति जनयत्येवेत्यन्ययोगात्यन्तायोगाभ्यां नियमः। शिलायां न प्रथमः, केवलबीजे तु न द्वितीय इति भावः। मुख्यसमर्थव्यवहारगोचरत्वमुपसंहरति ततश्चेति। कदाचिज्जननमेव शिलाशकलादिविलक्षणं मुख्यसमर्थव्यवहारगोचरत्वे मूलम्। तथा च यदि समर्थव्यवहारगोचरः स्यात् तदा कुर्यादिति न व्याप्तिरस्तीत्यतः प्रसङ्गे मूलशैथिल्यमित्यर्थः। यद्वा सत्त्वक्षणिकत्वयोरेतावता न व्याप्तिसिद्धिरित्यर्थः।

स्यादेतत्। एतावतापि भावस्य कः स्वभावः समर्थितो भवति न हि क्षेपाक्षेपाभ्यामन्यः प्रकारोऽस्तीति चेत्, न। दूषणाभिधानसमये निश्चयाभावेनैव सन्दिग्धासिद्धिनिर्वाहे कथापूर्वरूपपर्यवसानात्। उत्तरपक्षावसरे तु सोऽपि न दुर्वचः।

कल्पलता- क्षेपकारिस्वाभाव्ये सर्वदैवाकरणमित्यक्षेपकरणस्वाभाव्यमेव भावानामङ्गीकार्यम्। तच्च स्वोत्पत्त्यव्यवहितोत्तरक्षण एव करणे सति स्यात्। तथा च समर्थासमर्थबीजक्षणयोर्भेदसिद्धौ सिद्धं क्षणिकत्वमित्याशयेन भावस्वाभाव्यं पृच्छति स्यादेतदिति। न हीति। परस्परविरोधे हि न प्रकारान्तरस्थितिरिति यत इति भावः।

अक्षेपकारित्वस्वाभाव्यं सामर्थ्यमालम्ब्य यदि समर्थं स्यात् कुर्यादिति प्रसङ्गस्त्वयावतारितस्तदत्र तत्स्वाभाव्यसन्देहादपि सन्दिग्धासिद्धिर्दूषणमुक्तम्। एतावतैव परोक्तसाधने दूषणाभिधानस्य कथापूर्वरूपस्य पर्यवसानात् तव पराजय इत्याह दूषणाभिधानेति। ननु जल्पे स्वपक्षसाधनमपि वक्तुमुचितमित्यत आह उत्तरेति।

तथाहि करणं प्रत्यविलम्ब इति कोऽर्थः। किमुत्पत्तेरनन्तरमेव करणं सहकारिसमवधानानन्तरमेव वा। विलम्ब इत्यपि कोऽर्थः। किं यावन्न सहकारिसमवधानं तावदकरणं सर्वथैवाकरणमिति वा। तत्र प्रथमचतुर्थयोः प्रमाणाभावादनिश्चयेऽपि द्वितीयतृतीययोः प्रत्यक्षमेव प्रमाणम्। बीजजातीयस्य हि सहकारिसमवधानानन्तरमेव करणं करणमेवेति प्रत्यक्षसिद्धमेव। तथा सहकारिसमवधानरहितस्याकरणमित्यपि।

कल्पलता- क्षेपाक्षेपयोरविवेचितयोरेकतरकोटिपरिग्रहोऽनुचित इति विवेक्तुं विकल्पयति **उत्पत्तेरनन्तरमेवेति।** स्वोत्पत्त्यवहितोत्तरक्षण एवेत्यर्थः। **प्रथमचतुर्थयोरिति।** स्वोत्पत्त्यनन्तरमेव करणे प्रमाणाभावः सर्वथैवाकरणे कार्यजातं कदापि नोपलभ्येतेति बलवद्विपक्षदण्ड इत्यर्थः। प्रमाणाभावादित्यापाततो विपरीतमेव प्रमाणमिति वस्तुगतिः। **प्रत्यक्षमेवेति।** अन्वयव्यतिरेकबलप्रवृत्तमित्यर्थः। अत्यन्तायोगव्यवच्छेदे चायमेवकारः। बीजत्वेनैव कारणतेति विवक्षन्नाह **बीजजातीयस्येति।** ताद्रूप्येणैवान्वयव्यतिरेकप्रदर्शनप्रवृत्तेरिति भावः। अयोगान्ययोगव्यवच्छेदाभ्यामक्षेपकारित्वमेव द्रढयति। क्षेपकारित्वमाह **तथेति।**

अत्र च भवानपि न विप्रतिपद्यत एव प्रमाणसिद्धत्वात् विपर्यये बाधकाच्च। तथाहि यदि सहकारिविरहेऽकुर्वाणस्तत्समवधानेऽपि न कुर्यात् तज्जातीयमकरणमेव स्यात्। समवधानासमवधानयोरुभयोरप्यकरणात्। एवं तत्समवधानविरहेऽपि यदि कुर्यात् सहकारिणो न कारणं स्युः, तानन्तरेणापि करणात्। तथा चानन्यथासिद्धान्वयव्यतिरेकवतामप्यकारणत्वे कार्यस्याकस्मिकत्वप्रसङ्गः। तथा च कादाचित्कत्वविहतिरिति।

कल्पलता- नन्वेवं न मन्यामह इत्यत आह **अत्र चेति। प्रमाणेति।** सहकारिषु सत्सु करणस्यासत्सु चाकरणस्य प्रत्यक्षसिद्धत्वादित्यर्थः। विपर्यये बाधकं स्फुटयति **तथाहीति।** यज्जातीयं सहकारिसमवधानासमवधानयोरकारणं तज्जातीयमकारणमेव शिलाशकलवदिति व्याप्त्युपष्टम्भेनाह **यदीति।** न च दीपोपरि नयनात् पक्वबीजे व्यभिचारः। तत्रापि सहकारिविशेषविरहस्य कल्पनीयत्वात्। यत्कार्यं यद्व्यतिरेकेण यत् करोति तत्कार्ये न तस्य तत्सहकारित्वं यथा दण्डस्य घटे जनयितव्ये तन्तुरिति। व्याप्त्यवष्टम्भेनाह **एवमिति।** यदि सहकारित्वेनाभिमताः क्षित्यादयोऽङ्कुरे जनयितव्ये बीजं नापेक्षेरन् तदा ते तत्र सहकारिणो न स्युः रासभवदित्यापादनार्थः। न चेष्टापत्तिः, अन्वयव्यतिरेकसिद्धकार्यकारणभावतिरस्कारे तद्व्यवस्थैव न स्यात्। स्याच्च कार्यस्याकस्मिकत्वमित्याह **तथा चेति।** ततः किमित्यत आह **तथा चेति।** किञ्चित्काले ऽसतः किञ्चित्कालसत्त्वं कादाचित्कत्वं सुदृढप्रमाणावधृतमपि न स्यादित्यर्थः।

एवं च द्वितीयपक्षविवक्षायामक्षेपकारित्वमेव भावस्य स्वभावः। तृतीयपक्षविवक्षायां तु क्षेपकारित्वमेव भावस्य स्वरूपमिति नोभयप्रकार निवृत्तिरिति।

कल्पलता- ननु तथापि भावस्य कः स्वभाव इति प्रश्ने किमुत्तरमत आह **एवं चेति**। सहकारिसमवधानासमवधानरूपावच्छेदभेदमादायाक्षेप कारित्वक्षेपकारित्वयोरुभयोरप्येकस्मिन् बीजजातीये दर्शनान्नानयोर्विरोध इत्यर्थः।

तथापि किमसमर्थस्यैव सहकारिविरहः स्वरूपलाभानन्तरं कर्तुरेव वा सहकारिसमवधानम् अन्यथा वेति। किं नियामकमिति चेत् इदमुच्यते कुशूलस्थबीजस्याङ्कुरानुकूलः शिलाशकलात् कश्चिदस्ति विशेषो न वा। न चेन्नियमेनैकत्र प्रवृत्तिः अन्यस्मान्निवृत्तिश्च तदर्थिनो न स्यात्। परम्परयाङ्कुरप्रसवसमर्थबीजक्षणजननादस्त्येवेति चेत् कदा पुनः परम्परयापि तथाभूतं करिष्यतीति। तत्र सन्देह इति चेत् स पुनः किमाकारः। किं सहकारिषु समवहितेष्वपि करिष्यति न वेति। उतासमवहितेष्वपि तेषु करिष्यति न वेति। अथ यदा सहकारिसमवधानं तदैव करिष्यत्येव परं कदा तेषां समवधानमिति सन्देहः।

कल्पलता- नन्वेवं स्वभावद्वयस्थितावपि न स्थैर्यं, यतः कुर्वद्रूपस्यैव सहकारिसमवधानमतद्रूपस्यैव तद्विरह इति क्षणिकत्वेऽप्युपपद्यत इत्यभिप्रेत्याह **तथापीति**। **कर्तुरेवेति**। कूर्वद्रूपत्वजातिमत इवेत्यर्थः। अकुर्वदपि बीजत्वालिङ्गितं समर्थमेवेत्येकस्यैव सहकारिलाभालाभाभ्यां करणाकरणे इति स्थैर्यमेवेत्यभिप्रेत्य पृच्छति **कुशूलस्थेति**। अङ्कुरादिप्रवृत्त्यन्यथानुपपत्त्यैव कुशूलस्थस्यापि सामर्थ्यमित्याह **न चेदिति**। तदर्थिप्रवृत्तेरन्यथोपपत्तिमाह **परम्परयेति**। असमर्थमपि कुशूलस्थं समर्थं जनयिष्यति, शिलाशकलं तु न तथेति विशेष इत्यर्थः। **अस्त्येवेति**। तदर्थिप्रवृत्तिरित्यनुषङ्गः। यद्वा शिलाशकलाद्विशेष इत्यनुषज्यते। काचिद्भुक्तनष्टा व्यक्तिः समर्थलक्षणं न जनयत्यथ च तत्रापि तदर्थिप्रवृत्तिरिति बीजत्वेनैव सामर्थ्यं वाच्यमिति हृदि निधाय पृच्छति **कदेति**। परम्पराकारणे प्रवृत्तौ कालावच्छेदज्ञानमतन्त्रमित्याशयेनाह **तत्रेति**। बीजं सहकारिसमवधाने करिष्यत्येव समवधानं तु कदेति सन्देहो वाच्यस्तथा च बीजत्वेनैवाङ्कुरं प्रति सामर्थ्यं वाच्यमित्याशयेन संशयाकारं विकल्पयति **स पुनरिति**।

न तावत् पूर्वः, सामान्यतः कारणत्वावधारणे तस्यानवकाशात्। अवकाशे वा कारणत्वानवधारणात्। नापि द्वितीयः, सहकारिणां तत्वावधारणे तस्यानवकाशात् अवकाशे वा तेषां तत्त्वानवधारणात्। तृतीये तु सर्व एव तत्सन्तानान्तःपातिनो बीजक्षणाः समानशीलाः प्राप्नुवन्ति, यत्र यत्र सहकारिसमवधाने सति करणनियमात्, सर्वत्र च सहकारिसमवधानसम्भवात्।

कल्पलता- सामान्यत इति। न च *सौगता*नभ्युपगतमिदं बीजजातीयस्य सहकारिसमवधाने सत्येव करणं करणमेवेति प्रत्यक्षसिद्धमित्यादिना तत्साधनात्। तेषामिति। न चेष्टापत्तिः सहकारिणो न कारणं स्युरित्यादिना पूर्वमेव साधनात्। समानशीला इति। समानसामर्थ्यरूपं शीलं येषां ते तथा। एवं तर्हि कुशूलस्थस्यापि स्यादित्यत आह सर्वत्र चेति।

समर्थ एव क्षणे क्षित्यादिसमवधानमिति चेत् तत् किमसमर्थे सहकारिसमवधानमेव नास्ति, समवधाने सत्यपि वा तस्मान्न कार्यजन्म। नाद्यः, शिलाशकलादावपि क्षितिसलिलतेजःपवनयोगदर्शनात्। न द्वितीयः शिलाशकलादिव कदाचित् सहकारिसाकल्यवतोऽपि बीजादङ्कुरानुत्पत्ति-प्रसङ्गात्।

कल्पलता- समर्थासमर्थयोरेव सहकारिसमवधानासमवधाने इति नैकस्यैव तदधीने फलोपधानानुपधाने इति कथमेकशीलत्वमित्याह समर्थ एवेति।

एवमपि स्यात्। को दोष इति चेत्, न तावदिदमुपलब्धम्। आशङ्क्यत इति चेत् न, तत्समवधाने सत्यपि अकरणवत् तद्विरहे करणमप्याशङ्क्येत। आशङ्क्यतामिति चेत् तर्हि बीजविरहेऽप्याशङ्क्येत। तथा च सति साध्वी प्रत्यक्षानुपलम्भपरिशुद्धिः।

कल्पलता- एवमपीति। सहकारिसमवधानवतोऽप्यङ्कुरानुत्पत्तिः स्यादित्यर्थः। न तावदिति। क्षेत्रेऽपि तर्हि कदाचिदङ्कुरो न स्यादिति भावः। आशङ्क्यत इति। त्वन्मते समर्थादपि कुशूलस्थादङ्कुरानुत्पत्तिश्चेत् तदा सहकारिसमवहितादपि तदनुपपत्तिः शङ्कास्पदं स्यादेवेत्यर्थः। अनुभवमतिक्रम्यापि यदि शङ्का, तत्राह तत्समवधान इति। आशङ्क्यतामिति। एतावतापि न

क्षणिकत्वक्षतिरिति भावः। अनिबन्धना चेच्छङ्का तदाह तर्हीति। तथा चाङ्कुरार्थिप्रवृत्तिर्नियमतो न स्यादिति भावः। तथा चेति। प्रत्यक्षानुपलम्भावन्वयव्यतिरेकौ। तत्परिशुद्धिः तदुपस्थितकार्यकारण भावानिश्चयः। तथा च प्रवृत्तिनिवृत्त्योरभावे निरीहं जगज्जायेतेति भावः।

स्यादेतत् न बीजादीनां परस्परसमवधानवतामेव कार्यकरणमङ्गीकृत्य शङ्क्यते, येन समवधानानियमात् सर्वेषामेव तज्जातीयानामेकरसतानिश्चयः स्यात्। नापि यत्र तत्र समर्थोत्पत्तिमङ्गीकृत्य येन विकलेभ्योऽपि कदाचित् कार्यजन्मसम्भावनायां प्रत्यक्षानुपलम्भविरोधः स्यात्।

कल्पलता- स्यादेतदिति। पूर्वं कुर्वद्रूपत्वे साधकाभाव उक्त इदानीं विस्तरेण बाधकमभिधीयत इत्यपौनरुक्त्यम्। बीजं सहकारिसमवहितं सदङ्कुरं करोति सहकारिसमवधानमेव कदा भविष्यतीति सन्देहे बीजानां सर्वेषां समानशीलता प्रसक्ता अतस्तत्सन्देहं निरस्यति न बीजादीनामिति। शङ्क्यत इति। कदा सहकारिसमवधानं स्यादिति सन्दिह्यत इत्यर्थः। एकरसतां बीजत्वेनैव सर्वेषां बीजानामङ्कुरकारणतामङ्गीकृत्येत्यनन्तरं शङ्क्यत इत्यनुषज्यते। प्रत्यक्षानुपलब्धिविरोधो गृहीतान्वयव्यतिरेकभङ्गः।

किन्नाम बीजादिषु समवहितेष्ववान्तरजातिविशेषमाश्रित्यापि कार्यजन्म सम्भाव्यत इति। न, दृष्टसमवधानमात्रेणैवोपपत्तौ तत्कल्पनायां प्रमाणाभावात्, कल्पनागौरवप्रसङ्गप्रतिहतत्वात्, अतीन्द्रियेन्द्रियादिविलोपप्रसङ्गात्, विकल्पानुपपत्तेः, विशेषस्य विशेषं प्रति प्रयोजकत्वाच्चेति।

कल्पलता- किन्नामेति। बीजत्वं वा कारणतावच्छेदकं कुर्वद्रूपत्वं वा तथेति सन्दिह्यते इत्यर्थः। दृष्टेति। अन्वयव्यतिरेकविषयीभूते सति बीजत्वे तदन्यकल्पनायां न प्रमाणमित्यर्थः। तत्र कुर्वद्रूपत्वे विप्रतिपत्तयः। अङ्कुरकारणतावच्छेदकं फलोपहितबीजमात्रवृत्ति न वा, बीजवृत्तिजातित्वं प्रत्यक्षविषयत्वव्याप्यं न वा, अङ्कुरोपहितमात्रवृत्ति धर्मोऽङ्कुरकारणतावच्छेदको न वा। प्रमाणाभावादिति। योग्यानुपलब्धेर्योग्यव्यक्तिवृत्तिजात्यन्तराभाव एव सिद्धो यत इत्यर्थः। दोषान्तरमाह कल्पनेति। बीजत्वेनैव प्रत्यक्षसिद्धेनाङ्कुर-कारणतावच्छेदे सम्भवति तदर्थमतीन्द्रियजातिकल्पना न सम्भवतीत्यर्थः।

दोषान्तरमाह **अतीन्द्रियेति**। बाह्यालोकादेरेव कुर्वद्रूपात् साक्षात्कारोपपत्ताविन्द्रियकल्पनापि न स्यादित्यर्थः। दोषान्तमाह **विकल्पेति**। शालित्वादिना परापरभावादिविकल्पवज्जातिविशेषस्यानुपपत्तेरित्यर्थः। दोषान्तरमाह **विशेषस्येति**। बीजत्वसामान्यस्य क्वचित्प्रयोजकत्वमावश्यकं तच्च निरूप्यमाणमङ्कुरं प्रत्येव स्यादित्यर्थः।

तथाहि उत्पत्तेरारभ्य मुद्गरप्रहारपर्यन्तं घटस्तावत् जात्यन्तरानाक्रान्त एवानुभूयमानः क्रमवत्सहकारिवैचित्र्यात् कार्यकोटीः सरूपा विरूपाः करोति। तत्र एतावतैव सर्वस्मिन् समञ्जसे अनुपलभ्यमानजातिकोटिकल्पना केन प्रमाणेन केन वोपयोगेन, येन कल्पनागौरवप्रसङ्गदोषो न स्यात्। यो यदर्थं कल्प्यते तस्यान्यथासिद्धिरेव तस्याभाव इति भवानेवाह इति।

कल्पलता- तत्राद्यं विवृणोति **उत्पत्तेरारभ्येति**। **जात्यन्तरानाक्रान्त इति**। यदि तदाक्रान्तः स्यात् तदा तथोपलभ्येत न चोपलभ्यते तस्मान्न जात्यन्तराक्रान्त इत्यर्थः। तर्हि प्रथममेव किन्नाकार्षीदित्यत आह **क्रमवदिति**। **कार्यकोटीरिति**। अन्यथा तत्तत्कार्यं प्रति कुर्वद्रूपत्वरूपजातिकोटिकल्पना स्यादिति भावः। अत एवाह **सरूपा विरूपा इति**। द्वितीयं हेतुं विवृणोति **यो यदर्थमिति**। *अन्ये* तु भवानेवाहेतिपर्यन्तं प्रमाणाभावादित्यस्यैव विवरणप्रपञ्च इत्याहुः।

दृष्टं च जातिभेदं तिरस्कृत्य स्वभावभेदकल्पनयैव कार्योत्पत्तौ सहकारिणोऽपि दृष्टत्वात् कथञ्चित् स्वीक्रियन्ते। अतीन्द्रियेन्द्रियादिकल्पना तु विलीयेत मानाभावात् विकल्पानुपपत्तेश्च।

कल्पलता- तृतीयं हेतुं विशदयति **दृष्टं चेति**। **स्वीक्रियन्त** इत्यनन्तरमनुमन्यामह इति शेषः। तदयमर्थः अन्वयव्यतिरेकविषयीभूतबीजत्वतिरस्कारे स्वस्य भावो धर्मः कुर्वद्रूपत्वं तत्कल्पनयैव कार्योपपत्तौ दृष्टत्वात् सहकारिणः स्वीक्रियन्त इत्यनुमन्यामहे। इन्द्रियं न कल्पनीयं सहकारिण एव कुतश्चित् कुर्वद्रूपात् कार्योपपत्तेरिति। आदिपदात् समनन्तरप्रत्ययादीनां ग्रहणम्। अत एवाह **मानाभावादिति**। अन्यथानुपपत्तिरतीन्द्रियकल्पनायां मानम्, सहकारिण एव कस्यचित् कुर्वद्रूपत्वकल्पनायां सा नास्तीत्यर्थः। गोलकादीनामपीन्द्रियत्वे अदृष्टादिविशिष्टं तदतीन्द्रियमेव। अतद्गुणसंविज्ञानबहुव्रीहिर्वा। चतुर्थं दूषयति **विकल्पेति**। त्वदभ्युपगतानां विविधानां कल्पनानामनुपपत्तेरित्यर्थः।

स खलु जातिविशेषः शालित्वसंग्राहको वा स्यात् तत्प्रतिक्षेपको वा। आद्ये कुशूलस्थस्यापि शालेः कथं न तद्रूपत्वम्। द्वितीये त्वभिमतस्यापि शालेः कथं तद्रूपत्वम्। एवं शालित्वमपि तस्य संग्राहकं प्रतिक्षेपकं वा। आद्ये ऽशालेरतत्त्वापत्तिः, द्वितीये तु शालेरेवातत्त्वप्रसङ्गः।

कल्पलता- शालित्वसङ्ग्राहकः शालित्वव्यापकः। तत्प्रतिक्षेपकस्तद्विरोधी। कथमिति। तत्राप्यङ्कुरकुर्वद्रूपत्वस्य सत्त्वादित्यर्थः। तद्रूपत्वमिति। कुर्वद्रूपत्वामित्यर्थः। परस्परविरोधादिति भावः। एवमिति। यद्यपि परस्परप्रतिक्षेपकत्वं विकल्पितमेव तथापि शालित्वं पुरस्कृत्य विकल्प्यत इत्यपौनरुक्त्यम्। आद्य इति। अतत्त्वापत्तिरिति। अङ्कुराकुर्वद्रूपत्वापत्तिरित्यर्थः। द्वितीय इति। शालित्वं पुरस्कृत्य कुर्वद्रूपत्वव्यापकत्वे यवादीनामङ्कुरकारित्वं न स्यादित्यर्थः।

न च नोभयमपीति वाच्यम्। विरोधाविरोधयोः प्रकारान्तराभावात्। व्यक्तिभेदेन सङ्ग्रहप्रतिक्षेपावपि न विरुद्धाविति चेत्, विलीनमिदानीं तदतज्जातीयताविरोधेन। परिदृश्यमानकतिपयव्यक्तिप्रतिक्षेपेऽपि मिथः क्वचित् तुरगविहगयोरपि सम्भेदसम्भवात्।

कल्पलता- नोभयमपीति। न विरोधो न वा व्याप्यव्यापकभाव इत्यर्थः। व्यक्तिभेदेनेति। कस्याञ्चिद् व्यक्तौ क्षेत्रपतितायां शालित्वकुर्वद्रूपत्वयोः समावेशे ऽपि क्वचिदसमावेशः स्यादित्यर्थः। विलीनमिति। परस्परात्यन्ताभाव-समानाधिकरणयोरपि जात्योः सामानाधिकरण्ये जातिप्रतिनियमो न स्यादित्यर्थः। एतदेवाह परिदृश्येति।

यश्च यस्य जातिविशेषः स चेत् तं व्यभिचरेद् व्यभिचरेदपि शिंशपा पादपमविशेषात्। तथा च गतं स्वभावहेतुना। विपर्यये बाधकं विशेष इति चेत् न, तस्येहापि सत्त्वात्। तदभावे स्वभावत्वानुपपत्तेः। उपपत्तौ वा किं बाधकानुसरणव्यसनेनेति विशेषस्य विशेषं प्रति प्रयोजकत्वाच्च। तथाहि कार्यगतमङ्कुरत्वं प्रति बीजत्वस्याप्रयोजकत्वेऽबीजादपि तदुत्पत्तिप्रसङ्गः।

कल्पलता- यश्चेति। शालित्वव्याप्यं कुर्वद्रूपत्वं यदि यवेऽपि स्यात्

तदा शिंशपात्वमपि वृक्षत्वं व्यभिचरेदित्यर्थः। किञ्चात इत्यत आह तथा चेति। विपर्यय इति। यदि शिंशपावृक्षं व्यभिचरेत् तदात्मानमपि व्यभिचरेदिति विपक्षबाधकबलेन स्वभावहेतुः प्रवर्ततामित्यर्थः। तस्येहापीति। कुर्वद्रूपस्यापि शालित्वस्वभावत्वाद्विपक्षबाधकस्यास्य सत्त्वादित्यर्थः। तदभावे विपक्षबाधकाभावे। उपपत्तौ वेति। विपक्षबाधकाभावे ऽपि स्वभावत्वोपपत्तौ किं तदुपन्यासेनेत्यर्थः। तथाहीति। अङ्कुरत्वावच्छिन्ने कार्ये बीजत्वावच्छिन्नमेव कारणं शाल्यङ्कुरत्वावच्छिन्ने तु शालिबीजत्वमित्यर्थः।

बीजस्य विशेषः कथमबीजे भविष्यतीति चेत् तर्हि शालेर्विशेषः कथमशालौ स्यादित्यशालेरङ्कुरानुत्पत्तिप्रसङ्गः। अशालिवदबीजेऽप्यसौ भवतु विशेषः। तथापि बीजत्वैकार्थसमवेत एवासावङ्कुरं प्रति प्रयोजक इति चेत् न शालित्वव्यभिचारे शालित्वैकार्थसमवायवद् बीजत्वव्यभिचारे बीजत्वैकार्थसमवायेनापि नियन्तुमशक्यत्वादविशेषात्।

कल्पलता- अशालेर्यवादितः। कुर्वद्रूपत्वं यथा शालित्वं व्यभिचरति तथा बीजत्वमपि व्यभिचरतु न चातिप्रसङ्गः। बीजत्वैकार्थसमवेतस्यैवाङ्कुर-कुर्वद्रूपत्वस्याङ्कुरजनकतावच्छेदकत्वमित्याह अशालिवदिति। यथाऽशालेरङ्कुरस्तथाऽबीजादपि भवन् केन वारणीयः। अत्र यदि बीजत्वं विशेषणं तदा तस्य प्रयोजकत्वमेव स्यात्। उपलक्षणं चेत्, तदा तु न तन्त्रमुपलक्षतावच्छेद-कैकस्याभावादित्याह शालित्वेति।

तस्माद् यो यथाभूतो यथाभूतमात्मनोऽन्वयव्यतिरेकावनुकारयति तस्य तथाभूतस्यैव तथाभूते सामर्थ्यम्। तद्विशेषास्तु कार्यविशेषं प्रयोजयन्ति शाल्यादिवदिति युक्तमुत्पश्यामः।

कल्पलता- बीजत्वेनैव कारणता अङ्कुरत्वेन च कार्यतेत्यवश्यमभ्युप गन्तव्यमित्युपसंहरति तस्मादिति। बीजे सत्यङ्कुरस्तदभावे तु नाङ्कुर इति बीजमङ्कुरत्वावच्छिन्नमेव कार्यं प्रत्यन्वयव्यतिरेकावनुकारयति दृष्टत्वादित्यर्थः।

कस्य पुनः प्रमाणस्यायं व्यापारकलाप इति चेत् तदुत्पत्ति-निश्चयहेतोः प्रत्यक्षानुपलम्भात्मकस्येति ब्रूमः। अथ न्यायेन विना न ते परितोषः, शृणु तमपि। तदा यदङ्कुरं प्रत्यप्रयोजकं न तद्बीजजातीयं यथा शिलाशकलम्। अङ्कुरं प्रत्यप्रयोजकं च कुशूलनिहितं बीजमभ्युपेतं परैरिति व्यापकानुपलब्धिः प्रसङ्गहेतुः।

कल्पलता- *परः* पृच्छति **कस्येति**। प्रमाणं विना हस्तसमाचरणमात्रं सर्वमिदमिति भावः। **अयमिति**। बीजत्वमेवाङ्कुरं प्रति स्वरूपयोग्यतावच्छेदकं न त्वङ्कुरे कुर्वद्रूपत्वमिति प्रतिपादनार्थं यः पूर्वोक्तो व्यापारकलाप इत्यर्थः। **उत्तरम्** तदुत्पत्तीति। तत उत्पत्तिस्तदुत्पत्तिः कार्यकारणभावः। स च प्रत्यक्षानुपलम्भाभ्यामन्वयव्यतिरेकाभ्यामेव गम्यते। तथा च बीजे सत्यङ्कुरस्तं विना नाङ्कुर इति प्रत्यक्षादेवान्वयव्यतिरेकग्रहसहकारिणोऽनुमानाद्वा गृह्यत इति का तत्र कथन्तेत्यर्थः। ननु तथापि कथायां न्याय उपदर्शनीयो भवतीत्यत आह **अथेति**। *सौगतमता*नुसारेणैव न्यायमुपदर्शयति **यदिति**। बीजजातीयं नाङ्कुरं प्रति प्रयोजकमिति त्वयाभ्युपगम्यते, तदा त्वदभ्युपगमानुसारेण कुशूलस्थस्य बीजस्य बीजजातीयत्वं न स्यादित्यर्थः। यदि कुशूलस्थं बीजमङ्कुरं प्रति प्रयोजकं न स्याद्बीजं न स्यादित्यस्मद्दिशा तर्कोक्तिः। ननु कुशूलस्थस्याङ्कुराप्रयोजकत्व-मापादकमेवासिद्धमित्यत आह **अभ्युपेतमिति**। पराभ्युपगममात्रेणैव तर्कप्रवृत्तेर्नापादकासिद्धिस्तत्र दोष इत्यर्थः। **परैः** *सौगतैः*। प्रसङ्गात्मको हेतुः प्रसङ्गहेतुः। **व्यापकानुपलब्धिरिति**। बीजत्वस्य व्यापकमङ्कुरप्रयोजकत्वं त्वया च तथा नाभ्युपगम्यत इति त्वद्दिशा तदनुपलब्धिरित्यर्थः।

विपर्ययेऽपि किं बाधकमिति चेत्, अङ्कुरस्य जातिप्रतिनियमा-कस्मिकत्वप्रसङ्ग इत्युक्तम्। बीजत्वं तस्य प्रत्यक्षसिद्धमशक्यापह्नवमिति चेदस्तु तर्हि विपर्ययः। यद्बीजं तदङ्कुरं प्रति प्रयोजकं यथान्त्यसामग्री-मध्यमध्यासीनं बीजम्। बीजं चेदं विवादास्पदमिति स्वभावहेतुः।

कल्पलता- विपर्यय इति। अङ्कुराप्रयोजकमपि बीजं स्यादित्यत्र किं बाधकमित्यर्थः। तर्कमूलव्याप्तौ विपक्षे बाधकमाह **अङ्कुरस्येति**। बीजत्वस्याव्यापकमङ्कुरप्रयोजकत्वं यदि स्यात् तदाऽबीजादप्यङ्कुरः स्यात्। तच्चानिष्टमित्यर्थः। ननु तर्कमात्रमतन्त्रमित्यत आह **अस्तु तर्हीति**। बीजत्वमेव स्वभावहेतुः, तच्च कुशूलस्थे स्वरूपासिद्धं मा स्यादिति प्रथमत एव परमङ्गीकारयति **बीजत्वं तस्येति**। कुशूलस्थं बीजमङ्कुरप्रयोजकं बीजत्वात् क्षेत्रपतित-बीजवदित्यर्थः।

अङ्कुरस्य हि जातिप्रतिनियमो न तावन्निर्निमित्तः, सार्वत्रिकत्व-प्रसङ्गात्। नाप्यन्यनिमित्तः, तथाभूतस्य तस्याभावात्।

कल्पलता- उक्तमाकस्मिकत्वप्रसङ्गं प्रपञ्चयति **अङ्कुरस्य हीति।** **निर्निमित्तत्वं** नियतजातीयकारणाप्रयोज्यत्वम्। **सार्वत्रिकत्वम्** अङ्कुरातिरिक्त वृत्तित्वम्। अङ्कुरत्वं यदि बीजत्वावच्छिन्नकारणताप्रतियोगिक कार्यतावच्छेदकं न स्यादङ्कुरमात्रवृत्तिजातिर्न स्याद् द्रव्यत्वादिवदित्यर्थः। ननु कुर्वद्रूपत्वादि-निमित्तकमेव तत् स्यादित्यत आह **नापीति तथाभूतस्येति।** अङ्कुरमात्र-नियामकस्येत्यर्थः। **अभावादिति।** तस्याप्रामाणिकत्वादित्यर्थः।

सेयं निमित्तवत्ता विपक्षाद् व्यावर्तमाना स्वव्याप्यमादाय बीजप्रयोजकतायामेव विश्राम्यतीति प्रतिबन्धसिद्धिः।

कल्पलता- विपक्षादिति। निर्निमित्तादित्यर्थः। यद्वा बीजाप्रयोज्यादित्यर्थः। **स्वव्याप्यं** बीजप्रयोज्यताव्याप्यं कार्यमात्रवृत्तिजातित्वमादाय बीजप्रयोज्यतायामङ्कुरस्य विश्राम्यति। प्रयोजकतायामिति पाठे बहुब्रीहिः। प्रतिबन्धेति। यद्यद्बीजं तत्सर्वमङ्कुरप्रयोजकमिति व्याप्तिसिद्धिरित्यर्थः।

अथवा कृतमङ्कुरग्रहेण। बीजस्वभावत्वं क्वचित् कार्ये प्रयोजकं न वा। न चेत्, न तत्स्वभावं बीजं, तेन रूपेण क्वचिदप्यनुपयोगात्। एवं च प्रत्यक्षसिद्धं बीजस्वभावत्वं नास्ति, सर्वप्रमाणागोचरस्तु विशेषोऽस्तीति विशुद्धा बुद्धिः। क्वचिदुपयोगेऽप्येकस्य तेन रूपेण सर्वेषामविशेषस्तद्रूप्यात्। तथा च कथं किञ्चिदेव बीजं स्वकार्यं कुर्यात् नापराणि। न च वस्तुमात्रं तत्कार्यम् अबीजात् तदनुत्पत्तिप्रसङ्गात्। नापि बीजमात्रम् अङ्कुरकारिणोऽपि तदुत्पत्तिप्रसङ्गात्। नाप्यङ्कुराद्य-न्यतममात्रम्, प्रागपि तदुत्पत्तिप्रसङ्गात्।

कल्पलता- कृतमङ्कुरेति। अङ्कुरत्वावच्छिन्नं कार्यं प्रति बीजानां बीजत्वेनैव कारणतेति किं विशिष्य व्यवस्थापनग्रहेण, प्रकारान्तरेणापि परिशेषादिना तथैव पर्यवस्यतीत्यर्थः। बीजत्वेन क्वचित् कार्ये बीजं यदि प्रयोजकं न भवेत् तदा तेन रूपेण तदसत् स्यादिति। तच्च कार्यं परिशेषादङ्कुररूपमेव सेत्स्यतीति प्रघट्टकार्थः। **बीजस्वभावत्वमिति।** बीजत्वं किञ्चित्कार्यं प्रति कारणतावच्छेदकं न वेति विकल्पार्थः। **न तत्स्वभावमिति।** तर्हि बीजत्वं जातिरेव न स्यादित्यर्थः। ननु बीजत्वं मास्तु अङ्कुरकुर्वद्रूपत्वमेव तथा स्यादित्यत आह **एवं चेति। क्वचिदिति।** बीजत्वेन रूपेण बीजानां किञ्चित्कार्यं प्रति जनकत्वाभ्युपगमे सर्वाण्येव बीजानि तथा स्युः, बीजत्वाविशेषादित्यर्थः। **वस्तुमात्रमिति।**

कार्यमात्रमित्यर्थः। यद्वा सर्वं वस्तु क्षणिकमेवेति तदभिप्रायेणोक्तं वस्तुमात्रमिति। एवं सति बीजासमवधाने घटपटाद्यपि न स्यादित्याह अबीजादिति। ननु बीजाद्बीजमेव कार्यमस्तु समानसन्तानस्यैव मया क्षणिकत्ववादिनाभ्युपगमादित्यत आह नापीति। तर्हि चरमादपि बीजाद् बीजमेवोत्पद्येत नाङ्कुरः अङ्कुरस्याप्युत्पादे वा समानदेशताविरोधः, बीजसन्तानानुपरमः, प्राथमिकबीजानुत्पत्तिश्चेति भावः। ननु बीजमङ्कुरो बीजानुभवश्च कार्याणि बीजत्वावच्छिन्नकारणाज्जायन्तामित्यत आह नापीति। कार्यमितिशेषः। तर्हि उत्पन्नमात्रादपि बीजादेतानि कार्याणि स्युरित्याह। प्रागपीति। सहकारिसमवधानादिति शेषः।

यदा यदुत्पन्नं सत् यत्कार्यानुकूलसहकारिमध्यमधिशेते तदा तदेव कार्यं प्रति तस्य प्रयोजकत्वमिति चेत् तत् किमवान्तरजातिभेदमुपादाय बीजस्वभावेनैव वा। आद्ये स एव जातिभेदस्तत्र प्रयोजकः, किमायातं बीजत्वस्य। द्वितीये तु समानशीलानामपि सहकारिवैकल्यादकरण-मित्यायातम्। तत्तत्सहकारिसाहित्ये सति तत्तत्कार्यं प्रति प्रयोजकस्य बीजस्वभावस्य सर्वसाधारणत्वादिति।

कल्पलता- सहकारिसमवधानं शङ्कते यदेति। अवान्तरेति। अङ्कुरकुर्वद्रूपत्वादीत्यर्थः। आद्य इति। बीजत्वेन बीजानि क्वचित् कार्ये प्रयोजकानीति प्रस्तुते जात्यन्तरमतन्त्रमनुपलम्भबाधितं चेति भावः। द्वितीय इति। एवं सत्यङ्कुरमपि प्रति बीजत्वेनैव कारणत्वमायातमिति सिद्धं नः समीहितमित्यर्थः। अङ्कुरं प्रति बीजं बीजत्वेनैव निमित्तकारणमित्यभिप्रायेणापि प्रकृतसिद्धौ यद्यपि बीजस्येत्यादिशङ्का कैश्चित्कृता नादेया। समानशीलानामिति। बीजत्वेन च कारणानामित्यर्थः।

अत्रापि प्रयोगः। यद्येन रूपेणार्थक्रियासु नोपयुज्यते न तत् तद्रूपम्। यथा बीजं कुञ्जरत्वेन किञ्चिदप्यकुर्वन्न कुञ्जरस्वरूपम्। तथा च शाल्यादयः सामग्रीप्रविष्टा बीजत्वेनार्थक्रियासु नोपयुज्यन्त इति व्यापकानुपलब्धिः प्रसङ्ग्रहेतुः। तद्रूपताया अर्थक्रियां प्रति योग्यतया व्याप्तत्वात्। अन्यथातिप्रसङ्गात्।

कल्पलता- यद्येनेति। यज्जात्यवच्छेदेन यस्य किञ्चित्कार्यं प्रति न कारणता तत् तज्जातीयं च न भवति। यथा न बीजं कुञ्जरत्वजातिमदित्यर्थः। त्वया च क्षेत्रपतितानामपि शाल्यादीनां बीजत्वेनाङ्कुरं प्रति कारणता नाभ्युपगम्यत

इति ते बीजजातीया न भवेयुः। यद्यपि गुणानां गुणत्वेन न किञ्चित् प्रति कारणता, न च ते न गुणजातीयास्तथापि परमताभिप्रायेणायं प्रयोगः। **व्यापकेति।** तज्जात्यवच्छेदेनार्थ क्रियाकारित्वं तज्जातीयत्वव्यापकं तस्यानुपलब्धिस्तद्विपरीतोपलब्धिस्त्वदभ्युपगमेनेत्यर्थः। प्रसङ्गमूलभूतां व्याप्तिमाह **तद्रूपताया इति। अन्यथेति।** अन्यथा बीजमपि कुञ्जरजातीयं स्यादित्यर्थः।

तद्रूपत्वमेतस्य प्रत्यक्षसिद्धत्वादशक्यापह्नवमिति चेत्, अस्तु तर्हि विपर्ययः। यद्यद्रूपं तत् तेन रूपेणार्थक्रियासूपयुज्यते। यथा स्वभावेन सामग्रीनिवेशिनो भावाः, बीजजातीयाश्चैते कुशूलस्थादय इति स्वभावहेतुः। तद्रूपत्वमात्रानुबन्धित्वाद् योग्यतायाः।

कल्पलता- ननु कूशूलस्थस्यापि बीजजातीयत्वमनुभवसिद्धत्वादशक्यापह्नवमित्याह **तद्रूपत्वमिति।** कुशूलस्थं बीजं बीजत्वेनैवार्थक्रियाप्रयोजकं बीजत्वात्, यन्नैवं तन्नैवं यथा कुञ्जर इति व्यतिरेकी। त्वयापि कुर्वद्रूपत्वजातेरङ्कुरप्रयोजकतायामेवं प्रयोक्तव्यमित्याह **यथा स्वभावेनेति।** कुर्वद्रूपत्वेनेत्यर्थः। तथाहि सामग्रीमध्यगतं बीजमङ्कुरकुर्वद्रूपत्वजातीयमङ्कुरप्रयोजकत्वात् यन्नैवं तन्नैवं यथा शिलाशकलमिति भावः। अनुमाने उपनयावयवमाह **बीजजातीयाश्चैत इति।** आदिपदात् कृषीबलनीयमानबीजसङ्ग्रहः। यद्वा **यद्यद्रूपमिति** सामान्यव्याप्तावेव, तन्मते कुर्वद्रूपत्वदृष्टान्तोऽन्वयेनैव। उपदर्शितव्याप्तौ बीजमाह **तद्रूपत्वेति।**

ततश्चास्ति किञ्चित् कार्यं यत्र बीजत्वेन बीजमुपयुज्यते इति। बीजानुभव एवासाधारणं कार्यम्, यत्र बीजत्वं प्रयोजकं तत्र सर्वस्मादेव बीजाद्भवतीति किमनुपपन्नमिति चेत्, न। यौगिकतदनुभवस्य तदन्तरेणाप्युपपत्तेः। लौकिक इति चेत्, न। सत्यमेतत् न त्विदमवश्यं सर्वस्माद्बीजाद्भवति इन्द्रियादिप्रत्यासत्तेरसदातनत्वात्, असार्वत्रिकत्वाच्च।

कल्पलता- तदेवं सामान्यतः सिद्धौ बीजत्वेनाङ्कुरं प्रति प्रयोजकत्वसाधनाय परिशेषमुपक्रममाणः शङ्कते **बीजानुभव एवेति।** अनुभवो निर्विकल्पकं योगिनिर्विकल्पकं न विषयजन्यमित्याह **यौगिकेति।** लौकिकं तु निर्विकल्पकं न सर्वत्र कार्यमिति शङ्कोत्तराभ्यामाह **लौकिक इति।**

ततश्च योग्यमपि सहकार्यसन्निधानान्न करोतीत्यर्थसिद्धम्।

कार्यान्तरमेवातीन्द्रियं सर्वबीजाव्यभिचारि भविष्यतीति चेत्, तन्न तावदुपादेयम्। अमूर्तस्य मूर्तानुपादेयत्वात् परिदृश्यमानमूर्तघटितततया मूर्तान्तरस्य तद्देशस्यानुपपत्तेः। नापि सहकार्यं मिथः सहकारिणामव्यभिचारानुपपत्तेः।

कल्पलता- ननु यद्बीजमिन्द्रियप्रत्यासन्नं तन्निर्विकल्पकं जनयत्येवेत्यत आह **ततश्चेति**। तावतापि स्थैर्यसिद्धिरिति भावः। **सर्वबीजाव्यभिचारी** सर्वबीजजन्यमुपादेयं समवेतम्, *तन्मते* दोषमाह **अमूर्तस्येति**। द्रव्यस्येति *स्वमते* विशेष्यं परिदृश्यमानो मूर्तोऽङ्कुरः। तथा चाङ्कुरेण तस्य कार्यस्य समानदेशत्वं प्रसज्येतेत्यर्थः। ननु तदतीन्द्रियकार्यं प्रति बीजत्वावच्छिन्नं निमित्तकारणमेव स्यादित्यत आह **नापीति**। **सहकार्यं** सहकारिसमवहितबीजनिमित्तकमित्यर्थः। स्यादेवं यदि बीजस्य सहकारिसमवधानं ध्रौव्यं भवेत्। तथा च यदेव बीजं तदसमवहितं तस्यैव तत्कार्यं न भवेदित्याह **मिथ इति**। **अव्यभिचारानुपपत्तेः**। कार्याव्यभिचारानुपपत्तेः। न हि सर्वेषां सहकारिणमेकं किञ्चित् सार्वदिकं कार्यमिति नियमोऽस्तीत्यर्थः।

अपि चैवं सति प्रयोजकस्वभावो नान्वयव्यतिरेकगोचरः। तद्गोचरस्तु न प्रयोजकः। दृश्यं च कार्यजातमदृश्येनैव स्वभावेन क्रियते, दृश्येन त्वदृश्यमेवेति। सोऽयं यो ध्रुवाणीत्यस्य विषयः।

कल्पलता- **अपि चैवमिति**। यदि बीजत्वावच्छेदेनैवातीन्द्रियं कार्यं, यदि च कुर्वद्रूपत्वमतीन्द्रियमङ्कुरकारणतावच्छेदकं न तु बीजत्वमित्यर्थः। कारणतावच्छेदकस्य बीजत्वस्य कार्यतावच्छेदकस्याङ्कुरत्वादेः प्रत्यक्षसिद्धत्वमेव ध्रुवत्वम्। तथा च

यो ध्रुवाणि परित्यज्य अध्रुवाणि च सेवते।
ध्रुवाणि तस्य नश्यन्ति अध्रुवं नष्टमेव च।।

इति सर्वप्रकारिकानुपपत्तिरित्यर्थः।

अथवा व्यतिरेकेण प्रयोगः। विवादाध्यासितं बीजं सहकारिवैकल्यप्रयुक्ताङ्कुरादिकार्यवैकल्यं, तदुत्पत्तिनिश्चयविषयीभूतबीजजातीयत्वात्। यत् पुनः सहकारिवैकल्यप्रयुक्ताङ्कुरादिकार्यवैकल्यं न भवति न तदेवम्भूतबीजजातीयं यथा शिलाशकलमिति।

कल्पलता- सोऽयं वादी प्रघट्टकार्थी वा प्रथमप्रघट्टकार्थमेव सिंहावलोकितन्यायेन व्यतिरेकमुखेन प्रयोगमारोप्य दर्शयति **अथवेति**। पूर्वतन प्रयोगापेक्षयैव विकल्पः। **विवादाध्यासितमिति**। क्षेत्रपतितबीजे भागबाधवारणार्थं सामर्थ्यासामर्थ्याभ्यां कुशूलस्थस्य विवादाध्यासितत्वात्। **सहकारीति** सहकारिवैकल्यप्रयुक्तमङ्कुरादिरूपकार्यवैकल्यं यस्येति बहुव्रीहिः **प्रयुक्तं** परिपालितं तदुत्तरकालसम्बद्धीकृतं **कार्यवैकल्यं** कार्यप्रागभावः दण्डादीनामपि निमित्तकारणानां कथञ्चित् कार्यप्रागभावनिरूपणात्। साध्येऽङ्कुरपदप्रक्षेपात् साधनेऽपि बीजजातीयत्वादित्युक्तं सामान्यव्याप्तौ तु नोभयत्रापि विशेषोपादानम्। **तदुत्पत्तिनिश्चयः** कार्यकारणभावनिश्चयः। **पुनःपदं भवतिपदं च स्फुटार्थम्।**

न च किमुक्तसाध्यव्यावृत्तेरुक्तसाधनव्यावृत्तिरुदाहृतात् किं वा परम्परयापि तथाविधप्रसवसामर्थ्यविरहादिति व्यतिरेकसन्देह इति वाच्यम्। प्रागेव शङ्काबीजस्य निराकृतत्वादिति।

कल्पलता- उदाहृतादिति। शिलाशकलादित्यर्थः। बीजं परम्परयापि कुर्वद्रूपं बीजं जनयति न तु शिलाशकलम्, तथा च **व्यतिरेकसन्देहो** व्यतिरेकव्याप्तिसन्देह इत्यर्थः। अन्यथासिद्धेरिति भावः।

स्यादेतत्। माभूत् सामर्थ्यासामर्थ्यलक्षणविरुद्धधर्मसंसर्गः। अस्तु बीजत्वमेव प्रयोजकम्। भवतु वा सहकारिसमवधाने सति कर्तृस्वभावत्वं भावस्य। तथा च तदसन्निधानेऽकरणमप्युपपद्यताम्। तथापि तज्जातीयमात्र एवेयं व्यवस्था, न त्वेकस्यां व्यक्तौ। करणाकरणलक्षणविरुद्धधर्मसंसर्गस्य प्रत्यक्षसिद्धतया तत्र दुर्वारत्वादिति चेत्, न विरोधस्वरूपानवधारणात्।

कल्पलता- वक्ष्यमाणप्रघट्टकार्थादुक्तप्रघट्टकत्रयस्यार्थं विवेक्तुं तत्त्रयार्थानुवादपूर्वकं प्रघट्टकान्तरमवतारयति **स्यादेतदिति**। **माभूदिति**। कुशूलस्थस्यापि बीजत्वेन सामर्थ्यस्यैव साधनादिति भावः। **अस्त्विति**। तथा च कुशूलस्थस्यापि सामर्थ्यमेवेति भावः। कुर्वद्रूपत्वाकुर्वद्रूपत्वलक्षण-विरुद्धधर्माध्यासोऽपि नात्रेति वा भावः। **भवतु वेति**। तथा च क्षेपकारित्वाक्षेपकारित्वलक्षणोऽपि न विरुद्धधर्माध्यास इति भावः। क्रमोऽत्र न विवक्षितः। तथा च पूर्वसाधितार्थानुवादमात्रमेतदिति व्युत्क्रमाभिधानदोषो नात्र। **कर्तृस्वभावत्वं** जनकस्वभावत्वम्। **तथापीति**। बीजत्वजात्यवच्छिन्नं किञ्चिज्जनयति किञ्चिन्न जनयति। तत्र सहकारिलाभलाभौ तन्त्रम् न त्वेकैकव्यक्तिः

कदाचिज्जनिका कदाचिदजनिकेति व्यवस्था सहकारिलाभालाभतन्त्रेत्यर्थः। यद्यपि पूर्वमपि व्यक्तिमेवादाय सामर्थ्यासामर्थ्यादिकं चिन्तितं क्षणभङ्गानुकूलत्वात् तथापि व्यक्तेरेकस्याः फलोपधानानुपधानलक्षणविरुद्धधर्माध्यासः प्रत्यक्षत्वादुरपह्नव इत्यभिप्रायेण शङ्केत्यपौनरुक्त्यम्।

स खलु धर्मयोः परस्पराभावरूपत्वं वा स्यान्नित्यत्वानित्यत्ववत्। धर्मिणि तदापादकत्वं वा शीतोष्णत्ववत्। तद्वत्ता व दण्डित्वकुण्डलित्ववत्।

कल्पलता- स खल्विति। धर्मयोः करणाकरणयोः परस्पर-विरहरूपत्वमित्यर्थः। **नित्यत्वानित्यत्ववदिति।** यद्यपि ध्वंसावच्छिन्न-सत्त्वमनित्यत्वम् न तु नित्यत्वाभाव एव, तथापि नञर्थसम्बन्धासम्बन्ध-मात्रविवक्षयैवैतद् द्रष्टव्यम्। **तदापादकत्वमिति।** परस्परविरहापादकत्वम्। तच्च परस्परविरहव्याप्यतया निर्वहति यथा शैत्यं जले औष्ण्याभावमाक्षिपति, औष्ण्यं च तेजसि शैत्याभावमित्यर्थः। **तद्वत्ता वेति।** धर्मयोः परस्परभेदमात्रं वा विरोध इत्यर्थः।

न प्रथमः, निर्विशेषणस्यासिद्धत्वात्, यावत् सत्त्वं किञ्चित् करणात्। सविशेषणस्य तु विरोधसिद्धावप्यध्यासानुपपत्तेः। यदा यदकरणं हि तदा तत्करणस्याभावो न त्वन्यदा तत्करणस्य। न चैतयोरेकधर्मिसमावेश-मातिष्ठामहे।

कल्पलता- निर्विशेषणस्येति। अकरणत्वमात्रस्य बीजव्यक्तावसिद्धेः। **तदेवाह यावदिति।** अन्ततः संयोगादेरपि जननादित्यर्थः। **सविशेषणस्येति। यदा तदेति।** विशेषणसहितस्येत्यर्थः। **तदेवाह यदेति।** अनयोर्विरोध-सम्भवेऽप्यध्यासो नास्तीत्याह **न चेति।** न हि यद्बीजं यदैवाङ्कुरं करोति तदैव न करोतीत्यभ्युपगच्छाम इत्यर्थः।

न द्वितीयः, भावाभावव्यतिरिक्तयोः करणाकरणयोरसिद्धेः। व्यापारापरव्यपदेशसहकारिभावाभावौ हि करणाकरणे कार्यभावाभावौ वेति। अतिरेकसिद्धावपि स्वकाल एव स्वाभावप्रतिक्षेपवत् अकरणाभावमाक्षिपेत् करणं न त्वन्यदा। न हि यो यदा नास्ति स तदा स्वाभावं प्रतिक्षेप्तुमर्हतीति, विरोध्यभावं वा आक्षेप्तुम्। तथा सति न कदापि तन्न स्यात्, न वा कदापि तद्विरोधी भवेदिति। नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सत इत्यायातम् न वा विरोधः।

कल्पलता- भावाभावेति। परस्परविरहव्याप्यत्वं विरोधिरूपयोः। सम्भवत्यपि प्रकृते करणाकरणयोर्न तादृशत्वमित्यर्थः। **व्यापारापरेति**। अन्यतन्त्रसंयोगादिवच्चरमसामग्रीनिवेशितसहकारिभावाभावौ फलोपधानानुपधाने वा कारणाकारणे परस्परविरहात्मनी एव न तु परस्परविरहव्याप्ये इत्यर्थः। अभ्युपगम्याह **अतिरेकेति**। यथा घटः स्वावच्छिन्न एव काले स्वाभावं प्रतिक्षिपति न तु स्वानवच्छिन्नेऽपि काले तथा करणमपि स्वावच्छिन्न एव काले स्वविरोधिनोऽकरणस्याभावमाक्षिपेत् न तु स्वानवच्छिन्नेऽपि काले। न हि नैल्यं स्वाकालेऽपि रक्तत्वाभावमाक्षिपति। तथा सत्यामश्यामो घटः पाके सत्यपि रक्तो न स्यादित्यर्थः। दृष्टान्तमुपपादयति **न हीति**। **प्रतिक्षेप्तुमर्हति** प्रतिक्षेपात्मा भवति। दार्ष्टान्तिकमाह **विरोधीति**। उभयत्र विपक्षे दण्डमाह **तथा सतीति**। स्वानवच्छिन्नेऽपि काले यदि स्वाभावं प्रतिक्षिपेत तदा यदा न स्यात् तदैव स्यादित्यायातं यदा स्वयं न स्यात् तदा तद्विरोध्यपि न स्यादिति स्वयमेव स्यादिति विचित्रो विरोध इत्यर्थः। ततः किमित्यत आह **नासत इति**। तथा च क्षणिकत्वसाधने प्रवृत्तस्य तव नित्यत्वमेव भावानां पर्यवसितमिति भावः। न वेति। स्वाभावकाले स्वविरोधिकाले च यदि स्वयमेव स्यात् तदा विरोधनिरूपकस्याप्यभावाद्विरोध एव न सिद्ध्येदित्यर्थः।

नन्वेवं सति परिमाणभेदोऽपि कालभेदेन न विरुद्ध्येत। तत्राप्येवं वक्तुं सुकरत्वात्। न, बाधकबलेन तत्र कालभेदस्य विवक्षितत्वात्। तथाहि नारब्धद्रव्यैरेव द्रव्यावयवैर्द्रव्यान्तरमारभ्यते मूर्तत्व-समानदेशत्वयोरेकदा विरोधात्। तथा चारम्भपक्षे पूर्वद्रव्यनिवृत्तिः अनिवृत्तावनारम्भ इति। तत्र निवृत्तावाश्रयभेदादेवं परमाणभेदः। अनिवृत्तौ संयोगिद्रव्यान्तरानुपचये क्व परिमाणभेदोपलम्भो यो विरोधमावहेत्। तदुपचये तु क्व परिमाणान्तरोत्पत्तिः, आश्रयानुत्पत्तेः। अत एव स्थौल्यातिशयप्रत्ययोऽपि तत्र भ्रान्तः। तस्मात् कालभेदेनापि न परिमाणभेदः एकस्मिन् धर्मिण्युपसंहर्तुं शक्यत इत्यादि पदार्थचिन्ताचतुरैः सह विवेचनीयम्।

कल्पलता- एवं सति दीर्घत्वह्रस्वत्वे अपि परिमाणे कालभेदेन विरुद्धे न स्याताम्। तथा च कालादिप्रत्यभिज्ञापि प्रमेव स्यादित्याह **नन्वेवमिति**। स्वकाल एव स्वविरोधिपरिमाणं प्रतिक्षिपेत् न तु स्वाकालेऽपीति वक्तुं सुकरत्वादित्यर्थः।

तत्र भिन्नकालयोरपि परिमाणयोरेकत्र धर्मिणि विरोधस्य प्रमाणसिद्धत्वादित्याह नेति। तत्र परिमाणभेदो द्रव्यनाशे सत्येव भवेन्न तु पूर्वद्रव्ये सतीति तथाहीत्यादिना विवेचनीयमित्यन्तेनोपपादयति **तथाहीति**। अविनष्ट एव पूर्वद्रव्ये यदि तेष्ववयवेषु द्रव्यान्तरमुत्पद्येत तदा मूर्तयोः समानदेशत्वमापद्येतेत्याह **नारब्धेति**। ननु घटादौ चक्षुरालोकयोर्मूर्तयोरेकदेशवृत्तित्वं स्वीकृतमेवेति चेत्, न। तत्र चालनीन्यायेनोभयवृत्त्यभ्युपगमात्। निविडावयवमूर्तद्वयाभिप्रायेण वा विरोधस्योक्तत्वात्। ननु तथाप्येकतन्तुकपटे तन्तूनां पटस्य चांशुवृत्तित्वमेव स्यात्। तथा च कथं न तत्र मूर्तद्वयसमानदेशताविरोध इति चेत्, न। तत्र पट एव नोत्पद्यते किं तु संस्थानविशेषाधीनः पटव्यवहार इत्यभ्युपगमात्। यद्वा अंशुतन्तुसंयोगस्तत्र पटासमवायिकारणं, न च तत्रैवांशौ पटवृत्तित्वमिति। तथापि तन्तुना समानदेशत्वमेवेति वाच्यम्। अन्यूनदेशयोरेव तथाभ्युपगमात्। **अनिवृत्ताविति**। पूर्वद्रव्यं यदि न निवर्तते तदा समवायिकारणान्तरानुप्रवेशोऽपि नास्तीति कथं दीर्घत्वोपलम्भ इत्यर्थः। ननु स्थूलप्रत्ययो दृश्यते संयोगिद्रव्यान्तरानुप्रवेशं विना कथं स्यादित्यत आह **तदुपचयेऽपीति**। द्रव्यान्तरं चेन्नोत्पद्यते तदा तत्र स्थौल्यप्रत्ययो धान्यादिराशाविव भ्रान्त इत्यर्थः। तर्हि य एव कृश आसीत् स एवेदानीं स्थूल इति प्रत्यभिज्ञा कथमत आह **अत एवेति**। **पदार्थचिन्ताचतुरैः** *वैशेषिकैः*।

अस्तु तर्हीहापि बाधकं बलम्, प्रसङ्गतद्विपर्यययोरुक्तत्वादिति चेत्, न। तयोः सामर्थ्यासामर्थ्यविषयत्वात्, तत्र च उक्तत्वात्। स्तां वा न तथापि ताभ्यां शक्त्यशक्त्योरविवक्षितत्वात् कालभेद एव विरोधः साध्यते तथोपसंहर्तुमशक्यत्वात्। यदा तदेत्युपेक्ष्य यत् समर्थं तत्करोत्येवेत्युपसंहर्तुं शक्यमिति चेन्न। कालनियमाविवक्षायां यत् समर्थं तत्करोत्येवेति कदाचित् स्यात्। तथा च सम्भवविधेरत्यन्तायोगो विरुद्धो न त्वयोगः नीलं सरोजं भवत्येवेतिवत्।

कल्पलता- अस्त्विति। यदीदं दीर्घं स्यात् ह्रस्वं न स्यादितिवत् यदि बीजं कारि स्यादकारि न स्यात्। अकारि चैतत्, तस्मान्न कारीति प्रसङ्गतद्विपर्ययौ स्यातामिहापीत्यर्थः। कारित्वाकारित्वे यदि सामर्थ्यासामर्थ्ये एव, तत्र प्रसङ्गतद्विपर्ययौ पूर्वमेव निरस्तावित्याह **नेति**। **तत्रेति**। ननु सामर्थ्यासामर्थ्ये प्रति प्रसङ्गतद्विपर्ययौ नोच्येते, येन पूर्वनिरस्तत्वं स्यात्, किं तर्हि कारित्वाकारित्वे प्रति, ते च ताभ्यामन्ये एवेत्यत आह **स्तां वेति**। **शक्त्यशक्त्योरिति**। कारित्वाकारित्वयोरित्यर्थः। **तथेति**।

कालभेदमनन्तर्भाव्य सामान्यतस्तयोरेकत्र धर्मिण्युपसंहाराभावात्। एतदेव शङ्कापूर्वकं दर्शयति यदा तदेति। उभयोरेककालत्वं तिरस्कृत्येत्यर्थः। यत्समर्थमिति। तथा च प्रसङ्गे इष्टापत्तिरित्यर्थः। तदेव स्फुटयति सम्भवेति। समर्थस्य करणं सम्भवतीत्यत्यन्तायोगव्यवच्छेदस्याभिमतत्वादेवेत्यर्थः। अत्र कार्यविशेषाङ्कुराद्युपधानं न विविक्षितम्। अन्यथैकस्यां व्यक्तौ तथाभ्युपगमेऽपसिद्धान्तापत्तेः। यत् समर्थमिति। यज्जातीयं समर्थं तज्जातीयं करोत्येवेति वा विवक्षितम्।

ननु यदसमर्थं प्रथममासीत् तस्य सामर्थ्यं पश्चादपि कुत आगतम्। प्रथमं समर्थस्य वा पश्चात् कुत्र गतम्। नैतदेवं तत्तत्सहकारिमतस्त त्तत्कारकत्वं हि सामर्थ्यम्। अतद्वतस्तदन्यवतो वा तदकर्तृत्वमसामर्थ्यम्। इदं चौत्पत्तिकमस्य रूपं, ते च सहकारिणः स्वोपसर्पणकारणवशाद् भिन्नकाला इत्यर्थात् कार्याणामपि भिन्नकालतेति। तथाप्येककालस्थ एव भावो जातनष्टस्तदा तदा तत्कार्यं करोतु उत्पन्नमात्रस्य तत्स्वभावत्वात् एकदेशस्थवदिति चेत्।

कल्पलता- ननु प्रथममसमर्थमपि क्रमेण समर्थं भवति, प्रथमं वा यत् समर्थं तदपि क्रमेणासमर्थमिति किन्निबन्धनमित्याह नन्विति। सामर्थ्यं यदि योग्यत्वं विवक्षित्वा प्रोच्यते तदा सर्वदैव तत् समर्थमेव। अथ कारित्वं विवक्षितं तदा तदुभयं सहकारिलाभालाभतन्त्रमित्यसकृदावेदितमित्यत आह तत्तदिति। अतद्वत इति। सहकारिविनाकृतस्येत्यर्थः। तदन्यवतो वेति। एककार्यसहकारिसत्त्वेऽपि बलवत्कार्यान्तरसहकारिमतः यथानुमितिसामग्रीतः प्रत्यक्षसामग्री बलवतीत्यर्थः। तदकर्तृत्वं तदजनकत्वम्। औत्पत्तिकमिति। एतत्स्वभाव एव भावो जायत इत्यर्थः। ननु तर्हि सहकारिसमवहित एव भावो जायतां तत्तत्कार्याणि प्रतीत्यत आह ते चेति। सहकारिणः स्वकारणाधीनसन्निधयो न भावस्वरूपान्तर्गतास्तेषां चानियतकालोपसर्पणत्वात् कार्याणामिव कालानियम इत्यर्थः। उपसर्पणं सन्निधानम्। ननु यथा स्वानवच्छिन्नेऽपि देशे स्वात्मनि इन्द्रियादि ज्ञानं सुखादिकं यथा वा मृदङ्गाद्याकाशे शब्दं जनयति तथा स्वानवच्छिन्नेऽपि काले क्षणिको भावः कार्याणि जनयतु न ह्येकं वस्तु क्षणद्वयसम्बद्धं भवितुमर्हतीत्याह तथापीति। जातनष्टः क्षणिकः एककालस्थ इति स्वसम्बन्धिकालस्थ इति विवक्षायामिष्टापत्तिः।

सेयमेककालस्थता स्वरूपापेक्षया सहकारिसान्निध्यापेक्षया वा।

आद्ये न किञ्चिदनुपपन्नं नित्यानामप्येवंरूपत्वात्। वर्तमानैकस्वभावत्वात् सर्वभावानाम्। तदेव तु क्वचित् सावधि क्वचिन्निरवधीति विशेषः। सावधित्वेऽपि व्यापारफलप्रवाहप्रकर्षापकर्षाभ्यां विशेषः। द्वितीयस्तु स्यादपि यदि तेषां यौगपद्यं भवेत्, क्रमिणस्तु सहकारिण इत्युक्तम्। सहकारिसहितः स्वभावेन करोतीति वक्तारि तु जातनष्ट एव करोत्वित्युत्तरप्रसङ्गो निरर्गलशैशवस्येत्यलमनेन।

कल्पलता- स्थैर्येऽपि भावानां स्वावच्छिन्न एव काले स्थितेरित्याह **स्वरूपापेक्षयेति।** क्वचित् सावधीकृत्य नित्यभावानां क्वचिन्निरवधीति नित्यभावानाम्। नन्वेवं यागाद्यपि स्वानवच्छिन्ने काले स्वर्गादि न जनयेदित्यत आह **सावधित्वेऽपीति।** यागादीनामपि व्यापाररूपं यत्फलमपूर्वादि तस्य **प्रकर्षश्च** परिपाकस्तदधीनश्च स्वर्गादिफलसम्बन्ध इति नोक्तदोष इत्यर्थः। तर्हि यागवद्बीजाद्यपि स्वानवच्छिन्ने काले कार्यजनकं स्यादत आह **अपकर्षेति।** तेषां न तादृशो व्यापार इत्यर्थः। ननु य एव सहकारिकालः स एव बीजादेरपि काल इति कथं कार्याणि जातनष्ट एव न करोतीत्यत आह **द्वितीयस्त्वति।** किं च तथाप्येककालस्थ एव भाव इत्यादि त्वदभिधानमपि मां प्रत्यसम्बद्धमित्याह **सहकारीति।**

तस्मात् कार्यस्य स एव कालः, कारणस्य तु स चान्यश्चेति, सम्बन्धिकालापेक्षया पूर्वकालताव्यवहारः। अपि च यदा तदेति स्थाने यत्र तत्रेति प्रक्षिप्य तयोरेव प्रसङ्गतद्विपर्ययोः को दोषः। न कश्चिदिति चेत् तर्हि देशाद्वैतं वा कारणभेदो वा आपद्येत। आपद्यतां, तदादाय *योगाचार*नयनगरं प्रवेक्ष्याम इति चेत्, न। हेतुफलभाववादवैरिणमनपोद्य तत्र प्रवेष्टुमशक्यत्वात्। तदपवादे वा सत्त्वाख्यसाधनशस्त्रसंन्यासिनस्तव बहिर्वादसङ्ग्रामभूमावपि कुतो भयम्।

कल्पलता- नन्वेतावता कार्यकारणयोर्यौगपद्ये कारणस्य पूर्वकालताविरहात् कारणतैव न स्यादित्यत आह **तस्मादिति। स एव** सामग्र्यव्यवहितोत्तर एव। **कारणस्येति।** किञ्चित् कारणं तन्त्वादि सामग्र्यनन्तरमप्यनुवर्तते किञ्चित्तु व्यापारं जनयित्वा कार्यात् पूर्वमेव नश्यतीत्यनियम एवेत्यर्थः। **सम्बन्धीति।** यस्मिन् काले यत् सम्बध्यते स एव तस्य काल इत्यर्थः। प्रथमप्रकरणार्थ-प्रपञ्चोऽयम्। परस्मै यद्विरोधदानाय, तमिदानीमाह **अपि चेति।** क्षेत्रपतितं बीजं

यदि तस्मिन्नेव काले कुशूलेऽप्यङ्कुरजननसमर्थं स्यात् तदाङ्कुरं जनयेत् न तु जनयति, तस्मान्न तदा तत्समर्थमिति। क्षणिकमपि सामर्थ्यासामर्थ्यलक्षण-विरुद्धधर्मसंसर्गेण भिन्नं स्यादिति प्रघट्टकार्थः। अत्र प्रसङ्गे दोषाभिधाने कालगर्भप्रसङ्गेऽपि दोषः स्यादित्यभिप्रायेणाह **न कश्चिदिति**। ननु बीजदेशादन्यो देशो यदि भवेत् तदा तत्र तत्राजननिबन्धनमसामर्थ्यमापद्येत। तथा च सर्वत्र देशे समर्थमेव बीजमिति नास्माकं विरुद्धधर्माध्यास इत्यत आह **तर्हीति**। यद्येक एव देशो भवेत् तदैवं सम्भाव्येत यदि वा देशनानात्वेऽपि सर्वो देशो बीजाधार एव स्यात् तदा स्यात्, आद्ये देशाद्वैतमन्त्ये कारणस्याप्येकस्यैव बीजस्य तावद्देशवृत्तितयाऽभेदः स्यादित्यर्थः। ननु क्षेत्रकुशूलाद्यात्मापि देशो ज्ञानस्वरूपमेव बाह्यस्यास्माभिरनङ्गीकारात्। ज्ञानं चैकदेशमेवेति देशभेदेन सामर्थ्यासामर्थ्यापादनं मां प्रति निरवकाशमित्याह **आपद्यतामिति**। ज्ञानमात्रं क्षणस्थायि न बाह्यं किञ्चिदस्तीति *योगाचारनयः*। तदेव नगरमित्यर्थः। भेदेन ग्राह्यग्राहकभावो नास्ति किं तु स्वप्रकाशज्ञानमेव जगदिति *योगाचारमता*श्रयणे कार्यकारणभावोऽपि त्वया नेष्टव्यः। इदमस्य कारणमिदमस्य कार्यमिति भेदेन ग्राह्यग्राहकभावे सत्येव सिद्ध्येत्। तथा च मां प्रति सामर्थ्यासामर्थ्यलक्षणविरुद्धधर्माध्यासे यत् सत् तत् क्षणिकमिति यत् त्वया साधयितुमुपक्रान्तं तत् सर्वं भग्नमेवेत्याह **हेतुफलेति**। ननु हेतुफलभावोऽपि मास्तु को दोष इत्यत आह **तदपवाद इति**। तर्ह्यर्थक्रियाकारित्वलक्षणेन सत्त्वेन हेतुना यत् क्षणिकत्वं त्वया साधयितुमुपक्रान्तं तच्चेद्विहाय दूरं पलायितेन त्वया संन्यस्तमेव, तदा सिद्धं नः समीहितम्। यतः पराजितोऽस्येव। तथा च केन भयेन *योगाचारनगर*प्रवेशस्तव इत्यर्थः।

ननु यावत्योऽर्थक्रिया भिन्नदेशास्तावद्भेदं कारणमस्तु को विरोध इति चेत्, न। तेषामपि प्रत्येकं तत्प्रसङ्गस्य तदवस्थत्वात्। एवमेकस्य जगति वस्तुतत्त्वस्यालाभे साध्वी क्षणभङ्गसाधनपरिशुद्धिः।

कल्पलता- द्वितीयं पक्षमाशङ्क्य निराकरोति **नन्विति**। **यावत्य इति**। यत्र यत्र देशे त्वया कारणमापाद्यते तत्र सर्वत्र तद्बीजमस्ति समर्थं च करोति चेति क्व विरोध इत्यर्थः। **तेषामपीति**। कारणानां देशभेदेन भेदे यत् क्षेत्रपतितं तत्कुशूले करोति न वा, यत् कुशूलस्थं तच्च दूरे करोति न वेति तत्तदेवाधिकृत्य प्रसंगतद्विपर्ययौ वक्तव्यौ इति किमप्येकं जगति न स्यादिति किं धर्मिकं क्षणिकत्वं साधनीयमित्यर्थः।

अस्तु तर्हि कश्चिद्दोष एवानयोरिति चेत्, स पुनः कस्मिन् साध्ये। किं सामर्थ्यासामर्थ्ययोः किं वा तद्विरुद्धधर्माध्यासेन भेदे आहोस्वित् शक्त्यशक्त्योर्विरोधे।

कल्पलता- अनयोरिति। देशगर्भप्रसङ्गतद्विपर्ययोरित्यर्थः। सामर्थ्यासामर्थ्ययोरिति। साध्ययोरिति विपरिणामः। सामर्थ्यासामर्थ्ययोः सतोर्भेदे साध्य इत्यग्रेतनेन सम्बन्धः। तत्र यद्यपि सामर्थ्यासामर्थ्यरूपे एवाहत्य न साध्ये किं तु तदुभयविरुद्धधर्माध्यासाधीनो धर्मिणि भेदः साध्यः, तथापि प्रसङ्गतद्विपर्ययाभ्यां साक्षात् ते एव साध्ये इत्यदोषः। एतदेवाह **किं वेति**। **शक्त्यशक्त्योरिति**। करणाकरणयोरित्यर्थः। **विरोध** इत्यत्र साध्य इत्यनुषञ्जनीयम्। कश्चिदनयोर्दोष इति सर्वत्रानुषङ्गः।

नाद्यः, सर्वत्र सामर्थ्ये हि प्रसह्य करणात्। सर्वत्राशक्तौ क्वचिदप्यकरणात्। सर्वदेशसमानस्वभावत्वेऽप्यस्य स्वोपादानदेश एव तत्तत्कार्यं करोतीति अयमस्य स्वभावः, स्वकारणादायातो न नियोगपर्यनुयोगावर्हतीति चेत्, तर्हि सर्वकालसमानस्वभावत्वेऽपि तत्तत्सहकारिकाल एव करोतीत्ययमस्य स्वभावः स्वकारणादायात इति किन्न रोचयेः।

कल्पलता- सामर्थ्यासामर्थ्ययोः साध्यत्वे यदि प्रसङ्गतद्विपर्ययौ दुष्टौ स्यातां तदा सर्वत्र सामर्थ्यमेव स्यात्, असामर्थ्यमेव वा। आद्ये आह **प्रसह्येति**। अन्त्ये आह **सर्वत्रेति**। देशभेदेन सामर्थ्यासामर्थ्ये नैकस्य विरुद्धे इति यदि, तदा कालावच्छेदभेदेनापि न विरोध इति कुतः क्षणिकत्वमिति शङ्कोत्तराभ्यामाह **सर्वदेशेति**।

न द्वतीयः विरुद्धधर्माध्यासेनाप्यभेदे भेदव्यवहारस्य निर्निमित्तकत्वप्रसङ्गात्। अनैकान्तिकश्च कालतोऽपि न भेदं साधयेत्।

कल्पलता- ननु सामर्थ्यासामर्थ्ये विरुद्धे अप्येकत्र विद्यमाने अपि न धर्मिणं भिन्ते इत्याह **न द्वितीय इति**। **अनैकान्तिकश्चेति**। देशभेदेन ताभ्यां विरुद्धाभ्यामपि भेदासाधनादित्यर्थः।

न तृतीयः विरोधलक्षणयोगे बाधकसहस्रेणापि विरोधस्यापनेतुमशक्यत्वात्। अयोगे वा तदेव चिन्त्यम्। यद्विधाने यस्य निषेधो यन्निषेधे

वा यस्य विधानं तयोरेकत्र धर्मिणि परस्परपरीहारस्थिततया विरोधः। स चेह नास्ति। तद्देशकार्यकारित्वं हि तद्देशकार्याकारित्वेन विरुद्धं तद्विधौ तस्य नियमेन निषेधात्। न ह्यन्यत्र तदकरणमतत्करणं वा। तत्र तत्करणस्या-भावोऽपि तु तत्र तदकरणमिति चेत्, हन्तैवम्भूतविरोध-लक्षणव्यावृत्तिर्भिन्न-कालशक्त्यशक्त्योरपीत्युक्तप्रायं तत्प्रतिसन्दधीथाः।

कल्पलता- ननु सामर्थ्यासामर्थ्ये विरुद्धे एव न भवत इत्याह **न तृतीय इति। विरोधेति।** परस्परविरहात्मनोः परस्परविरहव्याप्ययोर्वा विरोधध्रौव्यमित्यर्थः। नन्वेकदेशावच्छेदेन कारित्वाकारित्वे विरोधलक्षणाक्रान्ते न तु देशभेदेनापीत्याह **अयोगे वेति।** तदेव साम्यापादनाय परद्वारा चिन्तयति **तद्देशकार्यकारित्वमिति।** यद्देशे करोति तत्रैव न कुर्यात् तदा विरोधः स्यादित्यर्थः। देशान्तरे कार्यकारित्वेनेत्यत्र तद्देशकारित्वं विरुद्धमित्यनुषञ्जनीयम्। **तस्येति।** देशान्तरे तदकरणस्या-निषेधादित्यर्थः। **नहीति।** अन्यत्र यत् तत्करणं तद्विरुद्धकार्यकरणं वा, न तदेव तत्र तत्करणस्याभावो येन विरोधः स्यात्, अपि तु तत्रैव देशे तदानीमेव तदकरणं तत्करणस्याभाव इत्यर्थः। साम्यमापादयति **हन्तैवमिति।** तदा तदकरणं तत्करणस्य विरोधि न त्वन्यदापि तदकरणं येन विरोधः स्यादित्युक्तमित्यर्थः।

तस्मात् प्रसङ्गतद्विपर्ययस्थितावपि असिद्धो विरुद्धधर्माध्यासः। ननु यदेकदा यत् करोति तद्यावत् सत्त्वं तत्करोत्येव। यथा कश्चिच्छब्दः शब्दान्तरमिति प्रसङ्गोऽस्तु। विपर्ययस्तु यदेकदा यन्न करोति तत् सर्वदैव तन्न करोति, यथा शिलाशकलम् अङ्कुरम्। न करोति चैकदा कुशूलस्थं बीजमङ्कुरमिति चेत् तदेतज्जात्यभिप्रायेण वा स्यात् व्यक्त्यभिप्रायेण वा स्यात्।

कल्पलता- पूर्वं प्रसङ्गतद्विपर्यययोरेवासिद्धिरुक्ता सम्प्रति तत्सिद्धावपि विरुद्धधर्माध्यासाभावमुपसंहरति **तस्मादिति।** सत्त्वक्षणिकत्वयोर्व्याप्तिसाधनाय प्रसङ्गविपर्ययान्तरमवतारयति **नन्विति। यथा कश्चिच्छब्द इति।** अविनश्यदवस्थोऽनन्त इत्यर्थः। अन्यथा द्वितीयक्षणेऽकरणे यावत् सत्त्वं करणानुपपत्तेः। स्वमतेनैव वा दृष्टान्तः **विपर्यय इति।** यद्यावत्सत्त्वं यन्न करोति तदेकदापि न करोति यथा शिलाशकलम्। न करोति कुशूलस्थं बीजं यावत्सत्त्वमङ्कुरम्, स च कदापि तन्न कुर्यादिति विपर्यये दर्शनीये एकदाऽकरणस्यापि यावत्सत्त्वाकरणरूपतया व्यत्यासेनैव विपर्ययो दर्शित

इत्यदोषः। तदेतदिति। प्रसङ्गतद्विपर्ययोपदर्शनमित्यर्थः। जातीति। यज्जातीयमेकदा न करोति तज्जातीयं यावत्सत्त्वं न करोतीति वा, या व्यक्तिरेकदा न करोति सा यावत्सत्त्वं न करोतीति वा विवक्षितमित्यर्थः।

प्रथमे द्वयमपि अनैकान्तिकम्, अनियमदर्शनात्। द्वितीये द्वयमप्यन्यथासिद्धम्। एकान्तासामर्थ्यप्रयुक्तत्वादत्यन्ताकरणस्य। सामर्थ्ये सति सहकारिसन्निधिप्रयुक्तत्वात् करणनियमस्य।

कल्पलता- अनियमेति। बीजजातीय एव करणाकरणयोर्दर्शनान्नेयं व्याप्तिरित्यर्थः। द्वयमपीति। प्रसङ्गस्तद्विपर्ययश्चेत्यर्थः। अन्यथासिद्धिमाह एकान्तेति। शिलाशकलादावेकदाऽकारित्वे सत्यन्यदाप्यकारित्वं स्वरूपयोग्यत्व-प्रयुक्तम्। स्वरूपयोग्यस्य त्वेकदाऽकरणं सहकारिवैकल्यप्रयुक्तं यावत्सत्वं च करणं सहकारिलाभप्रयुक्तमित्यर्थः।

एतेन यद्यत्करोति तत्तदुत्पन्नमात्रं यथा कर्मविभागम्। यदुत्पन्नमात्रं यन्न करोति तन्न कदाचिदपि, यथा शिलाशकलमङ्कुरमिति निरस्तम्। अत्रापि पूर्ववदनैकान्तान्यथासिद्धौ दोषाविति।

कल्पलता- सत्त्वक्षणिकत्वव्याप्तिग्रहानुकूलमेव प्रसङ्गविपर्ययान्तर-माशङ्क्य निराकोति एतेनेति। पूर्ववदिति जात्यभिप्रायेणानैकान्तिकत्वं न हि बीजजातीयमुत्पन्नमात्रमेव करोति। या च व्यक्तिरुत्पत्त्यनन्तरमेव करोति तत्र तत्तत्सहकारिलाभस्तन्त्रमित्यभिप्रायेणान्यथासिद्धिरित्यर्थः।

नापि तृतीयः, कृतकत्वानित्यत्वादेरपि परस्पराभाववत्तामात्रेण विरोधप्रसङ्गादिति।

कल्पलता - तद्वत्ता वा दण्डित्वकुण्डलित्ववदिति यत् पूर्वं विकल्पितम् तद् दूषयति - नापीति। विरोधप्रसङ्गादिति। तथा च तदुभयाध्यासाधीनधर्मिभेद प्रसङ्गादित्यर्थः।

अस्तु तर्हि तस्यैव तेनैव सहकारिणा सम्बन्धोऽसम्बन्धश्चेति विरोधः। न, विकल्पानुपपत्तेः। तथाहि सम्बन्धिनः सम्बन्ध्यन्तरे स्वाभावस्वाभाव्यं वा विरुद्ध्येत अभावप्रतियोगित्वं वा। तदैवेति सहितं वा, तत्रैवेति सहितं वा, उभयसहितं वा, तथैवेति सहितं वेति।

कल्पलता- सहकारिसमवधानासमवधानाधीने करणाकरणे इति यत् समाहितं तत्रापि विरोध इत्याह **अस्तु तर्हीति। सम्बन्धिन इति।** सहकारिसमवधानं तावन्न सम्भवति यत एकस्य सहकारिणः सहकार्यन्तरमभावस्वरूपमेव। न च भावाभावयोः समवधानसम्भावनेत्यर्थः। असमवधाने विरोधमाह **अभावेति।** विरुद्ध्यत इति सम्बद्ध्यते। सहकारिणो यद्यभावः स्यात् तदा तदसमवधानं स्यात्। तदेव तु नास्ति, नहि भावस्याप्यभावो विरोधादित्यर्थः। भवतु वा भावस्याप्यभावो विरुद्ध इत्याह **तदैवेति।** अत्राभावप्रतियोगित्वं विरुद्ध्यत इत्यनुषङ्गः। एवं परत्रापि भवतु वा भावसमानकालीनोऽप्यभावस्तथापि यत्रैव भावस्तत्रैव तदभावः कथं स्याद्विरोधादित्याह **तत्रैवेति।** कालभेदेनैकदेशत्वसम्भवेऽपि यदा यत्र यत्सत्त्वं तदैव तस्य तत्रासत्त्वं विरुद्धमित्याह **उभयसहितमिति।** येनावच्छेदेन प्रतियोगी तेनैवावच्छेदेन तदैव तत्रैव तदभावो न सम्भवतीत्याह **तथैवेति।**

न प्रथमः, अनभ्युपगमात्। न द्वितीयः, सत्कार्यप्रतिषेधात्। न तृतीयः, प्राक्प्रध्वंसाभावयोर्भावसमानकालत्वानभ्युपगमात्। न चतुर्थः, स हि न तावत् स्थितियौगपद्यनियमेन सम्बन्धिनोस्तदसिद्धेः। इत एव तत्सिद्धावितरेतराश्रयत्वम्। नियमसिद्धौ हि विरोधसिद्धिः तत्सिद्धौ च भेदे सति नियमसिद्धिरिति। न चान्यस्तत्सिद्धिस्तदभावात्। अनियतोपसर्पणापसर्पणकारणप्रयुक्तत्वाच्च सम्बन्धासम्बन्धयोः। नापि विनाशस्य अहेतुकत्वात् अयं विरोधोऽर्थात् सिद्ध्यति, तस्याप्यसिद्धेः। ध्रुवभावित्वे तु वक्ष्यामः। नापि पञ्चमः, न हि तदेव तत्रैव स एव सहकार्यस्ति नास्ति चेति अभ्युपगच्छामः।

कल्पलता- अनभ्युपगमादिति। सम्बन्ध्यन्तरमेव सम्बन्ध्यन्तरस्याभाव इति नाभ्युपगम्यते, अधिकरणस्वभावश्चाभावो न भवतीति निषेत्स्यत एवेति भावः। **सत्कार्येति।** अभावप्रतियोगित्वं भावस्य नास्तीत्यभ्युपगमे तव *सांख्यमत*प्रवेशेऽप्यपसिद्धान्तः, क्षणिकत्वसाधनविरोधोऽनुभवविरोधश्चेत्यर्थः। **प्रागिति।** प्रागभावप्रध्वंसयोः प्रतियोगिसमानकालत्वानुपपत्तावप्यत्यन्ताभावमादाय सहकार्यसमवधानसम्भवात्। सहकारिप्रागभावप्रध्वंसावपि प्रतियोगिभिन्नकालावादाय तथा सम्भवाद्वेत्यर्थः। **स हीति।** विरोधे यदि सहकारिणा स्थितियौगपद्यनियमो भवेत् तदैकसहकारिदेशे सहकार्यन्तराभावो न भवेत्, स च नास्तीत्यर्थः। ननु प्रतियोगितदभावयोः समानदेशत्वविरोधादेव स्थितियौगपद्यनियमः स्यादित्यत

आह इत एवेति। तदेव स्फुटयति। नियमेति। तत्सिद्धौ विरोधसिद्धौ भेदे सति क्षणभङ्गे सति नियमसिद्धिरित्यर्थः। क्षणभङ्गे सति सहकारिणां तथोत्पादनियमाद्यौगपद्यं सिद्ध्येत्, स एवाद्यापि न सिद्ध इत्यर्थः। ननु विरोधादेव स्थितियौगपद्यं मा सैत्सीदन्यत एव कुतश्चित्प्रमाणात् सिद्ध्यतु तदित्यत आह न चेति। तदभावादिति। प्रमाणान्तराभावादित्यर्थः। ननु सहकारिणं यौगपद्यमेव कथं न भवतीत्यत आह अनियतेति। ननु ध्वंसस्य प्रतियोगिभिन्नं कारणं नास्ति। तथा च स्वोत्पत्त्यव्यवहितोत्तरक्षणवर्तिध्वंसप्रतियोगित्वे क्षणिकत्वे सिद्धे पुञ्जात् पुञ्जोत्पत्तिसिद्धावर्थादेव सहकारिणां स्थितियौगपद्यनियमः सेत्स्यतीत्याह नापीति। तस्यापीति। विनाशस्याहेतुकत्वस्येत्यर्थः। ननु विनाशो भावानां ध्रुवभावी तथा च कुतो हेत्वन्तरापेक्षेत्यत आह ध्रुवभावित्व इति। उभयसहितं वेति दूषयति नापीति।

ननु समवधानं नाम सहकारिणां धर्मः संयोगो भवद्भिरिष्यते। स च तेभ्यो व्यतिरिक्तोऽव्याप्यवृत्तिश्चेत्यपि। तथा च स एव तदैव तत्रैवास्ति नास्ति चेति। अनतिरेके स्थिरवादिनो व्यस्तान्यपि बीजवारिधरणिधामानि तान्येवेति तेभ्योऽपि कार्योत्पत्तिप्रसङ्गः। व्याप्यवृत्तित्वे च सर्वत्र रक्तादिविभ्रमः शब्दादिकार्योत्पत्तिप्रसङ्गश्च। तस्मादसंयुक्तेभ्योऽन्य एव संयुक्तस्वभावाः परमाणवो जाता इत्येव ज्यायः। नैतदेवं क्षणिकपरमाणावप्यस्य विरोधस्य दुर्वारत्वात्। तथाहि पूर्वदिगवस्थितः परमाणुर्यथा परदिगवस्थितेन परमाणुना ऽपरदिगवच्छेदेनावृतरूप उत्पन्नः तथैव किं पूर्वदिगवच्छेदेनापि न वा। उभयथा वा। आद्ये उभयतोऽप्यनुपलब्धिप्रसङ्गः। द्वितीये तु उभयतोऽप्युपलम्भापत्तिः। तृतीये पुनः स एव दुरात्मा विरोधः। स एव तेनैव तदैवावृतोऽनावृतश्चेति।

कल्पलता- एतावता प्रघट्टकेन सहकारिसमवधानासमवधानाधीने करणाकरणे इति यदुक्तं तत्समाहितम्। तथैवेति सहितं वेति षष्ठं पक्षं परप्रतिवन्दिमुखेन समाधित्सुः प्रतिवन्दिनमुत्थापयितुं पीठं रचयति नन्विति। न हि तदेव तत्रैव स एवास्ति नास्ति चेत्यभ्युपगच्छाम इति यदुक्तम्। तत्संयोगे शब्दे ज्ञानादावभ्युपगमेन तवापसिद्धान्त इति पूर्वपक्षिणोऽभिसन्धिः। तेभ्य इति। सहकारिभ्य इत्यर्थः। इत्यपीत्यतो भवद्भिरिष्यते इत्यनुषङ्गः। नास्ति चेति। अतो विरोध इति शेषः। तवापसिद्धान्त इति वा शेषः। व्यस्तान्यपीति।

विशकलितान्यपीत्यर्थः। **रक्तादीति**। अरक्तेऽपि भागे महारजनसंयोगस्य व्याप्यवृत्तितया रक्तधीप्रसङ्ग इत्यर्थः। भेर्याकाशसंयोगस्य च सकलाकाशवृत्तितया सर्वत्र शब्दोत्पत्तिप्रसङ्गः, विभुकार्याणामसमवायिदेशानुरोधित्वात्। आदिपदेन सुखदुःखादिसङ्ग्रहः। स्वसिद्धान्तानुसारेणोपसंहरति **तस्मादिति**। यद्वा तस्मादित्यतिरिक्तसंयोगपक्षे विरोधादुक्तादित्यर्थः। **संयुक्तस्वभावा इति**। अविरलदेशेनोत्पन्ना क्षणिकपरमाणव एव तथोत्पादाद् घटपटादिभावमापन्ना इत्यर्थः। **अस्य विरोधस्येति**। आवृतानावृतरक्तारक्तादिविरोधस्येत्यर्थः। **आद्य इति**। उभयदिगवच्छेदेनावृतत्व इत्यर्थः। **द्वितीय इति**। क्वचिदावृतः क्वचिदनावृत उत्पन्न इत्यत्रेत्यर्थः। विरोधमाह **स एवेति**।

प्रकारभेदमुपादायाविरोध इति चेत्, कः पुनरसौ दिगन्तरावच्छेदः। यदि हि यद्दिगवच्छेदेनैव संयुक्तस्तद्दिगवच्छेदेनैवासंयुक्तोऽपि। ततो विरोधः स्यात्। इह तु नैवमिति चेत्, हन्त संयोगसंयोगिनोर्भेदपक्षेऽपि यद्ययं सिद्धान्तवृत्तान्तः स्यात् कीदृशो दोष इति। एतेन व्यतिरेकपक्षोऽपि निरस्तः।

कल्पलता- **कः पुनरसाविति** प्रश्नः **दिगन्तरावच्छेदेन** इत्युत्तरम्। **अयं सिद्धान्तवृत्तान्त इति** अञ्चलावच्छेदेन महारजनसंयोगेऽपि दशावच्छेदेन तदभावान्न सर्वत्र रक्तविभ्रम इत्यर्थः। **एतावता तथैवेति सहितं वेति** षष्ठः पक्षोऽभ्युपगमेन निरस्त इति सिद्धं सहकारिसमवधानासमवधानप्रयुक्ते करणाकरणे एकस्यामेव व्यक्ताविति। **एतेनेति**। सत्त्वक्षणिकत्वयोरन्वयव्याप्तिभङ्गेनेत्यर्थः। यत्र क्षणिकं तत्र सत् यथा शशविषाणमिति व्यतिरेकव्याप्तिस्त्वया वाच्या। केवलान्वयिनोऽनभ्युपगमात्। व्यतिरेकव्याप्तिश्चान्वयव्याप्तिव्याप्ता। सा चेन्नास्ति तदा व्यतिरेकव्याप्तिरपि नास्तीति भावः।

अधिकश्च तत्राश्रयहेतुदृष्टान्तसिद्धौ प्रमाणाभावः। अवस्तुनि प्रमाणाप्रवृत्तेः। प्रमाणप्रवृत्तावलीकत्वानुपपत्तेः। एवं तर्ह्यव्यवहारे स्ववचनविरोधः स्यादिति चेत्, तत् किं स्ववचनविरोधेन तेषु प्रमाणमुपदर्शितं भवति। व्यवहारनिषेधव्यवहारो वा खण्डितः स्यात्। अप्रामाणिकोऽप्ययं व्यवहारोऽवश्याभ्युपगन्तव्य इति वा भवेत्।

कल्पलता- **अधिक इति**। अन्वयव्याप्त्यपेक्षयात्र बहूनि दूषणानीत्यर्थः। तान्येवाह **आश्रयेति**। आश्रयपदं साध्याभावपरं, तदाश्रित्य व्यतिरेकव्याप्तिप्रवृत्तेः।

हेतुपदं साधनाभावपरं तद्विपर्ययस्य हेतुत्वोपगमात्। दृष्टान्तपदं स्फुटार्थमेव। तथा च न शशविषाणादौ साध्याभावो, न साधनाभावो, न वा शशविषाणादि प्रमाणगणगम्यमित्यर्थः। यद्वा अक्षणिकमसत् क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियारहितत्वात् कूर्मरोमवदित्याश्रयासिद्धिः, सन्देहसिषाधयिषयोरभावात्। अत एव हेत्वसिद्धिः। व्याप्तिपक्षधर्मताविशिष्टस्यैव हेतुत्वात्। **एवं तर्हीति।** प्रमाणसाध्य एव व्यवहारस्तदेत्यर्थः। तथा च ज्ञानमात्रं व्यवहाराङ्गं न तु प्रमैवेति भावः। अलीके कोऽपि व्यवहारो न संभवतीति वदतस्तव स्ववचनविरोधः। अस्यैव व्यवहारस्याभ्युपगमादित्याह **स्ववचनेति।** **तत्किमिति।** प्रमाणाधीन एव व्यवहारस्त्वया च व्यवहारनिषेधव्यवहारः क्रियते। तन्नूनं शशविषाणाद्यपि प्रामाणिकमित्यायातमित्यर्थः। **व्यवहारनिषेधेति।** प्रमाणमन्तरेण व्यवहारनिषेधव्यवहारोऽप्ययमनुपपन्न इत्यर्थः। **अप्रामाणिकोऽपीति।** अप्रामाणिकोऽपि व्यवहारश्चेत् त्वया नेष्टव्यस्तदा तव स्ववचनविरोधो भवेदित्यर्थः।

न तावत् प्रथमः न हि विरोधसहस्रेणापि स्थिरे तस्य क्रमादिविरहे वा शशशृङ्गे वा प्रत्यक्षमनुमानं वा दर्शयितुं शक्यम्। तथात्वे वा कृतं भौतकलहेन। द्वितीयस्त्विष्यत एव प्रामाणिकैः। अवचनमेव तर्हि प्राप्तम्। किं कुर्मो यत्र वचनं सर्वथैवानुपपन्नं तत्रावचनमेव श्रेयः। त्वमपि परिभावय तावन्निःप्रमाणकेऽर्थे मूकवावदूकयोः कतरः श्रेयान्।

कल्पलता- अक्षणिकमसत् क्रमयौगपद्यरहितत्वात् कूर्मरोमवदित्यनुमाने पक्षसाध्यहेतुदृष्टान्तेषु प्रमाणानुपपत्तिमाह **नहीति।** इन्द्रियसन्निकर्षाभावात् प्रत्यक्षानुपपत्तिर्व्याप्त्यभावादनुमानानुपपत्तिरिति भावः। **तथात्वे वेति।** प्रमाणोपदर्शने इत्यर्थः। **भौतो** वर्वरः भूताविष्टो वा। **द्वितीयस्त्विति।** व्यवहाराभावः। व्यवहारखण्डनपक्ष इत्यर्थः। अप्रतिभानिग्रहस्थानमुद्भावयति **अवचनमेव तर्हीति।** निरनुयोज्यानुयोगमाह सिद्धान्ती **किं कुर्म इति।** उत्तरार्हे उत्तराप्रतिपत्तिरप्रतिभा इदं तूत्तरार्हमेव न भवतीति नाप्रतिभेति भावः। एतदेवाह **त्वमपीति।** अवचनमेवात्र श्रेय इत्यर्थः। **निःप्रमाणक इति।** वचनस्यापि मूलभूतप्रमाणसापेक्षत्वादिति भावः।

एवं विदुषापि भवता न मूकीभूय स्थितम्, अपि तु व्यवहारः प्रतिषिद्ध एवासतीति चेत्, सत्यम्। यथा अप्रामाणिक. स्ववचनविरुद्धोऽर्थो मा प्रसाङ्क्षीदिति मन्यमानेन त्वया अप्रामाणिक एवासति व्यवहारः स्वीकृतस्तथास्माभिरपि प्रमाणचिन्तायामप्रामाणिको व्यवहारो मा

प्रसाङ्क्षीदिति मन्यमानैरप्रामाणिक एव स्ववचनविरोधः स्वीक्रियते। यदि तूभयत्रापि भवान् समानदृष्टिः स्यादस्माभिरपि तदा न किञ्चिदुच्यत इति।

कल्पलता- एवं विदुषापीति। अप्रामाणिकेऽर्थेऽत्र मूकतैव शरणमिति विदुषापीत्यर्थः। **यथेति**। सत्त्वं क्षणिकत्वव्याप्यमिति युष्माकं स्ववचनं, तद्विरुद्धोऽर्थः सत्त्वेऽसत्यपि शशविषाणादौ न क्षणिकत्वमिति विपक्षगामित्वप्रसङ्गात्। स मा भूदेतदर्थं क्षणिकत्वव्यावृत्त्या सत्त्वव्यावृत्तिरप्रामाणिक्येवेति त्वया यथा व्यवह्रियते तथास्माभिरपि। क्षणिकत्वे किं प्रमाणमिति चिन्तायां त्वदुपदर्शितः शशविषाणादौ व्यतिरेकग्रहव्यवहारो मा प्रसक्तः स्यादित्येतदर्थं स्वशिष्यादय एवं बोध्यन्त इत्यर्थः। **यदि त्विति**। त्वं चेत्तत्र व्यतिरेकव्याप्तिं न दर्शयसि तदा तत्र व्यतिरेकभङ्गाय मयापि न यतनीयमित्यर्थः।

तृतीये त्वप्रामाणिकश्चाप्यवश्याभ्युपगन्तव्यश्चेति कस्येयमाज्ञेति भवानेव प्रष्टव्यः। व्यवहारस्य सुदृढनिरूढत्वादिति चेत् अप्रामाणिकश्च सुदृढनिरूढश्चेति व्याघातः। कथञ्चिदपि व्यवस्थितत्वादिति चेत्, अप्रामाणिकश्चेन्न कथञ्चिदपि व्यवतिष्ठते प्रामाणिकश्चेत् तदेवोच्यतामिति वादे व्यवस्था।

कल्पलता- **अभ्युपगन्तव्यश्चेति**। अभ्युपगमस्य प्रमाणमूलकत्वस्थितेरित्यर्थः। नन्वभ्युपगमे प्रमाणमूलत्वं न तन्त्रम् किन्तु निश्चयमूलत्वमात्रम्। निश्चयश्चासत्ख्यातिरूपोऽपि ततस्तदधीनो व्यवहारोऽपि प्रकृते स्यादित्याह व्यवहारस्येति। अत्र विरोधमाह **अप्रामाणिकश्चेति**। सुदृढत्वमसङ्गृहीतसंवादत्वं निरूढत्वमिदमित्थमेवेति गृहीतप्रामाण्यत्वम्। **कथञ्चिदिति**। संवृतिसिद्धत्वेनेत्यर्थः। **अप्रामाणिकश्चेदिति**। संवृतिरप्रमैव चेत् तदा तन्मूलोऽपि व्यवहारः कथं व्यवतिष्ठताम्। प्रमारूपैव चेत् संवृतिस्तदा तन्मूलं प्रमाणमेवोच्यताम्। तच्च नास्तीति भावः। ननु जल्पवितण्डयोः परस्परजयार्थमप्रमाणेनापि व्यवह्रियत एव, तत्कथं व्याघात इत्यत आह **वाद इति**। वाद एव त्वया सहायमुपक्रान्तः स्थिरं वा विश्वं क्षणिकं वेति तत्त्वनिर्णीषया तत्र कथम् अप्रमाणेन व्यवहरिष्यसीत्यर्थः। यद्वा वादकथायां स्ववचनविरोधो न निग्रहस्थानं, नाप्यप्रतिभा किं तु न्यूनाधिकापसिद्धान्तहेत्वाभासपञ्चकानामेव तत्रोद्भावनीयत्वादित्यर्थः।

जल्पवितण्डयोस्तु पक्षादिषु प्रमाणप्रश्नमात्रप्रवृत्तस्य न स्ववचनविरोधः। तत्र प्रमाणेनोत्तरमनिष्टमशक्यं च। अप्रमाणेनैव तूत्तरे स्ववचनेनैव भङ्गः। मदुक्तेषु पक्षादिषु प्रमाणं नास्तीति स्वयमेव स्वीकारात्। अनुत्तरे त्वप्रतिभैवेति।

कल्पलता- ननु न त्वया समं तत्त्वनिर्णयार्थमहं प्रवृत्तः किन्तु विजयार्थमेव। तत्र च स्वचनविरोधेनाप्रतिभया वा निगृहीत एवासीत्यत आह जल्पेति। अनिष्टमिति। शशविषाणादेरपि प्रामाणिकत्वप्रसङ्गादित्यर्थः। तत्र च स्ववचनविरोधमङ्गीकृत्यापि प्रमाणमवश्यं प्रष्टव्योऽसि तत्र चोत्तरानुत्तरयोस्त्वमेव निग्राह्य इत्यर्थः। एतदेवाह मदुक्तेष्विति।

यदि च व्यवहारस्वीकारे विरोधपरिहारः स्यात्, असौ स्वीक्रियेतापि। न त्वेवम्, न खलु सकलव्यवहाराभाजनं च तन्निषेधव्यवहारभाजनं चेति वचनं परस्परमविरोधि।

कल्पलता- नन्वलीके स्ववचनविरोधभयेन मूकत्वमङ्गीकृत्याप्रतिभा स्वीकृता। व्यवहार एव कथं तत्र नाङ्गीकृत इत्यत आह यदि चेति। सकलविधिनिषेधव्यवहाराभाजनेऽलीके व्यवहारस्वीकारेऽपि विरोधस्य तादवस्थ्यादित्यर्थः। एतदेवाह न खल्विति।

विधिव्यवहारमात्राभिप्रायेणाभाजनत्ववादे कुतो विरोध इति चेत्, हन्त सकलविधिनिषेधव्यवहाराभाजनत्वेन किञ्चिद्व्यवह्रियते न वा उभयथापि स्ववचनविरोधः। उभयथाप्यवस्तुनैव तेन भवितव्यम्। वस्तुनः सर्वव्यवहारविरहानुपपत्तेः।

कल्पलता- ननु येन सकलव्यवहाराभाजनत्वमलीकस्याङ्गीक्रियते, तस्य तव निषेधव्यवहारं मया क्रियमाणं निषेधः स्यात् स्ववचनविरोधः। मया तु विधिव्यवहाराभाजनत्वमात्रमङ्गीक्रियते तत्र। तथा च सत्त्वक्षणिकत्वादिनिषेधव्यवहारं कुर्वतो मम कुतः स्ववचनविरोध इत्याह विधीति। विधिव्यवहारमात्रेति वदता त्वया विधिनिषेधव्यवहाराभाजनत्वेन न किञ्चदङ्गीक्रियत इति मात्रपदस्वरसात्। तथा प्रतीयते च तावतापि तव स्ववचनविरोध एवेति विकल्पतो दर्शयति हन्तेति। उभयथेति व्यवहाराव्यवहारयोरित्यर्थः। उभयथापीति। सकलविधिनिषेध-व्यवहाराभाजनत्वव्यवहारो यस्मिन् धर्मिणि तदवस्तु कथं न स्यात्। यदि च

सकलव्यवहाराभाजनत्वेन व्यवह्रियते, तदा सकलव्यवहाराभाजनत्वं क्वापि प्रसिद्धं प्रतिषिध्येत। तथा च यत् प्रतीतं तदेवावस्तु कथं न स्यादित्यर्थः। उभयमभिप्रेत्याह वस्तुन इति।

नेति पक्षे सकलविधिनिषेधव्यवहारविरहीत्यनेनैव व्यवहारेण विरोधात्। अव्यवहृतस्य निषेद्धुमशक्यत्वात्। व्यवह्रियत इति पक्षेऽपि विषयस्वरूपपर्यालोचनयैव विरोधात्। न हि सर्वव्यवहाराविषयश्च व्यवह्रियते चेति।

कल्पलता- नेतिपक्ष इति। विधिनिषेधव्यवहारविरहित्वस्य निषेधस्य प्रतीत्यर्थं तदाश्रयप्रतीतेरावश्यकत्वात्। तच्चालीकमेवेत्यर्थः। **अव्यवहृतस्येति।** अप्रतीतस्येत्यर्थः। **व्यवह्रियत इति।** सकलविधिनिषेधव्यवहाराभाजनं च व्यवह्रियते चेति विषयस्वरूपमेव तथोपस्थितम् येन स्फुटतरः स्ववचनविरोध इत्यर्थः। एतदेवाह **नहीति।**

यदि चावस्तुनो निषेधव्यवहारगोचरत्वं विधिव्यवहारगोचरतापि किं न स्यात्, प्रमाणाभावस्योभयत्रापि तुल्यत्वादिति। बन्ध्यासुतस्यावक्तृत्वेऽचेतनत्वादिकमेव प्रमाणं, वक्तृत्वे तु न किञ्चिदिति चेन्न। तत्रापि सुतत्वस्य विद्यमानत्वात्। न हि बन्ध्यायाः सुतो न सुतः, तथा सति स्ववचनविरोधात्। वचनमात्रमेवैतत् न तु परमार्थतः सुत एवासाविति चेन्न। अचैतन्यस्याप्येवंरूपत्वात्। चेतनादन्यत् स्वभावान्तरमेव ह्यचेतनमित्युच्यते। चैतन्यनिवृत्तिमात्रमेवेह विवक्षितम्, तच्च सम्भवत्येवेति चेन्न। तत्राप्यसुतत्वनिवृत्तिमात्रस्यैव विवक्षितत्वात्।

कल्पलता- यथा चालीके सत्त्वं क्षणिकत्त्वं च व्यतिरेकसिद्ध्यर्थं निषिध्यते तथा तयोर्विधिरेव कथं न क्रियते विधिवन्निषेधस्यापि प्रमाणाधीनत्वात्। निषेधव्यवहारे प्रमाणं शङ्कते **बन्ध्यासुतस्येति।** अत्राश्रयासिद्धिः स्वरूपासिद्धिश्च द्वयोरपि प्रमाणाविषयत्वादिति यद्यपि, तथापि परपरिहासाय सत्प्रतिपक्षमाह **तत्रापीति।** वक्तृत्वेऽपीत्यर्थः। स्वरूपासिद्धिं निरस्यति **न हीति। तथा सतीति।** असुतत्वे सतीत्यर्थः। बन्ध्यासुतो न वक्तेति वदता त्वयैव तत्सुतत्वाभ्युपगमादिति भावः। **वचनमात्रमिति।** अर्थशून्यमित्यर्थः। त्वया तु साधनत्वेनोपात्तं सुतरां न वचनमात्रं भवितुमर्हतीति स्वरूपासिद्धिरिति भावः। पर्युदासाभिप्रायेणाह **अचैतन्यस्यापीति।** पर्युदासमेव विवृणोति **चेतनादिति।** तथा च तवापि स्वरूपासिद्धिरेवेति भावः।

प्रसज्यप्रतिषेधाभिप्रायेण शङ्कते चैतन्येति। तथा चाभावस्यापि तुच्छत्वातुच्छत्वे च तत्संभवान्न स्वरूपासिद्धिरिति भावः। तत्रापीति। अस्मत्प्रयोगेऽपीत्यर्थः। त्वन्मतेऽन्यापोहस्यैवापदार्थत्वादिति भावः।

असुतत्वनिवृत्तिमात्रस्य स्वरूपेण वृत्तिज्ञप्त्योरसामर्थ्ये समर्थमर्थान्तरमध्यवसेयमनन्तर्भाव्य कुतो हेतुत्वमिति चेन्न। अचैतन्येऽप्यस्य न्यायस्य समानत्वात्। व्यावृत्तिरूपमपि तदेव गमकं यदतस्मादेव यथा शिंशपात्वम्! बन्ध्यासुतस्त्वसुतादिव घटादेः सुतादपि देवदत्तादेर्व्यावर्तते। अतो न हेतुरिति चेत्, नन्विदमचैतन्यमपि अस्यैवंरूपमेव। नहि बन्ध्यासुतश्चेतनादिव देवदत्तादेरचेतनादिकाष्ठादेर्न व्यावर्तते।

कल्पलता- असुतत्वनिवृत्तेरलीकत्वेन वक्तृत्वं साधयितुमयोग्यतयाध्यव सेयमालोचनीयवस्तुस्वरूपमन्तरेण हेतुत्वं न संभवतीत्याशङ्कते असुतत्वेति। परिहरति अचैतन्येऽपीति। व्यावृत्तिरूपतया द्वयोरपि हेत्वोरपि विशेष इत्यर्थः। अस्य न्यायस्येति। व्यावृत्तिरूपतया तुच्छत्वरूपस्येत्यर्थः। बन्ध्यासुतस्त्विति। बन्ध्यासुतनिष्ठं सुतत्वमित्यर्थः। तेन न पूर्वविरोधः। अतस्मादेव स्वावच्छिन्न-प्रतियोगिकान्योन्याभाववत एवेत्यर्थः। यथा शिंशपात्वमिति। शिंशपात्वं हि पनसादेरेव व्यावर्तते, न तु शिंशपातोऽपीत्यर्थः। तथा च तन्मते व्यावृत्तिरूपतया शिंशपात्वादिवत् सद्धेतुत्वम्, तदुभयव्यावृत्तितयाऽतितुच्छत्वमिति भावः। अतम्मादिति विपक्षादेवेत्येके। तथा च सपक्षविपक्षोभयव्यावृत्ततयाऽसाधारण्यमिति भावः। परोक्तेऽपि हेतौ दोषमिममतिदिशति नन्विदमिति। नहि बन्ध्यासुत इति। बन्ध्यासुतनिष्ठमचेतनत्वमित्यर्थः। बन्ध्यासुते यदचेतनत्वं वर्त्तते तदेव न काष्ठादौ वस्तुनि। तथा च तुल्यमसाधारण्यमिति भावः।

वक्तृत्वं वस्त्वेकनियतो धर्मः, स कथमवस्तुनि साध्यो विरोधादिति चेत्, स पुनरयं विरोधः, कुतः प्रमाणात् सिद्धः। किं वक्तृत्व-विविक्तस्यावस्तुनो नियमेनोपलम्भात्। आहोस्विद् वस्तुविविक्तस्य वक्तृत्वस्यानुपलम्भादिति। न तावदवस्तु केनापि प्रमाणेनोपलम्भगोचरः। तथात्वे वा नावस्तु नाप्युत्तरः समानत्वात्। नहि वक्तृत्वमिव अवक्तृत्वमपि वस्तु विविक्तं कस्यचित् प्रमाणस्य विषयः।

कल्पलता- स्वरूपासिद्धिं निरस्य बाधमाशङ्क्य साम्यापादनेन निराकरोति वक्तृत्वमिति। विविक्तस्य शून्यस्य यदलीकं तन्न वक्तृ इति तावन्न

केनचित्प्रमाणेनोपलभ्यते यतो विरोधः स्यादित्यर्थः। **आहोस्विदिति।** वस्तुशून्ये वक्तृत्वं क्वापि नोपलब्धमित्ययं विरोध इत्यर्थः। तदयमर्थः। किं वक्तृशून्यस्यालीकस्य नियमेनोपलम्भाद्विरोध उत वस्तुशून्ये वक्तृत्वस्यानुपलम्भाद्विरोध इत्यर्थः। आद्य आह। **न तावदिति।** द्वितीय आह समानत्वादिति। अत्रापि प्रमाणापेक्षया आवश्यकत्वादित्यर्थः। अनुपलम्भ-स्याप्यभावग्राहकत्वे प्रमाणमेव मूलम्। अनुपलम्भमात्रं तु केवलमतन्त्रं स्वादृष्टि-सर्वादृष्टिविकल्पकरम्बितत्वादिति भावः।

तद्विविक्तविकल्पमात्रं तावतदस्तीति चेत्, तत्संसृष्टविकल्पनेऽपि को वारयिता। ननु वक्तृत्वं वचनं प्रति कर्तृत्वं तत् कथमवस्तुनि तस्य सर्वसामर्थ्यविरहलक्षणत्वादिति चेत् अवक्तृत्वमपि कथं तत्र तस्य वचनेतरकर्तृत्वलक्षणत्वादिति। सर्वसामर्थ्यविरहे वचनसामार्थ्यविरहो न विरुद्ध इति चेत्, अथ सर्वसामर्थ्यविरहो बन्ध्यासुतस्य कुतः प्रमाणात् सिद्धः? अवस्तुत्वादेवेति चेत्, नन्वेतदपि कुतः सिद्धम्? सर्वसामर्थ्य-विरहादिति चेत्, सोऽयमितस्ततः केवलैर्वचनैर्निर्धनाधमर्णिक इव साधून् भ्रामयन् परस्पराश्रयदोषमपि न पश्यति।

कल्पलता- तद्विविक्तेति। बन्ध्यासुतो न वक्तेति वस्तु विवेकेनावक्तृत्वं गृह्यत एवेत्यर्थः। **तत्संसृष्टेति।** बन्ध्यासुतो वक्तेति वक्तृत्व-संसृष्टमप्यवेदनमप्यसत्ख्यातिरूपं त्वन्मते स्यादेवेत्यर्थः। प्रत्यक्षमाने बाधकमाशङ्कते नन्विति। पर्युदासपक्षे तवापि तुल्यमिदमाह **अवक्तृत्वमपीति।** स्वसाध्ये प्रसज्यप्रतिषेधमासृत्याह अवक्तृत्वं वचनसामर्थ्याभाव एव मया साध्यत इति न विरोध इति भावः। सर्वसामर्थ्यविरहात् वचनसामर्थ्यविरहस्तदा स एव कुतः सिद्ध इत्याह अथेति। एतदपीति। अवस्तुत्वमपीत्यर्थः। **केवलैरिति।** अर्थशून्यैरित्यर्थः। परस्पराश्रयेति। अवस्तुत्वात् सामर्थ्यविरहस्तत एव चावस्तुत्वमिति प्रवसति।

क्रमयौगपद्यविरहादिति चेन्न, तद्विरहसिद्धावपि प्रमाणानुयोग स्यानुवृत्तेः। सुतत्वे च परामृष्यमाणे तदविनाभूतसकलवक्तृत्वादि-धर्मप्रसक्तौ कुतः क्रमयौगपद्यविरहसाधनस्यावकाशः, कुतस्तरां चावस्तुत्वसाधनस्य कुतस्तमां चावक्तृत्वादिसाधनानाम्। तस्मात् प्रमाणमेव सीमा व्यवहारनियमस्य तदतिक्रमे त्वनियम एवेति।

कल्पलता- क्रमयौगपद्यविरहात् सामर्थ्यविरहे साध्ये क्वान्योन्याश्रय इत्यर्थ:। न तद्विरहेति। क्रमयौगपद्यविरहात् सर्वसामर्थ्यविरह: ततश्चावस्तुत्वम् अवस्तुत्वत्वाच्च क्रमयौगपद्यविरह इति चक्रकमिति भाव:। सुतत्वेनैव हेतुना वक्तृत्वं क्रमयौगपद्यं वस्तुत्वं च सर्वमेकवारमेव मया साधनीयमिति त्वत्साधनानामनवसरपराहतत्वमित्याह सुतत्वे चेति। एवं प्रतिवन्दिमुखेन परमतं दूषयित्वा स्वमतमुपसंहरति तस्मादिति।

न ह्यप्रतीते देवदत्तादौ स किं गौर: कृष्णो वेति वैयात्यं विना प्रश्न:। तत्रापि यद्येकोऽप्रतीतिपरामर्षविषय एवोत्तरं ददाति न गौर इति अपरोऽपि किं न दद्यात् कृष्ण इति। न चैवं सति काचिदर्थसिद्धि: प्रमाणाभावविरोधयोरुभयत्रापि तुल्यत्वादिति।

कल्पलता- व्यवहाराविषये सर्वविधिनिषेधव्यवहारमर्यादाविलोपमुदाहरणेन दर्शयति नहीति। वैयात्यं धाष्टर्यम्। अव्यवस्थामेव दर्शयति तत्रापीति। अर्थसिद्धिरिति। प्रश्नविषयार्थसिद्धिरित्यर्थ:।

नन्वप्रतीते व्यवहाराभाव इति युक्तम् कूर्मरोमादयस्तु प्रतीयन्त एव। न ह्येते विकल्पा: किञ्चिदर्थभेदमनुल्लिखन्त एव उत्पद्यन्ते। न च प्रमाणास्पदमेव व्यवहारास्पदमिति। तन्न युक्तम्। तथाहि शशविषाणमिति ज्ञानमन्यथाख्यातिर्वा स्यात्, असत्ख्यातिर्वा। न तावदाद्यस्ते रोचते तथा सति हि किञ्चिदारोप्यं किञ्चिदारोपविषय इति स्यात्। तथा चारोपविषय स्तत्रैवास्ति आरोपणीयस्त्वन्यत्रेति जितं *नैयायिकै:*। नापि द्वितीय: कारणानुपपत्ते:। इन्द्रियस्य ज्ञानजनने विषयाधिपत्येनैव व्यापारात्। लिङ्गशब्दाभासयोरन्यथाख्यातिमात्रजनकत्वात्। अपहस्तितस्वार्थयोश्चा सत्ख्यातिजनकत्वे शशविषाणादिशब्दात् कूर्मरोमादिविकल्पानाम प्युत्पत्तिप्रसङ्गात्, नियामकाभावात्।

कल्पलता- ननु लाघवाद् ज्ञात एव व्यवहारोऽस्तु किं प्रमितत्व-पर्यन्तेनेत्याशङ्कते नन्विति। एत इति। कूर्मरोमशशश‍ृङ्गादिगोचरा इत्यर्थ:। न चेति। गौरवादिति भाव:। भ्रमविषयत्वं प्रमाविषयत्वव्याप्यं न वेत्यसत्ख्यातौ विप्रतिपत्ति:। व्याप्यत्वव्यतिरेको निरधिकरण आकाशादौ प्रसिद्ध:, सामानाधिकरण्यविशेषस्य व्याप्तित्वात्।

यद्वा नित्यद्रव्याविषयकमिदं रजतमिति ज्ञानं विशेषणान्याव्यासज्यवृत्ति प्रतियोगिकात्यन्ताभावाप्रतियोग्यत्यन्ताभावप्रतियोगिमात्रविषयकं न वा, स्वातिरिक्तप्रमेयाविषयं न वेति विप्रतिपत्तिः। **जितमिति**। प्रमितमेव व्यवहारविषय इति वादिभिरित्यर्थः। परिशेषेण कारणाभावमेव व्यवस्थापयति **इन्द्रियस्येति**। विषयाधिपत्यं विषयसहकारिता, इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्यत्वात् प्रत्यक्षस्येत्यर्थः। आरोप्यस्यासन्निकर्षोऽपि क्वचित्सन्निकर्षो वक्तव्य एवेति भावः। ननु प्रत्यक्षाभासाभावेऽपि लिङ्गाभासाच्छब्दाभासाद्वा स्यादसत्ख्यातिरित्यत आह **लिङ्गेति**। धूलीपटले धूमारोपादसद्वह्निर्भासेत पर्वते, तत्र धूमस्य धूलीपटलस्य वह्नेश्च प्रमितत्वं क्वचिद्वाच्यमेवेत्यन्यथाख्यातिपर्यवसानमेव। एवं चानाप्तोदीरिताच्छब्दात् पदार्थो वाक्यार्थो वा प्रतीत एव भासत इत्यन्यथाख्यातिरेवेत्यर्थः। ननु स्यादेवं यदि व्याप्तिबलात् सङ्केतबलाद्वा भानं भवेन्न त्वेवमित्यत आह **अपहस्तितेति**। तिरस्कृतस्वार्थयोरित्यर्थः। लिङ्गस्य स्वार्थो व्यापको वह्न्यादिः शब्दस्य चार्थः सङ्केतविषयः तत्तिरस्कारे नियमो न स्यादिति भावः। शशविषाणशब्दादित्युपलक्षणम् शशविषाणव्याप्यत्वेन गृहीतादित्यपि द्रष्टव्यम्।

स हि सङ्केतो वा स्यात् शब्दस्वाभाव्यं वा। आद्यस्तावत् सङ्केतविषयाप्रतीतेरेव पराहतः। तत एव तत्प्रतीतावितरेतराश्रयत्वम्। पदसङ्केतबलेनैव प्रतीतौ स्वार्थापरित्यागात्। तथा चानन्विताः पदार्था एवान्विततया परिस्फुरन्तीति विपरीतख्यातिरेवानुवर्तते। स्वार्थपरित्यागे तु पुनरप्यनियमः, असामयिकार्थप्रत्यायनात्। शब्दस्वाभाव्यात् तु नियमे व्युत्पन्नवदव्युत्पन्नस्यापि तथाविधविकल्पोदयप्रसङ्गादिति।

कल्पलता- उपलक्षणविधया शब्दाभासमेव अधिकृत्य विकल्पयति **स हीति**। नियामक इत्यर्थः। सङ्केतग्रहः स्वार्थे पदं नियमयेत् स च नास्तीत्यर्थः। वाक्यार्थनियमोऽपि सङ्केतविषयाप्रतीतेरेव परास्त इति भावः। ननु शशविषाणशब्दादेव गृहीतसङ्केतस्ततो नियतमर्थं प्रतीयादित्यत आह **तत एवेति**। नन्वखण्डः शशविषाणपदार्थः कश्चिन्मास्तु शशविषाणशब्दयोः गृहीतसंकेतयोरेव सामर्थ्याद् वाक्यार्थः। कश्चिदसन्नेव भासतामित्यत आह **पदसंकेतेति**। एवं च शशसंबन्धित्वं विषाणांशे समारोप्यत इत्यन्यथाख्यातिरेवेत्यर्थः। ननु पदयोः स्वार्थस्फुरणे स्यादेवं न त्वेतदस्तीत्यत आह **स्वार्थेति**। कथमनियम इत्यत आह **असामयिकेति**।

ननु विषयाप्रतीतेः सङ्केतो मा गृह्यतां शशविषाणादिपदानामीदृश एव स्वभावभेदो येन नियतार्थप्रतीतिः स्यादित्यत आह शब्देति। एवं सति सर्वेषां पदानामेवं स्वाभाव्ये सङ्केतग्रहोपयोगो न स्यादेवेत्यर्थः।

वासनाविशेषादिति चेत्, अथासदुल्लेखिनः प्रत्ययस्य वासनैव कारणम् उत वासनापि। न तावदाद्यः, शशविषाणादिप्रत्ययानां सदातनत्वप्रसङ्गात्। कदाचित् प्रबोधात् कदाचिदिति चेत् न, प्रबोधोऽपि सहकार्यन्तरं वा अतिशयपरम्परापरिपाको वा। आद्ये वासनैवेति पक्षानुपपत्तिः। द्वितीयेऽपि यद्यर्थान्तरप्रत्यासत्तेस्तदा पूर्ववत्। स्वसन्ततिमात्राधीनत्वे तु बाह्यवादव्याघातः नीलादिबुद्धीनामपि वासनापरिपाकादेवोत्पादात्। वासनापीति पक्षे तु तदन्योऽपि हेतुः कश्चिद्वक्तव्यः, स च विचार्यमाणः पूर्वन्यायं नातिवर्तत इति।

कल्पलता- वासनाविशेषादित्यनन्तरं नियमः स्यादिति शेषः। सदातनत्वप्रसङ्गादिति। अपेक्षणीयान्तराभावादिति भावः। कदाचिदिति। शशविषाणादिप्रत्यया इति विपरिणामेनानुषङ्गः। अतिशयेति। अतिशयो वासना तत्परम्परायाः। स कश्चित्परिपाको येन शशविषाणादिप्रत्ययोत्पत्तिरित्यर्थः। परिपाकोऽपि वासनाया यद्यर्थान्तरप्रत्यासत्त्यधीनस्तदा वासनैवेति पक्षानुपपत्तिरेवेत्याह यद्यर्थान्तरेति। ननु स्वसन्ततिमात्राधीन एव तत्परिपाको न तु तत्रापि सहकार्यन्तरापेक्षेत्यत आह स्वसन्ततीति। एवं सति नीलादिविकल्पः कादाचित्कत्वमपि वासनापरिपाकादेव स्यादित्यर्थः। नीलादिविकल्पकादाचित्कत्वेन त्वया नीलादीनि बाह्यानि स्वीक्रियन्ते। तच्च कादचित्कत्वं यदि वासनामात्राधीनमेव तदा गतं बाह्यनीलादिस्वीकारव्यसनेनेति भावः। पूर्वन्यायमिति प्रत्यक्षलिङ्गशब्दाभासानां तत्र निराकृतत्वात्। सहकार्यन्तराभावादित्यर्थः।

न च शशविषाणादिशब्दानामसदर्थैः सह सम्बन्धावगमोऽपि। तथाहि परबुद्धीनामनुल्लेखात् तद्विषयस्याप्यनुल्लेख एव। न चार्थक्रिया-विशेषोऽप्यस्ति, यतो विषयविशेषमुन्नीय तत्र सङ्केतो गृह्यताम्, न च सङ्केतयितुरेव वचनात् तदवगतिः। तद्विषयाणां सर्वेषां वचनानाम-प्रतीतविषयत्वेनागृहीतसमयतया अप्रतिपादकत्वात्।

कल्पलता- निराकृतमप्यर्थं विशिष्य निराकरणार्थमाह न चेति। ननु शशविषाणादिपदप्रयोक्तुरवश्यं तद्विषयज्ञानमस्ति। अन्यथा प्रयोगानुपपत्तेरिति

श्रोतुस्तत्र सङ्केतधीः स्यादित्यत आह परेति। तद्बुद्धेः परोक्षतया तद्विषयस्य विशिष्यानवगमादित्यर्थः। ननु प्रयोजकवृद्धोदीरितात् तु शशविषाणादिशब्दात् प्रयोज्यवृद्धस्य व्यवहारं दृष्ट्वा तटस्थस्य व्युत्पत्तिः स्यादत आह न चेति। अर्थक्रिया नयनानयनादिरूपा। ननु यथा कम्बुग्रीवादिमानर्थो घटपदवाच्य इति यथा सङ्केतग्रहस्तथात्रापि स्यादित्यत आह न चेति। येन पदकदम्बेन योऽर्थ उपनेतव्यः सोऽप्यपरिचितार्थ एवेत्यर्थः।

न च शशविषाणमुच्चारयतः कश्चिदभिप्रायो वृत्त इति तद्विषयोऽस्य वाच्य इति सुग्रहः समय इति वाच्यम्। न ह्येवमाकारः समयग्रहः। गां बधानेत्युक्ते अप्रतीतशब्दार्थस्याप्यभिप्रायमात्रप्रतीतौ समयग्रहप्रसङ्गात्। न च विशेषान्तरविनाकृतः कल्पनामात्रविषयोऽस्य वाच्य इति साम्प्रतम्, घटकूर्मरोमादीनामपि तदर्थत्वप्रसङ्गात्।

कल्पलता- ननु शशविषाणादिपदमुच्चारयितुर्यत्र तात्पर्यं तदेव तदर्थ इति सङ्केतग्रहः स्यादित्यत आह न च शशविषाणेति। परबुद्धीनामित्यत्र ज्ञानविषयतया शङ्कितमिह तु तात्पर्यविषयतयेत्यपौनरुक्त्यम्। न ह्येवमाकारः समयग्रहः शाब्दव्यवहारोपयोगीति शेषः। अत्र हेतुमाह गां वधानेत्युक्त इति। ननु शशविषाणादिशब्दानां विशेषविनाकृतो निरुपाख्योऽर्थो वाच्य इति सर्वैरेव प्रतीयते। तथा च कथमत्र सङ्केतग्रहो दुःशक इत्याह न च विशेषेति। घटकूर्मरोमादीनामिति। घटरोमकूर्मरोमादीनामित्यर्थः। यद्वा यन्मते घटस्यापि काल्पनिकत्वं तन्मतमाश्रित्योक्तम्।

न च सर्वे प्रतिपत्तारः स्वस्ववासनयाऽसदर्थशब्दसम्बन्ध प्रतिपत्तिभाज इति साम्प्रतम्। परस्परवार्तानभिज्ञतया अपरार्थत्वप्रसङ्गात्। न हि स्वयं कृतं समयमग्राहयित्वा परो व्यवहारयितुं शक्यते। न च व्यवहारोपदेशावन्तरेण ग्राहयितुमपि। न च गां वधानेतिवत् शशविषाणपदार्थे व्यवहारः। न चायमसावश्व इतिवदुपदेशः। न च यथा गौस्तथा गवय इतिवदुपलक्षणातिदेशः। न चेह प्रभिन्नकमलोदरे मधूनि मधुकरः पिबतीतिवत् प्रसिद्धपदसामानाधिकरण्यम्।

कल्पलता- ननु वासनयैवोपस्थितेऽर्थे श्रोतुः सङ्केतग्रहः स्यादित्यत आह न चेति। वक्तृश्रोत्रोः समानसङ्केताज्ञानात् परार्थं तत्प्रयोगो न स्यादित्यर्थः। अन्यथा घटाभिप्रायेण पटपदमपि प्रयुञ्जीतेति भावः। ननु स्वयमेव क्वचिदर्थे सङ्केतं

परिकल्प्य शशविषाणादिपदप्रयोग: स्यादित्यत आह न हीति। स्वयं सङ्केतकल्पनेऽपि परस्य तदज्ञानात् परार्थं प्रयोगानुपपत्तेरित्यर्थ:। हिशब्दश्चार्थे शङ्कान्तरसमुच्चयार्थ:। तर्हि तदर्थे श्रोतापि व्युत्पाद्यताम्। तथा च तदर्थं प्रयोग: स्यादत आह न च व्यवहारेति। तर्हि व्यवहारादेव परो व्युत्पाद्यतामत उक्तं प्रपञ्चयति न च गामिति। तदर्थे नयनादिव्यवहाराभावादित्यर्थ:। तर्ह्युपदेशादेव व्युत्पाद्यतां पर इत्यत आह न चायमिति। तद्गोचरशब्दानामप्यगृहीत-समयत्वादित्यर्थ:। ननु साक्षादुपदेशासम्भवेऽप्युपमानमनुमानं वा द्वारीकृत्योपदेश: स्यादत आद्यमाशङ्क्य निराकरोति न च यथेति। प्रवृत्तिनिमित्तस्य गवयत्वस्योपलक्षणं गोसादृश्यं तदतिदेशस्तत्कथनमित्यर्थ:। अनुमानमाशङ्क्य निराकरोति न चेहेति। अयं प्राणी मधुकरशब्दवाच्य: प्रभिन्नकमलोदरे मधुपानकर्तृत्वात् यन्नैवं तन्नैवं यथा घट इत्यर्थ:। शशविषाणादिपदार्थस्य मधुपानादिवदसाधारणक्रियाविरहादिति भाव:।

तदमू: शशविषाणादिकल्पना: नासत्ख्यातिरूपास्तथात्वे कारणाभावात्, मूकस्वप्नवदासां व्यावहारिकत्वप्रसङ्गाच्च। तस्मादन्यथाख्यातिरूपा एवेति। नैतदनुरोधेनाप्यवस्तुनो निषेध-व्यवहारगोचरत्वमिति। भवतु वासत्ख्यातिस्तथापि न ततो व्यतिरेक: प्रामाणिक:।

कल्पलता- प्रकृतमुपसंहरति तदमूरिति। न च सर्वे प्रतिपत्तार: स्वस्ववासनयेत्यादौ दूषणमुक्तं सिंहावलोकितन्यायेन प्रकारान्तरेण स्मारयति मूकेति। स्वप्नेति। असत्ख्यातिरूपताव्यतिरेकमुपसंहृत्यान्यथाख्याति-रूपतामुपसंहरति तस्मादिति। तदनुरोधेनापीति शशविषाणादिप्रत्ययानुरोधेना पीत्यर्थ:। ननु सत्त्वक्षणिकत्वयो: प्रमितत्वात्तद्व्यतिरेकावपि प्रमितावेव। तथा चाप्रामाणिकेऽप्याश्रये व्यतिरेकग्रहोऽस्तु यदाह *कीर्ति:*।

तस्माद्वैधर्म्यदृष्टान्ते नेष्टोऽवश्यमिहाश्रय:।
तदभावेऽपि तन्नेति वचनादेव तद्गते:।। इति।

अतोऽभ्युपगम्यापि निरस्यति भवतु वेति। असत्ख्यातिराश्रयांशे। यद्वा ननु *नैयायिकै*रपि शुक्तिरजततादात्म्यस्यासत एव भानमङ्गीक्रियते इत्यत आह भवतु वेति। यद्यपि शुक्तिरजततादात्म्यं च तत्र भासते तच्च सर्वं सदेव। न चासद्विषयत्वं भ्रमत्वे तन्त्रं, किं तु प्रकारवैयधिकरण्यमात्रं तथापि सदुपरक्तमसद्वि

भासत इति पक्षेऽभ्युपगमवादोऽयम् न तत इति। न तत्रेत्यर्थः।

तथाहि कोऽयं व्यतिरेको नाम, यद्यतो व्यतिरिच्यते तस्य तत्राभावो वा, तदभावस्वभावत्वं वा। तत्र न तावत् क्रमयौगपद्ययोः शशविषाणे अभावः प्रमाणगोचरः, वृक्षरहितभूभृत्कटकवत् क्रमयौगपद्यरहितस्य शशविषाणस्य प्रमाणागोचरत्वात्।

कल्पलता- यद्यतो व्यतिरिच्यत इति। व्यतिरिच्यते भिद्यते। यथा भूतलाद् भिन्नस्य घटस्याभावो न भूतल इति स्वमते। *प्राभाकरमते* त्वाह तदभावेति। तथा च भूतलादेरधिकरणस्यैव घटाद्यभावस्वरूपत्वमित्यर्थः। अधिकरणभिन्नो वाऽभावोऽधिकरणस्वभावोऽधिकरणस्वरूपं वेति विकल्पार्थः। अपव्याख्यानमन्यत्। उक्तिरेतादृशी परनयेन। न तावदिति। पर्वतनितम्बे यथा वृक्षाभावो योग्यानुपलम्भेन गृह्यते न तथा व्यतिरेकग्रहः प्रकृते सम्भवतीत्यर्थः।

नापि क्रमयौगपद्याभावरूपत्वं शशविषाणस्य प्रामाणिकम्। घटाभाववच्छशविषाणस्य प्रमाणेनानुपलम्भात्। घटाभावोऽपि न प्रमाणगोचर इति चेत् न, तस्य तद्विविक्तेतरस्वभावस्यापि प्रमाणत एव सिद्धेः, असिद्धौ वा तत्राप्यव्यवहार एव।

कल्पलता- द्वितीयं निरस्यति नापीति। स्यादेवं यदि शशविषाणे क्रमयौगपद्याभाव इति प्रतीतिः केनापि प्रमाणेन स्यान्न त्वेवमित्यर्थः। घटाभाववदिति व्यतिरेकदृष्टान्तः। अधिकरणस्वभावत्वेऽप्यभावस्य प्रतीतिरेतादृश्येवाभ्युपेयेति भावः। ननु यथा प्रमाणविषयस्यापि घटाभावस्य व्यवहारः सर्वजनीनस्तथा क्रमयौगपद्याभावव्यवहारोऽपि स्यादित्यभिप्रायेण शङ्कते घटाभावोऽपीति। परिहरति तस्येति। घटविविक्तं घटभिन्नं भूतलादि। तदतिरिक्तस्वभावस्य घटाभावस्येत्यर्थः। यथाधिकरणातिरिक्तो घटाभावः प्रत्यक्षत उपलभ्यते। नैवं क्रमयौगपद्याभाव इति भावः। ननु भूतले घटो नास्तीति प्रतीतिरप्यसत्ख्यातिरेवेत्यत आह असिद्धौ वेति। तत्रापि घटाभावेऽपि। प्रमितस्यैव व्यवहार्यत्वादिति भावः।

घटस्तावत् स्वाभावविरहस्वभावः प्रमाणसिद्धः। तादूप्येण कदाचिदप्यनुपलम्भात्। एतावतैव तदभावोऽपि घटविरहस्वभावः सिद्ध इति चेन्न, घटभावस्य तदभावविरहस्वभावत्वानभ्युपगमात्। न चान्यस्य स्वभावे प्रमाणगोचरे तदन्योऽपि सिद्धः स्यादतिप्रसङ्गात्।

कल्पलता- प्रमाणाविषयस्यापि घटाभावस्य व्यवहार्यत्वमुपपादयति घटस्तावदिति। ताद्रूप्येणेति। स्वाभावरूपतयेत्यर्थः। न हि भवति घटाभाव एव घट इति प्रतीतिरिति भावः। घटविरहस्वभावः सिद्ध इति। न तु स्वातन्त्र्येण प्रमित इति रहस्यम्। गूढाभिसन्धिराह घटभावस्येति(?)। क्वचिद्घटाभावस्येति पाठः। स च घटश्चासावभावश्चेति कथञ्चिदुपपाद्यः अभावस्याप्रामाणिकत्वे घटस्य स्वाभावविरहस्वाभाव्य एव विप्रतिपद्यामह इति भावः। दोषान्तरमाह न चेति। तथा च स्तम्भे प्रवर्त्तमानं प्रमाणं कुम्भमपि साधयेदित्यर्थः।

एवम्भूतावेव घटतदभावौ यदेकस्य परिच्छित्तिरपरस्य व्यवच्छित्तिरिति चेत् न, घटवद्घटाभावस्यापि प्रामाणिकत्वानभ्युपगमे स्वभाववादानवकाशात्। प्रमाणसिद्धे हि वस्तुनि स्वभावावलम्बनं न तु स्वभाववादावलम्बनेनैव वस्तुव्यवस्थितिरिति भवतामेव तत्र तत्र जयदुन्दुभिः।

कल्पलता- अतिप्रसङ्गं परो व्युदस्यति एवंभूतावेवेति। प्रतियोगिनि प्रवृत्तं प्रमाणमनुयोगिनमपि विषयीकरोत्यत्र प्रतियोग्यनुयोगिभाव एव नियामक इति नातिप्रसङ्गो न वाऽभावस्य स्वतन्त्रप्रमाणविषयत्वमिति भावः। घटवदिति। व्यतिरेकदृष्टान्तः। स्वभावो हि स्वरूपं तच्च निःस्वरूपस्य प्रमाणपथानवतीर्णस्य न सम्भवतीत्यर्थः। त्वयापि प्रमाणसिद्ध एव स्वभावावलम्बनमङ्गीकर्तव्यमित्याह प्रमाणसिद्धे हीति।

तत् किमिदानीं स्वाभावविरहस्वभावो घटः प्रमाणान्नैव सिद्धः। तव दृष्ट्या एवमेतत्। घटो हि यादृक् तादृक् स्वभावस्तावत् प्रमाणपथमवतीर्णस्तस्य तु यदि परमार्थतोऽभावोऽपि कश्चित् स्यात्, स्यात् परमार्थतः सोऽपि तद्विरहस्वभाव इति। तथैव प्रमाणेनावेदितः स्यात्। न चैतदप्यभ्युपगम्यते भवता। तस्माद् घटवत् तदभावस्यापि प्रामाणिकत्वेनैवानयोः परस्परविरहलक्षणव्यतिरेकसिद्धिः। अप्रामाणिकत्वे त्वनयोरपि न तथाभाव इति शशविषाणादिष्वपीयमेव गतिः।

कल्पलता- तत्किमिति। तथा सति स्वाभावात्मैव घटः स्यादिति साक्षेपाभिधानाभिप्रायः। तव दृष्ट्येति। दृष्टिर्दर्शनम्। त्वद्दर्शने चेदभावो न प्रामाणिकस्तदा तद्विरहस्वभावो घटोऽपि न प्रामाणिकः स्यादित्यर्थः। यादृक्तादृक्स्वभाव इति। अवयवी परमाणुस्वरूपो वेत्यर्थः। तथैवेति।

स्वाभावविरहस्वभावत्वेनेत्यर्थः। उभयोः प्रामाणिकत्वमुपसंहरति तस्मादिति। अनयोर्घटतदभावयोः। न चानयोरन्योन्यापेक्षायामन्योन्याश्रयः। घटत्वेन घटे गृह्यमाणे तद्विरहानपेक्षणात्। तद्विरहस्यापि प्रमेयत्वादिना ज्ञाने घटानपेक्षणादिति भावः। न तथाभाव इति। नान्योन्यविरहस्वभावत्वमित्यर्थः। शशविषाणादिष्वपीति। शशविषाणादीनां प्रामाणिकत्वे परतन्त्रक्रमयौगपद्यविरहनिरूपणं नान्यथेत्यर्थः। तथा च प्रमाविषयस्यैव व्यवहारविषयत्वमिति यदुपक्रान्तं तत्सिद्धमिति भावः।

ननु काल्पनिकरूपसम्पत्तिरेवास्त्वनुमानाङ्गम्। तन्न, तस्याः सर्वत्र सुलभत्वात्। ननु पक्षसपक्षविपक्षास्तावद्वस्तुभेदेन द्विरूपाः। तत्र ये कल्पनोपनीतास्तत्र काल्पनिका एव पक्षधर्मत्वान्वयव्यतिरेकाः। प्रमाणोपनीतेषु तु प्रामाणिका एवेति विभागः। तदिह काल्पनिकान्निरग्नेर्यद्यपि प्रमेयत्वादेर्व्यावृत्तिः काल्पनिकी सिद्धा, तथापि प्रामाणिकाज्जलह्रदादेः प्रामाणिक्येवैषितव्या। सा च न सिद्धेति कुतस्तस्य हेतुत्वम्। एवं प्रामाणिके शब्दे पक्षीकृते प्रामाणिक एव हेतुसद्भावो वक्तव्यः। न चासौ चाक्षुषत्वस्यास्तीति सोऽपि कथं हेतुः। एवं कृतकत्वस्यापि वस्त्वेकनियतस्य धर्मस्य वास्तव एवान्वयो वक्तव्यः। वस्तुनो विपक्षाच्च वास्तव एव व्यतिरेकः।

कल्पलता- ननु सत्त्वक्षणिकत्वयोर्व्यतिरेकः कल्पनया तावदुपनीतः, एतावतैव तदनुमानं प्रवर्त्तताम्, किं व्यतिरेकस्य प्रामाणिकत्वग्रहेणेत्याह नन्विति। पर्वतो वह्निमान् प्रमेयत्वान्महानसवत्। शब्दोऽनित्यश्चाक्षुषत्वात् घटवत्। नित्यः शब्दः कृतकत्वादित्यत्र व्यभिचारासिद्धिविरोधानां यथाक्रमं हेत्वाभासतयाऽसाधकत्वं त्वया यदुच्यते तदपि न स्यादित्याह तस्या इति। काल्पनिकरूपसम्पत्तेः सर्वत्रोदाहृतेषु सुलभत्वादित्यर्थः। ननु निरग्निकात् कूर्मरोमादेर्विपक्षात् प्रमेयत्वव्यावृत्त्या विपक्षाद् व्यावृत्तिः काल्पनिके शब्दे चाक्षुषत्वसत्त्वेन पक्षसत्त्वं काल्पनिके नित्ये गगनारविन्दे कृतकत्वसत्त्वादन्वयो नित्यत्वकृतकत्वयोरिति काल्पनिकी रूपसम्पत्तिर्यथा त्वयोच्यते। तथा ह्रदे विपक्षे प्रमेयत्वस्य सत्त्वाद्विपक्षगामित्वं वास्तवे शब्दे चाक्षुषत्वस्यासत्त्वादपक्षवृत्तित्वं नित्ये वस्तुनि कृतकत्वस्यावृत्तेर्विरुद्धत्वमत उक्तानां हेतूनां कथं गमकत्वं स्यादित्याशङ्कते नन्विति।

न च तस्य तौ स्तः, तत् कथमसावपि हेतुरिति। प्रलपितमेतत्। नहि नियामकमन्तरेण सम्पदं प्रति कल्पना त्वरते, विपदं प्रति तु विलम्बत इति शक्यं वक्तुम्। तथा च निरग्निकमपि कूर्मरोम सधूममिति कल्पनामात्रेण विपक्षवृत्तित्वात् धूमोऽपि नाग्निं गमयेत्। वास्तव्यां रूपसम्पत्तौ किमनेन काल्पनिकेन दोषेणेति चेत्, तर्हि वास्तव्यामसम्पतौ किं काल्पनिक्या तयेति समानं विरोधाविरोधौ। विशेष इति चेत् कुत एषः? उभयोरेकत्र वस्त्ववस्तुत्वादन्यत्रावस्तुत्वादिति चेत्, तत् किं काल्पनिकोऽपि धूमो वस्तुभूतो येन कूर्मरोम्णस्तेन सह विरोधः स्यात्। क्वचिद्वस्तुभूत इति चेत् निर्धूमत्वमपि क्वचिद्वस्तुभूतमिति तेनापि विरोध एव। तस्माद् यथा काल्पनिकी विपत्तिर्न दोषाय तथा काल्पनिकी सम्पत्तिरपि न गुणायेति व्यतिरेकभङ्गः।

कल्पलता- परिहरति प्रलपितमेतदिति। प्रलापोऽनर्थकं वचः। तथा च त्वदभिधानमर्थशून्यमित्यर्थः। तदेव दर्शयति न हीति। क्षणिकत्वसत्त्वयोरलीके व्यतिरेकसिद्धिः काल्पनिकी तव सम्पत्। सद्धेतोरप्यसद्धेतुत्वापत्तिर्विपत्। विपदमेव दर्शयति **तथा चेति**। ननु वस्तुनो विपक्षाद्धूमस्य वस्तुनो व्यावृत्तिरस्त्येवेति धूमो वह्निं कथं न गमयेदित्याह **वास्तव्यामिति**। सत्त्वक्षणिकत्वयोरपि त्वदुपदर्शिता व्यतिरेकसम्पत्तिरवास्तवेत्याह **तर्हीति**। ननु कूर्मरोम्णि वस्तुसतो धूमस्य वृत्तौ विरोधः, क्षणित्वस्य क्रमयौगपद्यविरहस्य चासत एवासति कूर्मरोम्णि वृत्तावविरोध इत्याह **विरोधेति**। **उभयोरिति**। धूमकूर्मरोम्णोरेकत्र धूमानुमानस्थले वस्त्ववस्तुत्वादन्यत्र त्वदुपदर्शिते व्यतिरेकेऽवस्तुत्वादिति विरोधाविरोधावित्यर्थः। **तत्किमिति**। अवस्तुभूतस्यैव धूमस्यावस्तुनि निरग्निके गतत्वेन व्यभिचारस्य मयोक्तत्वात् क्व विरोध इत्यर्थः। **क्वचिदिति**। हेतुत्वेनोपात्तो धूमो वस्तुभूत एव। स च नावस्तुनीति न व्यभिचार इत्यर्थः। तर्हि निर्धूमत्वमपि कूर्मरोम्णि कथं वर्ततां ह्रदादौ तस्य वस्तुत्वात्। तथा च निरग्निकेऽलीके न धूमवत्त्वं नापि निर्धूमत्वमिति महान् विरोध इत्याह **निर्धूमत्वमपीति**। **व्यतिरेकभङ्ग इति**। व्यतिरेकव्याप्तिग्रहभङ्ग इत्यर्थः। तथा च त्वन्मते नान्वयव्यतिरेकग्रहोऽपि सत्त्वक्षणिकत्वयोरिति भावः।

अस्तु तर्हि ध्रुवभावित्वेन विनाशस्याहेतुकत्वे सिद्धे क्षणभङ्गः। न, विकल्पानुपपत्तेः। तद्धि तादात्म्यं वा, निरुपाख्यत्वं वा, तत्कार्यत्वं वा,

व्यापकत्वं वा, अभावत्वमेव वेति। न पूर्वः, निषेध्यनिषेधयोरेकत्वानुपपत्तेः। उपपत्तौ वा विश्वस्य वैश्वरूप्यानुपपत्तेः।

कल्पलता- ध्रुवभावित्वे तु **वक्ष्याम** इति यदुक्तं तत्राह **अस्त्विति।** ध्रुवमवश्यं भावोऽस्यास्तीति ध्रुवभावी विनाशः। एतावता सत्त्वक्षणिकत्वयोर्व्याप्तिः सेत्स्यतीति हृदयं विकल्पेति। विकल्पस्य प्रकृतिविचारौपयिक संशयस्यानुपपत्तेरित्यर्थः। यद्वा विकल्पानां विविधकल्पानां त्वदभिमतानाम् अनुपपत्तेरित्यर्थः। यद्वा विकल्पे क्रियमाणे त्वदभिमतपक्षानुपपत्तेरित्यर्थः। **तद्धीति।** विनाशस्य ध्रुवभावित्वमित्यर्थः। यद्यपि एते विकल्पा ध्रुवभावित्वस्य न भवितुमर्हन्ति तदर्थासंस्पर्शात्। तथापि तात्पर्यानुसारेण कथं चिद्विनाशस्याहेतुकत्वप्रयोजका द्रष्टव्याः। भावानां विनाशोऽहेतुकः ध्रुवभावित्वात्। यद्यद् ध्रुवभावि तत्तदहेतुकम् तादात्म्यं वेति विनाशस्य प्रतियोगितादात्म्यमित्यर्थः। **निरुपाख्यत्वमिति** अलीकत्वमित्यर्थः। तत्कार्यत्वमिति। प्रतियोगिकार्यत्वमित्यर्थः। **व्यापकत्वं वेति।** प्रतियोगिव्यापकत्वं वेत्यर्थः। **निषेध्येति।** नहि घट एव घटविनाश इति कस्यचिदनुभवो व्यवहारो वेति भावः। ननु परीक्षकाणां तावत्तदुभयमस्तीत्यत आह **उपपत्तौ वेति। वैश्वरूप्यं** वैचित्र्यं तदनुपपत्तिः। सर्वेषां घटपटादीनाम-भावैकस्वभावत्वादित्यर्थः। यद्वा विरोधिनोरपि तादात्म्ये गवाश्वादीनामपि तादात्म्यापत्तेरित्यर्थः।

ननु कालान्तरेऽर्थक्रियां प्रत्यशक्तिरेवास्य नास्तिता। सा च कालान्तरे समर्थेतरस्वभावत्वमेवेति चेत्? नन्वयमेव क्षणभङ्गस्तथा चासिद्धमसिद्धेन साधयतः कस्ते प्रतिमल्लः।

कल्पलता- प्रकारान्तरेण विनाशस्य प्रतियोगितादात्म्यं शङ्कते **नन्विति।** स्वोपत्त्यव्यवहितोत्तरक्षणे भावोऽर्थक्रियां प्रत्यसमर्थ इत्यशक्तिरेव तदातनी नास्तिता। तथा च समर्थेतरस्वभावो भाव एव नास्तिता सैव च नाश इत्यर्थः। प्रथमक्षणे सामर्थ्यमग्रिमक्षणे चासामर्थ्यमिति विरुद्धधर्माध्यासेन भेद एव तव विवक्षितः। तथा च क्षणभङ्ग एवानया वचनभङ्ग्या त्वयोच्यते। स च पूर्वोक्त-सामर्थ्यासामर्थ्यप्रयोजकप्रसङ्गतद्विपर्ययाधीनः, तौ च दूषितावेवेत्याह **नन्वयमेवेति। तथा चेति।** तथा च प्रकारान्तरेण समर्थेतरस्वभावत्त्वमसिद्धमसिद्धेन क्षणभङ्गेन साधयत इत्यर्थः। यदि च घटनास्तिता घटात्मिका देशान्तरकालान्तरयोरनुवर्तते तदा तद्रूपतया घटस्यैवानुवृत्तिः। अथ तत्र नानुवर्त्तते तदा स्वरूपत एव

घटानुवृत्तिरिति घटादेः।

अपि च देशान्तरकालान्तरानुषङ्गिण्यस्य नास्तिता यद्ययमेव? नूनमनक्षरमिदमुक्तं यदयमेव देशान्तरकालान्तरानुषङ्गीति। यदि वा स्वदेशकालवत् कालान्तरदेशान्तरयोरपि नास्तितानुषङ्गेऽस्तित्वप्रसङ्गः। अशक्तेः कथमस्तु शक्तेः सत्तालक्षणत्वादिति चेत्? अथ कालान्तरकार्यं प्रति स्वकालेऽशक्तिरसत्त्वं किं वा स्वाकार्यमपि प्रति कालान्तरेऽशक्तिरसत्त्वम्।

कल्पलता- स्वकालेऽपि क्षणिकतां साधयितुमुद्यतस्य नित्यत्वं विभुत्वं च पर्यवसितमित्युभयतःपाशा रज्जुरित्याह **अपि चेति। अयमेव** भाव एव। ननु देशान्तरे कालान्तरे वा भावस्याशक्तिं ब्रूमस्तथा च तदुभयत्र कथं सत्त्वमापद्यतामिति शङ्कते **अशक्तेरिति।** कालान्तरकार्यं प्रत्यशक्तिरसत्त्वमिति चेद्ब्रूषे तदा बीजादेः स्वकालेऽपि कालान्तरकार्यं प्रत्यशक्तिरेव। नहि स्वकाले बीजादिकालान्तरकार्याणि करोतीति स्वकालेऽपि बीजादेरसत्त्वप्रसङ्ग इति प्रथमविकल्पार्थः।

आद्ये स्वकालेऽप्यसत्त्वप्रसङ्गः, तदानीमपि तस्य ताद्रूप्यात्। कालान्तरकार्यं प्रत्येवमेतदिति चेत्? किमयं मन्त्रपाठः, नहि यो यत्राशक्तः स तदपेक्षया नास्तीति व्यवह्रियते। नहि रासभापेक्षया धूमो जगति नास्ति, तत् कस्य हेतोः, नह्यशक्तस्य स्वरूपं निवर्तत इति।।

कल्पलता- **तदानीमिति।** तदानीमपि स्वकालेऽपि तस्य बीजादेः। **ताद्रूप्यात्** कार्यं प्रत्यशक्तत्वादित्यर्थः। **एवमेतदिति।** एतद् बीजादि। एवं स्वकालेऽपि कालान्तरकार्यं प्रत्यसदेवेत्यर्थः। **किमयमिति।** सदपि किञ्चिदपेक्षयाऽसदिति विरोधपरिहारो मन्त्रपाठं विना नोपपद्यत इति भावः। व्यवहारविरोधमाह **न हीति।** व्यवहारविरोधमेव सोपपत्तिकमाह **न हि रासभेति।**

द्वितीये तु यदि कालान्तराधाराशक्तिः, कथं तदात्मिका। तदाधारा चेत् तदैवासत्त्वप्रसङ्गः, कालान्तरे तु विपर्ययः। तस्मात्

विधिरात्माऽस्य भावस्य निषेधस्तु ततः परः।
सोऽपि चात्मेति कः प्रेक्षः शृण्वन्नपि न लज्जते।।

कल्पलता- स्वकार्यमपि प्रति कालान्तरेऽपि अशक्तिरसत्त्वमिति द्वितीयं पक्षं दूषयति **यदीति। कथं तदात्मिका**-कथं प्रतियोग्यात्मिका। प्रतियोगिनः

क्षणमात्रवृत्तितया द्वितीये क्षणेऽसत्त्वादित्यर्थः। **तदाधारा चेदिति।** प्रतियोगि कालाधारेत्यर्थः। **कालान्तर इति।** स्वकालाधारैव चेदशक्तिरसत्त्वं तदा स्वकालातिरिक्ते काले भावस्य सत्त्वप्रसङ्ग इति स्थैर्य्यमेवावर्त्तत इति भावः। प्रथमविकल्पभङ्गमुपसंहरति तस्मादिति। स्वभावाभावयोर्विधायक निषेधकप्रमाणगोचरयोस्तादात्म्यं सर्वथाऽनुपपन्नमित्यर्थः। प्रकृष्टा ईक्षा प्रेक्षा तया व्यवहरतीति प्रेक्षः।

अस्तु तर्हि भावस्वरूपातिरिक्ता निवृत्तिर्नास्तीति वाक्यस्य सोपाख्येति शेषः। नन्वयमपि क्षणभङ्गस्योद्गारः, स च कफोणिगुडायितो वर्त्तते। भवतु वा निवृत्तिरसमर्था तथाप्यहेतुकत्वे तस्याः किमायातम्। तुच्छस्य कीदृशं जन्मेति चेत्? यादृशः कालदेशनियमः। सोऽपि तस्य कीदृश इति चेदेवं तर्हि न घटनिवृत्तिः क्वापि कदापि सर्वत्रैव सदैव वेति स्यात्।

कल्पलता- निरूपाख्यत्वं वेति द्वितीयं विकल्पमुत्थाप्य निराकरोति अस्त्विति। भावस्वरूपातिरिक्ता निवृत्तिर्नास्तीति *कीर्ति*वाक्यं सोपाख्येति शेषं दत्त्वा *प्रज्ञाकरेण* व्याख्यातं, तेन निरुपाख्या निवृत्तिरित्यर्थः पर्यवस्यतीत्यभिप्रायः। एतद् दूषयति नन्वयमपीति। निरुपाख्या चेन्निवृत्तिरहेतुका तदोत्पन्नमात्रस्यैव भावस्य सा भवेदिति क्षणभङ्गसिद्धिरिति तवाभिप्रायः। स च निवृत्तेः सोपाख्यत्वसाधनात् पूर्वमेव निरस्त इति भावः। **कफोणिः कूर्परः** तत्पर्यन्तगतस्य गुडस्य यथा लेहनमनुपपन्नं तथा बहुधा निरस्तस्य क्षणभङ्गस्य पुनरारम्भोऽनुपपन्न इत्यर्थः। भवतु वेति। निवृत्तेरलीकत्वं ध्रुवभावित्वं तेन तस्या अहेतुकत्वसाधनमनुपपन्नमिति भावः। तुच्छत्वादेवाहेतुकत्वमिति शङ्कते तुच्छस्येति। यथा वस्तुनो जन्मकालादि नियमगम्यं तथा तुच्छस्यापीति परिहरति यादृश इति। सोऽपि नियमः। तस्य तुच्छस्य। एवं तर्हीति। तुच्छाया निवृत्तेरुत्पादाभाव इत्यर्थः। तथा च क्षणिकत्वसिद्ध्यर्थं विनाशस्याहेतुकत्वं ध्रुवभावित्वेनाभिमतं नित्यत्वमेव भावस्य साधयेदिति शुद्धा बुद्धिरिति भावः।

भवतु प्रथम एवेति चेत्? सोऽयं भावनास्तिता स्वरूपप्रतिषेधो वा भावप्रतिषेधेन नास्तितास्वरूपनिरुक्तिर्वेति। आद्ये भावस्यैव सदातनत्वप्रसङ्गः, द्वितीये तु निवृत्तेरेवेति।

कल्पलता- एतदेव विभावयितुं शङ्कते भवत्विति। प्रथम इति। न क्वापि भावनिवृत्तिरिति पक्ष इत्यर्थः। सोऽयमिति। घटनिवृत्तिः क्वापि नास्तीति

पक्ष इत्यर्थः। नास्तितास्वरूपनिरुक्तिरिति। भावस्य नास्तिता न कादाचित्कीति नास्तितायाः एव स्वरूपं निरुच्यत इत्यर्थः। आद्य इति। निवृत्तेरेवाभावपक्ष इत्यर्थः। द्वितीय इति। निवृत्तेः सार्वत्रिकत्वसार्वदिकत्वपक्ष इत्यर्थः। एवं सति कदापि भावो न स्यादिति भावः।

अस्तु तर्हि तत्कार्यत्वमेव ध्रुवभावित्वम्। न, तस्यापि कार्य इति पक्षे विरोधात्, तस्यैव कार्य इत्यसिद्धेः। यत्कञ्चिदुत्पन्नमात्रस्य कार्यं स एव तस्य नाश इति चेत्? तर्हि यस्याः सामग्र्या यत् कार्यं तत् तदरिक्तानपेक्षमिति साधनार्थः। तमिमं को नाम नानुमन्यते। कार्यमेव विनाश इति तु केनानुरोधेन व्यवहर्तव्यं किं तद्विरहवत्त्वात् कार्यस्य, किं वा तद्विरहरूपत्वात्।

कल्पलता- तृतीयं ध्रुवभावित्वं दूषयितुमाह **अस्त्विति**। एतद्घटध्वंस एतदव्यवहितोत्तरक्षणोत्पत्तिकः, एतत्कार्यत्वात्, एतद्घटस्वरूपवदिति तावत्तव विवक्षितम्। तदा तत्र तत्कार्यत्वादित्यस्य तस्यापि कार्यत्वादित्यर्थेऽपि शब्देन कारणान्तरसमुच्चयश्चेत्तव विवक्षितस्तदा तद्विलम्बेन ध्वंसविलम्बेन तदुत्पत्त्यव्यवहितोत्तरक्षणोत्पत्तिकत्वं विरुद्धं तन्मात्रकार्यत्वं च हेतुः स्वरूपासिद्ध इत्यर्थः। यद्वा एतद्घटध्वंस एतन्मात्रहेतुकः तत्कार्यत्वादित्यत्र विरोधासिद्धी विकल्पिते द्रष्टव्ये। **असिद्धेरिति**। मुद्गरादेरपि घटनाशं प्रति कारणत्वदर्शनादित्यर्थः। ननु तस्यापि वा तस्यैव वेति न समुच्चयो न वा नियमो विवक्षितः। किन्तूत्पन्नमात्रस्य यत्कार्यं तदेव तस्य विनाश इति मम मतं तदतिरिक्ते ध्वंसे मानाभावादिति शङ्कते **यत्किञ्चिदिति**। तर्हि कार्यं कारणातिरिक्तानपेक्षमित्यहेतुकत्वार्थः। तदत्र कारणपदेन यदि सामग्री विवक्षिता तदा सिद्धसाधनं? तदेकदेशश्चेत् तदा बाधः। 'न किञ्चिदेकमेकस्मात् सामग्र्याः सर्वसंभव' इति तवाभ्युपगमात्। एवमभ्युपगमेऽपसिद्धान्तो माभूदत आह **को नाम नानुमन्यत इति**। **कार्यमेवेति**। कार्यमात्रस्य विनाशित्वाभ्युपगमो मम प्रौढिवादेनेति भावः। कार्यस्य कारणविनाशात्मकत्वव्यवहारबीजं विकल्पयति **किमिति**। **तद्विरहवत्त्वात्**कारणान्योन्याभाववत्त्वात्। **तद्विरहरूपत्वात्**कारणविरहात्मकत्वात्कार्यस्येत्यर्थः।

न तावत् पूर्वः, सहकारिष्वपि तथाप्रसङ्गात्, विरहस्वरूपानिरुक्तेश्च। न द्वितीयः, स हि कार्यकाले कारणस्य योग्यानुपलम्भनियमाद्वा भवेत्

व्यवहारानुरोधाद्वा अतिरिक्तविनाशे बाधकानुरोधाद्वेति।

कल्पलता- तथाप्रसङ्गादिति। वेमादावपि तन्तुविनाशत्वव्यवहारप्रसङ्गात्। तदन्योन्याभाववत्त्वस्य तत्र सत्त्वादित्यर्थः। विरहस्वरूपेति। विरहो ह्यभावः, स चालीक एवेति तद्वत्ता कर्यस्य स्वलक्षणस्य कथं भवेदिति भावः। यद्वा कारणविरहो यदि कार्यमेव तदा कथं तेनैव तद्वत्ता। अतिरिक्तश्चेत्तदभावस्तदा किमपराद्धं कार्यस्यातिरिक्तेन प्रध्वंसेनेति भावः। न द्वितीय इति। यद्यपि भावस्याभावतादात्म्यनिषेधादेवैतदपि निरस्तम् तथापि प्रकारान्तरेणापि निरस्यति न द्वितीय इति। स इति द्वितीयः पक्ष इत्यर्थः। कार्यकाले कारणं सवर्थापि नोपलभ्यत इति मूलम्। कार्यमेव कारणविनाश इत्यर्थः। अतिरिक्तेति कार्यातिरिक्त इत्यर्थः।

न प्रथमः उपलभ्यन्ते हि पटकाले वेमादयः। न ते त इति चेत्? किमत्र प्रमाणम्। अभेदेऽपि किं प्रमाणमिति चेत्? मा भूत् तावत् सन्देहस्थितावपि अनुपलब्धिबलालम्बनविलयात्। न द्वितीयः, नहि पटो जात इत्युक्ते तन्तवो नष्टा इति कश्चिद् व्यवहरति। पटस्यानतिरेकात् तन्तुमात्रजन्मनि च भेदाग्रहादव्यवहार इति चेत्, न। तर्हि व्यवहारबलमपि। विसभागसन्ततौ तावद्व्यवहारबलमस्तीति चेत्, नैतदेवम्।

कल्पलता- ननु पटकाले ये वेमादय उपलभ्यन्ते, ते तद्भिन्ना एवेति शङ्कते न ते त इति। क्षणभङ्गे सत्येवं न स्यात्। स चाद्यापि न सिद्ध इत्यभिप्रायेणाह किमत्रेति। यद्यपि प्रत्यभिज्ञानं तत्र मानं तथापि तदनुपदर्शनेऽपि न क्षतिरित्याशयेनाह मा भूदिति। कार्यकाले कारणानुपलम्भः सन्दिग्ध इति तद्बलं तव भग्नमेवेत्यर्थः। अवयवेभ्योऽनन्यत्वमवयविन इति पक्षमादाय शङ्कते पटस्येति। कारणाभावत्वेन व्यवर्हतुं योग्येऽपि पटे तन्त्वात्मके पूर्वतन्तुभेदाग्रहान्न तथा व्यवहारः। येन तु परीक्षकेण भेदो गृह्यते, तस्य तथा व्यवहारोऽस्त्येवेति भावः। व्यवहारो हि लौकिकपरीक्षकसाधारणः प्रमाणं, स च प्रकृते नास्तीत्याह न तर्हीति। परीक्षकस्य विपरीत एव व्यवहारो न कथमत्रेति भावः। ननु पटे नष्टे तन्तुमालालक्षणं कार्यं यत्र जायते तत्र पटनाशप्रतीतिव्यवहारौ स्त एवेत्याह विसभागेति। विसभागसन्ततावप्येतद्दृष्टान्तेन तथोन्नेयमिति हृदयम्।

यदि हि तन्तुमालैव पटनिवृत्तिः, कथं तदाश्रयस्तदात्मको वा पटः प्राक्। अन्यैवासाविति चेत्? न तावज्जातिकृतमन्यत्वमुपलभ्यते व्यक्तिकृतं

तु नाद्यापि सिद्ध्यति। इत एव तत्सिद्धावितरेतराश्रयत्वम्। तथापि यद्येवं स्यात् कीदृशो दोष इति चेत्? न कश्चित्। केवलं प्रमाणाभावः व्यवहाराननुरोधश्च। तदसिद्धावपि सिद्ध्यतस्तस्य निमित्तान्तरापेक्षणात्।

कल्पलता- **यदि हीति।** तन्तुमालायां पटस्तावद् वर्त्तत इत्यनुभवसिद्धम्। सा चेत्तन्तुमाला पटनिवृत्तिः स्यात् तदा स्वध्वंस एव पटो वर्त्तत इत्यायातमिति *स्वमते। परमते* त्वाह **तदात्मको वेति।** पटोऽपि तन्तुमाला पटनिवृत्तिरपि तन्तुमाला। तथा च प्रतियोग्यात्मिकैव निवृत्तिः स्यादिति विरोध इत्यर्थः। ननु पूर्वतन्तुमालाया उत्तरतन्तुमाला अन्यैव। तथा च कथमयं विरोध इति शङ्कते **अन्यैवेति।** तद्विजातीया वा तद्भिन्ना वा। नाद्यः, तथाऽननुभवात्। नान्त्यः, क्षणभङ्गासिद्धेरिति। परिहरति **न तावदिति।** यद्यपि जातिकृतान्यत्वं व्यक्तिकृतान्यत्वे सत्येव, न ह्येकस्यां व्यक्तौ क्रमेण जातिभेदः सम्भवतीति पृथक् विकल्पानुपपत्तिः तथाप्युपपत्ति-सौकर्यादेतदुक्तम्। उत्तरतन्तुमाला पूर्वतन्तुमालातो भेद एव सति तन्निवृत्तिरूपा भवति नान्यथेति तत्सिद्धिरित्यर्थः। **इत एवेति।** पूर्वापरतन्तुमालयोर्भेदे सति निवृत्तिरूपत्वं, निवृत्तिरूपतायां च सत्यां भेद इत्यन्योन्याश्रय इत्यर्थः। **एवमिति।** यदि उत्तरतन्तुमाला पूर्वतन्तुमालानिवृत्तिः स्यात्, को दोषः, निवृत्त्यन्तरस्वीकारे गौरवमिति भावः। **प्रमाणाभाव इति।** उत्तरतन्तुमालायाः पूर्वतन्तुनिवृत्तिरूपत्वे भिन्नत्वे च प्रमाणाभाव इत्यर्थः। न वा ईदृशो व्यवहार इत्याह **व्यवहारेति। तदसिद्धाविति।** यत्राश्रयनाशादेव पटनाशस्तत्र तन्तुमालाया अप्रसिद्धावपि पटनाशव्यवहारो निमित्तान्तरात् पटध्वंसरूपादेव वक्तव्य इत्यर्थः। तन्तुमालाया निवृत्तिरूपत्वासिद्धावपी*त्यन्ये*।

अपि च तन्तुविनाशः सामान्यतस्तन्तुविरहस्वभावो वा स्यात्, तद्विपरीतो वा। आद्ये कथं तन्त्वन्तरं। न हि सामान्यतो नीलमनील-विरुद्धस्वभावमनीलान्तरम्। द्वितीये कथं तद्विरोधी। न हि नीलं सामान्यतोऽपि नीलान्तरविरोधि। विशेषमात्र एवायं विरोध इति चेत्? तत् किं सामान्यतोऽनुभयस्वभाव एव विनाशः। ओमिति ब्रुवतोऽन्यतरमुपादाय विनाशव्यवहारानुपपत्तिः। सामान्यस्यालीकत्वात्। तत्र विरोधोऽपि किं करिष्यतीति चेत्? विलीनमिदानीं विरुद्धधर्माध्यासेन भेदप्रत्याशया, तस्य तदाश्रयत्वात्।

कल्पलता- **तन्तुविनाश इति।** तन्तुरूपो विनाशस्तन्त्वन्तरस्य

तन्तुत्वावच्छिन्नस्यैव यदि विरोधी, तदा तन्त्वन्तरं कथं भवेत्। न हि समान्यत एवानीलविरुद्धस्वभावं नीलमनीलं भवतीत्यर्थः। **द्वितीय इति।** सामान्यतो न तद्विरोधीति यदि, तदा तन्तुः सामान्यतः तन्तुविरोधी कथं भवेत्। न हि नीलं नीलत्वेन कदाचिन्नीलविरोधि भवतीत्यर्थः। ननु न तन्तुत्वेनैव तन्तोस्तन्तुविरोधित्वं ब्रूमः, किं तु पूर्वतन्तोरुत्तरतन्तुर्विरोधीत्यचक्ष्महे इति न विरोध इति शङ्कते **विशेष मात्र एवेति** सप्तमी। विशेषाश्रितो विरोधो न सामान्याश्रित इत्यर्थः। **अनुभयेति।** सामान्यतो न विरोधी नाप्यविरोधीत्यर्थः। सामान्यतो विरोधित्वे तन्तु एव न स्यात्, अविरोधित्वे तन्तुनिवृत्तिरूपो न स्यादिति भावः। ननु भवतु तन्तुः सामान्यतोऽनुभयस्वभावः किं नश्छिन्नं, विशेषत एव विरोधान्निवृत्तिरूपता भवेदित्यत आह **ओमिति। अन्यतरेति।** विरोधमादाय तन्तुव्यवहारानुपपत्तिरित्यविरोधपक्ष आश्रयणीयः। तथा च विनाशव्यवहारानुपपत्तिरित्यर्थः। ननु सामान्यतो विरोधाविरोधचिन्ता तदा भवेत् यदि सामान्यं भवेत्। तदेव तु नास्तीत्याह **सामान्यस्येति।** एवं सति गोत्वाश्वत्वलक्षणविरुद्धधर्माध्यासाभावाद् गवाश्वादीनामभेद आपद्येतेत्याह **विलीनमिति। तस्य भेदस्य। तदाश्रयत्वात्** तदधीनत्वादित्यर्थः।

नन्वतिरिक्ताभावपक्षे यथा पटः पटान्तराभाववांश्च तज्जातीयश्च, अभावो वा पटविरोधी पटान्तरसहवृत्तिश्चेति न कश्चिद्विरोधः। तथा कार्याभावपक्षेऽपि भविष्यतीति। नैतदेवं, प्रतियोगिना हि तादात्म्यसंसर्गैकजातीयत्वानि नेष्यन्ते, अप्रतियोगित्वप्रसङ्गात्, भिन्नकालत्वात्, सामान्यतो विरुद्धधर्मसंसर्गाच्च। अप्रतियोगिना तु संसर्गे को दोषः। न हि भेदविजातीयतैककालताः संसर्गविरोधिन्यः, तादात्म्यं हि संसर्गित्वे विरुद्धं विरोधित्वं च, ते च नेष्येते एव। नापि बाधकानुरोधस्तदभावात्।

कल्पलता- पटान्तराभाववानित्यत्रान्तरपदं स्फुटार्थम्। यथा पटः पटाभाववानपि पटजातीयस्तथा तन्तुरपि तन्तुनिवृत्तिर्भवेत्। पटविरोध्यप्यभावः पटान्तरसमानाधिकरणस्त्वया यथेष्यते तथा तन्तुविनाशोऽपि तन्तुर्मयेष्यत इत्यर्थः। **कार्याभावपक्ष इति।** कार्यरूपाभावपक्ष इत्यर्थः। **प्रतियोगिना हीति।** स्वाभावतादात्म्यं स्वसंसर्गाभावसामानाधिकरण्यं स्वाभावसमानजातीयत्वं विरुद्धं तत्र न मयेष्यत इत्यर्थः। अभावस्य प्रतियोगितादत्म्याभावे हेतुमाह

अप्रतियोगित्वेति। प्रतियोग्यनुयोगिभावस्य भेदनियतत्त्वादिति भावः। विनाशस्य प्रतियोग्यसंसर्गे हेतुमाह **भिन्नकालत्वादिति**। अभावस्य प्रतियोग्यैकजात्यभावे हेतुमाह **सामान्यत इति**। प्रतियोग्यभावयोः सामान्यतो विरुद्धधर्मसंसर्ग एवानुभूयते। स चैकजात्ये न स्यादित्यर्थः। **अप्रतियोगिना त्विति**। न हि नीलघटसंसर्गिणः पीतघटाभावस्य नीलघट एव प्रतियोगी येन तत्संसर्गो न स्यादित्यर्थः। **न हीति**। भेदवैजात्यैककालत्वे सति संसर्गस्यानुभवसिद्धत्वादित्यर्थः। ननु त्वत्पक्षवन्मत्पक्षेपि स्यादभावसंसर्ग इत्यत आह **तादात्म्यं हीति**। त्वया प्रतियोगितादात्म्यमभावस्येष्यते प्रतियोग्यविरुद्धत्वं च। तच्च मया नेष्यत इति न मत्पक्षे दोषावकाश इति भावः। विरोधित्वं चेत्यत्र विरुद्धमित्यनुषज्यते। अतिरिक्ताभावे बाधकनुरोधाद्वेति यदुक्तं तत्राह **नापीति**।

ननु घटाभावे घटोऽस्ति न वा? आद्ये घटवति तदभावः। कपाले घटोऽस्तीति तान्यपि तद्वन्ति प्रसज्येरन्। नास्तीतिपक्षेऽनवस्थाप्रसङ्गः। अभावान्तरमन्तरेण तत्र नास्तिताव्यवहारे भावान्तरेऽपि तथा प्रसङ्गः। न, भावान्तरस्य स जातीयत्वेनाविरुद्धजातीयत्वात्। विरुद्धजातीयत्वे वा समानजातीयत्वानुपपत्तेः। अन्यत्वमात्रेण तथा व्यवहारे तद्वत्यपि प्रसङ्गात्। अभावस्य तु विरुद्धस्वभावतयैवाभावान्तरानुभवतर्कयोरभावादिति।

कल्पलता- अतिरिक्ताभावे बाधकमाशङ्कते **नन्विति**। कपालेषु प्रागभावस्य प्रध्वंसस्य वा सत्त्वेन तदुभयकालेऽपि कपालानि घटवन्ति स्युः। एवं घटाभाववति घटे घटोऽपि स्यात्। स्वाभाववति स्वसत्वं स्वस्मिन्नपि स्यात्। एवं तत्र तत्रापीति घटपरम्परापत्तिरिति भावः। **अनवस्थेति**। अभावे अभावान्तरमेवं तत्र तत्रापीत्यर्थः। **भावान्तरेऽपीति**। भूतलादावपि घटाभावव्यवहारोऽधिकरणस्वरूपेणैव स्यादित्यर्थः। **न भावान्तरस्येति**। सजातीयत्वेन भावजातीयत्वेन अविरुद्ध जातीयत्वात् अभावाधिकरणत्वाविरोधित्वादित्यर्थः। **विरुद्धेति**। अभावाधिकरणता-विरोधेनाभावजातीयत्वानुपपत्तेरित्यर्थः। ननु प्रतियोगिभिन्नत्वेनैव भूतलादीनां घटाभावव्यवहारप्रवर्तकत्वमस्तु किमतिरिक्ताभावस्वीकारेणेत्यत आह **अन्यत्वेति**। एवं सति घटवतोऽपि भूतलस्य घटाभावव्यहारप्रवर्त्तकत्वं स्यादित्यर्थः। ननूक्तमभावेऽपि तर्हि स्वीक्रियतामभावान्तरमित्यत आह **अभावस्य त्विति**। अभावेऽभावान्तरं तावन्नानुभूयते यद्बलेनाभावान्तरमङ्गीक्रियेत। यदि घटाभावो घटाभाववान् न स्यादिति तर्कोऽपि नात्र प्रभवति। यतः प्रतियोगिविरुद्धस्वभावतया

प्रथमाभावादेव घटाभावे घटो नास्तीति व्यवहारोपपत्तेर्द्वितीयाभावकल्पनाया अनवकाशात्। अधिकरणस्याभावरूपस्य द्वैरूप्याभावाच्च। न ह्यभावः कदापि प्रतियोगिमानपि भवति यथा भूतलादिः। द्वितीयाभावाभ्युपगमे ऽनवस्थापत्तिश्चेत्त्यर्थः। अपव्याख्यानमन्यत्। *केचित्तु* अभावेऽपि अभावान्तरम्, न चानवस्था, तृतीयमादाय तदापत्तेरिति वदन्ति।

भिन्नाभावजन्मनि घटतादवस्थ्यं दोष इति चेन्न। घटतादवस्थ्यं हि यदि घटत्वमेव अभिमतमेवमेतत्। न ह्यभावजन्मनि घटोऽघटतामुपैतीत्यभ्युपगच्छामः। तत्कालसत्त्वं चेन्न तर्ह्यभावो जातः कालान्तरे घटानवस्थानस्वभाव एव हि तदभावः। अस्तु तर्हि निरुपादानत्वं बाधकं जन्मन उपादानव्याप्तत्वात् इति चेन्न। धर्मिग्राहकप्रमाणबाधात्, भावावच्छेदाच्च व्याप्तेः। एतेन निरुपादेयत्वं व्याख्यातम्। गुणादिसिद्धौ चानैकान्तिकत्वादिति।

कल्पलता- ननु यथा पटे जातेऽपि घटस्तदवस्थ एव, तथा ध्वंसे जातेऽपि घटस्तदवस्थ एव स्यादन्यत्वाविशेषात्। तथा च प्रतियोगितादात्म्यमेव विनाशस्याभ्युपेयमित्याह **भिन्नेति**। **तादवस्थ्यमिति**। घटजातीयत्वं वा घटस्य ध्वंसानन्तरकालस्थायित्वं वा। आद्यमाह **एवमेतदिति**। तदेवोपपादयति **नहीति**। द्वितीयम् आह **तत्कालेति**। ध्वंसकालसत्त्वमित्यर्थः। **न तर्हीति** ध्वंसस्य प्रतियोग्यसमानकालीनत्वस्वाभाव्यादित्यर्थः। अतिरिक्ताभावपक्षे बाधकान्तरमाशङ्कते **अस्तु तर्हीति**। ध्वंसो न जायते निरुपादानत्वादाकाशवदित्यर्थः। उपादानं समवायिकारणम्। इहेदानीं घटो नष्ट इति प्रत्यक्षेण ध्वंसस्योत्पन्नत्वमेव विषयीक्रियते। तथा चानुत्पादे साध्ये धर्मिग्राहकमानबाध इत्यर्थः। निरुपाधेर्बाधस्यानवकाशादुपाधिमाह **भावेति**। यद्यप्यभावान्तरे साध्याव्यापकोऽयमुपाधिस्तथापि ध्वंसेतरत्वमिहोपाधित्वेन विवक्षितम्। न च पक्षेतरत्वं, बाधोन्नीतस्य तस्यानुमतत्वात्। ननु ध्वंसो न जायते निरुपादेयत्वात् गोत्वादिवदित्यस्त्वनुमानमित्याह **एतेनेति**। निरुपादेयत्वं कार्यानाश्रयत्वम् धर्म्मिग्राहकप्रमाणबाधेन बाधोन्नीतपक्षेतरोपाधिग्रासेन च निराकार्यत्वेन व्याख्यातमित्यर्थः। गुणकर्मादेश्च गुणिभिन्नत्वेन सिद्धौ तत्रानैकान्तिकं कार्यत्वाश्रितत्वमित्याह **गुणादीति**।

अस्तु तर्हि व्यापकत्वं ध्रुवभावित्वमिति चेन्न। अतादात्म्यात् अतत्करणत्वाच्च। अस्मद्दिशापि व्याप्तिग्रहो न साहित्यनियमेन विरोधितया

विषमसमयत्वात्। नापि जन्मानन्तर्यनियमेन तदसिद्धेः। सिद्धौ वा तत एव क्षणभङ्गसिद्धेः किमनेन। भविष्यत्तामात्रेण व्यापकत्वमस्तीति चेदस्तु, न त्वेतावता हेत्वन्तरानपेक्षत्वसिद्धिः। अद्यतनघटस्य श्वस्तनकपाल-मालयैवानैकान्तिकत्वादिति।

कल्पलता- चतुर्थं ध्रुवभावित्वं निराकर्त्तुं शङ्कते **अस्त्विति**। व्यापकत्वं प्रतियोगिव्यापकत्वं विनाशस्येत्यर्थः। तथा च सिद्धमहेतुकत्वं नाशस्येति भावः। *परमते* तादात्म्यतदुत्पत्तिभ्यामेव व्याप्तिरित्यभिप्रेत्याह **अतादात्म्यादिति**। यदा प्रतियोगी तदा ध्वंस इति कालगर्भापि न व्याप्तिरित्याह **विषमसमयत्वादिति**। यः प्रतियोगी स एव विनाश इति तु पूर्वमेव निरस्तम्। यत्र प्रतियोगी तत्र ध्वंस इति देशगर्भापि न व्याप्तिः, आश्रयनाशजन्य द्रव्यादिध्वंसे व्यभिचारादिति भावः। स्वोत्पत्त्यव्यवहितोत्तरक्षण एव ध्वंस इत्यपि नियमो नास्त्यसिद्धेरित्याह **नापीति**। **तत एवेति**। एतन्नियमबलादेवेत्यर्थः। तथा च ध्रुवभावित्वादहेतुकत्वमहेतुकत्वाच्च ध्वंसस्याग्रिमक्षण एवोत्पाद इति प्रक्रियागौरवमिति भावः। ननूत्पन्नस्य विनाशो भविष्यत्येवेत्यपि नियम एवेत्याशङ्कते **भविष्यत्तेति**। **अस्त्विति**। एतादृशध्रुवभावित्वेनाहेतुकत्वं वा प्रतियोगिभिन्नहेत्वनपेक्षित्वं वा साधयितुं न शक्यत इत्यर्थः। कुतो न शक्यत इत्यत आह **अद्यतनेति**। श्वस्तनकपालमालाया अवश्यंभाविन्या अपि मुद्गरप्रहारादिरूपहेत्वन्तरापेक्षित्वेनानैकान्त्यादित्यर्थः।

एतेन सापेक्षत्वे विनाशस्य व्यभिचारोऽपि स्यात्, विनाशहेतुनां प्रतिबन्धवैकल्यसम्भवादिति परास्तम्। कपालसन्ततितुल्ययोगक्षेमत्वात् विनाशस्येति।

अस्तु तर्हि चरमः पक्षः। तथाहि विनाशो न जायते अभावत्वात्, प्रागभाववत्। जातोऽपि वा निवर्तते जातत्वात्, घटवदिति। नैतदेवम्। प्रागभावो जायते अभावत्वात् विनाशित्वाद्वा ध्वंसवत् घटवद्वा। अजातो वा न निवर्तते अजातत्वात्, आकाशवत् शशविषाणवद्वेतिवदसाधनत्वात्।

कल्पलता- ननु यदि विनाशस्य हेत्वन्तरापेक्षा तदा कदाचिदुत्पन्नोऽपि भावो न नश्येत्। हेतुसाकल्ये सत्यपि प्रतिबन्धसंभवात्। हेतूनां वैकल्यस्यैव वा संभवादित्याह **एतेनेति**। एवं सति कपालमालापि कदाचिन्न भवेदित्यपि संभाव्येत इत्यर्थः। **चरमः पक्ष इति**। ध्रुवभावित्वविकल्पस्येति शेषः। स चाभावत्वं वेति

पक्षः। ध्रुवभावित्वं विनाशस्याभावत्वम्। तथा च तेनैवाहेतुत्वमहेतुत्वे च प्रयोगं स्वमतेन दर्शयति तथाहीति विपक्षबाधकमाह **जातोऽपि वेति**। यदि जायेत विनश्येत। तथा च घटोन्मज्जनप्रसङ्ग इति भावः। अत्राप्रयोजकत्वं दर्शयति **प्रागभाव इति**। यथा प्रागभावस्याजातत्वेऽभावत्वमप्रयोजकम्, तथा ध्वंसस्य जातत्वेऽभावत्वमप्रयोजकम्। तथा चानुभवतर्कादिसाचिव्यमिहानुसरणीयमिति भावः। क्रमेण दृष्टान्तमाह। ध्वंसवद्घटवद्वेति। विपक्षे बाधकमाह **अजातो वेति**। प्रागभावो यदि न जायेत न निवर्त्तेत, निवर्त्तते च। तस्माज्जायत इत्यर्थः।

किमेतेषां दूषणमिति चेत्? भावत्वावच्छिन्नव्याप्तिकत्वादप्रयोजकत्वं, प्राक्प्रध्वंसाभावग्राहकप्रत्यक्षबाधः। प्राक् पश्चाच्च कार्योन्मज्जन प्रसङ्गलक्षणप्रतिकूलतर्कश्च। अथोन्मज्जने को दोष इति चेत्? कालविच्छेदप्रत्ययस्यानुभयात्मकत्वप्रसङ्गः। अयथार्थत्वे तस्य द्विचन्द्रदर्शनकाले चन्द्रदेशविच्छेदवत् तद्वतः कालाविच्छेदे भावस्य प्राक्प्रध्वंससहवृत्तित्वेनाविरोधप्रसङ्गात्। यथार्थत्वे तु भेदस्थितौ तदुन्मज्जनानुपपत्तेः। एतेन प्रागभावकाले प्रध्वंसोन्मज्जनं तत्काले च प्रागभावोन्मज्जनमपास्तम्। भाववदभावयोरपि उभयविरोधि स्वभावत्वादिति।

कल्पलता- एतेषामिति। अनुमानतर्काणामित्यर्थः। **भावत्वेति**। जातो वा निवर्तेत जातत्वादित्यत्र, अजातो वा न निवर्तेत अजातत्वादित्यत्र च साधनधर्मावच्छिन्नसाध्यव्यापकं भावत्वमुपाधिरतो विपक्षबाधकद्वयस्य आभासत्वे ध्वंसपक्षकप्रागभावपक्षकयोरनुमानयोरप्रयोजकत्वमित्यर्थः। तर्कयोर्भाव-त्वावच्छिन्नव्याप्तिकत्वाद्धेत्वोरप्रयोजकत्वमिति योजना। अपव्याख्यानमन्यत्। **प्रागिति**। प्रागित्यत्राभाव इति सम्बध्यते। इहेदानीं नष्ट इति प्रध्वंसग्राहकं प्रत्यक्षं तद्बाधितं ध्वंसस्याजन्यत्वसाधनम्। इह तन्तुषु भविष्यति पट इति प्रागभावग्राहकं प्रत्यक्षं तद्बाधितं च प्रागभावे जन्यत्वानुमानम्। प्रागभावस्य हि जन्यत्वे तस्यापि प्रागभावान्तरमेवं तस्यापीत्यनवस्थादुःस्थतया प्रत्यक्षमेवैतादृशं नोदीयादिति भावः। **प्रागिति**। प्रागभावस्य जन्यत्वात्प्राक्कार्योन्मज्जनं प्रध्वंसस्य नाशे पश्चात्कार्योन्मज्जनप्रसङ्ग इत्यर्थः। ननु पूर्वमपि घट आसीत् कुतश्चि-न्निमित्तान्नोपलभ्यत इति स्यादेवं ध्वंसानन्तरमपि घटः स्यात् कुतश्चिन्निमित्तान्नोपलभ्यत इति स्यादित्याशङ्कते **अथेति**। **कालेति**। घटध्वंसानन्तरमिदानीं घटो नास्तीति

य: कालविच्छेदप्रत्यय: स यद्ययथार्थस्तदानीमपि घटसत्त्वे ध्वंससत्वे च तयोर्विरोधो न स्यात्। द्वयो: समानकालीनत्वात्। यथार्थत्वे तु घटध्वंस एव तदा अनुभूयते इति कुतो घटोन्मज्जनप्रसंग इत्यर्थ:। अनुभयात्मकत्वमिति। यथार्थत्वायथार्थत्वोभयानात्मकत्वमित्यर्थ:। द्विचन्द्रेति। एक एव चन्द्रो मध्ये विच्छिन्नत्वेन योऽनुभूयते स मध्येऽपि यथास्त्येव विच्छेदप्रत्ययस्या-यथार्थत्वादित्यर्थ:। एवं मध्येऽपि घट: स्यादेव नास्तीति प्रत्ययस्या-यथार्थत्वादित्यर्थ:। एवं प्रागभावकालीनोऽपि घटे नास्तिताप्रत्ययो विकल्पनीय:। ननु सन्तु प्रागभावा: प्रध्वंसाश्च अनन्ता एव घटविरोधिनस्तथा च जातत्वाद्वि-नाशित्वाच्चेति हेतू अपि प्रागभावोत्पन्नत्वप्रध्वंसनाशित्वसाधके समाहिते भवत इति चेत्, न। प्रध्वंसानां प्रागभावानां च तावतां भेदाननुभवात्। हेतुद्वये च भावत्वस्योपाधेरुक्तत्वात्, कल्पनागौरवप्रसङ्गाच्चेति। ननु घटप्रागभावकाले घटश्चेत् नास्ति तदा तद्विरोधिना ध्वंसेन भवितव्यमेवं घटध्वंसकाले घटश्चेन्नास्ति तदा प्रागभावेन भवितव्यमेकविरोधिविरहस्य विरोध्यन्तरनियतत्वादित्यत आह एतेनेति। विच्छेदप्रत्ययस्यानुभयात्मकत्वप्रसङ्गेनेत्यर्थ:। तर्हि विरोधिविगमकाले विरोध्यन्तरं कथं न भवेदित्यत आह भाववदिति। यथ घटस्य प्रागभावप्रध्वंसौ विरोधिनौ तथा प्रागभावस्य घटतद्ध्वंसौ ध्वंसस्य च घटतत्प्रागभावाविति नासौ विरोधिविगमकाल इत्यर्थ:।

कुत: पुन: स्थिरसिद्धि:? प्रत्यभिज्ञानात् क्षणिकत्वानुपपत्तेश्च। लक्षणाभेदेन व्यभिचारिजातीयत्वात्, प्रत्यभिज्ञा न प्रमाणमिति चेन्न। अवान्तरलक्षणभेदेनाव्यभिचारनियमात्। किं तदिति चेत्? विरुद्धधर्मा-संसृष्टविषयत्वं सिद्धं च तदत्र। एवम्भूतमपि कदाचिद्व्यभिचरेदिति चेन्न। विरुद्धधर्मसंसर्गानास्कन्दितस्यैकत्वप्रत्ययस्य व्यभिचारे सर्वत्रैकत्वो-च्छेदप्रसङ्गात्। तथा चानेकत्वमपि न स्यादिति भव निष्किञ्चन:। तस्माद्भेदप्रवृत्ताववश्यं विरुद्धधर्मसंसर्ग:, तदसंसर्गे वा ऽवश्यं भेदव्या-वृत्तिरिति भेदाभेदव्यवहारमर्यादा।

कल्पलता- एवं स्थैर्यै यथा बाधकं प्रमाणं नास्ति तथा साधकमपि नास्ति। तथा च साधकबाधकमानाभावात् संशय: स्यादित्यनुशयेन पृच्छति कुत: पुनरिति। उत्तरं प्रत्यभिज्ञानादिति। स एवायं घट इति प्रत्यक्षमेव पूर्वापरकालयोरभेदग्राहकमित्यर्थ:। मानान्तरमाह क्षणिकत्वानुपपत्ते:।

अपोहवादनिरासेन गोत्वादिसामान्यानां देशकालानुगतानां क्षणिकत्वं सर्वथाप्यनुपपन्नमिति तद्ग्राहकमानादेव स्थैर्यसिद्धिरिति हृदयम्। ननु तत्तेदन्तोल्लेखिज्ञानत्वमेव प्रत्यभिज्ञानस्य लक्षणं तच्च ज्ञानादिप्रत्यभिज्ञानेऽप्यस्तीति व्यभिचारिजातीयत्वेन तदप्रमाणमिति शङ्कते **लक्षणेति**। प्रत्यभिज्ञानमात्रं न प्रमाणमपि तु प्रत्यभिज्ञानविशेष इति परिहरति **अवान्तरेति**। **किं तदिति**। अप्रमाणरूपप्रत्यभिज्ञानव्यावर्त्तकं किं लक्षणमित्यर्थः। ननु सर्वत्र सामर्थ्यासामर्थ्यलक्षणाविरुद्धधर्मसंसर्गस्य दर्शितत्त्वाद्विशिष्टं प्रत्यभिज्ञानमसिद्धमेवेत्यत आह **सिद्धमिति**। तत्साधकप्रसङ्गतद्विपर्ययनिरासेन सिद्धमेव तादृशं प्रत्यभिज्ञानमित्यर्थः। **एवम्भूतमिति**। विरुद्धधर्मासंसृष्ट-विषयमित्यर्थः। **सर्वत्रेति**। क्षणिकमप्येकं न स्यादित्यर्थः। माभूदेकत्वं ततः किमित्यत आह **तथा चेति**। एकत्वपर्युदासात्मकत्वादनेकत्वस्येत्यर्थः। व्यभिचाराभावमेवोपसंहरति **तस्मादिति**।

निष्कम्पप्रदीपकुड्मलेषु निपुणं निभालयन्तोऽपि न विरुद्धधर्मसंसर्गमीक्षामहे। अथ च प्रत्यभिज्ञानमवधूय तत्र भेद एव पदं विधत्त इति चेत्? कस्य प्रमाणस्य बलेन। आश्रयनाशस्य हुताशननाशहेतुत्वेन विज्ञातत्वात्, तस्य चात्र प्रतिक्षणमुपलब्धेः। वर्तितैलयोरुत्तरोत्तरमपचीयमानत्वात् पूर्वस्य नाश उत्तरोत्पादश्च न्यायसिद्ध इति चेत्? नन्वयं प्रत्यनीकधर्मसंसर्ग एव। नष्टत्वानष्टत्वयोराश्रयनाशा नाशयोर्वा एकत्र तेजस्यनुपपत्तेः।

कल्पलता- ननु भेदप्रवृत्तेरवश्यं विरुद्धधर्मसंसर्ग इत्येव नियमो नास्ति निष्कम्पप्रदीपे भेदे सत्यपि विरुद्धधर्मसंसर्गाभावादित्याह **निष्कम्पेति**। **कस्येति**। प्रदीपे केन प्रमाणेन भेदः सिद्ध इत्यर्थः। भेदसाधकं प्रमाणमुपन्यस्यति परः **आश्रयनाशस्येति**। आश्रयोऽत्र निमित्तकारणमिन्धनादिः। **प्रतिक्षणमिति**। सूक्ष्मकालोपलक्षणम्। **पूर्वस्य** दीपस्य। एवमुत्तरस्येति। **न्यायसिद्ध इति**। दीपो नाशप्रतियोगी नष्टाश्रयत्वादिति न्यायसिद्ध इत्यर्थः। **नन्वयमिति**। पूर्वस्य नाश उत्तरस्योत्पाद इति वदता त्वयैव नष्टानष्टत्वलक्षणविरुद्धधर्मसंसर्गः स्वीकृत इत्यर्थः। **आश्रयनाशानाशयोरिति**। नष्टाश्रयत्वानष्टाश्रयत्वयोरित्यर्थः।

सोऽयं शतं शिरश्छेदेऽपि न ददाति विंशतिपञ्चकं तु प्रयच्छतीति किमत्र ब्रूमः। भविष्यति तर्हि इहापि विरुद्धसंसर्गो दुरूह इति चेत्? अथ

स एवायं स्फटिक इत्यत्र प्रमाणप्रतीतिसंसर्गाणां विरोध आशङ्क्यते? तत्प्रतीतविरोधानां संसर्गः? अथाप्रतीतस्वरूपविरोधसंसर्गा एव केचिद्विरुद्धतया? संसृष्टतया? वेति।

कल्पलता- सोऽयमिति। विरुद्धधर्मसंसर्गं साक्षान्न स्वीकरोति प्रकारान्तरेण च तमेवाहेत्यर्थः। इहापीति। सत्यप्रत्यभिज्ञानविषयेऽपीत्यर्थः। प्रमाणप्रतीतीति। सत्त्वद्रव्यस्फटिकत्वादीनामित्यर्थः। प्रतीतेति। गोत्वाश्वत्वादीनामित्यर्थः। अप्रतीतेति। कौचिद्धर्माविहापि विरुद्धौ स्यातामिति शङ्कामात्रमित्यर्थः।

न प्रथमः, प्रागेव निराकृतत्वात्। न द्वितीयः, अयोग्यानामनुपलम्भबाधितत्वात्। अयोग्यानामपि कारणादिव्यापक विगमविलोकनव्यावर्तितत्वात्। न तृतीयः, तस्यातिप्रसञ्जकतया सर्वत्रैकत्त्वोच्छेदप्रसङ्गादिति।

एतेन प्रत्यभिज्ञानादेव लक्षणभागमाकृष्य अनुमानेन स्थैर्यसिद्धिः। तथाहि विवादाध्यासितो भावः कालभेदेऽपि न भिद्यते, तद्भेदेऽपि विरुद्धधर्मासंसृष्टत्वात्। यो यद्भेदेऽपि न विरुद्धधर्मसंसृष्टो नासौ तद्भेदेऽपि भिद्यते। यथा प्रतिसम्बन्धिपरमाणुभेदेऽपि एकः परमाणुः। तथा चायं विवादाध्यासितो भावः। तस्मात् कालभेदेऽपि न भिद्यत इति।

कल्पलता- प्रागेवेति। सामर्थ्यासामर्थ्यकरणाकरणादीनां पूर्वमेव निराकृतत्त्वादित्यर्थः। अयोग्यानामिति। मनस्त्वात्मत्वचक्षुष्ट्वप्रभृतीनामित्यर्थः। कारणादीति। आदिपदेन कार्यग्रहणं व्याप्यव्यापकपदाभ्यां कार्यकारणव्यतिरिक्त व्याप्यव्यापकग्रहणम्। तथा च द्वन्द्वः। व्याप्यपदेन च समव्याप्यमभिमतम्। व्यापकपदेन तद्भिन्नं व्यापकं यथायोग्यमत्रोहनीयम्। कर्मधारयः समास इहेत्येके। व्यर्थविशेष्यताभयेनाह लक्षणभागेति। तदेव दर्शयति विवादाध्यासित इति। ननु क्षणिकोऽपि भावः स्वस्मान्न भिद्यत एवेति सिद्धसाधनं स्यादत आह कालभेदेति। ननु कालभेदसंसर्ग एव विरुद्धधर्मसंसर्गः स्यादित्यसिद्धो विरुद्धधर्मासंसृष्टत्वादित्ययं हेतुरित्यत आह तद्भेदेऽपीति। क्रमिककाल-भेदस्याविरुद्धत्वादिति भावः। ननु संयोगविभागलक्षणविरुद्धधर्माध्यासो बीजादावपि तथा श्यामपाकरक्तादि विरुद्धधर्माध्यासो घटादावपीति चेत्, न। तेषां कालभेदेनाविरोधात्। न हि यो यदा श्यामः स एव तदा रक्तः। तद्भेदेऽपीति स्वरूपाख्यानपरमेव। अयं विवादाध्यासितो घटो भाविकपालमालापर्यन्तं न विनश्यति

विनाशकारणासमवहितत्वात् विनष्टत्वेनाप्रतीयमानत्वात्ताद्रूप्येण प्रत्यभिज्ञायमानत्वात् सभागसन्तानत्वेन विवक्षितो घटो न नाना, एकत्वेन प्रतीयमानत्वात्। क्षणिकपरमाणुवत्। प्रातःकाले दृष्टोऽयं घटो मध्यंदिनस्थायी तदन्तरालसमये विनाशकारणासमवहितत्वादित्यादि कथञ्चिद्द्रष्टव्यम्। वस्तुतः प्रत्यक्षमेव स्थैर्ये प्रमाणं स्वोत्पत्त्यव्यवहितोत्तरक्षणवृत्तिध्वंसप्रतियोगित्वस्य सर्वप्रमाणबाधितत्वादिति भावः। प्रतिसम्बन्धीति। षट्केन युगपद्योगेऽप्येक एव परमाणुर्यथेत्यर्थः।

अत्र व्याप्तौ न कश्चित् विप्रतिपद्यते। पक्षधर्मता तु प्रसाधितैव। क्षणिकत्वानुपपत्तिश्चानुगतव्यवहारानन्यथासिद्धेः। शब्दलिङ्गविकल्पा हि साधारणं रूपमनुपस्थापयन्तो न तृणकुब्जीकरणेऽपि समर्था इत्यविवादम्। बाह्यार्थस्थितौ स्थिरास्थिरविचारात्।

कल्पलता- न कश्चिदिति। अन्यथैकस्मिन्नपि क्षणे भावो भिद्येतेति विपक्षबाधिका त्वयाऽपीयं व्याप्तिरभ्युपगन्तव्येत्यर्थः। ननु नानाक्षणस्थायिनां विरुद्धधर्मासंसृष्टत्वं हेतुरेवासिद्ध इत्यत आह **पक्षधर्मता त्विति**। द्वितीयं प्रमाणमाह- **क्षणिकत्वेति**। ननु गोत्वादिकमपि लाक्षणिकमेवास्तु, को दोष इत्यत आह **अनुगतेति**। देशकालानुगतं धर्मं विनाऽनुगतव्यहार एव न स्यादित्यर्थः। ननु यदि देशकालानुगतो धर्मः प्रतीतिपथमवतरेत् तदा तस्य स्थैर्यचिन्ता, तदवे तु नास्तीत्यत आह **शब्देति**। सङ्केतग्रहार्थं व्याप्तिग्रहार्थमनुगतविकल्पार्थं च साधारणरूपभानमवश्यमभ्युपगन्तव्यमित्यर्थः। **तृणेति**। अनुगतरूपावच्छेदमन्तरेण व्याप्तिसङ्केतयोरग्रहेऽनुमितिशाब्दज्ञानानुदये तदधीने प्रवृत्तिनिवृत्ती न स्यातामिष्टतावच्छेदकधर्मग्रहं विना तोयादिविकल्पानां प्रवर्त्तकता च न स्यादित्यर्थः। नन्वस्तु ज्ञानात्मकमेव साधारणं रूपं तथापि गोत्वादीनां बाह्यानां कथं स्थैर्यमित्यत आह **बाह्यार्थेति**। बाह्यस्यार्थस्य व्यवस्थापनीयत्वादित्यर्थः।

तच्चालीकं वा आकारो वा बाह्यं वस्तु वेति त्रयः पक्षाः। तत्र न प्रथमः पक्षः। तद्धि न तावदनुभवादेव तथा व्यवस्थाप्यं, तस्यालीकत्वानुल्लेखात्, तथात्वे वा प्रवृत्तिविरोधात्। नह्यलीकमेव तत् इत्यनुभूयाप्यर्थक्रियार्थी प्रवर्त्तते। अन्यनिवृत्तिस्फुरणान्नैष दोष इति चेत् एतदेवासत्, विधिरूपस्यैव स्फुरणात्। न हि शब्दलिङ्गाभ्यामिह महीधरोद्देशे अनग्निर्न भवतीति स्फुरणमपि त्वग्निरस्तीति।

कल्पलता- **तद्धीति**। अनुगतस्वरूपमित्यर्थः। **तथा व्यवस्थाप्यमिति**।

अलीकत्वेन व्यवस्थाप्यमित्यर्थः। **तथात्वे वेति**। अलीकत्वेनोल्लिख्यमानत्वे वा इत्यर्थः। तदेवाह **न हीति**। अन्यनिवृत्तिरूपतया स्फुरणमेवालीकस्फुरणं ब्रूमो न त्वलीकत्वेन स्फुरणम्। तथा च नेदमरजतमिति ज्ञात्वैव रजतार्थी प्रवर्त्तत इति को दोष इत्याह **अन्येति**। **विधिरूपस्यैवेति**। न ह्यनुभवोऽपि व्याख्याय कल्प्यत इति भावः। एतदेवाह **न हीति**। व्यवसाये हि विषयव्यवस्थाऽनुव्यवसायाधीना। अनुव्यवसायश्च रजतमहं प्रत्येमीत्याकारो न त्वरजतमिदं न भवतीति प्रत्येमीत्याकार इति भावः।

यद्यपि निवृत्तिमहं प्रत्येमीति न विकल्पः। तथापि निवृत्तिपदार्थोल्लेख एव निवृत्त्युल्लेखः। न ह्यनन्तर्भावितविशेषणाविशिष्टप्रतीतिर्नाम। ततो यथा सामान्यमहं प्रत्येमीत्यनुव्यवसायाभावेऽपि साधारणाकारस्फुणात् विकल्पधीः सामान्यबुद्धिः परेषाम्। तथा निवृत्तप्रत्ययाक्षिप्ता निवृत्तिबुद्धिरस्माकमिति चेत्? हन्त साधारणाकारपरिस्फुरणे विधिरूपतया यदि सामान्यबोधव्यवस्था, किमायातमस्फुरदभावाकारे चेतसि निवृत्तिप्रतीतिव्यवस्थायाः।

कल्पलता- अत्र शङ्कते **यद्यपीति**। इतरव्यावृत्तवस्तुभानमेव व्यावृत्तिभानं ब्रूम इत्यर्थः। निवृत्तिमहं प्रत्येमीत्यनुव्यवसायस्तदा स्याद्यदि व्यवसाये निवृत्तिः स्वातन्त्र्येण स्फुरेन्नत्वेवमित्यर्थः। **न विकल्पो** नानुव्यवसायः। **तथापीति**। अरजतव्यावृत्तमिति भाने विशेषणतया व्यावृत्तिभानमावश्यकमित्यर्थः। एतदेवोपपादयति **न हीति**। यद्यपि यथा दण्डीत्यत्रादण्डिव्यावृत्तिभानमस्ति, न तु विशिष्य व्यावृत्त्युल्लेखः। तथापि विशेषणभानं व्यावृत्तिभाननान्तरीयकमेव। अतद्व्यावृत्तिर्वैशिष्ट्यमिति तवाभ्युपगमादित्यर्थः। तद्भानेऽपि तद्वृत्तिप्रकार-भानमावश्यकमित्यत्र दृष्टान्तमाह **यथेति**। **परेषां** *नैयायिकानाम्।* **तथेति**। निवृत्तप्रत्ययश्चेन्नूनं निवृत्तिप्रत्ययोऽप्यस्त्येवेत्यर्थः। **हन्तेति** वस्तुगत्या यद्व्यावृत्तं तद्भासते न तु व्यावृत्तत्वेनापि भानमङ्गीकुर्मो, येन व्यावृत्तिभानं विशेषणतया स्यात्। विधिरूपं सामान्यं भासते न तु तस्य सामान्यत्वमपि विषय इति नायं दृष्टान्त इत्यर्थः। अस्फुरदनुभवाकारो यस्येत्यर्थः।

न ह्यगोपोढोऽयमिति विकल्पः किं तु गौरिति। ततोऽन्यनिवृत्तिमहं प्रत्येमीत्येवमाकाराभावेऽपि निवृत्त्याकारस्फुरणं यदि स्यात् को निवृत्तिप्रतीतिमपह्नुवीत। अन्यथा त्वतत्प्रतिभासे तत्प्रतीतिव्यवहृतिरिति

गवाकारे चेतसि तुरगबोध इत्यस्तु। न च निवृत्तिमात्रप्रतिभासेऽपि प्रवृत्तिसम्भवः, न ह्यघटो नास्तीत्येव घटार्थी प्रवर्त्तते, अपि तु घटोऽस्तीति।

कल्पलता- एतदेवाह न हीति। अगोपोढोऽयमिति। अगोव्यावृत्त इत्यर्थः। तत इति। निवृत्तेर्न प्राधान्येन भानं नाप्युपसर्ज्जनतयेत्यर्थः। अतज्ज्ञानविषयस्यापि तज्ज्ञानविषयताकल्पने विपक्षे दण्डमाह अन्यथेति। तथा च सर्वज्ञानं सर्वविषयं स्यादिति भावः। निवृत्तिस्फुरणे दोषान्तरमाह न चेति। तन्मते विकल्पेन स्वलक्षणासंस्पर्शान्मात्रेत्युक्तम्। प्रवर्त्तकानुभववैलक्षण्यमाह न हीति। प्रवर्त्तकज्ञानस्वरूपमाह अपि त्विति। अनुभव एवात्र साक्षीत्यर्थः।

अघटस्यैव निवृत्तिरिति प्रतीतौ नायं दोष इति चेन्न। घटनिवृत्त्यप्रतिक्षेपे नियमस्यैवासिद्धेः। तत्प्रतिक्षेपे तु कस्ततोऽन्यो विधिर्निषेधप्रतिक्षेपस्यैव विधित्वात्। निवृत्तेरपरिस्फुरणे गां बधानेति देशितोऽश्वमपि बध्नीयात् इति चेत्, न। भवेदप्येवं, यद्यश्वोऽपि गौः स्यात् किन्तु गौ गौरश्वोऽश्व इति। अन्यथा निवृत्तावपि कुतस्ते समाश्वास इति। निवृत्त्यन्तराच्चेदनवस्था। निवर्त्यनिवृत्तितदधिकरणानां स्वरूपसाङ्कर्ये प्रवृत्तिसङ्करः स्यात्। स्वरूपभेदेनैव नियमे विधिमात्रप्रतिभासेऽपि तथा किं न स्यात्।

कल्पलता- ननु चाघटो नास्तीति प्रतीतेः प्रवर्त्तकत्वे तवायमनुशयो यदत्र घटनिवृत्तिरपि स्फुरति। घटान्तरापेक्षया घटस्याप्यघटत्वादघटस्यैव निवृत्तिरिति प्रतीतेः। प्रवर्तकत्वे तु नायं दोष इत्याह अघटस्यैवेति। नेति। अघटस्यैवेति नियमार्थो घटनिवृत्तिप्रतिक्षेप एव, अन्यथा पूर्वदोषतादवस्थ्यात्। घटनिवृत्तिप्रतिक्षेपश्च घटोऽयमिति ज्ञानपर्यवसायी। तत्र च घटत्वमेव विधिरूपं स्फुरेत् तन्मते सविकल्पकेन स्वलक्षणासंस्पर्शादित्यर्थः। शाब्दं ज्ञानमन्यनिवृत्तिमुखेनैव जायत इत्यवश्यमभ्युपगन्तव्यमन्यथाऽन्य पराच्छब्दादन्यत्रापि प्रवर्तेतेति शङ्कते निवृत्तेरपरिस्फुरणे इति। भवेदेवमिति। गोपदार्थे नाश्व इति कथमश्वं बध्नीयादित्यर्थः। गौ गौरिति। गोपदवाच्यो गौरश्वपदवाच्योऽश्व इति कथमन्यपराच्छब्दात् अन्यत्र प्रवृत्तिरित्यर्थः। अन्यथेति। निवृत्तावपि। निवृत्तिप्रतियोगिनि वृत्त्यधिकरणादिभ्यो यदि निवृत्तिः स्फुरेत्तदाऽनवस्था। तदस्फुरणेऽश्वव्यावृत्तिग्रहेऽपि गोपदादश्वे प्रवृत्तिः स्यादेव, निवृत्तेः सधारण्येनैव स्फुरणात्। स्वरूपसांकर्य इति। प्रतियोग्यादिसाधारण्येनैव निवृत्तेः स्फुरणादित्यर्थः। प्रवृत्तीति। निषेध्योऽश्वो निषेधाधिकरणं गौरिति तवापि

मते गोशब्दादतद्व्यावृत्तिपरादप्यतद्गोचरप्रवृत्त्यापत्तेरित्यर्थः। ननु निवृत्तिः स्वत एव विलक्षणा तत्र किं निवृत्त्यन्तरस्फुरणेनेति यदि, तदा गोत्वाद्यपि स्वत एव विलक्षणमिति तत्स्फुरणे कथमन्यत्र प्रवृत्तिः स्यादिति समानमित्याह **स्वरूपेति। तथा किं न स्यादिति।** प्रवृत्तेर्नियमः किन्न स्यादित्यर्थः।

स्वरूपभेद एवान्यापोहोऽन्यापोढस्वरूपत्वाद्विधेरिति चेन्न। अलीकपक्षे तदभावात्। तस्य स्वरूपविधावनलीकत्वप्रसङ्गात्। स्वलक्षणस्य च विकल्पानारोहात्। अपि च गां बधानेति देशितो गवि प्रवृत्तो नाश्वे, तदप्रतीतेः। यदा त्वश्वमुपलप्स्यते तदा तत्र प्रवृत्त्युन्मुखोऽपि गोरभावं प्रतीत्यैव निवर्त्स्यतीति किमनुपपन्नम्।

कल्पलता- स्वरूपभेद एवेति। यः स्वरूपभेदो गोत्वं त्वयोच्यते स एवान्यापोहोऽतद्व्यावृत्तिलक्षणः। यस्तु विधिः सोऽन्यापोहोऽन्य एव तद्भानं शब्दान्निराकुर्म इत्यर्थः। **अलीकपक्ष इति।** अन्यापोहत्वेनाभिमतं गोत्वादिः स्वरूपभेदस्त्वयोच्यते। तद्यद्यलीकं तदा कथं स्वरूपभेदः, न हि निःस्वरूपमलीकं स्वरूपं भवतीत्यर्थः। **तदभावात्** स्वरूपभेदाभावात्। **तस्येति।** अन्यापोहत्वेनाभिमतं गोत्वादि यदि स्वरूपं तदा कथमलीकमित्यर्थः। **स्वरूपविधाविति।** स्वरूपत एव विधावित्यर्थः। किं च गोत्वमन्यापोहरूपं यदि विधिस्वरूपं भवेत् तदा स्वलक्षणतामासादयेत्। तथा च वस्तुतस्तस्य सविकल्पकविषयता न स्यादित्याह **स्वलक्षणस्य चेति।** यद्वा स्वलक्षणमन्यापोहत्वेन गृह्यते इति तवाभिमानोऽनुपपन्न इत्याह **स्वलक्षणस्य चेति। अपि चेति।** पूर्वमश्वव्यावृत्तेर्गोशब्दादभानेऽपि नाश्वे प्रवर्त्तत इत्युक्तमिदानीमश्वाप्रतीत्यैव नाश्वे प्रवर्त्तत इत्युच्यत इत्यपौनरुक्त्यम्। ननु गोपदादश्वव्यावृत्तिश्चेन्न स्फुरेत्तदा गां बधानेति देशितो गवाश्वमेकत्र पश्यन्नश्वं बध्नीयात्। नहि तत्र नाश्वप्रतीतिरित्यत आह **यदा त्विति।** प्रवृत्त्युन्मुखोऽपि अश्वज्ञानवानपि नाश्वे प्रवर्त्तते प्रैषविषयाद् गोरयं भिन्न इति ज्ञानाद्वा नायं प्रैषविषय इति ज्ञानाद्वा प्रैषविषयतावच्छेदकं यद्गोत्वं तदिह नास्तीति ज्ञानाद्वा (नायं गौरिति ज्ञानाद्वा) न प्रवर्त्तत इत्यर्थः।

स्यादेतत्। नह्यनुभवमवधूय भवितुं क्षममिति को विधिस्फुरणमपह्नुताम्। तदुपसर्जनीभूतस्तन्निषेधोऽपि स्फुरत्येव। अन्यथा विधेरवच्छेदकत्वानुपपत्तेः। न ह्यन्यतो विशेष्यमव्यावर्तयतो विशेषणत्वं नाम। न चाऽन्यतो व्यावर्तनं व्यवच्छित्तिप्रत्यायनादन्यत्। ततो

यथेन्दीवरपुण्डरीकादिशब्देभ्यो गुणीभूतनीलधवलादिविधिशेखरा प्रतीतिस्तदन्यव्यवच्छेदस्तु तद्गर्भार्भकायमाणस्तथा सर्वत्रेति चेत्, अस्तु तावदेवम्। विधिस्तु स्फुरतीत्यत्र सम्प्रति नो निर्बन्धः। अन्यथा-ऽवच्छेद्यावच्छेदकयोरप्रतीतेर्व्यवच्छित्तिरपि न स्यात्। यथोत्पलादावेव नीलत्वाद्यप्रतीतौ।

कल्पलता- *कीर्त्तिदिङ्नागादि*भिर्गौरियमित्यादिविकल्पे विधिस्फुरणं नास्त्येवेत्युक्तम्, *ज्ञानश्रिया* तु विधिस्फुरणमभ्युपगम्य निषेधस्फुरणमपि तत्र भवतीति स्वीकृतम्। यदाह 'तत्रापोहस्तद्गुणत्वेन गम्यते' इति तदुत्थाप्य दूषयति स्यादेतदिति। 'न ह्यनुभवमभिभूय भवितुं क्षम'मित्यपि तद्ग्रन्थ एव। तस्यार्थः, अनुभवमभिभूय तिरस्कृत्य शास्त्रं भवितुं न क्षममिति। शास्त्रस्यानुभवानुसारित्वात्। तदुपसर्जनीभूतः विध्युपसर्जनीभूतः। **अन्यथेति**। व्यवच्छेदो यदि न स्फुरेत्तदा गोत्वादेर्विधेर्व्यवच्छेदकत्वं न भवेदित्यर्थः। तदेवोपपादयति **नहीति**। व्यावर्त्तकं हि विशेषणमित्युच्यत इत्यर्थः। ननु विशेषणं व्यवच्छित्तिप्रत्ययं जनयति, अन्यतो व्यावृत्तिप्रत्यये तु किमायातमत आह **न चेति**। स्फुटतरव्यावृत्तिप्रत्ययस्थले दृष्टत्वेन गवादिप्रत्ययानामपि व्यावृत्तिविषयत्वमाह **यथेति**। इन्दीवरं नीलोत्पलम् पुण्डरीकं सितम्भोजम्। **नीलधवलादिविधिशेखरा** नीलधवलादिविधिप्रधाना। **तद्गर्भार्भकायमाण**स्तत्क्रोडवर्त्ती। **तथा सर्वत्र** गोमहिषमातङ्गादिप्रतीतावपीत्यर्थः। अत्र सम्प्रतिपत्तिमाह **अस्त्विति**। स्फुरितस्य विधेरलीकत्वं यद्यपि तव हृदि वर्तते तथापि विधिस्फुरणं स्वीकृतमेव त्वयेति तावत्पदार्थः। प्राथमिकविशिष्टज्ञाने निषेधो न स्फुरतीत्यनुशयस्तावत्पदार्थ इति *केचित्*। तन्न। प्रथमविशिष्टज्ञानेऽपि व्यावृत्तिस्फुरणात्। तदुक्तं *गुणकिरणावल्यामाचार्यैः* 'अतद्व्यावृत्ति वैशिष्ट्यमिति' वैशिष्ट्यं च प्रथमविशिष्टज्ञानेऽपि भासत एव। *यत्तु* विशेषणत्वज्ञाने व्यावृत्तिप्रत्ययो न विशिष्टज्ञान इति। तन्मन्दम्। विशेषणत्वज्ञाने हि व्यावर्तकत्वं स्फुरेन्नतु व्यावृत्तिः। यदप्यन्योन्याभावग्रहे वैधर्म्यज्ञानं तन्त्रमिति। तदपि न। अन्योन्याभावत्वेन तद्ग्रहे तथैव, न तु वैशिष्ट्यरूपतयाऽन्योन्याभावग्रहे तन्त्रमिति *लीलावतीकण्ठाभरणे* एव विस्तृतम्। **अवच्छेद्यावच्छेदकयोरिति**। विशेषणविशेष्ययोर्विधिरूपयोरित्यर्थः। **व्यवच्छित्ति**र्व्यवच्छित्तिप्रत्ययः। **यथेति**। नीलं नीलत्वमुत्पलमुत्पलत्वं च यदि न भासते तदाऽनीलादनुत्पलात् व्यावृत्तिर्न भासत एवेत्यर्थः।

न च निषेध्यमस्पृशती प्रतीतिर्निषेधं स्प्रष्टुमर्हति, तस्य तन्निरूपणाधीननिरूपणत्वात्। न च निषेधान्तरमेव निषेध्यमितरेतराश्रय प्रसङ्गात्। परानपेक्षनिरूपणे तु विधौ नायं दोष इति। ततः प्रतीतावितरेतराश्रयत्वमुक्तं सङ्केते सञ्चार्य यत्परिहृतं *ज्ञानश्रिया*, तदेतत् ग्राम्यजनधन्धीकरणं गोलकादिवत् स्थानान्तरसञ्चारात्।

कल्पलता- ननु निषेधमात्रमेव भासतां किं निषेध्यस्योत्पलादेरपि भानेनेत्यत आह न चेति। ननु चागवि महिषादौ या गोव्यावृत्तिः, गवि च शवलादौ याऽगोव्यावृत्तिस्तयोरेव परस्परं विशेषणविशेष्यभावोऽस्तु किं विधेर्निषेध्यत्वेनेत्यत आह न चेति। एवं सत्यन्योन्याश्रयापत्तिः। तदुक्तम्-

सिद्धश्चागौरपोह्येत गोनिषेधात्मकस्तु सः।
तदा गौरेव वक्तव्यो नञा यः प्रतिषिध्यते।। इति।

ननु भावोऽपि स्वाभावविरहरूप इति तत्राप्यन्योन्याश्रय एवेत्यत आह परानपेक्षेति। यद्यभावविरहात्मतया भावनिरूपणमवश्यं भवेत्तदाऽयं दोषः स्यात् किन्तु स्वरूपेणापि भावनिरूपणं सम्भवत्येवेति क्वान्योन्याश्रय इत्यर्थः। अन्योन्यज्ञानाधीनमन्योन्यज्ञानमिति *नैयायिकोक्त*मन्योन्याश्रयमन्योन्यसङ्केत ग्रहाधीनमन्योन्यसङ्केतग्रहणमिति छलतः सञ्चार्य *ज्ञानश्रिया* यत्समाहितं तदेतद् ग्राम्यजनस्य पामरजनस्य व्यामोहनं, न तु परीक्षकस्य। यथेन्द्रजालिको गुटिकान्तरस्थाने गुटिकान्तरं निवेशयति। पृथग्जनास्तु तद्रूप्येणैव प्रतिपद्यन्त इत्याह तत इति। सङ्केतेऽन्योन्याश्रयसञ्चारो यथा अगौर्महिषादिर्महिषादि-पदसङ्केतग्रहाधीनग्रहः गौश्च गोपदसङ्केतग्रहाधीनग्रह इति। अस्य च परीहारः गवादिरूपार्थग्रहाधीनो गोपदसङ्केतग्रहो न तु महिषादिपदसङ्केतग्रहस्तत्रोपयुज्यते येनान्योश्रयः स्यादिति। तथा च कल्पितदूष्यदूषणत्वादन्योन्याश्रयस्य नापत्तिरिति भावः।

स्फुरतु विध्यलीकमिति चेत्, न। व्याघातात्। किञ्चिदिति हि विध्यर्थो न किञ्चिदिति चालीकार्थः। अतद्रूपपरावृत्तिमात्रेणालीकत्वे स्वलक्षणस्याप्यलीकत्वप्रसङ्गात्। रूपमात्रपरावृत्तौ तु कथं विधिर्नाम।

कल्पलता- तदत्र *धर्मोत्तरस्य* मतं शङ्कते स्फुरत्विति। यदाह 'असत्यरूपमादर्शयन् विकल्पः कथं बाह्यसदृशमादर्शयेत् तयोरत्यन्तवैधर्म्या'दिति।

विध्यलीकमिति हि कर्मधारयोऽत्र विवक्षितः। तथा च विधित्वमलीकत्वं च नैकत्र सम्भवति। किञ्चित्त्वं हि विधित्वमकिञ्चित्त्वं ह्यलीकत्वमिति परिहरति न, व्याघातादिति। ननु गोत्वमगोव्यावृत्तिरिति कृत्वाऽलीकमित्युच्यते। व्यवहारबलात्तु विधिरेवातो विध्यलीकत्वं न विरुद्धमित्यत आह अतद्रूपेति। स्वलक्षणस्याप्यतद्रूपपरावृत्तिसम्बन्धादलीकत्वमेव प्रसज्येत इत्यर्थः। ननु स्वलक्षणेऽतद्रूपपरावृत्तित्वं गोत्वादिकं तु रूपमात्रपरावृत्तिरिति कथं स्वलक्षणस्यालीकत्वमित्यत आह रूपमात्रेति। स्वलक्षणादेतावता भेदेऽपि पुनः पूर्वोक्त एव व्याघातः। न ह्येकं निःस्वरूपं स्वरूपं चेत्यर्थः।

विध्यंशस्यारोपितत्वादयमदोष इति चेत्, न। स्वलक्षण-विधेर्विकल्पासंस्पर्शात् सामान्यविधेरनुपगमात्। परिशेषादलीकविधौ विरोधस्यैव स्थितेः।

कल्पलता- नन्वलीके विधित्वमारोपितं स्फुरतीति विध्यलीकमिति ब्रूम इति कुतो विरोध इति शङ्कते विध्यंशस्येति। अलीके स्वलक्षणस्य विधेरारोपो न सम्भवति। आरोपो हि विकल्पस्तत्र च स्वलक्षणस्फुरणं त्वया नेष्यते। सामान्यं यद्गोत्वादि स एव विधिस्तत्रारोप्यत इत्यपि नास्ति। सामान्यविधेस्त्वयाऽनङ्गी-कारात्। तथा चालीकमेव विधिरित्यायातं, तत्र च विरोध उक्त एवेति परिहरति स्वलक्षणेति।

भेदाग्रहाद्विधिव्यवहारमात्रमिति चेत्। भवेदेवम्, यदि स्वलक्षणमपि विधित्वमपहाय स्फुरेत्, यदि चालीकमपि निषेधरूपतां परिहृत्य प्रकाशेत। न चैवम्, उभयोरपि निरंशतया प्रकारान्तरमुपादायाप्रथनात्, अप्रथमानरूपा-सम्भवाच्च। काल्पनिकस्याप्यंशांशिभावस्यात एव मूल एव निहितः कुठारः।

कल्पलता- ननु स्वलक्षणविधेरारोपं न ब्रूमो, येन विकल्पे तत्स्फुरणं स्यादपि तु तद्भेदाग्रहमात्रं ब्रूम इति शङ्कते भेदाग्रहादिति। भेदाग्रहो विध्यलीकयोस्तदा भवेत् यदि विधिर्विधित्वेन न स्फुरेदलीकं वा तत्त्वेन। तथा च न सम्भवति द्वयोरपि तत्त्वेनैव स्फुरणात्। न हि शुक्तित्वेनैव भासमानायाः शुक्ते रजतभेदाग्रहः सम्भवति व्यवहारोपयोगी चेति परिहरति भवेदेवमिति। निरंशतया निर्धर्मकतया। प्रकारान्तरं स्वरूपातिरिक्तं प्रकारम्। ननु यः प्रकारो न भासते

तेन भेदाग्रहः स्यादित्यत आह **अप्रथमानेति**। तत्र प्रमाणाभावादिति भावः। एतच्च *परमते*नोक्तम्। तेन विधौ रूपान्तरानभ्युपगमात्। अलीकमात्रपरं वैतत्। ननु अलीकस्वलक्षणयोः पारमार्थिकधर्माभावेऽपि काल्पनिकं धर्ममादायारोप एव स्यात्। तथा च विधेर्विकल्पासंस्पर्शेऽपि न दोष इत्यत आह **काल्पनिकस्येति**। आरोपस्य हि मूलं भेदाग्रहः, स तु निरस्तस्तदा काऽऽरोपसम्भावनेत्यर्थः। न च विशेषदर्शने सत्यप्याहार्य एवायमारोपः स्यादिति वाच्यम्। तस्य व्यवहारानङ्गत्वाद्व्यवहारार्थमेव हि स्फुरणं चिन्त्यत इति भावः।

साधारणं च रूपं विकल्पगोचरः। न चालीकं तथा भवितुमर्हति। तस्य हि देशकालानुगमो न भाविकः तुच्छत्वात्। न काल्पनिकः तस्याः क्षणिकत्वात्। नाप्यारोपितः अन्यत्राप्यप्रसिद्धेः।

कल्पलता- प्रकारान्तरेण विधिस्फुरणं साधयति **साधारणं चेति**। अनुगतप्रत्ययोऽनुगतधर्माधीनो न चालीकमनुगतमित्यर्थः। **भाविकः** स्वाभाविकः। तुच्छत्वात्, निःस्वभावत्वात्। ननु कल्पना संवृत्तिः सा स्वकीयमनुगमं गोत्वादावलीके ग्रहीष्यतीत्यत आह **न काल्पनिक इति**। कल्पनाया अपि संवृत्तेर्देशतः कालतश्चाननुगमात् ज्ञानत्वेन तस्या अपि क्षणिकत्वादित्यर्थः। ननु गोत्वादि यद्यप्यलीकमननुगतं च तथाप्यन्यत्र दृष्टं देशत्वानुगमं तत्रारोपयिष्यतीत्यत आह **नाप्यारोपित इति**। तादृशस्य कस्यापि त्वयाऽनभ्युपगमादित्यर्थः।

भेदाग्रहादेकत्वमात्रमनुसन्धीयत इति चेत्, न। भाविकस्य भेदस्याभावात्, भावे वा काल्पनिकत्वस्य व्याघातात्। परमार्थासतः परमार्थाभेदपर्यवसायित्वात्। आरोपितस्याग्रहानुपपत्तेः, अभेदा-रोपानवकाशाच्च, आरोपितासत्त्वस्य परमार्थसत्त्वप्रसङ्गात्। चतुःकोटिनिर्मुक्तस्य चातिप्रसञ्जकत्वात्, तदग्रहस्य त्रैलोक्येऽपि सुलभत्वात्। अन्यत्र पारमार्थिकभेदप्रतीतौ कथमभेद आरोप्यतामिति चेत्। एवं तर्हि यस्य प्रतिभासे यन्नारोप्यते नियमेन तस्यैवाप्रकाशे तदारोप्यम्। न तु तन्नामकमात्रस्य अतिप्रसञ्जकत्वात्। अत एव न व्यधिकरणस्यापि सतोऽसतो वा भेदस्याग्रहोऽभेदारोपोपयोगीति।

कल्पलता- ननु विकल्पविषयाणामलीकानां परस्परभेदो न गृह्यते, एतावताऽनुगतप्रत्ययः स्यादिति शङ्कते **भेदेति**। पारमार्थिकस्तावदलीकानां भेदो नास्ति यदग्रहः स्यादित्याह **भाविकस्येति**। नन्वस्तु तेषां पारमार्थिको भेद इत्यत

आह भावे वेति। पारमार्थिकधर्माश्रयत्वेन विकल्पविषयाणां पारमार्थिकत्व-प्रसङ्गादित्यर्थः। ननु यथा रजते रजतभेदः परमार्थतोऽसन्नेव न गृह्यते तथा विकल्पविषयाणां पारमार्थिकोऽसन्नेव भेदः स्यादित्यत आह **परमार्थेति**। यथा रजतस्य तत्र परमार्थाभेदः पर्यवस्यति तथा कल्पनाविषयाणामपि परमार्थाभेदः स्यात्। तथा च सिद्धं विकल्पविषयाणां देशकालानुगमोऽपि विषयत्वं चेत्यर्थः। ननु विकल्पविषयेषु यो भेद आरोपितः, तस्याग्रहं ब्रूम इत्यत आह **आरोपितस्येति** आरोपश्चाग्रहश्चेति विरोध इत्यर्थः। ननु यस्य भेदस्यासत्त्वमारोप्यते तस्याग्रहः स्यादित्यत आह **आरोपितेति**। असत्त्वं चेदारोपितं तदापि परमार्थसन्नेव भेदस्तत्र स्यात्। तथा च पुनरलीकत्वप्रसङ्ग इत्यर्थः। **कोटिः** प्रकारः। **त्रैलोक्येति**। तथा च सर्वत्रैवानुगतप्रत्ययः स्यादिति भावः। ननु घटपटादावत्यन्तविलक्षणे भेदप्रतीतिरेवास्त्यतो न भेदाग्रहो न च तदधीनोऽनुगतप्रत्यय इत्याह **अन्यत्रेति**। पारमार्थिकभेदग्रहश्चेदभेदारोपपरिपन्थी तदा पारमार्थिकभेदाग्रह एवाभेदारोपानुगुणः स्यादिति विकल्पविषयाणां पारमार्थिकभेदोऽभ्युपगन्तव्यः, यदग्रहेणाभेदारोपः स्यादिति पारमार्थिकधर्मकतया सिद्धं पारमार्थिकत्वं विकल्पविषयाणमित्यर्थः। **तन्नामकेति**। अव्यपदेश्यभेदस्येत्यर्थः। **अत एवेति**। अतिप्रसञ्जकत्वादेवेत्यर्थः। न हि यमजयोर्भेदो न गृह्यते। एतावतैव शुक्तिरजतयोरभेद आरोप्यते। घटस्य वा स्वात्मप्रतियोगिकोऽसद्भेदो न गृह्यते, एतावतैव शुक्तिरजतयोरभेद आरोप्यते इत्यर्थः।

नापि न्यायादन्यापोहसिद्धिः, तदभावात्। यद्भावाभावसाधारणं तदन्यव्यावृत्तिनिष्ठं यथाऽमूर्तत्वम्। यच्चात्यन्तविलक्षणानां सालक्षण्य-व्यवहारहेतुस्तदन्यव्यावृत्तिरूपम् इति न्यायौ स्त इति चेत्, न। कालात्ययापदेशात्। न हि प्रथमानस्य निष्ठा न्यायसाध्या नाम, प्रथनशरीरं तु चिन्तितमेवेति निष्फलः प्रयासः। यदा चानलीक एव ध्रुवं न्यायस्यानुभवाभासः, तदा कैव कथाऽलीके। न हि तस्याप्रतीयमानमपि किञ्चिदस्ति, यन्न्यायेन साध्यमित्युक्तम्।

कल्पलता- गोत्वादीनामन्यव्यावृत्तिरूपत्वे प्रमाणं शङ्कते **यदिति**। भावाभावसाधारण्यमस्तिनास्तिप्रत्ययविषयत्वम्। आश्रयनाशानाशयोरप्यनाशित्वं वा। अन्यव्यावृत्तिर्निष्ठा स्वरूपं यस्येत्यर्थः। तथा च गोत्वमन्यव्यावृत्तिस्वरूपं भावाभावसाधारणत्वात्। अत्यन्तविलक्षणानां शबलधवलादीनां

सालक्षण्यव्यवहारहेतुत्वाद्वा। सालक्षण्यं समानलक्षणत्वं सादृश्यं वा। अत्रोभयत्र बाधमाह नेति। प्रत्यक्षतो विधेः स्फुरणस्य व्यवस्थापितत्वादिति भावः। एतदेवाह न हीति। यदेति। अनौष्ण्यसाधकमपि न्यायमौष्ण्यग्राहि प्रत्यक्षं बाधते चेत्तदा अलीकसाधकं सुतरां तद्विरोधि प्रत्यक्षं बाधिष्यत इत्यर्थः। ननु प्रत्यक्षमपि स्वविषये न्यायं बाधतां, विषयान्तरे न्यायः प्रवर्त्तिष्यत एवालीकेऽपीत्यत आह न हीति।

किञ्चेदं भावाभावसाधारण्यं न तावदुभयरूपत्वं, विरोधात्। न तद्धर्मत्वमनभ्युपगमात्। न हि गोत्वमभावस्यापि धर्म इत्यभ्युपगम्यते। न तद्धर्मित्वम् अनैकान्तात्। व्यक्तिरपि भावाभावधर्मशालिनी न निषेधैकरूपेति। न तदुभयसादृश्यमसम्भवात्। अतद्व्यावृत्त्यैव तथात्वे साध्याविशेषात्। नाप्यस्तिनास्तिसामानाधिकरण्यं विरोधात् अन्यथासिद्धेश्च। न हि यदस्ति तदेव नास्तीतिप्रत्ययगोचरः स्यात्। प्रकारान्तरमाश्रित्य स्यादेवेति चेत्, एवं तर्हि तमेव प्रकारभेदमुपादाय विधिव्यवस्थायां को विरोधो, येन प्रतिबन्धः सिद्ध्येत्। तस्य विधिरूपतायामस्ति नाम किमधिकमुपनेयमिति चेत्। निषेधरूपत्वेऽपि नास्ति नाम किमधिकमुपनेयमिति समानम्। अत एव साधारण्यमिति चेत्, तथापि किं तदुभयात्मकत्वमुभयपरीहारो वेत्यशक्यमेतत्।

कल्पलता- किं च न्यायोऽपि विचारं न सहत इत्याह **किञ्चेति। विरोधादिति।** न हि य एव भावः स एवाभाव इति भवतीत्यर्थः। न हि गोत्वादेर्भावाभावोभयधर्मत्वमस्माभिरभ्युपगम्यत इत्याह **न तदिति।** ननु गोत्वे जातित्वं वर्त्तते, वर्त्तते च गुणाद्यत्यन्ताभाव इत्युभयधर्मित्वमेव भावाभावसाधारण्यं स्यादित्यत आह **न तद्धर्मित्वमिति।** अनैकान्तिकत्वमाह **व्यक्तिरपीति।** ननु व्यक्तेरपि स्वाभावनिषेधात्मकत्त्वमस्त्येवेत्यत आह **निषेधैकेति।** विधित्वस्यापि तत्र सत्त्वादित्यर्थः। **असम्भवादिति।** भवाभावयोर्हि सादृश्यं तदुभयवृत्तितायां गोत्वादेर्भवेत्, नचैतत्सम्भवतीत्यर्थः। ननु भावे चाभावे चातद्व्यावृत्तिरस्त्येवेति तत्स्वरूपं गोत्वं कथं तदुभयसादृश्यं न भवेदित्यत आह **अतद्व्यावृत्त्यैवेति।** गोत्वादेरतद्व्यावृत्तिरूपतायां सिद्धायां तथा स्यात्तद्रूपता च न सिद्धेत्यर्थः। *केचित्तु* भावाभावाभ्यां गोत्वादेः सादृश्यमिति शङ्कार्थमाहुः। गोत्वे च न भावत्वं नाप्यभावत्वमिति परिहारार्थं बाधितवन्तः। तच्चिन्त्यम्। **अस्तिनास्ति-सामानाधिकरण्यमिति।** अस्तिनास्तिप्रत्ययविषयत्वमित्यर्थः। तदुभयपदवाच्यत्वं

वा। विरोधमेव विवृणोति न हीति। एकस्य विधिनिषेधप्रत्ययाविषयत्वादित्यर्थः। अन्यथासिद्धिं विवरीतुमाशङ्कते प्रकारान्तरमिति। आश्रयनाशानाश-प्रयुक्तमस्तिनास्तिसामानाधिकरण्यमित्यर्थः। तर्हि तद्घटितं विधेरपि गोत्वस्यास्तिनास्तिसामानाधिकरण्यं नान्यव्यावृत्तिरूपतासाधनायालम्, अन्यथासिद्धेरित्याह तर्हीति। प्रतिबन्ध इति। यद्भावाभावसाधारणं तदन्यव्यावृत्तिनिष्ठमिति प्रतिबन्ध इत्यर्थः। तस्येति। सामान्यस्य गोत्वादेः। तथा च गौरेतावतैवास्तित्वे लब्धेऽस्तीति पुनरुक्तमित्यर्थः। नास्तीति विरुद्धमित्यपि द्रष्टव्यम्। निषेधेति। नास्तीति पुनरुक्तं अस्तीति विरुद्धमिति समानमित्यर्थः। अत एवेति। अस्मादेव विरोधपौनरुक्त्यभयादित्यर्थः। उभयात्मकत्वं भावाभावात्मकत्वम् उभयपरीहारो न भावत्वं, नाप्यभावत्वम्। अशक्यमिति। परस्परविरोधे हि न प्रकारान्तरस्थितिरित्यर्थः।

तस्मादस्तिनास्तिभ्यामुपाध्यन्तरोपसम्प्राप्तिः प्राप्तोपाधिनियमो वेति सार्थकत्वं तयोः। तदेतद्द्विधावपि तुल्यम्। शान्ताशेषविशेषत्वादलीकपक्षे क्वोपाध्यन्तरविधिस्तन्नियमो वेति विशेषदोषः। ततो गोशब्दो गोत्वविशिष्टव्यक्तिमात्राभिधायी पर्यवसितः, तास्तु विप्रकीर्णदेशकालतया नार्थक्रियार्थिप्रार्थनामनुभवितुमीशत इति प्रतिपत्ता विशेषाकाङ्क्षः। सा च तस्याकाङ्क्षा अस्ति गोष्ठे कालाक्षी धेनुर्घटोघ्नी महाघण्टा नन्दिनीत्यादिभिर्नियामकैर्विधायकैर्वा निवार्यत इति विधौ न कश्चिद्दोषः। गोत्वविशिष्टसदसद्व्यक्तिमात्रप्रतीतेस्तदेवास्त्यादिपदप्रयोगवैफल्यमिति चेत् तावन्मात्रप्रतिपत्त्यर्थमेव तत्। अनेकप्रतिपत्त्यर्थन्तु तदुपयोगः तस्य प्रागप्रतीतेरित्युक्तम्।

कल्पलता- निषेधरूपत्वेऽस्तिनास्तिसामानाधिकरण्येन विरोधपौनरुक्त्ये यथा त्वया समाधेये तथा विधिरूपत्वे मयापीत्युपसंहारव्याजेनाह तस्मादिति। उपाध्यन्तरोपसङ्क्रान्तिमग्रे स्वयमेव स्फुटयिष्यति। त्वत्पक्षे नैतदपि सम्भवतीत्याह शान्तेति। अलीकस्य केनाप्युपाधिना वैशिष्ट्यमेव न सम्भवतीति न विधिः। स्वपक्षेऽस्तिनास्तिसामानाधिकरण्यं समर्थयति तत इति। तास्तु व्यक्तयः। अर्थक्रियार्थी गोकार्यदानदोहनाद्यर्थी। तत्प्रार्थनां तदुपादित्साम्। अनुभवितुं प्राप्तुम्, भूप्राप्तावितिधात्वनुसारात्। तदयमर्थः। गां दद्यात् गां धुक्ष्व गां बधानेति देशितः सर्वासां गवां दानादेरशक्यतया तावदुपादित्सैव नोत्पद्यते, दूरे तु प्रवृत्तिः।

यदा तु विशेषमधिगच्छति विशेषोपादानमहिम्ना तदा प्रवर्त्तते। स च विशेषो यत्राप्राप्त एव बोध्यते तदा विधायकैः सः, यदा तु सामान्यतो देशादीनां प्राप्तानामेव विशेषो बोध्यते तदा नियामकैः। **वाकारस्तु** व्यवस्थितविकल्पार्थः। सा चाकाङ्क्षा निवर्त्तत इत्यग्रेतनेनान्वयः। एवं च गौरस्तीति तत्कालीनध्वंसाप्रतियोगित्वं बोध्यते। नास्तीति तत्कालीनध्वंसप्रतियोगित्वं तदाश्रयस्य बोध्यते। आत्मास्तीत्यात्मनो वर्तमानकालसम्बन्धो बोध्यते। नात्मास्तीत्यनाश्रितत्वमात्मनो बोध्यते। गोष्ठे गौरस्तीति देशो नियम्यत इत्याद्यूह्यम्। ननु गोपदात्सदसद्व्यक्तिमात्रं प्रतीतमेव चेत् तदास्त्यादिपदवैय्यर्थ्यं तदवस्थमेवेत्याह **गोत्वेति**। **तावन्मात्रेति**। अस्त्यादिपदानामपि यदि गोत्वविशिष्टपिण्डप्रतिपत्तिमात्रं फलं तदा भवत्येव पौनरुक्त्यम्, एतदेव तु नास्तीत्यर्थः।

यस्तु निपुणम्मन्यो विकल्पमेव पक्षयति स्म, यज्ज्ञानं यद्भावाभावसाधारणप्रतिभासं न तेन तस्य विषयत्वम्। यथा गोज्ञानस्याश्वेनेत्यादि। तद्यदि गोविकल्पस्याश्वविषयत्वमेव तद्भावाभाव-साधारण्यं गव्यपि बाह्ये तथा, ततः साध्याविशिष्टत्वम्।

कल्पलता– गोत्वमन्यव्यावृत्तिरूपमत्र विधिरूपतया प्रतीयमानस्य गोत्वस्य पक्षीकरणे बाध एव, अन्यस्य तु गोत्वस्याप्रतीततयाऽऽश्रयासिद्धिरिति तदुभयदोषं परिजिहीर्षुर्*ज्ञानश्री*र्विकल्पमेव पक्षयति स्म। तदेतस्य नैपुण्यं–विकल्पोऽपि विषयेण निरूपणीयः, स च विधिरूपतयैव भासत इति। तथापि बाधापरीहार इति **निपुणंमन्यता**। **यज्ज्ञानमिति**। गोज्ञानं गोविषयं गोभावाभावसाधारणत्वात्, अश्वज्ञानवदिति मानार्थः। यद्वा अयं गौरिति विकल्पो न गोविषयकः, तद्भावाभावसाधारणत्वात्, गां बधानेति गोविकल्पवदिति मानार्थः। **यथा** गोज्ञानस्याश्वेन विषयेणाविषयित्वमिति वदता अश्वज्ञानस्यापि गवा विषयेणाविषयित्वमिति ध्वनितम् । तथा चाश्वज्ञानमेव दृष्टान्तः। अन्यथोपसंहाराभावात्। गोभावाभावसाधारणत्वं यदि गवाविषयत्वमेव, तदा साध्याविशिष्टत्वमित्याह–**तद्यदीति**। गोज्ञानस्याश्वेन विषयेणाविषयित्वम् अश्वाविषयत्वेनैव त्वया वाच्यमिति भावः। **गव्यपीति**। गोविकल्पस्य गोत्वलक्षणभावाभावसाधारण्यं तदविषयत्वमेव। तथा च साध्यावैशिष्ट्यमित्यर्थः। यद्वा यो विकल्पो यद्भावाभावसाधारणः, स न तेन विषयेण विषयी, यथा गोविकल्पोऽश्वभावाभावसाधारणत्वान्नाश्वेन विषयेण विषयी। तथा च गोस्वलक्षणं

न गोविकल्पविषयो न वा गोत्वं विधिरूपं तद्विषय इति। अत्र तद्भावाभावसाधारणत्वं यत्तदविषयत्वे हेतूकृतं तद्विकल्प्य दूषयति तद्यदीति। गोविकल्पस्याश्वभावाभावसाधारणत्त्वमश्वाविषयत्वमेव गोस्वलक्षणाभावाभावसाधारणत्वमपि गोस्वलक्षणाविषयत्वमेव वाच्यम्। तथा च साध्याविशिष्टत्वं तदविषयत्वेनैव तदविषयत्त्वसाधनादित्यर्थः। एवं गोत्वेऽपि विधिरूपे वाच्यम्।

अथास्त्यादिविशेषाकाङ्क्षा, तदाऽसाधारण्यम्। न ह्युदाहृतो गोविकल्पोऽश्वास्त्यादिविशेषमाकाङ्क्षति। नियमविधौ तु विरोध एव। न ह्यतद्विषयस्य तद्विशेषनियमाकाङ्क्षा नाम, गोज्ञानस्याश्वविशेषनियमाकाङ्क्षाप्रसङ्गात्।

कल्पलता- ननु यो विकल्पो यत्रास्त्यादिविशेषाकाङ्क्षामुत्थापयति स तेन विषयेण विषयी न भवतीति व्याप्तिर्विवक्षितेत्यत आह **अथास्त्यादीति।** गोविकल्पस्याश्वगोचराकाङ्क्षोत्थापकत्वेनाश्वाविषयत्त्वं यथा तथा गोगोचराकाङ्क्षोत्थापकत्वेन गवाविषयत्वं साध्यम्। तत्र गोविकल्पस्याश्वगोचराकाङ्क्षोत्थापकत्त्वमेव नास्ति, येनाश्वाविषयत्त्वं प्रसाध्य तद्दृष्टान्तेन गवाविषयत्त्वं सेत्स्यतीत्यर्थः। एतदेवाह न हीति। दृष्टान्त एवायमनुपपन्नः, साधनविकलत्त्वपर्यवसायित्वात्। सामान्यतस्तदाकांक्षोत्थापकत्त्वस्य साधनस्यैव ततो व्यावृत्तेरत एवास्यासाधारण्यमित्यर्थः। ननु तद्धर्मनियामकत्त्वं तदविषयकत्त्वे हेतूकर्त्तव्यमित्यत आह नियमेति। गेहे गोष्ठे वा गौरिति तद्धर्मनियामकत्त्वं तद्विषयतया व्याप्तमतो विरोधात्तदविषयतां न साधयतीत्यर्थः। विरोधमेव स्फुटयति न हीति। ननु कथमयं विरोध इत्यत आह गोज्ञानस्येति। अश्वाविषयत्वेनैवोभयसिद्धस्येत्यर्थः।

तदीयसदसत्त्वानुपदर्शनं चेत्, तद्यदि स्वरूपमेव ततोऽसिद्धिर्दोषः। न हि गोविकल्पो गोस्वरूपं नोपदर्शयतीति मम कदापि सिद्धम्। तव चाद्यापि। उपाध्यन्तरं चेदनैकान्तः। न हि यो यस्योपाध्यन्तरं नोपदर्शयेत् नासौ तदपीति नियमः।

कल्पलता- ननु गोविकल्पस्य गोस्वलक्षणसदसत्वानुपदर्शकत्वाद् गोस्वलक्षणाविषयत्वं सेत्स्यतीत्यत आह तदीयेति। सदसत्त्वं यदि गोस्वरूपमेव तदा तदनुपदर्शकत्वं हेतुः स्वरूपासिद्ध एवेत्यर्थः। ननु मया तस्य गोस्वरूपानुपदर्शकत्वमभ्युपगम्यत एवेति कथं स्वरूपासिद्धिरित्यत आह तवेति।

अद्यापि त्वया यत्ने क्रियमाणे तत्स्वरूपानुपदर्शनं न साधितमस्तीत्यर्थ:। ननु सदसत्त्वं न वस्तुरूपं येनासिद्धिः स्यादपि तु सत्त्वासत्वयोस्तद्धर्मयोरनुपदर्शकत्वं हेतुः स्यादत आह उपाध्यन्तरमिति। उधमिभिन्नमित्यर्थ:। अनैकान्त इति। धर्मानुपदर्शकमपि धर्म्युपदर्शकं भवत्येवेत्यनैकान्त इत्यर्थ:। सन्दिग्धानैकान्तिक इत्यन्ये। अनियममेव दर्शयति न हीति।

ननु नियम एव। तथाहि यन्न यत्समवेतधर्मबोधनं न तत् तत्स्वरूपबोधनं, यथा गोविकल्पशब्दौ तुरगे। तथा च तौ गव्यपि नीलत्वापेक्षयेति व्यापकानुपलब्धिः। धर्मिबोधेऽपि हि धर्माणां कस्यचिद्बोधः कस्यचिदबोधश्चेत्युपकारभेदान्नियमः स्यात्। उपकारभेदश्च शक्तिभेदाद्भवेत्। न चैवं प्रकृते, अनवस्थाप्रसङ्गात्। ततः शक्तेरभेदादुपकाराभेदे सर्वोपाधिसहितबोधोऽबोधो वेति द्वयी गतिरिति प्रतिबन्धसिद्धिः। दुष्प्रयुक्तमेतत्। उपाधितद्वतां भेदे प्रतिनियत-सामग्रीबोध्यत्वादेव तदयौगपद्ये बोधाबोधोपपत्तेः। प्रतिनियत-सामग्रीबोध्यत्वस्यापि स्वभाववैचित्र्यनिबन्धनत्वात्। तस्यापि स्वकारणाधीनत्वात्। तस्याप्यन्वयव्यतिरेकसिद्धत्वात्। तस्यापि कार्योन्नेयत्वादिति।

कल्पलता- ननु यद्यत्समवेतं धर्मं नोपदर्शयति तज्ज्ञानं तमपि नोपदर्शयतीति नियम एव। तथा चायं गौरिति विकल्पः शब्दो वा गोगतं नीलादि नोपदर्शयत्यतो गामपि नोपदर्शयति। तत्समवेतधर्मविषयता व्याप्या तद्विषयता, सा च गोविकल्पशब्दाभ्यां निवर्त्तमाना तद्विषयतामादाय निवर्त्तत इत्यर्थ:। व्याप्तिमेव द्रढयति **धर्मिबोधेति। धर्माणामिति।** धर्माणां मध्य इत्यर्थ:। उपकारेऽप्युपकारापेक्षायां शक्तावपि शक्त्यन्तरापेक्षायामनवस्थाभयेन धर्मिधर्मयोर्ग्रहे ग्राहकाणां समानैव शक्तिरिति धर्मिणि गृह्यमाणे तद्गताः सर्व एव धर्मा गृह्येरन्नतो धर्म्यपि न गृह्यत इत्यायातम्। अत्र च विकल्पशब्दानां स्वलक्षणाविषयत्वमात्रं परस्योद्देश्यं, न तु व्यावृत्तिविषयत्वमपि, तत्परत्वे मानस्यानुपदर्शनादित्यवधेयम्। **उपाधितद्वतामिति।** भेदस्य बहुशः साधितत्वादिति भाव:। **तदयौगपद्य इति।** धर्मिग्रहधर्मग्रहसामग्र्योरयौगपद्य इत्यर्थ:। ननूक्तं समानशक्तिकत्वमतः प्रतिनियतसामग्रीवेद्यत्वमेव कथमत आह **स्वभाववैचित्र्येति।** ननु विचित्रस्वभाव एवानुपपन्न इत्यत आह **स्वकारणेति।**

यत्तु शक्तेरभेदादित्यादि, तत्तदा शोभेत यदि धर्मिमात्राधीनस्तद्बोध मात्राधीनो वा तावन्मात्रबोधसामग्र्यधीनो वा यावदुपाधिभेदबोधः स्यात्, न चैवम्।

कल्पलता- शक्तेरभेदादुपकराभेदे सर्वोपाधिसहितबोधोऽबोधो वेति दूषयति यत्त्विति। यद्यपि धर्मिमात्राधीनत्वे तद्बोधाधीनत्वे च यौगपद्यबोधनियमो न भवति, तथापि तदपि नेष्यत इति भावः।

एतेन भेदाद्धर्मिणः प्रतीतावपि शब्दलिङ्गद्वारा धर्माणां चेदप्रतीतिः, इन्द्रियद्वारापि माभूदित्यादिकं तु कर्णस्पर्शे कटिचालनमपास्तम्। तत्तदुपाध्युपलम्भसामग्रीविरहकाले प्रसञ्जितस्येष्टत्वात्। विचित्र-शक्तित्वाच्च प्रमाणानाम्। लिङ्गस्य प्रसिद्धप्रतिबन्धप्रतिसन्धान-शक्तिकत्वात्। शब्दस्य समयसीमविक्रमत्वात्। इन्द्रियस्य त्वर्थशक्तेरप्यपेक्षणात्। न तु सम्बद्धोऽर्थ इत्येव प्रमाणैः प्रमाप्यते, अतिप्रसङ्गात्। यस्य तूपाधेरुपलम्भ एव येन धर्म्युपलभ्यते तस्यानुपलम्भे स तेन नोपलभ्यत इति परं युज्यते। सर्वोपाध्यनुपलम्भे वा। तथा च सिद्धसाधनमिति सङ्क्षेपः।

कल्पलता- भेदादिति। धर्मधर्मिणोर्भेदादित्यर्थः। शब्दलिङ्गाभ्यां यथा वह्ने रूपपरिमाणादिकं न गृह्यते, किं तु वह्निस्वरूपमात्रं, तथा प्रत्यक्षमपि धर्मिमात्रविषयमस्तु, प्रमाणानां तुल्यप्रतिभाससामान्यादिति भावः। शब्दलिङ्गस्वाभाव्यं कर्णस्पर्शः, तद्वदेव प्रत्यक्षस्वाभाव्यापादनं कटिचालनम्। यद्वा यावद्धर्माणामग्रहणं कर्णस्पर्शः, तद्वदेव धर्मिणोऽप्यग्रहणापादनं कटिचालनम्। यद्वा यावद्धधर्मविशिष्ट-धर्म्यग्रहणं चेदिति कर्णस्पर्शः, तदा विकल्पानामतद्व्यावृत्तिविषयतापादनं कटिचालनम्। यथा शब्दलिङ्गे उपाधिं न गृह्णीतः, तथा प्रत्यक्षमप्युपाधिं न गृह्णीयादित्यापादने वैय्यधिकरण्यान्मूलशैथिल्यमुक्त्वा इष्टापादनमाह तत्तदिति। तर्कमूलव्याप्तानुपाधिमाह विचित्रेति। शक्तिवैचित्र्यात्र तुल्यप्रतिभासनियम इत्यर्थः। विचित्रशक्तिकत्वमेवाह लिङ्गस्येति। प्रसिद्धो दृढतरप्रमाणावधारितो यः प्रतिबन्धस्तत्प्रतिसन्धानं पक्षधर्मे सैव शक्तिर्यस्येत्यर्थः। समयः सङ्केतः। सैव सीमा मर्यादा तदायत्तो विक्रमः प्रवृत्तिर्यस्येत्यर्थः। अर्थशक्तेरिति। अर्थशक्तिः इन्द्रियसन्निकर्षः। तथा चेन्द्रियार्थसन्निकर्षादिजन्यं ज्ञानं प्रत्यक्षमतो यावद्भिरुपाधिभिः सन्निकर्षस्तावदुपाधिविशिष्टस्य धर्मिणो ग्रहणं स्यादेवेत्यर्थः। ननु रूपस्पर्शसङ्ख्या

परिमाणादिविशिष्टस्यैव वह्नेर्व्याप्यो धूमः, शब्दश्च वस्तुगत्या तावदुपाधिविशिष्ट एव सङ्केतित इति तावदुपाधिविशिष्टधर्मिग्रहः स्यादित्यत आह न त्विति। तावदुपाधिवैशिष्ट्येन न व्यापकता न वा वाच्यतेत्यर्थः। यद्वा ननु यावदुपाधीन्द्रियसन्निकर्षे चेत्तावतामुपाधीनां ग्रहणं तदा सर्वोपाधिविशिष्टग्रहणं प्रत्यक्षेणापाद्यत इत्यत आह न त्विति। तत्रापि दृष्टान्तिकानुविधानान्नियम इत्यर्थः। व्यापकतावच्छेदकस्य शक्यतावच्छेदकस्य वा वह्नित्वादेरुपलम्भ एव लिङ्गशब्दाभ्यां वह्निर्भासते इति तदनुपलम्भे वह्निर्न भासतां सर्वोपाध्यनुपलम्भे वा वह्निर्न ताभ्यां भासतामिति चेत् साध्यते तदा सिद्धसाधनमित्याह यस्येति। सर्वेति। कस्याप्युपाधेरनुपलम्भ इत्यर्थः।

स्यादेतत्। यदीन्द्रियेण समानविषयावेव लिङ्गशब्दौ, ततः प्रतिभासभेदोऽनुपपन्नः। एकविषयत्वं हि प्रतिभासाभेदेन व्याप्तं सव्येतरनयनदृष्टवत् दृष्टम्। न चेह तथा। यथा हि प्रत्यक्षे चेतसि देशकालावस्थानियतानि परिस्फुटरूपाणि स्वलक्षणानि प्रतिभान्ति, न तथा शब्दे लैङ्गिकविकल्पेऽपि। तत्र हि विजातीयव्यावृत्तमिव परस्पराकारसङ्कीर्णमिवास्फुटमिव प्रत्यक्षापरिचितं किञ्चिद्रूपमाभासमानमनुभवविषयः। न चोपायभेदमात्रेण प्रतिभासभेद उपपद्यते। न हि प्रतिपत्त्युपायाः प्रतिपत्त्याकारं परिवर्त्तयितुमीशते। न चैकं वस्तु द्व्याकारमिति प्रतिबन्धसिद्धिः। अस्य प्रयोगः, योऽयं क्वचिद्वस्तुनि प्रत्यक्षप्रतिभासाद्विपरीतः प्रतिभासो नासौ तेनैकविषयो यथा घटग्रहणात् पटप्रतिभासः। तथा च गवि प्रत्यक्षप्रतिभासाद्विपरीतः प्रतिभासो विकल्पकाल इति।

कल्पलता- यथेन्द्रियं स्वलक्षणविषयं, तथा लिङ्गशब्दावपि यदि तद्विषयौ स्यातां तदा प्रतिभासवैलक्षण्यं न स्यात्। अतस्तौ न स्वलक्षणं स्पृशत इत्याह स्यादेतदिति। यथेत्यादिना प्रतिभासभेदमेव स्फुटयति परिवर्त्तयितुम् अन्यथाकर्त्तुम्। ननु वस्तुस्वाभाव्यमेव द्विरूपमस्तु भिन्नप्रमाणप्रतिभासं येन स्यादित्यत आह न चैकमिति। प्रतिबन्धेति। यद्भावाभावसाधारणं तदन्यव्यावृत्तिनिष्ठमिति प्रतिबन्धसिद्धिरित्यर्थः। भावाभावसाधारणत्वस्यैव हेतोरनेन प्रकारेण प्रपञ्चनात् अस्य प्रयोग इति। अयं प्रघट्टकार्थः, प्रयोगमारोप्य दर्श्यत इत्यर्थः। एतत्प्रतिबन्धाधीनः प्रयोगो वेत्यर्थः। वस्तुनीति स्फुटार्थम्,

प्रत्यक्षप्रतिभासत्वावच्छिन्नाद्वैपरीत्यं न विवक्षितं, तेन न दृष्टान्तासिद्धिः। अन्यथा परप्रतिभासस्यापि प्रत्यक्षप्रतिभासत्वाद्वैपरीत्यासिद्धेर्दृष्टान्तासिद्धिः स्यात्। गवीति। स्वलक्षणे यः प्रत्यक्षप्रतिभासो निर्विकल्पकं तद्विपरीतं सविकल्पकमिति न तस्य स्वलक्षणविषयतेत्यर्थः।

इदमप्यवद्यम्। चित्राचित्रप्रतिभासाभ्यां मिथो विरुद्धाभ्यामेक-नीलविषयाभ्यामनैकान्तात्। न हि चित्राध्यक्षे यन्नीलं चकास्ति तदेव पश्चान्न केवलं तदेव वा पुरुषान्तरस्य। येनाकारेणैकविषयत्वं तयोर्न तेनैव विरोधो, येन च विरोधो न तेनैकविषयत्वम्। धर्मान्तराकारेण विरोधो नीलमात्राकारेण चैकविषयतेति चेत्, नन्विहापि धर्मान्तराकारेण विरोधो गोत्ववत्पिण्डमात्राकारेण चैकविषयतेति तावन्मात्रनिराकरणेऽसिद्धो हेतुः। पूर्वत्र सिद्धसाधनम्। न हि शाब्दलैङ्गिकविकल्पकाले देशकाल-नियमादयोऽपि सर्व एव धर्मविशेषा विषयभावमासा दयन्तीत्यभ्युप-गच्छामः।

कल्पलता- एकमेव नीलं समस्तचित्रपटदर्शिना चित्रत्वेन संवृतापरभाग पटदर्शिना चाचित्रत्वेन प्रतीयते। तत्र प्रतिभासभेदेऽपि न विषयभेद इत्यनैकान्त इत्याह चित्राचित्रेति। यद्यपि तत्र नीलेऽचित्रबुद्धिर्भ्रान्ता तथापि प्रतिभासभेदोऽस्त्येवेत्यर्थः। ननु चित्रत्वाचित्रत्वाभ्यां विरोधो नीलत्वेन चैकविषयतेति न तत्रानैकान्तिकमिति शङ्कते येनेति। गोत्ववद्व्यक्तिविषयतया समानविषयत्वं साधयामः। प्रसिभासभेदश्च देशकालनियतत्त्वानियतत्त्वस्फुटास्फुटत्वादिभिः त्वदुपदर्शितैरिति तुल्यमिति परिहरति नन्विहापीति। तावन्मात्रेति। शब्दलिङ्गविकल्पानां स्वलक्षणविषयतानिराकरणे प्रसिभासभेदो हेतुः स्वरूपासिद्धः। वस्तुनि सर्वेषां समानप्रतिभासत्त्वादित्यर्थः। पूर्वत्रेति। देशकालनियमादिषु प्रतिभासभेदेन भिन्नविषयत्त्वं यदि साध्यते तदा सिद्धसाधनं, न हि ये देशावच्छेदाः प्रत्यक्षेण भासन्ते ते शब्दलिङ्गाभ्यामपीत्यर्थः।

ननु धर्मिण्येव स्फुटास्फुटप्रतिभासभेदः कथम्। न कथञ्चित्। यथा यथा हि धर्माः प्रतिभान्ति तथा तथा स्फुटार्थप्रतिभानव्यवहारः, यथा यथा च धर्माणामप्रतिपत्तिस्तथा तथा प्रतिभानस्य मान्द्यव्यवहारो दूरान्तिकादौ प्रत्यक्षेऽपि लोकानाम्, न तु सर्वथैवाप्रतिपत्तौ।

कल्पलता- ननु यदि शब्दलिङ्गयोरपि धर्म्यैव विषयस्तदा स एवैकत्र

स्फुटोऽन्यत्रास्फुटः कथं भासतामित्याह नन्विति। प्रकाशः सर्व एव स्फुटः, स्फुटास्फुटव्यवहारश्च बहुतराल्पतरधर्मविषयतानिबन्धन इत्याह न कथञ्चिदिति। एतदेवाह यथा यथेति। न त्विति। यदि शब्दलिङ्गयोर्द्धर्मिविषयता न स्यात्तदा तत्रास्फुटतापि न भवेदित्यर्थः।

विदूरादिप्रत्ययोऽपि पक्ष एवेति चेत्। अस्तु। न तु तावतापि धर्मधर्मिभेदसिद्धौ प्रत्यक्षबाधस्य तत्सन्देहेऽपि सन्दिग्धानैकान्तिकस्य वा परिहारः, तावतापि प्रतिभासभेदस्योपपत्तेः।

कल्पलता- पक्ष एवेति। तत्रापि स्फुटास्फुटप्रतिभासप्रभेदेन सद्द्रव्यपार्थिवादिप्रतिभासभेदेन वा विषयभेदं साधयिष्याम इत्यर्थः। अतद्व्यावृत्तिविषयतां यदि दूरादिप्रत्ययानां साधयसि तदा प्रत्यक्षबाध एव, विधिस्फुरणस्य साधितत्वात्। विषयभेदप्रतिभासभेदेन धर्मिणोर्भेदे दूरान्तिकप्रत्ययानां धर्म्यविषयत्वे साध्ये बाध *इत्यन्ये*। तच्चिन्त्यम्। प्रतिभासभेदेन विषयभेदमात्रसाधनं तु सन्दिग्धानैकान्तिकपराहतम्। प्रतिभासभेदोऽपि स्यान्न तु विषयभेद इति विपक्षबाधकाभावात्। तत्सन्देहे धर्मधर्मिभेदसन्देहे वा बाधसन्देहे वा।

यदि च नैवं, दूरतमादिप्रत्ययेषु कः समाश्वासविषयः। यस्यार्थो लभ्यत इति चेत्। ननु लाभोऽपि पूर्वपूर्वोपलब्धानुपमर्दनेनैव। न हि सत्त्वद्रव्यत्वपार्थिवत्ववृक्षत्वादिकं परिभूय शिंशपा लभ्यते।

कल्पलता- यदि च नैवमिति। न विषयाभेदः, किं तु दूरदूरतरादिप्रत्यया भिन्नविषया एवेत्यर्थः। ज्ञानविषयस्य प्राप्तिरेव ज्ञानसमाश्वासहेतुरित्याह यस्येति। सद् द्रव्यं पृथिवी वृक्षः शिंशपेति दूरादिप्रत्यया जायन्ते। तत्र शिंशपालाभेऽपि सदादीनां लाभोऽस्तीति तावद्धर्मविशिष्टपिण्डगोचरा एव सर्वे प्रतिभासा न तु विषयभेद इत्यर्थः।

यत्रार्थक्रियासिद्धिरिति चेत्, सर्वेषामनुवृत्तेः कस्यार्थक्रियेति किं निश्चायकम्। न किञ्चित्, किन्तु सङ्कीर्णार्थक्रियाविरहादेकमेव तत्र वस्तु। न चैकस्मिन् प्रतिभासभेद इत्येक एव प्रत्ययस्तत्र सालम्बन इति ब्रूम इति चेत्, तथापि कतम इत्यनिश्चये स एवानाश्वासः। असङ्कीर्णापि चार्थक्रिया न व्यक्तितः, सामग्रीतः सर्वसम्भवात्। अत एव न सन्तानतो नियमः। न ह्येकसन्ताननियता काचिदर्थक्रिया नाम। काञ्चिदर्थक्रियां

प्रति प्रत्यक्षानुपलम्भगोचर एव तथा व्यवस्थाप्यत इति चेत्, तर्हि दूरतमाद्युपलब्धा अपि तथा व्यवस्थाप्याः। सर्वेषामेव तेषां तां तामर्थक्रियां प्रति प्रयोजकताया अन्वयव्यतिरेकगोचरत्वादिति।

कल्पलता- पत्रकाण्डादिविशेषलक्षणार्थक्रिया शिंशपाया एवेति तल्लाभ एव, अतस्तत्प्रतिभास एव समाश्वास इत्याह **यत्रेति**। सत्वादीनां पूर्वपूर्वप्रतिभासविषयाणां चेन्नोपमर्दस्तदा सैवार्थक्रिया कस्येति निश्चायकं नास्तीत्याह **कस्येति**। यद्यपि बहवः प्रतिभासा दृश्यन्ते तथाप्यर्थक्रिया चेदेकैव तदा तद्विषय एव वस्तुभूतोऽन्ये च प्रतिभासा अवस्तुविषया एवेत्याह **न किञ्चिदिति**। निश्चायकमित्यनुषज्यते। **सालम्बन इति**। पारमार्थिकविषय इत्यर्थः। सदादिप्रत्ययानां कतमः प्रत्ययः प्रमेत्यनिश्चये प्रवृत्त्यनध्यवसाय एवेत्याह **तथापीति**। दूषणान्तरमाह **असङ्कीर्णापीति**। असङ्कीर्णार्थक्रिययापि व्यक्तिविशेषनिश्चयः तदा स्याद्यदि सार्थक्रिया व्यक्तिविशेषमात्राद्भवेत्, न त्वेवं, किं तु सामग्रीतः सर्वसम्भव इत्यर्थः। ननु तयार्थक्रियया एका व्यक्तिर्मा निश्चीयतां, सन्तानो निश्चेष्यत इत्यत आह **अत एवेति**। सामग्रीतः सर्वसम्भवो यत इत्यर्थः। तदेव स्फुटयति **न हीति**। न ह्यंकुरोऽपि बीजसन्तानादेकस्मात्, किन्तु तत्रापि धरण्यादिसन्तानापेक्षाया दर्शितत्त्वादित्यर्थः। ननु यद्यपि सामग्र्यधीनाऽर्थक्रिया तथाप्यन्वयव्यतिरेकाभ्यां प्राधान्येनाङ्कुरं बीजस्यैव प्रयोजकत्त्वं गृहीतमिति तया अर्थक्रियया तदेव निश्चीयते इत्यत आह **काञ्चिदिति**। तर्हि द्रव्यं पृथिवी वृक्षश्चायं शिंशपेत्यत्रापि द्रव्यत्वेन संयोगं प्रति पृथिवीत्वेन गन्धं प्रति वृक्षत्वेन पत्रकाण्डादिकं प्रति शिंशपात्वेन तद्विशेषं प्रति अन्वयव्यतिरेकाभ्यां कारणत्वावधारणात् सर्वे प्रत्यया यथार्था इत्यायातमित्याह **तर्हीति**।

स्यादेतत्। न धर्मान्तराकारेण प्रतिभासभेदो भेदहेतुः, किन्तु परोक्षापरोक्षरूपतया। सा हि न धर्मभेदानप्युपादाय समर्थयितुं शक्या। तेष्वपि परोक्षापरोक्षज्ञानोदयात्। तत्रापि धर्मान्तरानुसरणेऽनवस्थानादिति चेत्।

कल्पलता- प्रत्यक्षाल्लैङ्गिकादिविकल्पानां प्रतिभासभेदाद् विषयभेदं शङ्कते **स्यादेतदिति**। धर्मान्तराकारमेवाह **परोक्षापरोक्षरूपतयेति**। ननु वस्तुधर्माविव परोक्षापरोक्षत्वे, तद्विषयतया प्रतिभासोऽपि कश्चित् परोक्षः कश्चिदपरोक्ष इत्यत

आह सा हीति। सा परोक्षापरोक्षरूपता। तेष्वपि धर्मभेदेष्वपि। धर्मपरोक्षताधीना चेत् परोक्षता तदा तत्रापरोक्षज्ञानं न स्यादेवेत्यर्थः। तत्रापीति। परोक्षे धर्मे अपरा परोक्षताऽपरोक्षे चापरा परोक्षता चेत्तदाऽनवस्थेत्यर्थः। तथा च परोक्षापरोक्षलक्षणप्रतिभासभेदाद्विषयभेदः प्रत्यक्षलैङ्गिकादिज्ञानानामावश्यक इति भावः।

न, तयोरविषयाकारत्वात्। द्विविधो हि ज्ञानधर्मो विषयावच्छेदो जातिभेदश्च। तत्र विषयावच्छेदभेदेन विषयस्य भेदस्थितिरभेदनिराकरणं वा। न तु द्वितीयेन, तस्य कारणभेदेनैवोपपत्तेः श्रुत्यनुमितिस्मृतिवत्। यथा च विषयभेदेऽपि कारणभेदादेवापरोक्षजातीयमिन्द्रियजं ज्ञानं तथा विषयाभेदेऽपि कारणभेदादेव परोक्षापरोक्षजातीयमिन्द्रियलिङ्गज्ञानं भवत् केन वार्यते। वारणे वा कार्यभेदं प्रति कारणभेदोऽप्रयोजकः स्यात्। तथा चाकस्मिकः स आपद्येत। जातिभेदोऽयं न तूपाधिभेद इति किमत्र निष्टङ्कं कारणमिति चेत्, अनुभव एव। न हि व्यवसायकाले पारोक्ष्यापारोक्ष्यस्मृतित्वानुभूतित्वानि परिस्फुरन्ति। असावग्निमानयमग्निमान् सोऽग्निमानिति स्फुरणात्। अनुव्यवसायकाले तु तत्प्रतिभासः, अमुमनुमिनोमि इमं पश्यामि तं स्मरामीत्युल्लेखात्। कथं तर्हि परोक्षोऽर्थः प्रत्यक्षश्चेति व्यवहारः। यथानुमितो दृष्टः स्मृत इति।

कल्पलता- परिहरति न तयोरिति। परोक्षत्वापरोक्षत्त्वयोर्विषय-घटितत्वादित्यर्थः। तदेवोपपादयति द्विविधो हीति। विषयावच्छेदो विषयनिबन्धनो यथा घटज्ञानपटज्ञानयोरुपाधिभेदः। जातिभेदः कारणभेदप्रयोज्या नुमितित्वसाक्षात्ववदित्यर्थः। तत्रेति। विषयकृते प्रतिभासभेदे विषयभेद एव तन्त्रम्, न तु जातिकृते, तत्र कारणभेदस्यैव तन्त्रत्वात्। यथा तत्रैव विषये साक्षात्कारिज्ञानमानुमानिकं च ज्ञानं, तथा तत्रैव परोक्षमपरोक्षं चेत्यर्थः। विषयभेदेऽपि। घटपटादिलक्षणविषयभेदेऽपीत्यर्थः। विषयाभेदेऽपीति। वह्निरूपविषयाभेदेऽपीन्द्रियादपरोक्षं शब्दलिङ्गाभ्यां च परोक्षं ज्ञानं स्यादित्यर्थः। कारणं वेति। कारणभेदपरतन्त्रो यदि कार्यभेदो न स्यात् तदा कार्यवैजात्यमाकस्मिकं स्यादित्यर्थः। जातिभेद इति। परोक्षत्त्वापरोक्षत्त्वं च जातिभेदो न तु विषयकृत उपाधिभेद इत्यत्र किं निश्चायकमित्यर्थः। अनुभव एवेति। अनुव्यवसाय एवेत्यर्थः। तदेव विशदयति न हीति। असावित्यनुमित्याकारम्, अयमिति प्रत्यक्षाकारं

सोऽग्निमानिति स्मरणाकारं दर्शयित्वा त्रयाणामपि ज्ञानानामनुव्यवसायाकारं दर्शयति अमुमनुमिनोमीत्यादि।

यदप्यत्यन्तविलक्षणानामित्यादि, तदपि सन्दिग्धानैकान्तिकम्। विधिनापि तथाभूतेन सालक्षण्यव्यवहारस्य निर्वाहात्। तथा ह्ययं व्यवहारो न निर्निमित्तो नाप्यनेकनिमित्तः, नाप्यनेकासंसर्ग्यैकनिमित्तः, अतिप्रसङ्गात्। ततोऽनेकसंसर्ग्येकनिमित्तः परिशिष्यते। तथा च तादृशविधिरूपत्वे को विरोधः, येन व्याप्तिः स्यात्, प्रत्युत निषेधरूपतायामेव विरोधो दर्शितः प्रागिति कृतं पल्लवसमुल्लासैः।

कल्पलता- द्वितीयं परानुमानं दूषयति यदपीति। सन्दिग्धेति। सालक्षण्यव्यवहारहेतुत्वेऽप्यतद्व्यावृत्तिरूपं मास्त्वित्यत्र विपक्षे बाधकाभावादित्यर्थः। अन्यथासिद्धिमुखेन सन्दिग्धानैकान्तिकत्वमेव स्फुटयति विधिनापीति। विधिरत्र जातिरिति व्यवस्थापयति तथा हीति। निर्निमित्तत्वे नित्यत्वप्रसङ्गः, अनेकनिमित्तत्वे चाननुगताकारत्वप्रसङ्गः, अनेकासंसर्ग्यैक-निमित्तत्वेऽपि तथेत्यर्थः। तादृश इति षष्ठी। येन व्याप्तिः स्यादिति। यदत्यन्तविलक्षणानां सालक्षण्यव्यवहारहेतुस्तदन्यव्यावृत्तिनिष्ठमिति तदुपदर्शिता व्याप्तिः सिद्ध्येदित्यर्थः। पूर्वोक्तं बाधं स्मारयति प्रत्युतेति।

नापि प्रवृत्त्यादिव्यवहारनिर्वाहकत्वमपोहकल्पनायाः। अन्यावभासादन्यत्र प्रवृत्तावतिप्रसङ्गात्। अध्यवसायादयमदोष इति चेत्, अथ कोऽयमध्यवसायः। किमलीकस्य वस्तुधर्मतयावभासः, किं वा वस्त्वात्मकतया, ततो भेदाग्रहो वस्तुवासनासमुत्थं वेति।

कल्पलता- अपोहे बाधकान्तरमाह प्रवृत्त्यादीति। वस्तु यदि विकल्पे न भासेत तदा तत्र प्रवृत्तिरेव ततो न स्यादेवेत्यर्थः। अन्यावभासादिति। व्यावृत्त्यवभासनाद् वस्तुनि वृत्तिर्न स्यादित्यर्थः। ज्ञानस्य स्वविषय एव प्रवर्त्तकत्वमन्यथा घटज्ञानात् पटेऽपि प्रवृत्तिः स्यादित्यर्थः।

न प्रथमः, विकल्पे तदनवभासनात्। न द्वितीयः, असाधारणविषयतया शब्दविकल्पयोरप्रवृत्तिप्रसङ्गात्, तस्यासामयिकत्वात्। तस्माद्विकल्प-वस्तुनोश्चक्षूरसवत् सर्वथा विरोध एव। साधारणविषयत्वे तु वस्तुत्वाप्रतिभासनम्, तस्यासाधारणत्वात्।

कल्पलता- विकल्प इति। सविकल्पकत्त्वे त्वन्मते वस्तुधर्माग्रहादित्यर्थः। ग्रहे वा सिद्धं नः समीहितमिति भावः। असाधारणविषयतया स्वलक्षणविषयतयेत्यर्थः अप्रवृत्तिप्रसङ्गात् अनुत्पत्तिप्रसङ्गात्। तस्येति। स्वलक्षणस्येत्यर्थः। आनन्त्यव्यभिचाराभ्यां स्वलक्षणे समयग्रहानुपपत्तेः। विकल्पोऽप्यनुगतधर्मपुरस्कारेण स्यात्। न च स्वलक्षणं तथेति भावः। तस्मादिति। विकल्पस्यानुगतधर्मविषयत्वाद् वस्तुनश्चाननुगतत्वाद्विरोध एवेत्यर्थः। विरोधमेव दर्शयति साधारणेति। तस्येति वस्तुन इत्यर्थः। तथा च वस्त्वात्मतया भानमध्यवसाय इति यदुक्तं तदनुपपन्नमिति भावः।

न तृतीयः, प्रवृत्तिसामानाधिकरण्यनियमानुपपत्तेः, भेदाग्रहस्य सर्वत्र सुलभत्वात्। अतेभ्यो भेदो गृहीत इति चेत्, किमतेषु गृह्यमाणेष्वगृह्यमाणेषु वा। नाद्यः, अतेषामपि स्वलक्षणानां विकल्पागोचरत्वात्। न द्वितीयः, अविज्ञातावधेर्भेदस्याप्रथनात्, प्रथने वाऽध्यवसेयाभिमतस्वलक्षणादपि भेदो गृह्येत, अविशेषात्। गृहीतादग्रहो भेदस्यागृहीतेभ्यस्तु तद्ग्रह इति चेत्, यदि धर्मलक्षणो भेदः, तदा विपर्ययः। स्वरूपलक्षणश्चेत्, अविशेषात् सर्वतस्तद्ग्रहोऽन्यत्र तादात्म्यग्रहात्। निःस्वरूपत्वात्तस्य क्व स्वरूपलक्षणो भेद इति चेत्, अगृहीतादपि तथा स्यात्, अविशेषात्। निःस्वरूपमपि सस्वरूपमिव भिन्नमिव प्रथितमिति चेत्, तत् किमध्यवसेयापेक्षया सस्वरूपमिव न प्रथितम्। अध्यवसेयस्वरूपमिव वा स्फुरितम्। आद्ये अप्रतिपत्तिर्वा स्यात्, अविशेषात्। निःस्वरूपप्रतिपत्तिर्वा स्यात्, उभयथापि सामानाधिकरण्यप्रवृत्ती न स्याताम्। द्वितीयस्तु प्रागेव दूषितः।

कल्पलता- प्रवृत्तीति। प्रवृत्तिनियमस्य शाब्दसामानाधिकरण्यनियमस्य चानुपपत्तेः भेदाग्रहात् कुत्र प्रवृत्तिः स्यात्, कुत्र वायं गौरिति सामानाधिकरण्यं प्रतीयेत। अनियमे हेतुमाह भेदेति। प्रवृत्तिसामानाधिकरण्यनियमो ज्ञानविषय एव प्रवृत्तिरिति नियमो न स्यादित्*येके*। प्रवृत्त्या सह ज्ञानस्य सामानाधिकरण्यनियमः समानविषयतानियमः स न स्यादित्यर्थ इत्*यन्ये*। ननु सामानाधिकरण्यनियमभङ्गस्तदा भवेद्यदि गोविकल्पादश्वे प्रवर्त्तेत। न चैवं, गोविकल्पो ह्यगोव्यावृत्तोऽयमित्याकारेण जायमानोऽश्वादिव्यवच्छेदं कुर्वन् कथमश्वादिषु प्रवर्तयेदित्याशङ्कते अतेभ्य इति। अतेभ्यः अश्वादिभ्यः। अतेषामिति। विकल्पागोचरत्वादिति। तथा च तेभ्यो भेदग्रहोऽनुपपन्न इत्यर्थः। अविज्ञातेति।

प्रतियोग्यस्फुरणे भेदस्यास्फुरणादित्यर्थः। ननु प्रतियोग्यस्फुरणेऽपि भेदस्फुरणमस्तु को दोष इत्यत आह **प्रथने वेति**। एवं सति गोस्वलक्षणादपि गोविकल्पो भेदं गृह्णीयादित्यप्रवृत्तिरेव स्यादित्यर्थः। **अध्यवसेयेति**। अध्यवसेयाभिमत स्वलक्षणो गोस्वलक्षणः। **गृहीतादिति**। ग्रहणं निर्विकल्पकं तदनन्तरं यत्सविकल्पकमुत्पद्यते। तद्ग्रहणसमानप्रतिभासमतः सारूप्याद् गोस्वलक्षणाद्भेदो न गृह्यते महिषादिभ्यस्तु भेदो गृह्यत एवेति गोविकल्पो गवि प्रवर्त्तयति। न तु महिषमातङ्गादावित्यर्थः। स्वलक्षणान्यव्यावृत्त्योः ग्रहणविषयत्त्वसारूप्याद्भेदो न गृह्यत इति तत्र प्रवृत्तिरित्*यन्ये*। तन्न। उभयोर्ग्रहणविषयत्वस्य परेणानङ्गीकारात्। **विपर्यय इति**। अपोहे तात्त्विकधर्माभावादित्यर्थः। यद्वा ग्रहणविषयीकृते धर्मिणि भेद एव गृह्यते न तु भेदाग्रह इत्यर्थः। **स्वरूपेति**। यथा महिषादिभ्यो भेदग्रहस्तथा गोस्वलक्षणादपि स्यादेवापोहस्येत्यर्थः। **अन्यत्रेति**। तादात्म्यग्रह एव भेदग्रहे प्रतिबन्धकः, स चापोहस्य केनापि वस्तुना नास्तीति सर्वत्र प्रवृत्तिरप्रवृत्तिर्वा स्याति भावः। **तस्येति** अपोहस्येत्यर्थः। **अगृहीतादपीति**। **तथा स्यादिति**। भेदाग्रह एव स्यादित्यश्वादावपि स एव प्रवृत्तिप्रसङ्गः, न हि तदपेक्षयाऽपोहो न निःस्वरूप इत्यर्थः। **निःस्वरूपमपीति**। तथा चाश्वादितो भेदग्रह एवेति तत्र न प्रवर्त्तत इत्यर्थः। **तत् किमिति**। यथाऽश्वादेर्भिन्नमिव प्रथितं तथाध्यवसेयाद् गोस्वलक्षणादपि कथं न तथा प्रथेतेति तद्भेदग्रहात्तत्रापि न प्रवृत्तिः स्यादित्यर्थः। **अध्यवसेयेति**। स्वलक्षणस्वरूपमिव वेत्यर्थः। **आद्य इति**। सस्वरूपा प्रथा चाप्रतिपत्तौ निःस्वरूपप्रतिपत्तौ च स्यादित्यर्थः। **उभयथापीति**। न ह्यप्रतिपत्तौ गौरयमिति सामानाधिकरण्यं प्रवृत्तिर्वा तत्र भवत्येवं निःस्वरूपप्रतिपत्तावपीत्यर्थः। **प्रागेवेति**। स्वलक्षणस्य विकल्पासंस्पर्शादित्युक्तत्वादित्यर्थः।

नापि चतुर्थः नीलानुभववासनासमुत्थस्य पीतानुभवस्य नीले प्रवर्त्तकत्वप्रसङ्गात्। नानुभवः प्रवर्त्तकः, अपि तु विकल्पः। स च यस्मात् तस्यैव विषय इति चेत्। यस्मादिति साक्षात् परम्परया वा। प्रथमे शाब्दलैङ्गिकविकल्पानामप्रवर्त्तकत्वप्रसङ्गः। द्वितीये तु स एवातिप्रसङ्गः।

कल्पलता- वस्तुवासनासमुत्थत्वं वेति पक्षं दूषयति **नापीति**। स्ववासनापरिपाकवशादुपजायमानैव सा बुद्धिरपश्यन्त्यपि बाह्यं बाह्ये प्रवृत्तिमातनोतीति *ज्ञानश्रिया* यत्समाहितं तदपि न सम्भवतीत्यर्थः। अनुभवरूपा वासना **अनुभववासना** तन्मते तदतिरिक्तस्थायिसंस्काराभावात्। तथा च

पीतानुभवोऽपि नीले प्रवर्त्तयेदित्याह **नीलानुभवेति**। पीतानुभवस्यापि नीलानुभवसमुत्थत्वादित्यर्थः। नीलानुभवो नीलनिर्विकल्पकं, तच्च न प्रवर्त्तकमपि तु नीलसविकल्पकम्, तच्च नीलानुभवेनैव जनितमतस्तद्विषये नीलस्वलक्षण एव प्रवर्त्तयतीत्याह **नानुभव इति**। विषय इति सप्तमी, प्रवर्तक इत्यनुषज्यते। **शाब्देति**। शाब्दलैङ्गिकविकल्पानां साक्षान्निर्विकल्पकाजन्यत्वेनाप्रवर्त्तकत्वप्रसङ्ग इत्यर्थः। **स एवेति**। नीलानुभवोऽपि परम्परया पीतसविकल्पकं जनयतीति तस्यापि नीले प्रवर्त्तकत्वप्रसङ्ग इत्यर्थः।

अनुभवव्यापारपुरस्कारान्नियम इति चेत्। कः पुरस्कारार्थः। न तावदनुभवैकविषयत्वं विकल्पेन तदसंस्पर्शात्। नाप्यनुभवत्वारोपः, स्वात्मनि कल्पनापोढाभ्रान्तत्वात्। विषये चाभिलापसंसर्गयोग्य प्रतिभासत्वात्। तथानवभासे वा विकल्पत्वव्याघातात्। विशेषोपलब्धौ चारोपासम्भवात्।

कल्पलता– ननु नीलानुभवस्य व्यापारं नीलविकल्प एव पुरस्करोति, न तु पीतविकल्पक इति न तस्य नीले प्रवर्त्तकत्त्वं, किन्तु नीलविकल्पस्यैव तत्र प्रवर्त्तकत्वमित्याह **अनुभवेति**। व्यापारपुरस्कारश्च जन्यजनकभावव्यवस्थितये त्वयापि वाच्य एवेति भावः। **तदसंस्पर्शादिति**। अनुभवविषयस्य स्वलक्षणस्या-संस्पर्शादित्यर्थः। नन्वारोपितनीलानुभवात्मा नीलविकल्पो नीले प्रवर्त्तयति। पीतविकल्पे तु वैधर्म्यान्नीलानुभवत्वानारोपादित्यत आह **नापीति**। अनुभवत्वं विकल्पस्वरूपे वा समारोप्यते तद्विषये वा। नाद्य इत्याह **स्वात्मनीति**। कल्पनापोढत्वेन कल्पनाव्यावृत्तत्वेनाभ्रान्तत्वात्। न हि विकल्पः स्वात्मनि वस्तुभूते कल्पना, किं तु विषयेऽलीके। तथा च कथमारोप इत्यर्थः। अन्त्य आह **विषये चेति**। अभिलापसंसर्गयोग्यो विकल्पविषयोऽलीकं तत्र चारोपो न सम्भवति, विशेषदर्शनप्रतिहतत्वादित्यर्थः। ननु मास्तु विकल्पोऽभिलापसंसर्गयोग्यप्रतिभास इत्यत आह **तथेति**। ननु भवत्वभिलापसंसर्गयोग्यप्रतिभासस्तथाप्यारोप उपपद्यतामत आह **विशेषेति**।

नापि तद्धर्मप्रामाण्यारोपः, तस्यानियतविषयत्वे प्रवृत्तिनियमानुपपत्तेः। परमार्थसद्विषयत्वे च तस्य विकल्पसंसर्गप्रसङ्गात्। अलीकविषयत्वे चाप्रवृत्तेः। अलीकस्यानलीकतया स्फुरणं तु निषिद्धम्।

कल्पलता– नन्वनुभवस्य प्रामाण्यं विकल्पे समारोप्यते। तेनानुभवविषये

विकल्पः प्रवर्त्तयतीति नातिप्रसङ्ग इत्यत आह **नापीति**। प्रामाण्यसामान्यमारोप्यते विषयविशेषोपहितं वा प्रामाण्यम्। आद्ये **तस्येति**। विषयनियमाभावात् प्रवृत्तिनियमानुपपत्तेरित्यर्थः। द्वितीये **परमार्थेति**। प्रामाण्ये ह्युपधायकं वस्तु वाच्यं तच्च न विकल्पे भासत इत्यर्थः। नन्वलीकमेवोपधायकमस्तु। तथा च तत्प्रामाण्यमेव तत्रारोप्यतामित्यत आह **अलीकेति**। ननु विकल्पविषयस्यालीकस्यानलीकतया भानं प्रवर्त्तकं स्यादित्यत आह **अलीकस्येति**। अनलीकतया पारमार्थिकतयाऽलीकस्य भानं तदा भवेद्यदि परमार्थसद्विषयो विकल्पः स्यात्, तच्च त्वया निषिद्धमित्यर्थः। यद्वाऽलीकस्य ताद्रूप्येणैव प्रतीतेः कथमनलीकतया भानं स्याद्विशेषदर्शनप्रतिहतत्वादित्यर्थः।

नाप्यनुभावात् स्वात्मनो भेदाग्रह एव तद्व्यापारपुरस्कारः। स्वरूपस्य स्वतोऽवगतेः, विषयभेदस्य च प्रागेव निरूपणात्। नाप्यपारोक्ष्यम्, तस्यापि स्वात्मनि सर्वज्ञानसाधरणत्वात्। विषये च विकल्पस्य तदभावात्। तथाभावेऽप्यन्यत्र नियतप्रवृत्त्यनुपपत्तेः।

कल्पलता- ननु नीलानुभवनीलविकल्पयोर्भेदो न गृह्यते। एतावतैव नीलविकल्पो नीलानुभवविषये नीले प्रवर्त्तयतीत्यत आह **नाप्यनुभवादिति**। अत्र ज्ञानयोर्भेदाग्रहस्तद्विषययोर्वा। आद्य आह **स्वरूपस्येति**। विकल्पस्य स्वप्रकाशतयाऽनुभवभेदेनैव ग्रहादित्यर्थः। अन्त्य आह **विषयेति**। अलीके ग्रहविषये पारमार्थिकभेदासम्भवादित्यादिना दूषितत्वादित्यर्थः। ननु यथानुभवेऽपारोक्ष्यं तथा विकल्पेऽपीत्येव कृत्वा विकल्पोऽनुभवविषये प्रवर्त्तयतीत्यत आह **नापीति**। अनुभवव्यापारपुरस्कार इत्यनुषज्यते। अपारोक्ष्यमात्रस्य प्रयोजकत्वे स्वात्मनि सर्वविकल्पानामपरोक्षतया सर्वं ज्ञानं सर्वत्र प्रवर्तयेदित्याह **तस्येति**। ननु यथाऽनुभवस्य विषयोऽपरोक्षस्तथा विकल्पस्यापीति प्रवृत्तिनियमः स्यादित्यत आह **विषये चेति**। न ह्यलीकमपरोक्षं नामेत्यर्थः। अभ्युपेत्याह **तथेति**। नैतत् प्रवृत्तिनियामकमित्यर्थः।

नापि विषयसारूप्यं, तदभावात्। का हि परमार्थसदलीकयोः समानरूपता नाम। यदि रूपशब्दो धर्म्मिवचनः समानशब्दश्चैकपर्य्यायः क्वार्थसङ्गतिः प्रकृते। यदि वा रूपं धर्मः समानश्चैको वैकजातीयो वेति। तथापि क्वार्थसङ्गतिः प्रकृते। अतद्व्यावृत्तिरिति चेत्, न। तस्य चालीकानलीकनिष्ठतया एकत्वैकजातीयत्वयोरभावात्। आभिमानिकोऽयं

सारूप्यव्यवहारो न पारमार्थिक इति चेत्, न। अभिमानस्यैव चिन्त्यमानत्वात्। न हि चिन्तितप्रकारान् परिभूयापरोऽभिमानो नाम।

कल्पलता- **विषयेति**। अनुभवविषयविकल्पविषययोः सारूप्यमपि नानुभवव्यापारपुरस्कार इत्यर्थः। सारूप्याभावमेव दर्शयति **का हीति**। प्रमेयत्वादिनापि सा दुर्लभेत्यर्थः। न हि वस्त्ववस्तुनोरेको धर्मी नापि वस्त्ववस्तुनोरेक एकजातीयो वा धर्म इत्याह **यदीति**। उभयत्रानभ्युपगमादेवासंगतेरिति भावः। नन्वतद्व्यावृत्तिरेको धर्म उभयसाधारण इति कथं नार्थसङ्गतिरित्याह **अतद्व्यावृत्तिरिति**। अतद्व्यावृत्तिरेको वा एकजातीयो वा धर्म इत्यनुषज्यते। अत्राप्यनभ्युपगममाह **तस्येति**। अतद्व्यावृत्तिरूपसारूप्यस्येत्यर्थः। **तस्या इति** पाठे व्यावृत्तेरित्यर्थः। अलीकनिष्ठतया नैकत्वमनलीकनिष्ठतया च नैकजातीयत्वमिति साध्यद्वये हेतुद्वयमेतत्। अलीकानलीकनिष्ठतयेत्येक एव वा हेतुरुभयत्र। **अभिमानस्यैवेति**। अभिमान एव नानाप्रकारेण विकल्पितो, न तु तेन प्रवृत्तिनियम उपपादित इत्यर्थः।

स्वभावादेव कश्चिद्विकल्पः कस्मिंश्चिदेवास्फुरितेऽपि प्रवर्त्तयति। किमत्र क्रियताम्। स चास्य स्वभावभेदः स्वकारणादेवायातः। तत्र कः पर्य्यनुयोज्यतामिति चेत्। तत् किमप्रत्यासन्न एव विकल्पस्तत्र प्रवर्त्तयति प्रत्यासत्त्यन्तराभावात् स्वभावप्रत्यासन्नो वा व्यवहृतिरेव वा प्रत्यासत्तिः। न प्रथमः अतिप्रसङ्गात्। द्वितीये तु स्वभावेनोत्तरं स्यात्, किन्तु तदेव स्फुरणम्। न हि व्यवहारे प्रवर्त्तयितव्ये स्वभावप्रत्यासत्तिमवधूय ज्ञानज्ञेययोरपरः कश्चिद्विषयविषयिभावः। सदसदनिर्वचनीयात्मख्यातिवादिभिरपि स्वभावप्रत्यासत्तेरवर्ज्जनीयत्वादिति वक्ष्यमाणत्वात्। तृतीये तु व्यक्तमात्माश्रयत्वम् स्वव्यवहारनियमं प्रत्येव निमित्तानुसरणात्।

कल्पलता- प्रवृत्तिनियामकं *ज्ञानश्रियो* बीजसर्वस्वमुत्थापयति **स्वभावादिति**। तदुक्तं *ज्ञानश्रिया* नियतशक्तयो हि भावाः प्रमाणपरिनिष्ठितस्वभावा न शक्तिसाङ्कर्यपर्य्यनुयोगभाजः कारणशक्तेरसदुत्पत्तिनियमादिति। ननु स्वभावभेद एव कथमीदृश इत्यत आह **स चेति**। स्वभावप्रत्यासत्तेरभावादित्यग्रे सम्बद्धम्। स्वभावप्रत्यासत्तिरेव ज्ञानविषययोर्विषयविषयिभावः संबन्ध इति सिद्धा विकल्पस्य वस्तुविषयतेति सिद्धं नः समीहितमित्याह **द्वितीये त्विति**। **न हीति**। ननु तद्गोचरव्यवहारजनकत्वमेव ज्ञानस्य विषयप्रत्यासत्तिरित्यत आह **तृतीये त्विति**।

कारणशक्तेरसदुत्पत्तिवन्नियम इति चेत्, सत्यम्। एतत्तु चिन्तनीयं कारणशक्त्यापि नियतजातिनियतया भवितव्यम्। अन्यथा ज्वलनविकल्पाज्जलेऽपि प्रवृत्तिप्रसङ्गात्।

कल्पलता- ननु यथा असत्त्वाविशेषेऽपि दण्डाद् घट एव जायते न तु पटस्तथा गोविकल्पाद् गव्येव प्रवृत्तिर्नाश्व इत्याह **कारणेति**। यथा दण्डत्वावच्छिन्नस्यान्वयव्यतिरेकौ घटत्वावच्छिन्नं कार्यमनुविधत्ते तथा गवि प्रवृत्तिं प्रति विकल्पस्य जातिप्रतिनियमस्त्वन्मते दुरुपपाद इत्याह **कारणशक्त्यापीति**। नियामकमन्तरेण स एवातिप्रसङ्ग इत्याह **अन्यथेति**।

दाहादिसमर्थाकारविकल्पजातीयं तात्त्विके वह्नौ प्रवर्त्तयतीति जातिर्वोपाधिर्वा नियामक इति चेत्, न। तर्हि रत्नमरीचिनिचये ततः प्रवर्त्तेत। तज्जातीयस्य दहन एव प्रवर्त्तनसामर्थ्यात्। ताद्रूप्येण तस्यैव प्रथनादिति चेत्, प्रथताम्। न तु तस्य प्रवर्त्तनयोग्यता तत्र प्रथननियता। वह्निस्वलक्षणे वह्निविकल्पादप्रवृत्तिप्रसङ्गात्। स्वीकुरु वा तस्यापि तत्र स्फुरणं परिहर वा वह्निविकल्पादवह्नौ प्रवृत्तिमिति।

कल्पलता- ननु वह्निरयमित्याकारविकल्पत्वावच्छिन्नमेव वह्नौ प्रवर्त्तकम्। तादृशविकल्पत्वं च जातिरुपाधिर्वेत्यन्यदेतत्। न हि तवापि जात्यैव कारणताऽवच्छिद्यते कालाकाशदिशां प्रतिनियतकार्यं प्रत्यकारणतापत्तेरित्याशङ्कते **दाहेति**। **तत** इति वह्निविकल्पादित्यर्थः। न हि बीजादङ्कुरसमर्थात् कुञ्जरोत्पत्तिरिति भावः। एवं रत्ननिचयविकल्पात् वह्निस्वलक्षणेऽपि प्रवृत्तिर्न स्यादित्यपि द्रष्टव्यम्। **ताद्रूप्येणेति**। वह्नित्वेन तस्यैव रत्ननिचयस्यैव। **प्रथतामिति**। त्वन्मते प्रवृत्तिविषयप्रथनमतन्त्रमित्यर्थः। **वह्निविकल्पादिति**। वह्निस्वलक्षणप्रथनस्य त्वया तत्रानङ्गीकारादङ्गीकारे वा सिद्धं नः समीहितमित्यर्थः। **स्वीकुरु वेति**। सेयमुभयतःपाशा रज्जुरित्यर्थः।

एतेनाकारसारूप्यं नियमहेतुरपास्तः। अर्थनीयसारूप्याभावेऽपि प्रवृत्तिदर्शनात्। अनर्थनीयसारूप्यमात्रस्य चातिप्रसञ्जकत्वात्।

कल्पलता- यदुक्तं *ज्ञानश्रिया* प्रत्यासत्तिचिन्तायां तात्त्विकस्यापि वह्नेर्ज्वलनाकारत्वं विकल्पकस्यापि तावता तत्रैव प्रवर्त्तनशक्तिर्ज्वलनविकल्पस्य न तु जलादाविति तदतिदेशेन दूषयति **एतेनेति**। मरीचिनिचये ततः

प्रवृत्त्यभावप्रसङ्गेनेत्यर्थः। एतदेवाह **अर्थनीयेति। अर्थनीयः** प्रवृत्तिविषयतया इष्टो रत्ननिचयस्तस्य च वह्निविकल्पेन सारूप्याभावादित्यर्थः। तथापि वह्निना वह्निविकल्पस्य सारूप्यमस्त्येवेत्यत आह **अनर्थनीयेति**। न हि तत्र वह्निरवलम्बनीयः किन्तु वह्निनिचय एवेत्यर्थः। यद्वा ज्वलनविकल्पाज्जलेऽपि प्रवृत्तिप्रसङ्गादित्यर्थः।

न च बाह्यवादे ज्ञानज्ञेययोर्विवक्षितसारूप्यसम्भवः, सामग्रीवैषम्यात्। साम्ये वा जाड्यचैतन्ययोरेकशेषप्रसङ्गात्। न च साम्येऽप्यवान्तरविशेषात् कार्य्यविशेषव्यवस्था मिथः सामग्र्यननुविधानेन जायमानत्वात्। न च कार्य्योन्नेयं सामग्रीसाम्यं, बाह्ये धूमाद्यनुविधीयमानस्य कारणस्य दृश्यमानत्वात्। धूमज्ञानस्य च तद्व्यभिचारोपलम्भात्। न च तदेव कारणमेकत्र दृश्यमदृश्यं चान्यत्रेति युक्तम्।

कल्पलता- एतच्च सारूप्यमङ्गीकृत्योक्तम्। वस्तुतः सारूप्यमेव नास्तीत्याह **न चेति। विवक्षितेति।** प्रवृत्तिनियामकत्वेनेष्ट इत्यर्थः। **साम्ये वेति।** अभिन्नसामग्रीकत्वेन सर्वमज्ञानं स्यात् ज्ञानमेव वा स्यात्, वैजात्यं तु न भवेदित्यर्थः। ननु ज्ञानसुखयोर्यथा सामग्रीसाम्येऽपि किञ्चित्कारणभेदाद्वैजात्यं, तथा जडचैतन्ययोरपि स्यादित्यत आह **न चेति**। उभयोरपि प्रकाशतमसो र्विलक्षणसामग्रीजन्यत्वादित्यर्थः। तथा च न सामग्रीसाम्यमिति भावः। **बाह्ये धूमाद्यनुविधीयमानस्येति।** धूमादिनानुविधीयमानस्य वह्न्यादेः कारणस्य दृश्यत्वात्। धूमज्ञानस्य च वह्निं विनापि जायमानत्वात्। धूमधूमज्ञानयोः क्व सामग्रीसाम्यमित्यर्थः। ननु धूमज्ञानेऽप्यदृश्यो वह्निः कारणं स्यादिति कथं न सामग्रीसाम्यमत आह **न चेति**।

यदि च नीलिमादिर्विज्ञानस्य जातिविशेषः, कथं तदतिपत्य ज्ञेयं स्पृशेत्। ज्ञेयस्य चेत्, कथं ज्ञानं तद्विशिंष्यादिति, जातिसङ्करापादनप्रस्तावे चिन्तितप्रायम्। तस्मात् स्फुरित एव ज्ञानं प्रवर्त्तयतीति गले पादुकयाप्यङ्गीकारयितव्यः गत्यन्तराभावात्।

कल्पलता- आकारसारूप्याद्विकल्पः स्वलक्षणे प्रवर्त्तयतीत्यत्र दूषणान्तरमाह **यदि चेति**। आकारो हि नीलत्वं, तद्यदि ज्ञानगता जातिस्तदा सा ज्ञेये नीले न वर्त्तेत। ज्ञेयगता चेत्तदा ज्ञाने कथं वर्त्ततामिति नाकारसाम्यमित्यर्थः। ननूभयत्र वर्त्ततां को दोष इत्यत आह **जातिसङ्करेति**। एवं सति

ज्ञानत्वानुभवत्वसाक्षात्त्वादिभिः साङ्कर्यं स्यादित्यर्थः। प्रकृतमुपसंहरति तस्मादिति।

तर्हि स्फुरिते स्वाकारे एव प्रवर्त्तयतु, तत्र प्रवृत्त एव चार्थी तत्सदृशमर्थमासादयति प्रभायां प्रवृत्तो मणिवदिति चेत्, न। अभिमतार्थक्रियासामर्थ्यविरहिण्यप्रवृत्तेः। न च बाह्ये विकल्पाकारारोपसम्भवः, तस्य तेनासंस्पर्शात्। न चाकारे बाह्यत्वारोपः, स्वरूपे स्फुरत्यस्वरूपारोपानवकाशात्। प्रभायां तु मणिबुद्ध्यैव मण्यर्थी प्रवर्त्तते न तु तदबुद्ध्येति दृष्टान्तोऽप्याभासः।

कल्पलता- तदनेन प्रघट्टकेन शब्दलिङ्गविकल्पानामलीकविषयत्वं निराकृत्य आकारो वेति *सौत्रान्तिकमतं* दूषयितुमाशङ्कते **तर्हीति**। विकल्पानां प्रामाण्याभिमानमुपपादयति **तत्रेति**। संवादात्प्रमाणत्वेनाभिमान इति भावः। परिहरति **नेति**। अर्थक्रियासमर्थे ह्यर्थेऽर्थक्रियार्थी प्रवर्त्तते, न तु ज्ञानाकारस्तथेत्यर्थः। ननु बाह्येऽर्थक्रियासमर्थे ज्ञानाकारारोपात्प्रवृत्तिः स्यादत आह **न च बाह्य इति**। बाह्यस्य त्वन्मते विकल्पेनासंस्पर्शात्। ननु ज्ञानाकार एव बाह्यत्वमारोप्य प्रवृत्तिः स्यात्तदर्थक्रियासमर्थमेव यत इत्यत आह **न चेति**। **स्वरूप इति**। स्वप्रकाशेन ज्ञानाकारे स्फुरति तत्र विशेषदर्शनादारोपानुपपत्तिरित्यर्थः। अन्यविषयज्ञानादन्यत्र प्रवृत्तिरित्यत्र दृष्टान्तोऽपि साध्यविकल इत्याह **प्रभायां त्विति**।

न चाकारवादेऽस्फुरतोऽर्थस्य सत्तायां प्रमाणमप्यस्ति। आकारकादाचित्कत्वस्य तैमिरिककेशाद्याकारेणानैकान्तिकत्वात्।

कल्पलता- *सौत्रान्तिकमते* दोषान्तरमाह **न चेति**। **अस्फुरतोऽर्थस्य** नीलादेः। नन्वाकारकादाचित्कत्वादेव विषयसिद्धिः स्यात्। न हि नीलसन्निधानमन्तरेण नीलाकारं ज्ञानं कादाचित्कं भवेत् सर्वदैव तदाकारज्ञानप्रसङ्गादित्यत आह **आकारेति**। कादाचित्कत्वस्याप्याकारस्यार्थव्यभिचारदर्शनादित्यर्थः।

अर्थक्रियासम्वादस्यापि स्फुरितस्याकारमात्रशरीरत्वात् बाह्यस्य चासिद्धेः। निरालम्बनार्थाकारवच्च क्वचिद्वासनावशादर्थक्रियाकारोऽपि निरालम्बन एव भविष्यतीति, विपक्षे बाधकाभावात् प्रतिबन्धस्याप्यसिद्धेः। तस्माद्बाह्यसिद्धिः। साकारं च ज्ञानमिति बाललोलुपत्वमिति।

कल्पलता- ननु बाह्यार्थक्रियैव बाह्ये प्रमाणं स्यादित्यत आह **अर्थक्रियेति**। अर्थक्रियाया अप्याकारशरीरत्वादित्यर्थः। किं च यदि बाह्यं सिद्ध्येत्तदार्थक्रियाऽपि

प्रतिनियता सिद्ध्येत्, तदेव तु नास्तीत्याह **बाह्यस्य चेति**। न चार्थक्रिया बाह्ये प्रमाणं भवितुमर्हति। तेन तैमिरिककेशज्ञानवदर्थक्रियाज्ञानस्यापि वासनासमुत्थत्वेनोपप्लवयितुं शक्यत्वादित्याह **निरालम्बनेति**। निरालम्बनार्थाकारस्तैमिरिककेशज्ञानाकारः। **प्रतिबन्धस्यापीति**। अर्थक्रियाकारबाह्ययोः प्रतिबन्धस्यासिद्धेः कथमर्थक्रियासम्वादेन बाह्यार्थसिद्धिः स्यादित्यर्थः। बाह्यस्यार्थक्रियैव नास्तीत्यपिना समुच्चिनोति।

अस्तु तर्हि बाह्यमेव स्वलक्षणं विकल्पस्य विषयः। यद्यपि स्वरूपेणासामयिकतया तत्राभिलापसंसर्गयोग्यम्, तथाप्यतद्रूपपरावृत्ति-प्रत्यासत्त्या साधारणरूपतामापन्नं सत् तथा भवत्येव। यथा ह्येको गौरगोव्यावृत्तस्तथाऽपरेऽपि गाव इति चेत्। अथ कोऽयमगौर्नाम। किमेकस्य गोस्वलक्षणस्यानात्मा आहोस्वित्तद्गतधर्म्मविरही।

कल्पलता- सम्प्रति बाह्यं वस्तु वेति *वैभाषिकमत*मुत्थापयन् तृतीयं विकल्पं दूषयति **अस्तु तर्हीति**। ननूक्तं स्वलक्षणं नाभिलापसंसर्गयोग्यप्रतिभासमत आह **यद्यपीति**। **अतद्रूपेति**। अगोव्यावृत्तिलक्षणया प्रत्यासत्त्या स्वलक्षणेष्वप्यभिलापसंसर्गयोग्यतासम्भवादित्यर्थः। **तथा भवत्येव** अभिलापसंसर्गयोग्यं भवत्येवेत्यर्थः। तामेव प्रत्यासत्तिमाह **यथा हीति**।। गोपिण्डभिन्नो वा गोत्वजातिशून्यो वा अगौरिति विकल्पार्थः।

प्रथमे न गवान्तरेऽपि गोशब्दविकल्पौ प्रवर्त्तेयाताम्, अश्वादिवदनात्मत्वाविशेषात्। अतिप्रसङ्गश्च, महिषमातङ्गाद्यगोव्यावृत्त्याश्वेऽपि गोव्यवहारप्रसङ्गात्। स गोरपि व्यावर्त्तते इति चेत्, तत् किमभिमतो गौर्गोरपि न व्यावर्त्तते। व्यावर्तते, किन्तु स्वयमप्यसौ गौरिति चेत्, यद्यगोव्यावृत्तिरेवास्य गोत्वं तदश्वेऽपि समानम्। अन्यच्चेत्तदुच्यताम्।

कल्पलता- **गवान्तर इति**। तस्यापि अगोत्वादित्यर्थः। महिषादगोर्मातङ्गाच्चाश्वस्यापि व्यावृत्तत्वे गोव्यवहारः प्रसङ्ग इत्याह – **अतिप्रसङ्गश्चेति**। अश्वादिर्गोरपि व्यावर्त्तत इति न तत्र गोव्यवहार इत्याह **स गोरपीति**। एकस्माद् गोपिण्डादपरोऽपि गोपिण्डो व्यावर्त्तत इति तत्रापि गोव्यवहाराभावप्रसङ्ग इत्याह **तत्किमिति**। गोपिण्डादेकस्माद्भिन्नोऽपि गोपिण्डो गौर्भवत्येवेति। तत्र गोव्यवहारः स्यादेवेत्याह **व्यावर्त्तत इति**। **तदश्वेऽपीति**। महिषादगोर्व्यावृत्तोऽश्वोऽपि गौरेव स्यादित्यर्थः। **अन्यदिति**। गोत्वावच्छिन्नप्रतियोगिकान्योन्याभाववानगौस्तदन्यश्च

गौरित्यर्थः। तथा च सिद्धं गोत्वमिति भावः।

द्वितीये तु तद्‌गतधर्म्मविरहिव्यावृत्तस्तद्वानेव स्यात्। तत्र च न नो विवादः।

कल्पलता- तद्‌गतेति। गोत्वात्यन्ताभाववदन्यो गोत्ववानेवेत्यर्थः।

मिथः सम्भिन्नाकाराः पिण्डा एव साधारणं रूपमस्तु कृतमतद्रूपपरावृत्त्येति चेत्, न। सम्भेदाभावात्। स हि न वास्तवः पिण्डानां विरुद्धधर्म्माध्यस्तत्वात्। नाभिमानिकः, शाबलेयादेर्भेदेनैव प्रथनात्। तद्धर्म्माणां सम्भेदाभिमान इति चेत्, न। धर्म्यतिरिक्तधर्म्मानभ्युपगमात्। अभ्युपगमे वा पर्य्यवसितं विवादेन।

कल्पलता- *कीर्तिमतेना*नुगतप्रत्ययस्यान्यथासिद्धिं शङ्कते, मिथ इति। यदाह कीर्तिः।

परररूपं स्वरूपेण यया संव्रियते धिया।
एकार्थप्रतिभासिन्या भावानाश्रित्य भेदिनः।।

तया संवृतनानार्थाः संवृत्या भेदिनः स्वयम्।
अभेदिन इवाभान्ति भावा रूपेण केनचित्।। इति।

स हीति। सम्भेद इत्यर्थः। पिण्डानां वास्तवमेकत्वम् आभिमानिकं वा। आद्य आह पिण्डानामिति। भेदेनैवेति। तथा च क्वैकत्त्वाभिमान इत्यर्थः। तद्धर्माणां शाबलेयादिधर्माणाम्। सम्भेद ऐक्यम्। शाबलेयादिभिन्नास्त्वन्मते धर्मा एव न सन्ति येषां सम्भेदः स्यादित्याह नेति। तेभ्यो भिन्नास्तेषां धर्माश्चेत्तदा पर्यवसितं विवादेनेत्याह अभ्युपगमे वेति।

स्यादेतत्। भिन्नानामेव स्वलक्षणानां समानाकारविकल्प जननसार्थ्यमस्तु। तदपेक्षया च केचिद्‌गाव इति व्यपदिश्यन्ते केचिदगाव इति। तच्च सामर्थ्यं स्वकारणनियतत्वादपर्य्यनुयोज्यम्। अन्यथा सामान्येष्वपि सामान्यान्तरं कल्प्येत अनुगतव्यवहारानुरोधात्। तथा गोपिण्डेष्वपि गोत्वस्य, तेष्वेव व्यवस्थित्यनुरोधात्, उभयमुखी चैवमनवस्था स्यादिति चेत्।

कल्पलता- *कीर्त्तिमत*माशङ्कते स्यादेतदिति। यथाह *कीर्तिः*।

एकप्रत्यवमर्षस्य हेतुत्वाद्धीरभेदिनी।
एकधीहेतुभावेन व्यक्तीनामप्यभिन्नता।। इति।

तदपेक्षयेति। येषां गवाकारानुगतधीजनकस्वाभाव्यं पिण्डानां ते गावः, येषां तु न तथा सामर्थ्यं ते पिण्डा अगाव इत्यर्थः। ननु तादृशं सामर्थ्यमेव कुत इत्यत आह **तच्चेति।** एतच्च त्वयापि स्वीकर्त्तव्यमित्याह **अन्यथेति।** गोत्वाश्वत्वमहिषत्वादिष्विदं सामान्यमिदं सामान्यमित्यनुगतप्रत्ययात्तेष्वपि सामान्यान्तरमङ्गीक्रियेतेत्यर्थः। किं च गोत्वं गोपिण्डेष्वेव वर्त्तते नान्यत्रेति तद्वृत्तिनियामिका अपरा काचित् एवं तद्वृत्तिनियामिका चापरेत्यधो धावन्ती अनवस्था स्यात्। सामान्ये च सामान्यन्तराभ्युपगमे चोर्द्धं धावन्तीत्युभयमुख्य-नवस्थेत्यर्थः।

यद्येवं निमित्तान्तरमनपेक्ष्यैकव्यवहारोऽत्यन्तभिन्नैः। एवं भिन्नव्यवहार एवाभिन्नेनैकेन केनचित् किं न साध्यते। शक्तिस्वभावावलम्बनस्योभयत्रापि तुल्यत्वात्। अथैवं सत्येकव्यवहारः क्वचिदपि न स्यात्, निर्निमित्तो वा भवेत्, उभयमप्यनिष्टम्। तदेतत्तुल्यम्। अनेकव्यवहारोऽप्येवं सति न स्यात् निर्निमित्तो वा भवेत्, उभयमप्यनिष्टम्। तस्मादेकेनैकव्यवहार वदनेकेनाप्यनेकव्यवहार एवेति सामर्थ्यनियमः।

कल्पलता- यथात्यन्तभिन्नानामभेदव्यवहारहेतुत्वं तथा अभिन्नानां भेदव्यवहार हेतुत्वमेव किं न स्यादित्येकैकोऽपि गोपिण्डो भेदेनैव व्यवह्रियेतेत्याह **यद्येवमिति।** एकेनानेकव्यवहारश्चेदनुपपन्नस्तदा अनेकैरेकव्यवहारोऽप्यनुपपन्न एवेत्याह **अथैवमिति।** तुल्यतामेव दर्शयति **अनेकेति।** एकेनैव सामान्येन गोत्वादिना गवादिपिण्डानामनुगतव्यवहार इत्युपसंहरति **तस्मादिति।**

का गतिस्तर्हि सामान्येष्वनेकेष्वेकव्यवहारस्य। या चन्द्रमस्येकस्मिन्ननेकव्यवहारस्य। भ्रान्तोऽसाविति चेत्, अयमपि भ्रान्त एव। बाधकस्योभयत्रापि तुल्यत्वात्। सर्वत्र भ्रान्तोऽस्त्विति चेत्, भेदव्यवहारोऽपि तथा किं न स्यात्। अर्थक्रियाभेदस्थितेरिति चेत्, व्यक्तिभेदाभेदव्यवस्थापकार्थक्रियाभेदाभेदवत् सजातीयासजातीयत्वव्यवस्थापकार्थक्रियासाजात्यवैजात्ये अपि किं न पश्यसि। ते अपि भ्रान्ते इति चेत्, अर्थक्रियाभेदोऽपि भ्रान्त इति तुल्यम्। अस्त्वेवमिति चेत्, त्यज तर्हि बाह्यव्यसनम्। अयमेवाशय इति चेत्, तत्र वक्ष्यामः।

कल्पलता- परापादितामनवस्थामुद्धर्त्तुमाह **का गतिरिति**। यथा कदाचिदेकेनाप्यनेकव्यवहारस्तथा क्वचिदनेकेनाप्येकव्यवहार इति प्रतिबंदिमुखेनोत्तरमाह **येति**। वस्तुतः सामान्येष्वपि तदितरावृत्तित्वे सति सकलतद्वृत्तित्वं नित्यत्वे सत्यनेकवृत्तित्वमुपाधिसामान्यमेकमस्तीति भावः। **सर्वत्रेति**। गोपिण्डादिष्वनुगतव्यवहारो भ्रान्तोऽस्त्वित्यर्थः। *वेदान्तिमत*मालम्ब्याह **भेदव्यवहारोऽपीति**। अर्थक्रियाभेदात् व्यक्तीनामपि भेद इत्याह **अर्थेति**। अर्थक्रियासाजात्यवैजात्यनिबन्धने तर्हि व्यक्तीनामपि साजात्यवैजात्ये स्वीकार्ये एव अन्यथा तदाकस्मिकत्वप्रसङ्गादित्याह **व्यक्तीति**। **ते अपीति**। अर्थक्रियासाजात्यवैजात्ये इत्यर्थः। तर्हि व्यक्तिभेदकोऽर्थक्रियाभेदोऽपि भ्रान्त एवेति व्यक्तिभेदोऽपि न स्यादिति जितं *वेदान्तिभि*रित्याह **अर्थक्रियेति**। व्यक्तिभेदोऽपि मास्तु किं नश्छिन्नमित्याह **अस्त्विति**। तर्हि चिद्रूपं ब्रह्मैवैकमस्तु किं बाह्येनेत्याह **त्यजेति**। लब्धावकाशो *वेदान्त्याह* **अयमेवेति**। *बौद्धाभि*मानं निराकृत्य तवाप्यभिमानमग्रे निराकरिष्याम इत्याह **तत्रेति**।

माभूद्वाऽर्थक्रियासाजात्यम्। भ्रान्त्यनुगमोऽप्येकं निमित्तमनादृत्य कथम्, तदपि हि कार्य्यसाजात्यं सामग्रीसाजात्यमन्तरेणाकस्मिकमापद्येत। अन्यथा तत्परम्परालम्बनमपि विडम्बनमेव। भिन्नैस्तैस्तैरभेदव्यवहारसिद्धौ व्यक्तिभिरेव तथाभूताभिरभिमतसिद्धेस्तदनुसरणप्रयासवैफल्यात्। तस्मादारोपव्यवहारस्याप्यनारोपितजात्यनादरे असम्भव एवेति।

कल्पलता- माभूद्वेति। अर्थक्रियासाजात्यं कारणसाजात्योन्नायकं मास्तु, किञ्चिज्ज्ञानं भ्रान्तं किञ्चिदभ्रान्तमियमपि व्यवस्था कारणसाजात्यनिबन्धनैव स्यात्। अन्यथा सर्वं भ्रान्तमभ्रान्तमेव वा भवेदित्यर्थः। भ्रान्तत्वेनानुगतमतिरपि भ्रमः स्यादित्यर्थ *इत्यन्ये*। **तदपि** भ्रान्तत्वमपि। ननु भ्रमत्वे सामग्री-साजात्याप्रयोजकत्वेऽप्यनाकस्मिकत्वं स्यादित्यत आह **अन्यथेति**। **तत्परम्परालम्बनमपीति**। भ्रमपरम्परालम्बनमपीत्यर्थः। **तदनुसरणप्रयासो** भ्रमपरम्परानुसरणप्रयासः। तदयमर्थः।

एकप्रत्यवमर्षस्य हेतुत्वाद्धीरभेदिनी।
एकधीहेतुभावेन व्यक्तीनामप्यभिन्नता।।

इत्यत्र प्रत्यवमर्षस्य प्रतिसन्धानस्यैकत्वभ्रमादनुगतप्रत्ययानामेकत्वभ्रमाच्च व्यक्तीनामेकत्वभ्रम इति या भ्रमपरम्परा त्वयोक्ता, सापि तव विडम्बनमेव

धिक्कार एव। भ्रमकारणस्याप्यनुगतस्य त्वयानङ्गीकारादिति। यद्वा एकप्रत्यवमर्षस्येत्येकजातीयप्रत्यवमर्षस्येति त्वया वाच्यम्। तथा च सिद्धो जातिकृतानुगम इत्यर्थ:। तथा च त्वत्कारिकायां तत्परम्परानुसरणं तज्जातीयत्वपरम्परानुसरणमित्यर्थ:। यद्वा व्यक्तीनां भिन्नानामेव सामर्थ्यात् सर्वत्राभेदव्यवहारोऽस्तु किं प्रत्यवमर्षानुगतधीपरम्परानुसरणेन कारिकास्थेनेत्यर्थ:। यद्वा प्रत्यवमर्षो व्यवहार:। धीर्विकल्पकरूपानुगतधी:, तत्परम्परानुसरणमफलं व्यक्तिस्वाभाव्यादेव तदुपपत्तेरित्यर्थ:। एकजातीयं वास्तवमनुसरणीय-मेवेत्युपसंहरति तस्मादिति।

अस्तु तर्हि जात्यादौ बाधकादपोहसिद्धिरिति चेत्। व्यवहारस्या नन्यथासिद्धौ क्व बाधकम्। अन्यथा विपक्षे बलवद्बाधकमुपनीयानन्यथा सिद्धिविश्रान्तोऽपि स्वभावहेतुर्बाधकशङ्कयाप्युपहन्येत। ततो बाधकव्यसनमपहायानुगमव्यवहृतिरन्यथाप्युपपाद्यताम्। न चैतच्छक्यं गत्यन्तराभावात्।

कल्पलता- बाधकात् अग्रे वक्ष्यमाणात्। व्यवहारस्य अनुगत-व्यवहारस्य। अन्यथा सुदृढनिरूपितोऽप्यर्थो बाध्य: स्यादित्याह- अन्यथेति। स्वभावहेतु: प्रसङ्गभिन्नो हेतु:। उपहन्येत आभास: स्यात्। न चैतदिति। अनुगतव्यवहारस्यान्यथोपपादनं न शक्यमित्यर्थ:। गत्यन्तराभावादिति। अन्यापोहादेर्निरस्तत्वादित्यर्थ:।

न च बाधकमप्यस्ति। तद्धि स्वरूपतो वा स्यात् ज्ञानतो वा स्यात्। स्वरूपतोऽप्यनुपलम्भो वा विरुद्धधर्म्माध्यासो वा।

कल्पलता- ननु बलवद्बाधकं चेदस्ति तदा प्रकारान्तरेणाप्यनुगतव्यवहार: परं चिन्तयितुमर्हतीत्यत आह न चेति। स्वरूपत इति। जात्यादिकमेवाहत्य बाध्यते जात्यादिज्ञानं वा बाध्यत इत्यर्थ:।

न प्रथम:, असिद्धे:। स्फुरत एव हि साधारणाकारस्य शरीरं चिन्तयितुमारब्धम् नास्फुरत:। अध्यक्षे साधारणस्फुरणं व्यासेधामो न तु विकल्पे। तस्य समाशब्दसङ्केतग्रहतिमिरनिकुरम्बकरम्बित-दृष्टिभिरेवोपपादनात्, न त्वस्माभि:। कल्पनाकोषस्यानन्तप्रसरतया तत्त्वाव्यवस्थापकत्वादिति चेत्। न, शब्दानुसन्धानविरहेऽपि जायमानत्वात्।

कल्पलता- असिद्धेरिति। उपलम्भस्य साधितत्वादित्यर्थः। एतदेवाह स्फुरत एवेति। अध्यक्ष इति। निर्विकल्पक इत्यर्थः। तन्मात्रमेव प्रमाणं यत इत्यर्थः। ननु निर्विकल्पकाभावेऽपि विकल्परूप एव जात्याद्युपलम्भोऽस्तीत्यत आह न त्विति। समानशब्दसङ्केतग्रह एव तिमिरनिकुरम्बस्तेन करम्बिता कलुषिता दृष्टिर्येषां तैरेवोपपादनात् न त्वस्माभिरिति। तत्त्वमात्रदृष्टिभिरित्यर्थः। तथा च विकल्पे गवादिपदसङ्केतग्रहाधीना नामजात्यादियोजना न तु वास्तवीत्यर्थः। तदेवाह कल्पनेति। अगृहीतसङ्केतानामपि नामजात्यादिस्फुरणादित्याह नेति।

तथापि तद्वासनात एवेति चेत्, किमेकसङ्केतविषयाभावेऽपि समानशब्दसङ्केतग्रहवासनावशादेकाकारपरामर्शस्तत्सद्भावे वा। न तावदाद्यः, नानासास्नादिमद्व्यक्तिवत् स्वर्गलोचनबाणाम्बुकुलिशादिष्वपि गोशब्दसङ्केतग्रहवासनावशात्तथाविधप्रत्ययानुगमप्रसङ्गात्। इष्ट एवासावर्थ इति चेत्, सोऽयं सास्नादिमतीषु व्यक्तिषु साधारणं रूपं न पश्यति पश्यति तु गोशब्दवाच्येषु दशस्विति किमत्र वक्तव्यं नूनं रुचिरमेवास्य लोचनमिति।

कल्पलता- प्राक्तनी सङ्केतग्रहवासना तत्राप्यस्तीत्याह वासनेति। सोऽपि सङ्केतग्रह एव जात्यादिनिमित्तं तिरस्कृत्य पुरस्कृत्य वेति विकल्पार्थः। भिन्नप्रवृत्तिनिमित्तेषु गोपदवाच्येषु गवादिषु तथा सत्यनुगतप्रत्ययः स्यादित्याह नानेति। असाविति। अनुगतप्रत्यय इत्यर्थः। एकजातीयासु व्यक्तिष्वनुगतधीनिमित्तं किञ्चिन्न पश्यति विजातीयासु पश्यतीतीच्छामात्रं न तु प्रमाणानुरोधः कश्चिदित्यर्थः।

शक्यमिदमितरेणापि वक्तुमिति चेत्, शक्यम्। न तु व्यवहारस्तन्मूलो विपर्य्यासयितुम्।

कल्पलता- शक्यमिदमिति। गोशब्दवाच्येषु साधारणरूपं न पश्यति पश्यति तु सास्नादिमतीति *सौगतेनापि* शक्यं वक्तुमित्यर्थः। शक्यमिति। वाङ्मात्रं शक्यं, तात्त्विको व्यवहारोऽन्यथाकर्त्तुं न शक्य इत्यर्थः।

नन्वेतावतापि विकल्पः सिद्ध्यतु, अनुभवस्तु कथम्। सवस्तुकविकल्पासिद्धेरेव। कथं तस्य सवस्तुकतेति चेत्। शब्दवासनादिकारणान्तरविध्वंसादिति तूष्णीम्भव।

कल्पलता- भासतां सविकल्पकेऽपि जातिः। अनुभवश्चेज्जातिं न

विषयीकरोति तदा न सा प्रामाणिकीत्यर्थः। **कथमिति**। जातिगोचरः सेत्स्यतीत्यर्थः। **सवस्तुकेति**। विकल्पविषयस्य बाधकमन्तरेणानुभवविषयत्वध्रौव्यादित्यर्थः। अद्य यावद्विकल्प एव सवस्तुको न सिद्धोऽस्तीत्याह **कथमिति**। **शब्देति**। शब्दवासनादिकारणनिषेधे गौरयमित्यादिविकल्पानामर्थसामर्थ्य समुत्थत्वमावश्यकम्। तथा च गोत्वादिकमपि वस्तुभूतमेवेत्यर्थः।

अन्तराले किमिति नोपलभ्यत इति चेत्। उपलब्धिकारणाभावात्।

कल्पलता- अनुपलम्भान्तरं जातौ बाधकमाशङ्कते **अन्तराल इति**। पिण्डयोरन्तराल इत्यर्थः। जातेर्व्यक्तिरभिव्यक्तिकारणम्, सा चान्तराले नास्तीति कथमुपलभ्यतामिति परिहरति **उपलब्धीति**।

पिण्ड एव कुण्डे बदरवत् कुतो नोपलभ्यत इति चेत्, न। अनन्यदेशत्वात्। भेदेन तूपलभ्यत एव, पिण्डान्तरासंसर्गिणि पिण्डेऽनुभूयमाने तत्संसर्गितयाऽनुभवात्।

कल्पलता- तर्हि पिण्डेऽपि विवेकेनोपलभ्यताम्, नोपलभ्यते चेन्नूनं नास्तीत्याह **पिण्ड एवेति**। विवेकेनोपलम्भो यदि पिण्डभिन्नदेश उपलम्भस्तत्राह **अनन्यदेशेति**। यदि च भेदमात्रोपलम्भो विवेकेनोपलम्भस्तत्राह **भेदेनेति**। विशेषणस्य गोत्वस्य विशेष्यस्य गोपिण्डस्य भेदेनोपलम्भस्य सत्त्वादित्यर्थः। नन्वयं गौरिति विशिष्टबुद्धौ गोपिण्डान्तरमेव विशेषणत्वेन भासतां किं गोत्वेनेत्यत आह **पिण्डान्तरेति**। पिण्डान्तरं सम्बद्धं विशेषणं भवेन्न त्वसम्बद्धमपीत्यर्थः।

नापि द्वितीयं बाधकम्, अवयविसमानयोगक्षेमत्वात्। जायमानपिण्डसम्बन्धानुपपत्तिरप्रतिसङ्क्रमात्तत्रासत्त्वादनुत्पादाच्चेति चेत्, कथं पुनस्तत्रासत्त्वं त्वया व्यज्ञायि। तत्र सत्त्वे तत्रत्याकाशादेरपि गोत्वप्रसङ्गादिति चेत्, न चैतत् पश्चादपि तत्रत्याकाशादिना सम्बध्यते। येन च पिण्डेन सम्बध्यते न तत्र कदापि तन्नास्ति। तत् कुतो विरोधः।

कल्पलता- विरुद्धधर्म्माध्यासो वेति विकल्पितविकल्पं दूषयति **नापीति**। अवयविनि कात्स्न्यैकदेशविकल्पनिरासवदिहापि तन्निरसनीयं न कार्त्स्न्येन वर्त्तते नैकदेशेन किन्तु स्वरूपेणेत्यर्थः। ननु जायमानपिण्डसम्बन्धः प्रकारत्रयेण सम्भवति। पिण्डान्तराद् गोत्वस्य गमनाद्वा, पूर्वमेव तत्सत्त्वाद्वा, पिण्डेन सह जायमानत्वाद्वा। तदेतत् त्रयमप्यनुपपन्नमित्याह **जायमानेति**। **अप्रतिसङ्क्रमात्** अगमनात्।

गोत्वप्रसङ्गादिति। तथा च तदनुभवव्यवहारयोः प्रसङ्गादित्यर्थः। समवायवृत्त्या तत्सत्त्वं व्यवहारे तन्त्रं न तु स्वरूपतोऽपीति भावः। यदि समवायेनाकाशादौ गोत्वं स्यात्तदा पश्चादपि स्यान्न चैवमित्याह **न चैतदिति**। **सम्बध्यते** समवैतीत्यर्थः। जातेऽपि तत्र पिण्डे गोत्वमाकाशासम्बन्ध्येवेत्यर्थः। तर्हि पिण्डेनापि तत्र न सम्बध्येतेत्याह **येन चेति**। तत्र जातः सम्बन्धश्चेत्येक एव काल इति पिण्डेन कदाचिदपि न तस्यासम्बन्ध इत्यर्थः। **कुतो विरोध इति**। पिण्डोत्पत्तेः पूर्वमाकाशादौ गोत्त्वं नासीदुत्पन्ने च पिण्डे तत्र गोत्वमिति विरोधो न सम्भवतीत्यर्थः।

अथ पिण्डमन्तर्गडुमुपादायोलक्षणतया तत्रेति व्यवहारः, तदा तदुपसर्पणापसर्पणोत्पत्तिविनाशैरेव तदुपपत्तौ न यातीत्यादिरपराद्धेषोरिव धानुष्कस्य कण्ठडम्बरः।

कल्पलता- ननु पिण्डो निरूपकमात्रं न तु तत्र गोत्वं समवैति। तथा च तेन रूपेण निरूप्यमाणं गोत्वमाकाशादौ प्रागासीच्चेत्तदा गोव्यवहारः स्यादिति ब्रूम इत्याह **अथेति**। **अन्तर्गडुं** निरूपकमात्रम्। एवं सति यथा पिण्डसत्त्वासत्त्वाधीने गोत्वसत्त्वासत्त्वे तथा गौरस्ति गौर्नास्ति गौर्जातो गौर्नष्टो गौर्गच्छतीत्यादिव्यवहारा अपि पिण्डोपाधिका एव। तथा चोत्पादविनाशप्रत्ययो गोत्वबाधकत्वेनाशङ्कितो न मनागपि पदमादधाति, तेषां पिण्डोत्पादविनाशविषयत्वात्।

न याति न च तत्रासीन्न चोत्पन्नं न चांशवत्।
जहाति पूर्वमाधारमहो व्यसनसन्ततिः।।

इति *कीर्त्तेः* विरोधकीर्त्तनस्य लक्ष्यं गोत्वं, तच्च ततः प्रच्युतं व्यक्तौ पतितमित्यपराद्धेषुता।

तथा हि पिण्डमधिकृत्योपसर्पणापसर्पणाभावस्तदुपलक्षितं देशमधिकृत्य च सत्त्वासत्त्वे सामान्यस्येति किं केन सङ्गतम्। अथाप्यनुत्पन्ने पिण्डे तस्यासत्त्वं सुलभमेव तदसत्त्वादिति हृदयम्। तन्न, स्वरूपसत्त्वासत्त्वयोर्द्वितीयानपेक्षत्वात् सम्बद्धत्वासम्बद्धत्वे तु द्वितीयापेक्षे। ततस्तत्रासति नास्तीति कोऽर्थः।

कल्पलता- ननु सामान्यं पिण्डं नोपसर्पति न वापसर्पति चेत् तदा तदुपलक्षिते देशे सामान्यसत्त्वासत्त्वे स्यातामिति महद्वैशसमिति सोपहासमाह **तथा हीति**। उपसर्पणापसर्पणाभाव इत्यत्र सामान्यस्येत्यग्रेतनेन सम्बन्धः।

यद्वा ननु व्यक्तेरुपसर्पणापसर्पणात्तदुपलक्षिते देशे सत्त्वासत्त्वे न सामान्यस्येति यथाश्रुते सोपहासमाह तथा हीति। पिण्डे चेन्नोपसर्प्पणापसर्प्पणे तर्हि तदुपलक्षिताकाशदेशे सामान्यस्य सत्त्वासत्त्वे स्यातामित्यत्यन्तम-सङ्गतमित्यर्थः।

ननु सामान्यं स्वरूपतः तद्देशादावस्ति चेदस्तु तथापि यः पिण्ड उत्पन्न एव नास्ति, तेन तत्सम्बन्धः कथं स्यात्। न हि सम्बन्ध्यभावेऽपि सम्बन्ध इति पूर्वपक्षिणो हृदयमाह **अथापीति**। सामान्यं स्वरूपतः सर्वत्र देशे कालेऽस्तीत्युक्ते तत्कथमनुत्पन्नेन पिण्डेन सम्बध्यतामित्यपि किं केन सङ्गतमित्यर्थः। ननु पिण्डानुत्पत्तिदशायामसता पिण्डेन कथं सम्बध्यतामित्येतदेव प्रश्नविषय इत्यत आह तत इति।

तेनासता न सम्बध्यत इति चेत्। तच्चैवमेतत्। पश्चात् कथं सम्बध्यतामिति चेत्, तस्य सत्त्वात्। असम्बद्धत्वस्य तदसत्त्वप्रयुक्तत्वात्। ततः प्रागसन् पिण्डः पश्चात् कथमुपपद्यतामिति चोद्यनिष्ठा, सा च सत्कार्य्यवादमनुपततीत्यभुक्तवान्तिः।

कल्पलता- असता सम्बन्धो न भवत्येवेत्याह **तच्चेति**। **तस्येति**। पिण्डस्येत्यर्थः। **तदसत्त्वप्रयुक्तत्वात्** पिण्डासत्त्वप्रयुक्तत्वात्। सम्बन्धिनि सति सम्बन्धो भवतीति सर्वजनसिद्धेऽपि तत्र कथं तवाभिप्राय एवमुन्नीयते। यः पिण्डः पूर्वं नासीत् स पश्चात्कथमुत्पद्यत इत्याह **तत इति**। **चोद्यनिष्ठा** देश्यपर्यवसानम्। **अभुक्तवान्तिरिति**। *साङ्ख्यमतं* त्वया न भुक्तं न पाचितमिदानीं तदेव वमसीत्यर्थः। देशे काले च सामान्यस्वरूपमस्ति, पिण्डोपगमापगमादिना गौरस्ति गौर्नास्तीति व्यवहारः। यथाऽविचलति चेत्रे दण्डोपगमापगमाभ्यां दण्डी चैत्रो नायं दण्डीति व्यवहार इति प्रघट्टकार्थः।

तथापि सामान्यतद्वतोरत्यन्तभेदे कथं सामानाधिकरण्यमिति चेत्, किमिदम्। समानेनाधिकरणेन हि सम्बन्धः सामानाधिकरण्यम्, तस्य च भेदेन को विरोध इति नाधिगच्छामः। गवाश्वयोरपि तथाभावप्रसङ्ग इति चेत्, ननु व्यतिरेकदृष्टान्तस्थानं तत् न तु विरोधस्थानम्। तच्च मैत्रतनयोऽपि यदि कश्चिदश्यामः स्यात् परिदृश्यमानानामपि तथाभावप्रसङ्ग इति क्व नाम दुर्लभम्।

कल्पलता- धर्म्मधर्मिणोर्भेदाभेदवाद्याह **तथापीति**। अत्यन्तभिन्नयोर्गवाश्वयोः सामानाधिकरण्याभावादित्यर्थः। अत्यन्तभेदेऽपि सामानाधिकरण्यं नानुपपन्नमित्याह **किमिदमिति**। ननु भिन्नयोः सामानाधिकरण्ये गवाश्वयोरपि सामानाधिकरण्यं स्यादिति शङ्कते **गवाश्वयोरिति**। न ब्रूमो ययोर्भेदस्तयोः सामानाधिकरण्यमावश्यकमिति, अपि तु क्वचिद्भेदे सति सामानाधिकरण्यं तदभावश्च गवाश्वयोरिति व्यतिरेकदृष्टान्तस्थानं गवाश्वमित्याह **नन्विति**। **तच्चेति**। तच्च व्यतिरेकदृष्टान्तस्थानं क्व नाम दुर्लभमिति सम्बन्धः, किन्तु सुलभमेवेत्यर्थः। सौलभ्यमेव दर्शयति। **मैत्रतनयोऽपीति**। यथा मित्रातनयः श्याम उत्सर्गो न च तावता श्यामत्वेन निर्णीतो मित्रातनयः क्वचिदश्यामस्यापि दर्शनात्। श्यामत्वेन निर्णीतोऽपि मित्रातनयः स्यादश्यामस्तथा भेदे सति सामानाधिकरण्यमित्युक्ते असामानाधिकरण्येन निर्णीतयोरपि गवाश्वयोः सामानाधिकरण्यं न प्रसज्यत इत्यर्थः।

तथापि विशेषो वाच्य इति चेत्, अस्ति स्वाभाविको विशेषो यत् किञ्चिदेव केनचित् सम्बद्धं न सर्वं सर्वेणेति। तथानुगमनियमोऽपि स्वभावादेव किं न स्यादिति चेत्, एकस्यानेकसम्बन्धेऽनेकस्य चैकसम्बन्धेऽविरोधात्। एकानेकयोरनेकैकव्यवहारविरोधादिति।

कल्पलता- **विशेष इति**। भिन्नयोः क्वचित्सामानाधिकरण्यं क्वचिच्च नेत्यत्र विशेषो वाच्य इत्यर्थः। स्वभाव एवात्र नियामक इत्याह **अस्तीति**। ततः स्वभावः प्रतीतिसाक्षिक इति भावः। तर्हि व्यक्तिविशेषानुगतमतिनियमोऽपि स्वभावादेवास्तु किं जात्येत्याह **तथेति**। **एकस्येति**। यद्येको धर्म्मोऽनेकसम्बन्धी न भवति तदा तेनानुगतप्रत्ययो न भवेत्। न चैवम्, यदि वाऽनेकेषां धर्मिणामेकधर्म्मसम्बन्धविरोधः स्यात्तदा तथा कल्प्येत, न चात्र विरोध इत्यर्थः। **एकानेकयोरिति**। एकेन यथा नानेकव्यवहारः तथा पिण्डैरेकव्यवहारोऽपि न सम्भवतीत्यर्थः।

नापि ज्ञानतो बाधकम्। तत्स्वरूपप्रतिक्षेपस्यानुभवबाधितत्वात्। कारणप्रतिक्षेपस्य च जन्मनैवापास्तत्वात्। एकत्वप्रतिक्षेपस्य च विरुद्धधर्म्माध्यासविरहप्रतिहतत्वात्। पारोक्ष्यापारोक्ष्यादेरसिद्धेः। विषयमप्रतिक्षिप्य तत्प्रामाण्यस्य प्रतिक्षेप्तुमशक्यत्वात्। तदप्रतिक्षेपस्य च दर्शितत्वात्। इन्द्रियजत्वप्रतिक्षेपस्य चेन्द्रियान्वयव्यतिरेकानु

विधानबाधितत्वात्। साक्षात्कारित्वविश्रान्ते च तदनुविधानस्याव्यभिचारात्।

कल्पलता- मूलविकल्पद्वये द्वितीयं विकल्पं दूषयति **नापीति**। ज्ञानतो बाधकमिति कोऽर्थः। किं सामान्यविषयं ज्ञानमेव नास्ति अकारणकं वा नानाविषयकं वा परोक्षाकारं वा निर्विषयत्वेनाप्रमारूपं वा अनिन्द्रियजं वा असाक्षात्कारि वा। तत्र नाद्य इत्याह **तत्स्वरूपेति**। द्वितीयं दूषयति **कारणेति**। तृतीये त्वाह **एकत्वेति**। चतुर्थं दूषयति **पारोक्ष्येति**। विषये तावन्न पारोक्ष्यं नाप्यपारोक्ष्यं तदुभयस्य ज्ञानधर्म्मत्वात्। तथा च जातिगोचरज्ञानमिन्द्रियजमपरोक्षमेवानिन्द्रियजं तु परोक्षमिति नैतत् जातौ बाधकमित्यर्थः। पञ्चमं दूषयति **विषयमिति**। विषयप्रतिक्षेपाधीनो हि प्रामाण्यप्रतिक्षेपः, स च प्रकृते नास्तीत्यर्थः। षष्ठं दूषयति **इन्द्रियजेति**। सप्तमं दूषयति **साक्षादिति**। अयं गौरित्यादिविकल्पानां साक्षात्वमनुभवसिद्धमतोऽपीन्द्रियजत्वमित्यर्थः।

अन्यथा निर्व्विकल्पकस्याप्यनिन्द्रियजत्वप्रसङ्गात्। कामातुरकामिनीज्ञानस्य तदन्तरेणाप्युपपत्तेः। बाधकाभावाच्च दर्शनव्यापारस्योपाधित्वकल्पनानवकाशात्। अवकाशे वा विपर्य्यकल्पनाया अपि प्रसङ्गात्। इन्द्रियमनपेक्ष्य साक्षात्कारिसमनन्तरप्रत्ययमहिममात्रेण साक्षात्कारिविकल्पोत्पत्तौ तद्विपरीतानुत्पत्तिप्रसङ्गात्। प्रथममनुत्पत्तेः पूर्वस्मरणादिसहकारिवैधुर्य्यनिबन्धनत्वादित्येषा दिक्।

कल्पलता- **अन्यथेति**। साक्षात्वे सत्यप्यनिन्द्रियजत्वं चेदित्यर्थः। ननु निर्विकल्पकानन्तरभावित्वाधीनं तस्य साक्षात्वं न तु इन्द्रियजत्वाधीनमित्यत आह **कामातुरेति**। यत्र स्तम्भादौ कामिनीसमारोपस्तत्र निर्विकल्पकं विनापि इन्द्रियजत्वमात्रादेव तस्य साक्षात्त्वमित्यर्थः। **तदन्तरेणापि** निर्विकल्पकमन्तरेणापि। ननु गौरयमिति विकल्पः साक्षात्कारो न भवत्येव, येनेन्द्रियजः स्यात्। साक्षात्वं तु तस्य निर्विकल्पसाक्षात्वौपाधिकमित्यत आह **बाधकाभावादिति**। **दर्शनव्यापारः** साक्षात्त्वम्। यद्वा **दर्शनं** साक्षात्कारिज्ञानं तद्व्यापारस्तत्कार्यो विकल्प इत्ययमेवोपाधिः सविकल्पकसाक्षात्त्व इत्यर्थः। स्वाभाविकत्वे बाधके सत्येवोपाधिकल्पना, तच्चेह नास्तीत्यर्थः। विपक्षदण्डमाह **अवकाशे वेति**। सविकल्पकसाक्षात्त्वमेव निर्विकल्पकेऽप्युपाधिः स्यादित्यर्थः। नन्वस्तु विकल्पेऽपि स्वाभाविकं साक्षात्वं न त्विन्द्रियजत्वाधीनम्, किन्तु साक्षात्कारिज्ञानजनितत्वमात्रेणेत्यत आह **इन्द्रियमिति**। एवं तर्हि साक्षात्कारिणः

समनन्तरप्रत्ययादसाक्षात्कारिज्ञानं न स्यादेव। तच्च तवाननुमतमित्यर्थः। नन्विन्द्रियमेव यदि साक्षात्कारिसविकल्पकजनकं तदेन्द्रियापातमात्रेणैव जायेत समर्थस्य क्षेपायोगादित्यत आह **प्रथममिति**। सहकारिविलम्बेन विलम्बस्य स्थिरपक्षोपाधित्वादित्यर्थः। नन्वभिलापसंसर्गयोग्यप्रतिभासत्वान्न तदिन्द्रियजमित्यत आह **इत्येषा दिगिति**। इन्द्रियजत्वेऽप्यभिलापसंसर्गयोग्यप्रतिभासत्वम-विरुद्धमित्यादि *तात्पर्यपरिशुद्धौ* विस्तर इत्यर्थः।

अस्तु तर्हि प्रयोजनानुरोधादपोहस्वीकारः सर्वधर्म्मावाच्यत्वसिद्धिर्हि परमं प्रयोजनम्। कल्पनाजालविधूननेन गम्भीरोदारसमाधिसमधिगमादिति चेत्, निष्प्रमाणकमिदं कः श्रद्धध्यात्। प्रमाणं चात्र न प्रत्यक्षानुमाने। *आगमश्च* न किञ्चिद्वदतीति त्वयैव ग्राहितः शिष्यः।

कल्पलता- प्रयोजनमाह **कल्पनाजालेति**। जात्यादिकं यदि पारमार्थिकं न भवति तदा शाब्दलैङ्गिकविकल्पाधीने प्रवृत्तिनिवृत्ती न भवतस्ततो बहिर्व्यापारादुपरतं मनो नैरात्म्यमात्रभावनपरं समाहितं भवति। अनुगत-प्रत्ययस्त्वपोहेनैव तुच्छेन भवति। व्याप्तिशक्तिग्रहावप्यपोहानुगमसाध्याविति भावः। **गम्भीरत्वं** सवासनमिथ्याज्ञानोन्मूलनक्षमत्वम्। **उदारत्वं** नैरात्म्यसाक्षात्कारप्रापकत्वम्। **समाधेः समधिगमः** व्याप्तिः। **इदमिति**। अपोहस्वीकारस्य कल्पनाजालविलक्षणसमाधिसमधिगमकारणत्वमित्यर्थः। नात्र प्रत्यक्षानुपलम्भौ प्रवृत्तौ येन प्रत्यक्षमनुमानं वा प्रमाणमिह स्यादित्याह **प्रमाणञ्चेति**। ननु *सुगतागम*प्रतिपाद्यमेवैतद्यथा तव श्रवणमननादीनामात्म-साक्षात्कारकारणत्व*मागमैक*समधिगम्यमित्यत आह **आगमश्चेति**। सर्वधर्म्मावाच्यत्वे स्वलक्षणं किं धर्मोपग्रहेण शब्दः प्रतिपादयेदिति शिष्यास्त्वयैव बोधिता इत्यर्थः।

न चैवं चेतनो ग्राहयितुमपि शक्यते स्ववाग्विरोधस्योद्भटत्वात्। तथा हि

> **शब्दस्य कस्यचिदवस्तुनि मानसिद्धा**
> **बाधाविधिव्यवहृतिः क्वचिदस्ति नो वा।**
> **अस्त्येव चेत् कथमियन्ति न दूषणानि**
> **नास्त्येव चेत् स्ववचनप्रतिरोधसिद्धिः।।**

इति तवैव विषयसञ्चारमात्रेण श्लोकः।

कल्पलता- त्वमिव तव शिष्योऽप्यचेतन एव। येनैतादृशादुपदेशात् स प्रतीतो विरोधं स्फुटतरमवधीर्येत्यात आह। **न चैवमिति।** *आगमो* न किञ्चिद्वक्तीत्ययम*प्यागम* एव। तथा च **स्ववाग्विरोध** इत्यर्थः। विरोधान्तरमाह शब्दज्ञानविषयः अभिलापसंसर्गायोग्यप्रतिभासत्वात्, अतद्व्यावृत्तिधर्म्मवत्तयापि स्वलक्षणं न वाच्यमनलीकस्यालीकधर्म्मानाश्रयत्वादित्यादीनि दूषणानि त्वयोक्तानि त्वय्येव पर्य्यवसन्नानींत्यर्थः। **नास्त्येवेति।** वस्तु विधिनिषेधव्यवहारभाजनं न भवतीति वदता त्वयैव ताद्रूप्येण वस्तु व्यवहृतमिति स्ववचनविरोध एव सिद्ध इत्यर्थः। **विषयेति। शब्दस्य कस्यचिदवस्तुनि मानसिद्धे**त्यादिगाथाऽस्मांल्लक्षीकृत्य विरोधदानार्थं त्वया पठिता सा चावस्तुपदस्थाने वस्तुपदसञ्चारेण मया पठनीयेत्यर्थः।

न चास्माकमिव तवाप्यत्र मूकतैव शरणम्। सर्वथा वचनविरोधे ह्युदासीनस्य सा शोभते। न चात्र विधौ विरोधः कश्चित्। न च त्वमुदासीनः प्रयोजनेन प्रवृत्तत्वात्। तस्मादलमङ्गुलीदीपिकया ध्वान्तध्वंस-विधिमनुष्ठायेति।

कल्पलता- ननु मद्गाथायां त्वया मूकता यथा अवलम्बिता तथा विषयसञ्चारेण पठ्यमानायामस्माकमपि मूकतैव शरणमन्यथा विरोध एव स्यादित्यत आह **न चेति।** सत्त्वक्षणिकत्वव्यतिरेकदृष्टान्ते कूर्म्मरोमादौ त्वयोदाहृतेऽस्माभिर्निषेधश्चेत्क्रियते तदा मम स्ववचनविरोधः स्यात्। तेन तत्र यथा मम मूकता तथा तत्र न तवोचिता। कल्पनाजालविधूननस्य समाधि-समधिगमहेतुभावस्य त्वयावश्यं निर्वाह्यत्वात्। तन्निर्वाहकञ्च न प्रत्यक्षं नानुमानमतश्च शब्द एव वाच्यस्तत्र मत्पठितगाथायां त्वया स्थापनावादिनावश्यं किञ्चिद्वाच्यम्। तथा च स्ववचनविरोधस्तव स्यादेवेत्यर्थः। नच त्वमुदासीन इति। **अङ्गुलीदीपिकयेति।** स्ववाग्विरोधमङ्गीकृत्य कल्पनाजालविधूननेन प्रयोजनेनापोहाभ्युपगमस्तवालमित्यर्थः।

***आगमस्य* तत्त्वार्थपरिस्पर्शित्वविरोधे न स्वर्गापवर्गार्थिनां प्रवृत्तिः सिद्ध्यतीति प्रयोजनमस्मद्विचारस्यैव परं सुन्दरम्।**

कल्पलता- *नन्वागमस्य* वस्तुविषयतया प्रामाण्याभ्युपगमे तव कथं निर्बन्ध इत्यत आह **आगमस्येति।**

तस्माच्छब्दैः किं वाच्यमित्यनुयोगे किं प्रतिभासात्, अथाध्यवसायात्, यद्वा तत्त्वत इति विकल्पे, विकल्पस्थोऽन्यापोढाकारः। अन्यापोढस्वलक्षणं, न किञ्चिदिति यत् क्रमेण प्रयुक्तम्। तत्र प्रथमे समयविपर्य्यासः, विकल्पाकारस्य समयाविषयत्वात्। द्वितीये तु प्रवृत्तिविपर्य्यासः, अदृष्टे नियामकाभावात्। तृतीये स्ववाग्विरोधः, अस्यैवार्थस्यानेन तत्त्वतो वचनात्। अवचने तत्त्वतोऽनुत्तरत्वादित्युपसंहारः। तत् सिद्धमेतत् न क्षणिकत्वमात्मनि बाधकमिति। इति प्रथमविप्रतिपत्तिः।

कल्पलता- तस्मादिति। शब्दैः किं वाच्यमिति *नैयायिकैः* प्रश्ने कृते *ज्ञानश्रिया* विकल्प्य यदुत्तरं दत्तं तदपि न सम्यगित्यर्थः। **प्रतिभासादिति।** शब्दैः किं वाच्यमिति कुत्र प्रतिभासो जन्यत इति यदि प्रश्नार्थस्तदाऽन्यापोढाकारे प्रतिभासो जन्यत इत्युत्तरम्। कुत्राध्यवसायो जन्यत इति यदि प्रश्नस्तदा अतद्व्यावृत्तस्वलक्षण इत्युत्तरम्। किं वस्तु शब्दवाच्यमिति यदि प्रश्नस्तदा न किञ्चिदित्युत्तरमित्यर्थः। तदेतदुत्तरत्रयं दूषयति **प्रथम इति।** समयविपर्यासः सङ्केताग्रहोऽन्यत्र सङ्केतग्रहो वा, न ह्यन्यापोहाकारे सङ्केतग्रहो, येन तत्र प्रतिभासः स्यादित्यर्थः। **द्वितीय इति** अन्यापोहस्वरूपे ऽध्यवसायेन प्रवृत्तिः स्वलक्षणे कथं स्यात्। अध्यवसायस्य भेदाग्रहरूपत्वादिना विकल्पस्य पूर्वमेव कदर्थिततत्वात्। **अस्यैवेति।** तत्त्वतो न वाच्यमित्यनेनैव शब्देन तत्वतः कस्यचिदर्थस्याभिधानादित्यर्थः। **अवचन इति।** तत्वतः किं वाच्यमित्र त्वया यद्युत्तरं न देयं तदाऽप्रतिभा, उत्तरदाने तु स्ववाग्विरोध इत्यर्थः। **उपसंहार इति।** क्षणिकतावादापोहवादयोरित्यर्थः। प्रधानार्थमुपसंहरति। **तदिति।**

बाह्यार्थभङ्गवादः।

विज्ञानवादिनि जागरूके बाह्यमेव नास्ति, कुत आत्मेति चेत्, स तावदिदं पृष्टो व्याचष्टां, किं ते ग्राह्यग्राहकभागयोः परमार्थसतोरेवाभेदो विवक्षित उताहो अभिन्नजातीयत्वम्। अथ ग्राह्यांशस्यालीकत्वमिति।

कल्पलता- द्वितीयमात्मनि बाधकं निराकर्तुमुत्थापयति विज्ञानेति। जागरूक इति। बाह्यं नीलादि स्थैर्यसिद्धावपि न तेषां वस्तुत्वम्। वस्तुत्वेऽपि न ज्ञानभिन्नत्वम्। ज्ञानं च क्षणमात्रस्थायि नीलपीताद्याकारमिति *योगाचारः*। सिध्यतु स्थैर्य्यं, तथा च सिद्धं नः समीहितम्। तच्च स्थिरचिदानन्दस्वरूपं ब्रह्मैव, बाह्यं तु नीलादिप्रपञ्चमात्रमलीकम्। अनाद्यविद्यावशात्तु तदाकारनिकरप्रतिभास मात्रमि*त्येकदण्डिनः*। एकमेव विज्ञानं परमार्थसन्न तु नीलाद्यपि वस्तुसत्, परं त्वनादिवासनापरीपाकमात्रासादितनीलाद्याकारनिकरकरम्बितम्। अत एव तच्चित्रमित्युच्यत इति *तदेकदेशिनः*। तदेतेषां जागरूकतया क्व बाह्यस्यात्मनः सिद्धिशङ्का, अभेदे सति ग्राह्यग्राहकभाव एव नास्ति न वा धर्म्मधर्मिभाव इति भावः। **बाह्यमेवेति**। सामान्याभावे विशेषाभावस्य सुलभत्वात्। ज्ञानानात्मकस्य सर्वस्यैव बाह्यत्वादिति भावः। **स** विज्ञानवादी। इदमग्रे वक्ष्यमाणम्। पक्षत्रयाऽभिप्रायं विकल्पयति **परमार्थेति**। नीलादि स्वग्राहकज्ञानव्यक्त्यभिन्नम्, स्वग्राहक-ज्ञानजातीयमलीकमेव वेति विकल्पार्थः। अत्र प्रमेयत्वं ज्ञानत्वव्याप्यं न वा, विवादपदं नीलादि ज्ञानत्वाश्रयो न वा, ज्ञानत्वं प्रमेयत्वव्यापकं न वा, ज्ञानविषयता ज्ञानत्वानाश्रयो न वेति विप्रतिपत्तयः।

तत्र प्रथमे साध्ये यः कश्चिद्धेतुरुपादीयते सहोपलम्भनियमो वा, ग्राह्यत्वं वा, प्रकाशमानत्वं वा, स व्यक्तमाभासः।

कल्पलता- **सहेति**। यद्यप्यभेदे सहेत्येव विरुद्धं तथापि तदविषयक-ज्ञानाविषयत्वं हेतुः। **आभास इति**। कालात्ययापदेशादनैकान्तिकत्वाद्वा अङ्गुलीनिर्देश्यग्राह्यात्मकताया ज्ञानस्य बाधितत्वात् विरुद्धधर्म्म संसर्गप्रतिहतत्वादित्यर्थः।

तथा हि नीलधवलादिपरस्परविरुद्धाकारनिकरावगाहि विज्ञानमनुभूयते तदिदं तस्य स्ववधाय कृत्योत्थापनम्।

कल्पलता- तदेव स्पष्टयति तथाहीति। *योगाचारमते वेदान्तिमते* च समानं दोषमाह नीलधवलादीति। समूहालम्बने *योगाचारस्य* नीलधवलाद्यात्मकत्वं *वेदान्तिनां* तु तत्रान्यत्रापि क्रमवन्नीलादिज्ञानविरोधापादनमेव। एकस्यैव तन्मते क्रमिकनीलधवलाद्यात्मकत्वात्। तदिदमिति।। आकारनिकरावगाहित्वमित्यर्थः। स्ववधाय स्वभेदाय।

यदि हि मिथः प्रत्यनीकधर्म्मोल्लेखि तत्, कथमेकं सत्तदात्मकं भवेत्। न चेदुल्लिखेत् कथं तदाकारं नाम। स्वसम्वेदनस्यानुल्लिखित-रूपाभावात्।

कल्पलता- प्रत्यनीकधर्म्माः विरोधिनो नीलधवलादिधर्म्माः। **कथं तदात्मकमिति।** एकस्यानेकात्मकत्वानुपपत्तेः। **कथं तदाकारमिति।** तदुल्लिखितस्यैवाकारत्वादित्यर्थः। नन्वेवं बुद्धिस्वरूपमेव नास्ति, तथा च विचारोऽयं निराश्रय इति चेत् तदुक्तम्–

बाह्यं न पश्यति भिदात्ततयाऽर्थ सत्त्वा–
दर्थक्रियाविरहसङ्करता त्वभेदे।
बुद्धिस्तु नश्यति भिदेव भिदैव सत्त्वा–
च्चित्राप्यतो न भिदमेति किमत्र कुर्म्मः।इति।

मैवम्। बुद्धेरनुभूयमानत्वात्। तस्यास्तु विषयभेदाभेदाभ्यां विवादात्।

बाह्यस्यैवंविधविरुद्धधर्म्माध्यासाद् भयम्। तथात्वेऽप्यभेदेऽर्थ-क्रियाचेतनप्रवृत्तीनां सङ्करप्रसङ्गात्, विवेचनानुपपत्तिप्रसङ्गाच्च। न तु, विज्ञानस्य, न हि तस्यार्थक्रियाधीनं सत्त्वम्। अपि तु प्रतिभासमात्राधीनम्। नापि तत्रार्थक्रियार्थिनः काचित् प्रवृत्तिः। स्वरसवाहिविज्ञानप्रवाहातिरिक्ताया अर्थक्रियायास्तदर्थिनश्चाभावात्। विवेचनाभावश्च परमो निर्वाहः, स्वसम्विदितरूद्ररूपत्वादिति चेत्।

कल्पलता- *रत्नकीर्तेः* समाधिमत्र दूषयितुमुपन्यस्यति **बाह्यस्यैवेति।** बाह्ये विरुद्धधर्म्माध्यासभयं दर्शयति **तथात्व इति।** विरुद्धधर्म्माध्यासेऽप्यभेदे नीलधवलादीनां प्रतिनियतार्थक्रियाकारित्वं दृष्टमेव विघटेत, न च प्रतिनियतार्थ प्रवृत्तिः स्यात्। भयान्तरमाह **विवेचनेति।** विविच्यते हि नीलं धवलभिन्नत्वेन। धवलं च नीलभिन्नत्वेन तदेतन्न स्यादित्यर्थः। **न तु विज्ञानस्येत्यत्र**

विरुद्धधर्म्माध्यासाद्भयमित्यनुषज्यते। **प्रतिभासमात्राधीनं** स्वप्रकाशमात्राधीनम्। नापीति। न हि घटपटार्थिनो ज्ञाने प्रवर्त्तन्ते अपि तु तन्तुकपालादावेव। नन्वत्रापि भयं तदवस्थमेवेत्यत आह **स्वरसेति**। अर्थक्रियाप्रवृत्तिः तदर्थिनामपि ज्ञानात्मकत्वादित्यर्थः। नन्विदं नीलज्ञानमिदं पीतज्ञानमिति विवेचनं ज्ञानेऽप्यस्ति। तथा च विरुद्धधर्म्माध्यासेऽप्यभेदे तत्र स्यादित्यत आह **विवेचनेति**। **परमो निर्वाह इति**। अत्यन्तसाधकः सिद्धिर्वेत्यर्थः। **स्वसम्विदितेति**। ज्ञानयोर्हि भेदग्रहो न ताभ्यामेव, तयोः स्वमात्रमानत्वात्। भेदस्य स्वभिन्नत्वेनाग्राह्यत्वात्। अत एव न ज्ञानान्तरेणापीत्यर्थः। तदुक्तं *ज्ञानश्रिया*–

भावं कञ्चित्पुरस्कृत्य भेदाभेदावुदीरयेत्।
देशकालादिभेदेन चिन्मात्रे तत्र कः क्रम।। इति।

कीर्त्तिरप्याह–

स्वरूपबुद्धिरपरैर्न याति न भिनत्ति च।
स्वपरप्रविभागो हि धियो याचितमण्डनम्।। इति।

तत् किमङ्ग? परिणतशान्तेराश्रमपदमिव विज्ञानमासाद्य व्यालनकुलादेरिव नीलधवलादेः शाश्वतिकवैरत्यागः, निभृतवैराणां तत्फलत्यागो वा।

कल्पलता– अङ्गेति सम्बोधने। ज्ञानाकाराणां नीलधवलादीनां विरोध एव नास्ति। विरोधे सत्यपि वा भेदकत्वं नास्तीति विकल्पार्थः।

न तावत् प्रथमः, परस्परनिषेधविधिनान्तरीयकविधिनिषेधकयोरविरोधे जगति विरोधोच्छेदप्रसङ्गात्। न चैवमस्त्वित्युत्तरेऽपि निवृत्तिः। कथमप्युक्तरूपताया अनिवृत्तेः। तावन्मात्रशरीरत्वाच्च विरोधस्य। तत्सिद्धिरेव च भेदसिद्धिरतो न द्वितीयोऽपि।

कल्पलता– परस्परेति। परस्परविधिव्याप्यनिषेधयोः परस्परनिषेधव्याप्यविध्योर्वेत्यर्थः। अन्त्यो नीलपीतादीनामाद्यो भावाभावयोर्विरोधः। न चाविरोधे विरोधोच्छेदप्रसङ्ग इत्यापाद्यापादकाभेदः। एवम्भूतयोरविरोधे क्वापि विरोधो न स्यादिति सामान्यविशेषभावमाश्रित्यापाद्यापादकयोर्भेदात्। यद्वा नीलत्वं यदि पीतत्वाभावव्याप्यं न स्यात् पीतवृत्ति स्यादिति विशिष्यैवापाद्यम्। ननु विरोधोऽपि ज्ञानाभिन्न एवातः सोऽपि मास्तु, किन्नश्छिन्नमित्यत आह न चेति। उक्तरूपताया

इति। नीलादीनां परस्परविरहव्याप्यरूपताया इत्यर्थः। ननु भवत्वेवं किञ्चात इत्यत आह तावन्मात्रेति। परस्परविरहव्याप्यतामात्रशरीरत्वादित्यर्थः। विरोधाभावे विप्रतिपत्तेरनुदयात् कथाप्रवृत्तिरेव न स्यात्, न स्याच्च ज्ञानानामपि मिथो भेद इति भावः। तत्सिद्धिरिति विरोधसिद्धिरित्यर्थः। न द्वितीयोऽपीति। निभृतवैराणां तत्फलपरित्यागो वेत्यपि पक्षो नास्ति। अयमेव हि भेदो भेदहेतुर्वा यद्विरुद्धधर्म्माध्यासः कारणभेदो वेति तवैवाभिधानादित्यर्थः।

यस्तु बाह्ये विरोधपालनाय विशेषो दर्शितः, स तेषामेवास्तु। यदि हि विरुद्धधर्म्माध्यासस्य भेदसाधकत्वं प्रति समाश्वासः, किमर्थक्रियाप्रतिनियमोपन्यासेन। न चेत्, तथापि किं तेन। सोऽपि ह्यर्थक्रिययोर्विरुद्धधर्म्माध्यासेन भेदे सति स्यात्।

कल्पलता- नन्वर्थक्रियाप्रतिनियमः प्रवृत्तिप्रतिनियमश्च बाह्ये भेदक उक्तः। स च ज्ञाने नास्तीति ज्ञानं कथं भिद्यतामत आह यस्त्विति। बाह्येऽपि तयोर्भेदकत्वं विरोधाधीनं, स चेद्विरोधो ज्ञानेऽप्यस्ति तदा तदपि भिद्येतैव। अन्यथा अर्थक्रियाणां प्रवृत्तीनाञ्च भेदो न स्याद्, यतो बाह्यं भिद्येतेत्यर्थः। विशेष इति। अर्थक्रियाप्रतिनियमरूप इत्यर्थः। स तेषामिति। अर्थक्रियाप्रतिनियमेन बाह्यानामेव भेदोऽस्त्वित्यर्थः। यदि हीति। तदयं समुदायार्थः, विरुद्धधर्म्माध्यासो भेदको न वा, प्रथमे ज्ञानमपि नीलधवलाकारं ततो भिद्येत। अन्त्येऽर्थक्रियाभेदोऽपि न स्यान्न स्याच्च तदधीनो बाह्यभेदः। किमर्थेति। तदन्तरेणापि विरुद्धधर्म्माध्यासेनैव बाह्यभेदसिद्धेः। न चेदिति। विरुद्धधर्म्माध्यासोऽपि यदि न भेदकस्तदाऽर्थ-क्रियाप्रतिनियमोऽपि न स्यादित्यर्थः।

अन्यच्च यथा बाह्येऽर्थक्रियाप्रतिनियमो न स्यादिति दण्डस्तथा ज्ञानेऽपि प्रतिभासनियमो न स्यादिति दण्ड एव।

कल्पलता- ननु यथा यदि बाह्यानां परस्परं भेदो न स्यात्तदार्थप्रतिनियमो न स्यादिति बाह्यभेदसाधने विपक्षदण्डः तथा ज्ञाने नास्ति, येन तद्भेदोऽङ्गीक्रियेतेत्यत आह अन्यच्चेति। प्रतिभासनियमो न स्यादिति। नीलज्ञानमपि पीताकारं भवेत् पीतज्ञानमपि नीलाकारं भवेदित्यर्थः।

क्व प्रतिभासासाङ्कर्यनियमः। सहैव प्रतिभासोऽपि स्यादिति चेत्, न। सहानुपलम्भमसाङ्कर्यं ब्रूमः। किन्तु नीलस्यैव पीतत्वेन पीतस्यैव नीलत्वेनानुपलम्भम्। स एव मूलं सर्वविरोधानाम्।

कल्पलता– ननु प्रतिभासनियमो न स्यादिति नेदमनिष्टम्, नीलधवलादीनां सहैवोपलम्भस्य मयाऽभ्युपगमादिति शङ्कते क्वेति। नीलपीतादीनां सहैवोपलम्भेन प्रतिभाससाङ्कर्य्येऽपि नीलस्यैव पीतत्वेन पीतस्यैव नीलत्वेन भानं त्वया नेष्यते तदेवापाद्यते नीलपीतादीनां विरोधाभावादिति। परिहरति न सहानुपलम्भमिति। सर्वविरोधानामिति। बाह्येऽपि विरोधस्य तदेव मूलं यदेकस्यापरात्मतयाऽनुपलम्भ इत्यर्थः।

अन्यथोपलम्भानुपलम्भयोरप्यसिद्धिरेव। यदपि नोपलभ्यत इत्युच्यते, तदप्युलभ्यत एव। यदिदमश्वादिकमुपलभ्यते तन्नोपलभ्यत इत्युक्त्यैव निर्वृत्तेः। तेनात्मना नोपलभ्यत इति चेत्, तत् किं सहोपलम्भेऽपि नीलात्मना पीतमुपलभ्यते, यतो न विरोधः स्यात्। तस्मादुभावपि विरोधौ समौ क्षमौ चाभेदविसर्जने। केवलमेकस्य प्रौढिः सुभगाभिक्षुकन्यायेन यदि स्यात्।

कल्पलता– नीलपीतादीनां सहोपलम्भादविरोधश्चेत्तदोपलम्भानुपलम्भयोरपि विरोधो न स्यात्। कदाचित्तयोरपि सहोपलम्भसम्भवादित्याह अन्यथेति। असिद्धिरेवेति। विरोधाधीनो हि भेदो विरोधश्चेन्नास्ति तदैकशेष एवेत्येकतरासिद्धिरित्यर्थः। एतदेवाह यदपीति। अनुपलम्भस्याभावादित्यर्थः। मैत्रस्त्वया नोपलब्ध इति पृष्टोऽनुपलब्धमैत्रोऽप्युपलब्ध एव मैत्र इत्युक्त्यैव निर्वृतिप्रसङ्गादित्याह यदिदमिति। ननु यद्युपलम्भोऽनुपलम्भात्मना उपलभ्येतानुपलम्भो वा उपलम्भात्मना, तदा तयोरविरोधः स्यान्न चैवमित्याह तेनेति। नीलधवलादावपि सहोपलम्भमात्रं न त्वेकात्मनाऽन्यस्योपलम्भ इति कथं न तत्र विरोधः स्यादित्याह तत्किमिति। प्रतिभासभेदाय तत्रापि विरोधध्रौव्यमुपसंहरति तस्मादिति। उभावपि बाह्यगतज्ञानगतौ भेदौ प्रवृत्तिप्रतिनियमप्रतिभासप्रतिनियमकृतावित्यर्थः। प्रवृत्तिप्रतिनियमाधीनस्य बाह्यभेदस्य त्वयापि पुरस्कृतस्य सौभाग्यात् प्रौढिः, अस्मदापाद्यमानस्य प्रतिभासाधीनज्ञानभेदस्य त्वयाऽनभ्युपगमादप्रौढिरित्यर्थः। भिक्षुविसर्जने दुर्भगायाः प्राधान्यमसहमानया सुभगया स्वयमेव भिक्षुविसर्ज्जित इति सुभगाभिक्षुकन्यायः। यदि स्यादित्यत्र तदा स्यादिति शेषः। यद्वा यदि परमसह्यस्तु विरह इतिवन्न शेषापेक्षा।

एतेन विवेचनाभावोऽपि निरस्तः, आकारयोरसम्भेदेन वेदनस्यैव विवेचनत्वात्।

कल्पलता- तदेवं विज्ञानस्य विरुद्धधर्माध्यासाद् भयं नास्तीति यत्परेणोक्तं तन्निराकृत्य विवेचनाभावः परमो निर्वाह इति यत्परेणोक्तं तन्निराकरोति एतेनेति। प्रतिभासभेदविवेचनेनेत्यर्थः। आकारयोरिति। नीलधवलाकारयोरसद्भेदश्चेत्साधितस्तदा तदाकारस्यापि भेदेनैव विवेचनं सिद्धं यत इत्यर्थः।

अपि च क्षणिकतायामेकपुरुषापेक्षया बाह्यस्यापि कुतो विवेचनम्। नानापुरुषापेक्षया त्विहापि सन्दिग्धम्। परेण परस्यावेदनात् क्व सन्देह इति चेत्, अभेदेनैव। तर्ह्यविवेचनं साध्यम्। तथा च किं तेनोपन्यस्तेनापि।

कल्पलता- अपि च बाह्यज्ञानयोरुभयोरपि विवेचनाभावस्तुल्य इत्याह अपि चेति। क्वेति। बाह्यस्य क्षणिकत्वेन भेदग्रहकाले विनाशात् क्व विवेचनमित्यर्थः। यद्वा बाह्येन सहोपलम्भनियमाद्यथा ज्ञाने विवेचनाभावस्तयोस्तथा सहोपलब्धयोर्नीलपीतयोस्तेन पुरुषेण विवेचनाभाव इत्यर्थः। ननु यौ नीलपीतावेकेन पुरुषेण सहौपलब्धौ तयोस्तदानीमेव पुरुषान्तरेण विवेचनं सम्भवत्येवेत्यत आह नानेति। पुरुषान्तरेण तदा तयोर्विवेचनमिति निश्चयो नास्ति सन्देहस्तु तज्ज्ञानेऽपि सहोपलब्धयोरपि नीलतज्ज्ञानयोः पुरुषान्तरेण विवेचनसम्भवादित्यर्थः। ननु पुरुषान्तरेण ज्ञानयोर्ग्राह्यग्राहकयोर्वा भेदो ग्रहीष्यत इत्याद्याकारस्सन्देहः तदा स्याद्, यदि भेदेन ग्राह्यग्राहकभावो भवेन्न चैतदस्तीत्याह परेणेति। ज्ञाने विवेचनानुपपत्त्या ग्राह्यग्राहकयोरभेदस्त्वया साध्यते तदुभयाभेदे च विवेचनानुपपत्तिरित्यन्योन्याश्रय इत्यत आह अभेदेनैवेति।

तज्जातीयस्य तु बाह्यवद्विज्ञानस्यापि विवेचनमेवेति। स्वसम्वेदन-बाधितोऽयं विरुद्धधर्म्माध्यासो न भेदसाधक इति उष्ट्रलगुडकम्, सम्वेदनेनैवास्य साधितत्वात्।

कल्पलता- ननु क्षणिकतयैका नीलव्यक्तिः पीतव्यक्तितस्तेन पुरुषेण माविविच्यताम्। नीलजातीयं पीतजातीयाद्भिन्नमिति बाह्ये विवेचनमस्त्येवेत्यत आह तज्जातीयस्येति। तर्हि नीलज्ञानजातीयं पीतज्ञानजातीयाद्भिन्नमिति विज्ञानेऽपि विवेचनमस्त्येवेत्यर्थः। ननु नीलपीतविषयकैकज्ञानस्यैकत्वेनानुभवाद्विरुद्ध-धर्म्माध्यासेन तद्भेदसाधनं बाधितमित्यत आह सम्वेदनेति। एवं सम्वेदनमेव हन्तुमुपक्रान्तं तदेव तु भेदं हनिष्यति। तथा च कुरूपो हन्यतामिति श्रुत्वा कुरूपहननाय प्रथममुष्ट्रेणैव लगुडकं गृहीतमिति न्यायमनुभवतीत्यर्थः। नीलात् पीतं भिन्नं नीलजातीयात् पीतं भिन्नमिति बाह्येऽपि सम्वेदनाधीन एव भेदः। स कथं तेनैव

बाध्यतामिति सिद्धं विरुद्धद्वयाकारं ज्ञानमपि विरुद्धधर्म्माध्यासाद्भिन्नमिति भावः।

हिनस्तु तर्हि प्रकाशमानताऽनेकत्वं विरुद्धधर्म्माध्यासोऽप्येकताम्। तथाप्येकत्वानेकत्वविकलनीलाद्याकारप्रकाशस्वरूपे किमायातमिति चेत्, तदिदं भौतैः क्षेत्रनिलायनम्। नियताकारत्वमेव ह्येकत्वमनियताकारत्वं चानेकता, तन्निवृत्तौ च न नीलाकारं नापि नीलपीताद्याकारमित्य नाकारमेवावशिष्यते।

कल्पलता– ननु नीलधवलादि एकज्ञानकुक्षावेव प्रकाशमानत्वानुरोधात् प्रविष्टमिति तज्ज्ञानं कथमनेकं स्यात्। न च तदेकमेव भवितुमर्हति। विरुद्धधर्माध्यासादित्येकत्वमनेकत्वं च विवादपदज्ञाने मानं मास्तु ज्ञानस्वरूपं तु स्वसम्वेदनसिद्धं दुर्न्निरसनम्। तदुक्तं *ज्ञानश्रिया*–

चित्रैकव्यवहारोऽपि भेदापोहपरोमतः।
एकानेकवियुक्तो हि प्रकाशः केवलोऽत्र सन्।।

इत्याह। **हिनस्त्विति**। तर्हि तज्ज्ञानं नैकस्वरूपं न वाऽनेकस्वरूपमिति निःस्वरूपमेव पर्यवसन्नमित्याह **तदिदमिति**। **भौतैर्बर्बरैः** क्षेत्रनिलायनं क्षेत्रकेवलीकरणम्। सस्यरक्षायै तृणे निरसनीये सस्यमपि निरस्तमेवेति यथेत्यर्थः। एतदेवाह **नियतेति**।

स्यादेतत्। पारमार्थिको विरुद्धधर्म्माध्यासो भेदग्रहहेतुरयं तु काल्पनिक इति चेत्, एवं तर्हि सुतरामयत्नसिद्धं स्फटिकवद्बोधस्य निराकारशुद्धत्वम्। आकारनिकरस्त्वनात्मैव स्फुरतीत्युभयथैव कालात्ययापदिष्टाः सहोपलम्भादयः।

कल्पलता– ननु नीलपीतादीनामवस्तुत्वात् तद्घटितो विरुद्धधर्म्माध्यासोऽप्यवस्तुभूतः कथ ज्ञानं भिन्द्यादित्याह **स्यादेतदिति**। **उभयथेति**। नीलादीनां पारमार्थिकत्वे अपारमार्थिकत्वे चेत्यर्थः। तत्र पारमार्थिकत्वे विरुद्धधर्म्माध्यासादुक्तादेव बाधो ज्ञानस्य नीलाद्यभेदे साध्ये। अपारमार्थिकत्वे तु अपरमार्थसतो ज्ञानस्यापारमार्थिकनीलाद्यभेदे साध्ये तु सुतरां बाध इत्यर्थः। उभयथेति। परमार्थसदाकारत्वे निराकारत्वे चेत्यर्थ इति *केचित्*।

अपि च आस्तां तावद्विरुद्धधर्म्माध्यासचिन्ता। योऽयं ग्राह्यग्राहकभागभेदो ग्राह्यनीलपीतादिभेदो वा चकास्ति, स किं

सत्योऽसत्यो वा। सत्यत्वे स एव दोषो हेतूनाम्। असत्यत्वे वा नायमात्मा विज्ञानस्येत्यनात्मन्यपि सहोपलम्भनियमादयोग्यता इत्यनेकान्ताः। भेदो न प्रथत एवेति चेत्, एवं तर्हि अस्तु तावत् सर्वजनीनप्रतीतिविरोधः स्ववाग्विरोधो वा। असिद्धास्तर्हि हेतवः। न हि भेदाप्रथने सहार्थं तद्व्याप्यतां वा पश्यामः तदस्फुरणेऽपि पक्षादिप्रविभागोऽपि कथम्। कं च बोधयितुं प्रवृत्तोऽसि किमर्थं च। अन्वयव्यतिरेकाप्रतीतौ किं च हेतोर्बलम्। कुतश्च विप्रतिपत्तिः कीदृशी चेति। सोऽयं विचारमारभते, भेदं तु साम्वृतमपि नेच्छति। नूनमुन्मत्तोऽप्यनेन जितः।

कल्पलता- *एकदण्डिमत*मन्तर्भाव्य दोषान्तरमाह **अपि चेति**। **आस्तां तावदिति**। दोषान्तरमेवात्र द्रढीय इति भावः। **स एवेति**। भासमानस्य भेदस्य सत्यत्वे ग्राह्याभेदसाधने बाध एवेत्यर्थः। **अनेकान्त इति**। असत्यस्य भेदस्य ग्राह्यत्वे सहोपलम्भनियतत्वादिति हेतुसत्त्वेऽपि साध्यस्य ग्राह्याभेदस्यासत्त्वादनैकान्तिकत्वमित्यर्थः। **स्ववाग्विरोध इति**। भेदपदमुच्चारयतो भेदो न प्रथत इति स्ववाग्विरोध इत्यर्थः। **असिद्धाः** स्वरूपासिद्धाः। **तद्व्याप्यतामिति**। तस्य व्याप्यव्यापकभावस्य भेदगर्भत्वादित्यर्थः। **पक्षादीति**। पक्षसाध्यहेतुदृष्टान्तादीनां भेदे सत्येव अनुमानप्रवृत्तेरित्यर्थः। **कं चेति**। वादिनोरपि भेदाभावादित्यर्थः। **किमर्थं चेति**। तत्त्वनिर्णयविजयादीनामुद्देश्यानामसत्त्वादित्यर्थः। अन्वयव्यतिरेकयोरपि भेदाभावे प्रतीतिरनुपपन्ना, प्रतीतिभेदाभावे विरुद्धा प्रतिपत्तिर्विप्रतिपत्तिरपि न स्यात्तदभावाच्च न विवादपदप्रवृत्तिरिति सर्वथा सर्वत्र भेदतज्ज्ञानयोरपेक्षेत्याह **अन्वयेति**।

विकल्पारूढ एव भेदो व्यवहाराङ्गं नानुभवारूढ इति चेत्, सोऽपि सत्योऽसत्यो वा भासते न वेति विकल्पान्नातिवर्तते।

कल्पलता- **विकल्पः** सविकल्पकः। **अनुभवो** निर्विकल्पकम्। तथा चापारमार्थिक एव भेद इति भावः। **सत्य इति**। सत्यो भेदो भासते च यदि तदा सिद्धं नः समीहितम्, ज्ञानमपि त्वन्मते भेदात्मकं स्यात्। तदनात्मकत्वे च भेदेऽपि ग्राह्यग्राहकभावसिद्धिः। यदि च सत्यो भेदो न भासते तदा भेदव्यवहारानुपपत्तिर्न ह्याभासमानं किञ्चिद्व्यवह्रियते। अथासत्य एव भेदो भासते तदा तदभेदात् ज्ञानमप्यसदेव स्यादन्यथा भेदे ग्राह्यग्राहकभावसिद्धिः। अथ न भासते तदा न भेदव्यवहार इत्यर्थः।

असन्नेवास्फुरन्नेवाध्यवसीयत इति चेत्, अध्यवसीयत इति विचारणीयमेतत्। तद्विषयव्यवहारजननमध्यवासायार्थ इति चेत्, व्यवहारोऽपि यद्यज्ञानरूपः, कथमसंस्तेन जन्यताम्। ज्ञानरूपश्चेत्, कथं नियामकं विना तद्विषयः। स्वकारणसामग्रीसामर्थ्यादिति चेत्, सोऽयं व्यवहृतिरूपज्ञानालीकभेदयोर्नियामकान्तराभावेऽपि कारणसामर्थ्यमाश्रित्य विषयविषयिभावमिच्छति, न त्वनुभवानुभाव्ययोरिति क्षीरं विहाय रुचिररोचकग्रस्तस्य सौवीरे।

कल्पलता- अस्फुरन्निति। अज्ञायमान इत्यर्थः। विचारणीयमिति। विचारासहमेतदित्यर्थः। ज्ञानाविषयेऽपि भेदव्यवहारं करोति विकल्प इत्याह तद्विषयेति। व्यवहारोऽपीति। त्वन्मते ज्ञानातिरिक्तस्यासत्त्वादिति भावः। तद्विषय इति। भेदविषय इत्यर्थः। एवं सति नीलादीनामपि ज्ञानविषयत्वसिद्धिरिति भावः। व्यवहारस्वरूपं ज्ञानं स्वकारणबलात्तथोत्पन्नं यथाऽलीकं भेदं विषयीकरोतीत्याह स्वकारणेति। व्यवहृतिरूपज्ञानञ्चालीकभेदश्चेति द्वन्द्वः समासः। अनुभवानुभाव्ययोरिति निर्विकल्पकवस्तुग्राह्ययोरित्यर्थः। वस्तुभूतं नीलादि स्वकारणसामर्थ्यादेव भिन्नमपि विषयीकरोतु किन्नियामकान्तरेणेति भावः। वस्तुविषयतायां स्वकारणसामर्थ्यसम्भवः क्षीरमिष्टम्, अवस्तुविषयतायां तदसम्भवः सौवीरं काञ्जिकम्।

भेदोऽपि विकल्पाकार एव, न तु बाह्य इति चेत्, यद्यसन्नेवासौ, कथं विकल्पाकारः। तदाकारश्चेत्, कथमसन्निति परिभावय। अस्तु तर्हि सन्नेवेति चेत्, नन्वद्वयदर्शि चेद्विज्ञानम्, कथं भेदप्रथा। आकारद्वयदर्शि चेत्, कथमेकं सद् द्वयात्मकम्। चित्राकारमिति चेत्, चित्रमेकमनेकं वेति विकल्पगिलितमेव तव पश्यतः। अनेकत्वे क्व एकविज्ञानतादात्म्यम्। विज्ञानस्यापि यावदाकारमनेकत्वे क्व चित्राकारसम्वेदनम्, स्वस्वमात्रमग्नत्वात्। एकत्वे क्व भेदप्रतीतिः।

कल्पलता- ननु विकल्पाद्भिन्नस्यालीकभेदस्य विषयतां नाङ्गीकुर्म्म इत्याह भेदोऽपीति। कथमिति। वस्त्ववस्तुनोस्तादात्म्यानुपपत्तेरित्यर्थः। तदाकार इति। आकाराकारिणोरभेदादिति भावः। अस्त्विति। सन्नेव भेदो विकल्पाकारोऽस्तु, तथा च न पूर्वदोष इत्यर्थः। अद्वयेति। ययोर्भेदो गृह्यते तदुभयाविषयं चेदित्यर्थः। न हि प्रतियोग्यनुयोगिनोर्नीलपीतयोरज्ञानेऽपि भेदज्ञानमिति भावः। ननु

नीलपीताकारयोरनुयोगिप्रतियोगिनोर्ज्ञाने सत्येव भेदज्ञानमस्तु को दोष इत्यत आह **आकारेति**। तर्हि विरुद्धद्वयाकारं ज्ञानमपि विरोधादेकं न स्यादित्यर्थः। रत्नकीर्तिमतं शङ्कते **चित्राकारमिति**। न द्वयदर्शि नाप्यद्वयदर्शि किं तु चित्राकारमित्यर्थः। अत्रापि *नैयायिका*भिमतैकगुणपरश्चित्रशब्दः कर्बुरार्थो वाऽनेकगुणपर इति विकल्पयति **चित्रमपीति**। एकं तावन्न भवति, विरुद्धधर्म्माध्यासात्। नाप्यनेकमेकज्ञानतादात्म्याभावप्रसङ्गात्। एतदेवाह **अनेकत्व इति**। तव पश्यत इत्यनादरे षष्ठी त्वां पश्यन्तमप्यनादृत्येत्यर्थः। नन्वाकारनिकरानुरोधाद्विज्ञानमपि भिद्यतामत आह **विज्ञानस्यापीति**। तथा च त्वदनुमतं चित्राद्वैतमनुपपन्नमिति भावः।

अनीलाद्यनेकव्यावृत्तिकृतोऽनेकत्वाध्यवसाय एवेति चेत्, अतादात्म्ये कथं व्यावृत्तीनामुल्लेखः। तादात्म्ये कथमनेकत्वम्। एकत्वेऽपि क्व तत्कृतोऽपि भेदाध्यवसायः। उल्लेखोऽयमस्य विज्ञानस्य यदनेकत्वं नाम, न पुनस्तत्त्वान्तरमिति चेत्, स्वरूपमस्वरूपं वेति वाच्यम्। आद्ये अनेकस्वरूपमेकमिति कोऽन्यो वदेदसुस्थात्। द्वितीयस्त्विष्यत एवास्माभिः, किं तु त्वयेष्यताम्। भ्रान्तिरसाविति चेत्, तस्यामपि स्वरूपमस्वरूपं वा प्रकाशेत, प्राकारान्तराभावादिति।

कल्पलता– अत्र *ज्ञानश्रियः* समाधानं शङ्कते **अनीलेति**। तदुक्तं *ज्ञानश्रिया*–

यदि स्वरूपमाकाराश्चित्रतैकधियः कथम्।
भेदः प्रत्यर्थताबुद्धेस्तदाऽन्योन्यस्य वेदनम्।।
भेदः प्रत्यणु वा बुद्धेस्तथा नान्योन्यवेदनम् ।
मिथस्तथापि वा वित्तौ बाह्यवल्लक्षणस्थितिः।
भेदेऽप्येवं धियस्तेषां प्रकाशघटना कथम्।।

इत्याशङ्क्याह–

अलीकमन्यत्वेऽपीदं व्यावृत्त्यन्तरमीरितम्।

तदेतत्परिहरति **अतादात्म्य इति**। व्यावृत्तयो यदि ज्ञानभिन्नास्तदा कथं प्रकाशन्ताम्। ज्ञानाभिन्ना एव चेत्तदा ज्ञानाभेदेन तासामप्यभेद एवेति क्व चित्राकारत्वम्। नन्वस्तु व्यावृत्तीनामप्यभेद एवेत्याह **एकत्वेऽपीति**। तथा चानेकत्वाध्यवसायमात्रत्वं त्वनुजानीम इति *रत्नकीर्तेः* स्ववचनविरोध इत्यर्थः।

ननु प्रतिशब्दवदवास्तव एवायमुल्लेखो न तु वास्तवो येनानेकत्वं तदनुरोधात् ज्ञानस्य भवेदित्याशङ्कते उल्लेखोऽयमिति। न पुनरिति। अनेकत्वमेव न वस्तुसिद्धं यच्चित्राकारे ज्ञाने त्वयाऽऽपाद्यत इत्यर्थः। परिहरति **स्वरूपमिति**। यदनेकत्वमुल्लिख्यते तद् यदि ज्ञानस्वरूपमेव तदा ज्ञानस्यानेकत्वमवर्ज्जनीयम्। अथास्वरूपं ज्ञानाद् भिन्नमेव ज्ञानेनोल्लिख्यते तदा भेदेऽपि ग्राह्यग्राहकभाव इति सिद्धं नः समीहितमित्यर्थः। **त्वयेति**। तवेदमत्यन्तमनिष्टमित्यर्थः। **असाविति**। अनेकत्वावगाही चित्रप्रत्यय इत्यर्थः। भ्रान्तिरपि हि ज्ञानमेव। तत्रापि पूर्वोक्तो विकल्पस्तदवस्थ एवेत्यर्थः।

स्यादेतत्। यथाऽतत् तत्तया परिस्फुरदपि न वस्तुगत्या तदेव। तथा तदप्यतत्तया परिस्फुरदपि नातदेव। ततः स्वरूपस्यातत्तया प्रथनेऽपि न काचित् ग्राह्यलक्षणक्षतिरिति चेत्, यद्यतत्तापि परिस्फुरन्ती स्वरूपमेवास्य स्यात्, स्यादप्यस्योपन्यासस्य प्रस्तुतोपयोगः। अस्वरूपस्य कथं प्रकाश इति चेत् यद्यपि तथा वक्ष्यामः, तथाप्यतत्ता कथं तस्य स्वरूपमितीतोऽपि दीयतां दृष्टिः।

कल्पलता- न ह्यविद्यासमारोपिताकारः पर्य्यनुयोगमर्हतीति *कीर्तिमत*माशङ्कते **स्यादेतदिति**। **अतदिति**। अरजतं शुक्तिस्वरूपं तत्तया रजततया स्फुरदपि यथा न वस्तुगत्या रजतमेव तथा तदप्येकमपि ज्ञानं अतत्तया अनेकतया स्फुरदपि न वस्तुगत्या अनेकमेव। ततः स्वरूपस्य विज्ञानस्य अतत्तयानेकतया स्फुरणेऽपि भेदेन ग्राह्यग्राहकभावो भवत्येव, नास्मन्मते ग्राह्यलक्षणक्षतिरित्यर्थः। **यदीति**। अतत्ता अनेकता चित्रप्रत्यये स्फुरन्ती यदि चित्रप्रत्ययात्मा भवेत्तदायं समाधिः स्यादपि, न त्वेवम् एकस्य चित्रप्रत्ययस्यानेकात्मकत्वप्रसङ्गस्य दुर्वारत्वादित्यर्थः। ननु तत्ता चेत् स्फुरति तदा सा स्वरूपमेव वाच्या अस्वरूपस्य स्फुरणानुपपत्तेरित्याह **अस्वरूपस्येति**। **यद्यपीति**। सर्वत्रास्वरूपमेव ग्राहकज्ञानभिन्नमेव स्फुरतीति ग्राह्यग्राहकलक्षणं वक्ष्याम एवेत्यर्थः। **अतत्तेति**। अस्वरूपमनेकत्वमित्यर्थः।

कश्चास्वरूपस्फुरणे दोषः। नायं भिन्नयोर्वेद्यवेदकभावो व्यापारनिबन्धनः, नियतस्य तस्याभावात्। नापि जातिनिबन्धनः, कश्चित्कञ्चित्प्रति ज्ञेय इति व्यवस्थानुपपत्तिप्रसङ्गात्। न हि निसर्गसिद्धानां गोत्वादीनामीदृशी रीतिरिति चेत्, नन्वयमभेदेऽपि

दोषस्तदवस्थ एव। तथाहि स्वस्य वेदनमिति नायं व्यापारनिबन्धनः व्यवहारः स्वात्मनि तदभावात्। नापि जातिनिबन्धनः साधारण्यप्रसङ्गात्। न हि जात्यैव गौः स्वात्मानं प्रति न तु परं प्रतीति नियमो दृष्टः। न च ज्ञानं स्वस्येव परस्यापि वेदनं सर्वसर्वज्ञत्वापत्तेः।

कल्पलता- भेदेऽपि न ग्राह्यलक्षणक्षतिरिति स्वपक्षनिर्वाहाय पृच्छति कश्चेति। अस्वरूपं ज्ञानभिन्नं बाह्यं तत्स्फुरण इत्यर्थः। तत्र च *ज्ञानश्रियो*क्तं दोषमाशङ्कते नायमिति। ज्ञाने विषयेण व्यापार आधीयते विषये ज्ञानेन वा। आद्ये व्युत्पादितेनैव ज्ञानस्य विषयकृतो व्यापारोऽन्योन्याज्ञाने तावद्विषयाधीनो व्यापारोऽनुपलम्भबाधितः। उत्पादकतया तदीयत्वे चक्षुराद्यपि विषयः स्यात्। विषये च ज्ञानेन ज्ञाततारूपव्यापाराधानेऽतीतानागतविषयता भज्येत। तदुक्तम् –

उत्पादमात्रेऽतिशयान्तरे वा ज्ञानात् प्रकाशो न हि बाह्यराशेः।

प्रकाशरूपस्य समुद्भवे तु प्रसह्य साधारणताप्रसङ्गः।। इति।

ननु जातिनिबन्धन एव विषयविषयिभावोऽस्तु भेदेऽपीत्यत आह नापीति। तथा सति यदेकस्य ज्ञेयं तत्सर्वस्यैव स्यात्। एतदेवाह न हीति। नन्वित्यामन्त्रणे। स्वात्मनीति। न हि तेनैव ज्ञानेन स्वात्मनि व्यापारः कश्चिदाधीयत इत्यर्थः। साधारण्येति। तद् ज्ञानम्। सर्वस्यैव स्यादित्यर्थः। एतदेवाह न हीति। ननु भवतु सर्वसाधारण्यं को दोष इत्यत आह न चेति।

न तत् कस्यचित्, किं तु वेदनमात्रमिति चेत्, तथापि स्वात्मन्यजडवत् परत्राप्यजडं स्यात्। परस्मिन्नन्धवत् स्वस्मिन्नप्यन्धं प्रसज्येत, जात्यैव तद्रूपत्वात्। जात्यापि स्वकारणात् क्वचिन्नियतरूपमेव तदुत्पन्नमिति चेत्, नैवमुच्चैर्ब्रूयाः, परैरपि कदाचिदेवं श्रूयेत।

कल्पलता- ननु न ज्ञानं स्वात्मानं प्रकाशयति येन प्रतिबन्दिरियं स्यात्, तदुक्तम्–

विज्ञानं जडरूपेभ्यो व्यावृत्तमुपजायते।
इयमेवात्मसम्वित्तिस्तस्य या ऽजडरूपता।।

यथा तथेत्ययं शून्यता यदुत्पादवारणात् इत्यादि। तदेतदाशङ्कते न तत्कस्यचिदिति। यथा तदीया स्वात्मन्यजडरूपता तथा परं प्रति तथा स्यात्। परस्मिन्नेवं चेत्स्वस्मिन्नपि तथा स्यादिति। सैव प्रतिबन्दिरित्याह तथापीति। ननु

परं प्रत्यजडं स्यादिति परमपि गृह्णीयादित्यर्थो वा परापेक्षयाप्यजडरूपतया व्यवह्रियतामिति वा। नाद्यः, उक्तदोषात्। नान्त्यः, इष्टापत्तेः। मैवम्। इयमेव चेत् स्वप्रकाशता तदा परप्रकाशतापीयमेव स्यादित्यविशेषापादनमात्रतात्पर्यकत्वात्। परप्रकाशे दोषस्योद्धरणीयत्वादिति। ननु स्वस्मिन्नजडं चेत् तदा परत्रापि तथा स्यात्, अन्धं चेत् तदा स्वस्मिन्नपि तथा स्यादित्यत्र किमापादकमत आह जात्यैवेति। तज्जातीयं यत् तत्सर्वं प्रति तथैवेति तथा दर्शनादित्यर्थः। स्वकारणबलात् स्वस्मिन्नेव तदजडरूपमित्याशङ्कते जात्यापीति। तदेतत्तुल्यमित्याह नोच्चैरिति।

अभेदोऽस्तु मा वा। भेदं तु प्रकाशमानत्वेन व्यासेधाम इति चेन्न। वस्तुनि भेदनिवृत्तेरेवाभेदरूपत्वात्।

कल्पलता- ननु प्रकाशमानत्वादिभिर्हेतुभिर्ज्ञानाभेदो नीलादीनां न मया साध्यते किन्तु ज्ञानाद् भेदमात्रं निराक्रियते, तथा चाभेदेपि प्रकाशमानतानिराकरण-मतन्त्रमित्याह **अभेदे इति**। भेदनिराकरणमेवाभेदसाधनमिति न प्रकारभेद इत्याह **वस्तुनीति**। अलीके भेदाभेदनिराकरणमसम्भवीत्यत उक्तं **वस्तुनीति**।

अस्तु तर्हि भेदाभेदविधुरमेव चित्रम्, चेतोभेदे प्रकाशमानत्वायोगात्। अभेदे चित्रत्वानुपपत्तेरिति चेन्न। मिथोविरुद्धविधिद्वयविधिवत् तदुभयनिषेधस्याप्येकत्र विरुद्धत्वात्। न च सोऽप्यस्त्विति वाच्यम्। स्याद्वादावतारे तवापि *दिगम्बरत्व*प्रसङ्गात्।

कल्पलता- ननु नीलधवलाद्याकारं चेतो न नीलधवलादिभ्यो भिन्नं, नाप्यभिन्नम्। भेदे सति नीलधवलादीनां प्रकाशमानत्वं न स्यात्। अभेदे सति नीलधवलादीनामेकरूपतापत्तौ चित्रत्वमेव ज्ञानस्य भज्येतेत्यत आह **अस्तु तर्हीति**। यथा भेदभेदावेकत्र विधातुं न शक्येते तथा निषेद्धुमपीत्याह **मिथ इति**। नन्वेकत्र विरुद्धोभयनिषेधयोर्यो विरोध आपाद्यते सोऽप्यस्तु, तस्यापि ज्ञानविषयत्वेन ज्ञानकुक्षिप्रविष्टत्वादित्यत आह **स्याद्वादेति**। स्यादित्येवंरूपो वादः स्याद्वादः। तथा च यद्यदनिष्टमापाद्यते तत्र तत्रेष्टतापादने *दिगम्बरमता*नुप्रवेश इत्यर्थः। यद्वा एवंगतत्रपस्य तव वस्त्रत्यागोऽपि न लज्जामापादयेदित्यर्थः।

अस्तु तर्हि चतुःशिखरीशून्यमेव चित्रम्, आश्चर्यरूपत्वात्। एकानेकत्वविरहेऽपि सत्त्वमित्याश्चर्यार्थो हि चित्रशब्द इति चेत्, अथ चतुःशिखरशेखरमेव किं न स्यात्। आश्चर्यरूपतायुक्तेस्तुल्यत्वात्। एकैकपक्षानुपपत्तिश्च यथा तन्निषेधपर्यवसायिनी तथा तदितरविधि-पर्यवसायिन्यपि स्यादिति।

कल्पलता- अस्त्विति। भेदविधिरभेदविधिर्भेदनिषेधोऽभेदनिषेध इति तच्चत्वारि शिखराणि बुद्धविशेषकोटयस्तच्छून्यमित्यर्थः। नायं चित्रशब्दः कर्बुरार्थः। किं त्वाश्चर्यार्थ इत्याह **एकानेकेति।** नीलधवलाद्याकारं ज्ञानं नैकं विरुद्धधर्माध्यासात्। नाप्यनेकं प्रतिनियतप्रतिभासप्रसङ्गादेवं विरोधे सत्यपि चैतादृशं ज्ञानमिति महदेवाश्चर्यमित्यर्थः। चतुष्कोटिशून्यतापेक्षया चतुष्कोटिमत्ताया एव लाघवेनाभ्युपगन्तुमुचितत्वादित्याह **अथेति।** चतुःशिखरशेखरं चतुष्कोटिप्रधानमित्यर्थः। यथा शून्यतायामाश्चर्यं तथा चतुष्कोटिविधावपि, विरोधस्तूभयत्रापि तुल्य इत्याह **आश्चर्येति।** नन्वेकैकपक्षानुपपत्त्या सर्वकोट्यभावात् शून्यता स्यादित्यत आह **एकैकेति।** यः पक्षे नोपपद्यते तस्य यथा निषेधस्तथा तद्विपरीतपक्षस्य विधिरित्यर्थः।

अपि चात्र वस्तुतश्चतुष्कोटिविरहे चेतसो भाषान्तरेणेदमुक्तम्। यदनात्मान एवैताश्चतस्रः कोटयो भासन्ते न वा प्रतिभान्तीति। तत्राप्रतिभासनमनुत्तरम्। प्रतिभासने तु ग्राह्यलक्षणायोगेऽपि ग्राह्यभाव इति चित्रमेतत्। तथा च चित्राद्वैताद्वरं चित्रद्वैतमस्तु प्रतिभासनानुरोधादिति।

कल्पलता- किं चैताश्चतस्रः कोटयो भासन्ते न वा। आद्ये ज्ञानाभिन्ना एव भासन्त इति पक्षः स्ववचनविरोधादेव त्याज्यः। अभाने चतुष्कोटि-शब्दप्रयोगस्यैवानुपपत्तिरित्याह **अपि चेति। चित्रद्वैतमिति।** ग्राह्यलक्षणाभावेऽपि ग्रहणमित्येकं चित्रम्। तच्च ग्रहणमेकत्वानेकत्वविधुरमिति तन्मतानुसाराद-परञ्चित्रमित्यर्थः।

स्यादेतत्। बहिरन्तरुभयत्रापि ग्राह्यलक्षणक्षतिरस्तु, प्रकाशमानत्वं तु नीलादीनामशक्यापह्नवम्। तावन्मात्रं चास्माकमभिमतमिति चेत्, तदेतद्विक्रीतगवीरक्षणम्। किमिदं हि प्रकाशमानत्वं यत् सर्वथा ग्राह्यलक्षणक्षतावपि न क्षीणम्। न प्रकाशसम्बन्धः, नियमानुपपत्तेरित्युक्तम्। न प्रकाशतादात्म्यम्, चित्रत्वानुपपत्तेरित्युक्तम्। तस्मान्नीलादीनां प्रकाशमानत्वं परिपालयता ग्राह्यलक्षणे यत्नः कर्तव्यः, परिहर्त्तव्यं वा प्रकाशमानत्वम्। अन्यथा तपनीयमपनीय वाससि ग्रन्थिकर्तारमुपहससि, स्वयं च कनकमुपादाय गगनाञ्चले ग्रन्थिं करोषीति। सेयं सर्वप्रकारम-सिद्धिः सर्वप्रकारं चानैकान्तिकत्वमिति।

कल्पलता- ननु नीलादयः प्रकाशात्मानः प्रकाशमानत्वादित्येतावन्मात्र मत्रास्मदभिमतं, न तु स्वस्य परस्य वा वेदनमित्यस्मदभिमतमिहेत्याशङ्कते **स्यादेतदिति**। तदुक्तं *ज्ञानश्रिया*-

प्रकाशमानं नीलादि जडं वाऽजडमेव वा।
इति प्रकरणेऽस्माभिर्बुद्धित्वे हेतुरुच्यते।। इति।

बहिरन्तरिति। स्वसम्वेदने परसम्वेदने वा ग्राह्यलक्षणक्षतिरस्त्वित्यर्थः। नीलादीनां प्रकाशमानत्वं त्वयैव दूरीकृतं त्वयैव च ज्ञानाभिन्नत्वे साध्ये हेतुत्वेनोपादीयत इत्युपहसति **तदेतदिति**। **न प्रकाशेति**। व्यापाराधानमन्तरेण नियमानुपपत्तेरिति त्वयोक्तम्, न प्रकाशतादात्म्यं विरुद्धधर्माध्यासेन चित्राकारज्ञानस्य भेदप्रसङ्गादिति मयोक्तम्। तथा चोभयथापि प्रकाशमानत्वं नीलादीनामनुपपन्नम्। तथा च भेदेऽपि विषयविषयिभावोऽभ्युपगन्तव्य इत्युपसंहरति **तस्मादिति**। अत्र *ज्ञानश्रिया* तदयमाकारबाह्यतामतिबाह्य बाह्यवादव्यसनिनो भेदसाधनविधि-स्तपनीयमपनीय वाससि ग्रन्थिकरणवृत्तान्तमनुहरतीति सोत्प्रासमुक्तम्। तदिदानीमवसरप्राप्तेनोपहासान्तरेण शिथिलयन्नाह **अन्यथेति**। नीलादीनां ज्ञानाकारता तावत् तपनीयं तत्त्वया परित्यक्तं बाह्यं वस्तु वाससि ग्रन्थिः स च क्रियते, तच्चानुपपन्नम्। न हि ज्ञानाकारतिरस्कारे ग्राह्यलक्षणस्थितिरिति परोपहासार्थः। यथा भेदे ग्राह्यलक्षणाभावस्तथा स्वसम्वेदनेऽपि। तथा च सर्वथा ग्राह्यलक्षणा-भावेऽपि प्रकाशमानत्वस्य गगनाञ्चलग्रन्थेः करणमिति परं प्रति *नैयायिकानामु*प-हासः। **सेयमिति**। नीलादि ज्ञानाभिन्नं प्रकाशमानत्वात्, सहोपलम्भाद्वेत्यादिहेतूनां नीलादिबाह्यानभ्युपगमे आश्रयासिद्धत्वम् भेदेऽभेदेऽपि च ग्राह्यलक्षणाभावात् स्वरूपासिद्धत्वम्। तद्वृत्तियावद्धर्म्मवत्त्वं हि तदभेदे साध्ये उपाधिरिति सोपाधित्वाद् व्याप्यत्वासिद्धत्वं चेत्यर्थः। **सर्वेति**। प्रकाशमानत्वात्सहोपलम्भाद्वेत्यस्यालीके भेदेऽपि गतत्वात्। साधारणत्वं सपक्षविपक्षव्यावृत्तत्वाद्वाऽसाधारणत्वमत एव चानुपसंहारित्वं चेत्यर्थः। यद्यप्येकत्र साधारणानैकान्तिकत्वम्-साधारणानैकान्तिकत्वं चानुपपन्नं तथापि विकल्प ऊहनीयमिति।

एतेन द्वितीयः पक्षः प्रत्युक्तः। न हि सजातीयत्वेन ग्राह्यलक्षणवैधुर्यमुत्सार्यते, अतिप्रसङ्गस्य तादवस्थ्यात्। जडत्वे प्रकाशासम्भावनैवेति चेन्न, तुल्यत्वात्। यथा ह्यस्वसम्वेदनवादिनः परं प्रति प्रकाशमपि ज्ञानमात्मनि जडमेव। तथा स्वसम्वेदनमात्रवादिनोऽपि

स्वात्मनि प्रकाशमानमपि ज्ञानं परं प्रति जडमेव। कथञ्चित् बुद्ध्यन्तरेऽप्यजडं चेत्, बाह्येऽपि तथा किं न स्यादिति सन्दिग्धविपक्षवृत्तित्वम्।

कल्पलता- एतेनेति। ग्राह्यलक्षणांभावेनेत्यर्थः। अनैकान्तिकत्वेनेत्*यन्ये*। द्वितीयः पक्षः नीलादीनां ज्ञानाभिन्नजातीयत्वम्। सजातीयस्यापि ग्रहे ग्राह्यलक्षणक्षतिस्तदवस्थेत्याह न हीति। अतिप्रसङ्गस्येति। घटपटादीनां सर्वेषां ज्ञानजातीयतया घटज्ञानस्य पटविषयत्वप्रसङ्गस्तदवस्थ एवेत्यर्थः। प्रकाशमानत्वेन ज्ञानसजातीयत्वं सेत्स्यति, जडस्य प्रकाशत्वानुपपत्तिरित्याशङ्कते जडत्व इति। तुल्यत्वादिति। यथा भिन्नतया जडं न प्रकाशते तथैवाजडमपीत्यर्थः। एतदेवाह यथा हीति। *नैयायिकानां* ज्ञानं स्वात्मनि जडं *बौद्धानां* तु स्वभिन्नज्ञानजातीयमपि जडमेव। तथा च तदपि कथं गृह्णीयादित्यर्थः। ननु ज्ञानजातीयं स्वभिन्नमपि प्रकाशयति, न तु जडजातीयमित्यत आह कथञ्चिदिति। ज्ञानानां स्वभिन्नप्रकाशन-सामर्थ्यं यदि तदा स्वभिन्नं जडमपि प्रकाशयत्विति विपक्षे बाधकाभाव इत्यर्थः।

ननु बाह्ये सर्वथैव ग्राह्यलक्षणक्षतिः। इह तु समानोपादानतानियमेन चित्राकाराणां परमार्थभिन्नानामेव व्यतिरेकवेदनसिद्धिः। न, मिथः प्रथानियमे ह्युपादानमुखेन सामान्यतो वा सामग्रीसामर्थ्यमेव वक्तव्यम्। अन्यथा तथाविधकार्यानुत्पत्तेः। तथा च बाह्यग्राह्यनियतस्वभावज्ञानोत्पत्तावपि सुलभमेतदिति पूर्वक एव दोषः।

कल्पलता- ननु भिन्नमपि समानोपादानं गृह्णातीति नियमः। स च बाह्यानां ज्ञानजातीयत्वे सम्भवति, न तु भिन्नजातीयत्व इत्याह नन्विति। चित्राकाराणां नीलधवलाद्याकाराणाम्। व्यतिरेकवेदनमन्योन्यवेदनम्। न मिथ इति। ज्ञानानां भेदे ग्राह्यग्राहकभावस्तावत्त्वयाप्यङ्गीकृत एव। तत्र नियामकं समानोपादानत्वं त्वयोच्यते, मया तु स्वसामग्रीतस्तथैव तज्ज्ञानमुत्पद्यते, येन घटमेव गृह्णाति न तु पटमपीति तुल्यमित्यर्थः। उपादानमुखेन विशेषतः, कारणमात्रमुखेन सामान्यतः। तथाविधेति। ज्ञानजातीयमपि स्वभिन्नं नीलमेव गृह्णाति न तु पीतमपीति नियामकं तवापि कारणशक्तिभेद एवेत्यर्थः। तदेतत्तुल्यमित्याह तथा चेति। पूर्वक एवेति। सन्दिग्धविपक्षवृत्तित्वमेवेत्यर्थः।

अस्तु तर्हि तृतीयः, सर्वथा ग्राह्यलक्षणानुपपत्तेः। तदभावे सामग्रीसामर्थ्यस्याप्याश्रयितुमशक्यत्वात्। विचारसिद्धे हि वस्तुनि

कारणचिन्तनावसरो न त्वविवेचित इति चेत्, किं ग्राह्यलक्षणानिर्वक्तव्यतया प्रकाशमानत्वममीषां निवर्त्तते सत्त्वं वा।

कल्पलता- ग्राह्यांशस्यालीकत्वमुत्थापयति अस्त्विति। तर्हीति। तज्जातीयत्वेऽपि ग्राह्यलक्षणमनुपपन्नमित्यर्थः। अत्र हेतुमाह सर्वथेति। भेदेऽभेदे च ग्राह्यलक्षणानुपपत्तेरित्यर्थः। तदभाव इति। ग्राह्याभाव इत्यर्थः। तदभावस्यालीकत्वादिति भावः। कथमेतदित्यत आह विचारेति। *केचित्तु* तदभावो ग्राह्यग्राहकलक्षणाभाव इत्याहुः।

यदि ग्राह्यग्राहकभावलक्षणं भवेत्तदार्थसामग्रीसामर्थ्याभिधानं घटेतापि, न तु तदभावेऽपीत्यर्थः। तदुक्तं *ज्ञानश्रिया*–

वेद्यवेदकयोरूपं नियतं यदि लक्षितम्।
तदुपादानपर्येष्टेः सामग्रीशक्तिरुच्यताम्।।

वेद्यवेदकयो रूपं न चाद्यापि निरूप्यते।
ततः स्वरूपे वक्तव्ये सामग्रीपरिवर्त्तनम्।।
अप्रस्तुताभिधानं वा डिण्डिकाचार एव वा। इत्यादि।

परिहरति तत्किमिति। ग्राह्यलक्षणन्तावन्मम, स्ववचनमेव त्वया निर्वक्तुं न शक्यते। एतावता नीलादीनां प्रकाशमानत्वं निवर्त्तते सत्त्वं वेत्यर्थः।

न प्रथमः। न हि लक्षणापरिज्ञानमात्रेण स्पष्टदृष्टमपि लक्ष्यमपह्नोतुं शक्यते, अपरिज्ञानस्य दुरूहत्वेनाप्युपपत्तेः। तेषामप्रतिभासे तन्निषेधस्यानुपपत्तेः।

कल्पलता- स्पष्टदृष्टमिति। सर्वानुभवसिद्धमित्यर्थः। ननु ग्राह्यलक्षणं न ज्ञायते चेन्नूनं नास्तीत्यत आह अपरिज्ञानस्येति। तेषामिति। यदि बाह्यानामप्रतिभासो भवेत्तदा तत्र ग्राह्यलक्षणं नास्तीत्ययमपि निषेधो न घटते ग्राह्यत्वेन तेषामेवाभिधानादित्यर्थः।

न द्वितीयः, तदा हि तल्लक्षणानुपपत्तिः सत्त्वं निवर्त्तयेत्। यद्यसत्त्वे लक्षणमुपपद्येत, उभयथाप्यनुपपत्तौ कोऽनुरागोऽसत्त्वे। तदेव लक्षणमिति चेत्, सत्त्वमेव किं न स्यात्। अतिप्रसङ्गादिति चेत्, तुल्यम्।

कल्पलता- तदा हीति। यद्यसत्त्वं ग्राह्यलक्षणनिर्वाह्यं भवेत्तदा तत्कल्पयितुमुचितमिति भावः। उभयथापीति। सत्त्वेऽसत्त्वे चेत्यर्थः। तदेवेति।

असत्त्वमेव ग्राह्यलक्षणमित्यर्थः। **सत्त्वमेवेति**। विनिगमनाविरहादित्यर्थः। अतिप्रसङ्ग इति। सत्त्वे भेदे च ग्राह्यत्वे घटज्ञानं पटविषयकमपि स्यादित्यर्थः।

वेदनाधीनव्यवहारगोचरत्वमितिं चेत्, अस्तु तावदिदम्। तस्यैवेति तु नियमः कुतः। सामग्रीतस्तथा वेदनोत्पत्तिरिति चेत्, तदेतत् सम्भाव्यते सति, न त्वसतीति विशेषः। यथा हि सति ज्ञानेनाभिलाषः, तेन यत्नः, तेन प्रवृत्तिः, तया तत्प्राप्तिः क्रियते न तथा अलीके तस्य प्राप्तुमशक्यत्वात्। शक्यत्वे वाऽनलीकत्वात्। व्यवहारोऽप्ययमलीक इति चेत्, तर्हि सुतरां लक्षणाभावः, तद्द्वारस्याप्यभावात्।

कल्पलता- ग्राह्यलक्षणान्तरं शङ्कते **वेदनेति**। **अस्तु तावदिति**। घटज्ञानेन घट एव व्यवहारो जन्यते न तु पट इत्यत्र किं नियामकमित्यर्थः। उपेक्षाज्ञानाव्यापकञ्चेदमिति भावः। सामग्रीसामर्थ्यं तत्र नियामकमित्याह **सामग्रीत इति**। **तदेतदिति**। अर्थसामर्थ्यसमुत्थत्वाज्ज्ञानस्येत्यर्थः। बाह्यस्य सत्त्वे व्यवहारोत्पत्तिर्नासत्त्वे इत्याह **यथा हीति**। **प्रवृत्तिरिह** चेष्टा। **तस्य प्राप्तु मित्युपलक्षणम्**। ज्ञातुमभिलषितुमित्यपि द्रष्टव्यम्। **अलीक इति**। तथा चालीकनिर्वाह्य इत्यर्थः। **तद्द्वारस्यापीति**। तथा च वेदनाधीनव्यवहारगोचरत्वं यद् ग्राह्यलक्षणं कृतं तत् सुतरां न सम्भवति इत्यर्थः।

अस्तु तर्हि सर्वथा विचारासहत्वमेव विश्वस्येति चेत्, तत्किमिदानीं तत्त्वोपप्लव एव काष्ठा, शून्यता वा। न प्रथमः, इयतीं भूमिमारूढस्यापि विचारस्य निश्चलतायां प्रमाणाभावात्। भावे वा कथ तत्त्वोपप्लवः। अस्यैव विचारस्यानुपप्लवात्। तत्समानन्यायस्यान्यस्यापि तथाभावप्राप्तेः, निष्फलत्वाच्च।

कल्पलता- ननु ग्राह्यत्वं न सत्त्वेन नाप्यसत्त्वेन न भिन्नत्वेन नाप्यभिन्नत्वेन विचारयितुं शक्यते चेत्तदा विश्वस्य विचारासहत्वमेवोचितमित्याह **अस्तु तर्हीति**। **इदानीमिति**। विज्ञानवाददशायामित्यर्थः। **काष्ठा** पर्यवसानमेव। तद् वरं विचारः प्रवर्त्तितस्तेनैतत्सिद्धं यत् किमपि तत्त्वं नास्ति सर्वं वा शून्यमिति भावः। **इयतीमिति** अनेन विचारेण तत्त्वोपप्लवे सिद्धे विचारस्य उपप्लवो न वा। आद्ये कथमनेन तत्सिद्धिः। अन्त्ये विचार एव न वस्तुसिद्ध इति। **कथं तत्त्वोपप्लवो** विचारस्यानुपप्लवः। विचार्य आत्मा, स च ज्ञानभिन्नो नित्यविभुश्चेत्याद्य सिद्धमेवेत्याह, **तत्समानेति**। **इदानीं** विचारस्यैवानारम्भणीयत्वमाह

निष्फलत्वाच्चेति।

न ह्यस्यातिप्रवृत्तिः फलम्, गगनास्वादनेनातृप्तेः। ज्वालाकलापालिङ्गनेन तापानपनोदनात्। नाप्यतिनिवृत्तिः, जडीभावमात्रेऽप्युपनिपातिदुःखानिवृत्तेः। न च दुःखमपि विचारासहमित्यहेयमेव, तथाविधस्य विचारेऽप्यनधिकारात्। नापि यथालोकं व्यवस्थितिः, विचारात् प्रागपि तस्याः पामरादिवदयत्नसिद्धेः। नापि परलोकमात्रान्निवृत्तिः, तस्यैहिकतुल्यत्वात्। दृश्यते हि तावदयमिति चेत्, यदि ज्ञानवचनो दृशिस्तदा परोऽपि तथा। साक्षात्कारवचनश्चेत्, इहैवानुमानादेरप्रवृत्तिप्रसङ्गः। तदपि प्रत्यक्षमिति चेत्, आमुष्मिकमपि प्रत्यक्षमेव। तथापि किं विचारेण। तमन्तरेणापि तस्याः सुलभत्वात्। तामेवायं पुष्णातीति चेत् तुल्यलक्षणत्वात्। अरुचेरेव तत्र न प्रवृत्तिरिति चेत्, तथापि किं विचारेण तमन्तरेणापि तस्यासुलभत्वात्। तामेवायं पुष्णातीति चेत् अविशेषादिहापि पुष्णीयादिति।

कल्पलता– ननु प्रधानादेवं नियता प्रवृत्तिर्मा भूदेतदर्थं विचारारम्भ इत्याह न हीति। तथा सति गगनादावपि प्रवर्त्तेत। न च ततः सुखमिति नैतत् फलमित्यर्थः। ननु सुखार्थिनां मुमुक्षूणामनियता प्रवृत्तिः स्यादेतदर्थं विचारारम्भ इत्यत आह ज्वालेति। भवेदेवं यदि तत्र प्रवृत्तौ दुःखोपशमः स्यान्न चैवमित्यर्थः। नन्वनेन विचारेण तत्त्वोपप्लवे ज्ञाते मुमुक्षूणां सर्वतो निवृत्तौ दुःखहानिः स्यात्। एतदर्थं विचारारम्भ इत्यत आह नापीति। स्यादेवं यदि निवृत्तौ दुःखविरहः स्यात्, न चैवमित्यर्थः। नन्वतिनिवृत्तिरेव विचारफलं, जडभूतस्यापि दुःखोपनिपातस्तथानिष्टं भवेद् यदि दुःखं हेयं स्यात्। न चैवमित्यत आह न चेतिं। तथाविधस्येति। तदुक्तम्–

"हेयहीनस्य का मुक्तिः केन वाप्युपदिश्यते"। इत्यर्थः।

यथा लोकव्यवस्थितिरित्यत्र विचारफलमित्यनुषज्यते। लोकतः सिद्धादन्यत्किमपि न तात्त्विकमित्येव विचारफलमित्यपि नास्तीत्यर्थः। नापीति। विचारेण तत्त्वोपप्लवे ज्ञाते स्वर्गार्थिनां नरकभीरूणाञ्च यागहिंसादौ प्रवृत्तिनिवृत्ती न स्यातामित्यर्थः। अयमिति। इह लोक इत्यर्थः। तथा च प्रवृत्तिनिवृत्ती स्यातामेवेति भावः। तदा परोऽपीति। आगमात् परलोकस्यापि ज्ञानात्। इहैवेति। साक्षात् क्रियमाणे वह्न्यादौ प्रवृत्तिदर्शनान्नायं नियम इत्यर्थः। स्वर्गसुखं नरकदुःखं च

प्रत्यक्षमेवेत्याह आमुष्मिकेति। तुल्यलक्षणत्वादिति। सुखत्वं दुःखत्वं च प्रत्यक्षलक्षणन्तयोरपि तुल्यमित्यर्थः। न हि सुखं दुःखं च साक्षात्काराविषयश्चेति भावः। ननु परलोके स्वरसत इच्छैव न भवत्यतो न प्रवृत्तिरित्याह अरुचेरिति। विचारफलं विचार्य्यते अनिच्छाधीना प्रवृत्तिर्न तत् फलमित्याह तथापीति। तामेवेति। विचारेण परलोकोपप्लवे सुतरां तत्रारुचिरित्यर्थः। एवं तत्त्वोपप्लवे ज्ञाते चेष्टार्थेऽप्यरुचिः स्यदित्याह इहापीति।

सोऽयं पवनतनयवार्तामुपश्रुत्य तत्स्पर्द्धया बालवानरः कियदपि दूरमुत्प्लुत्य महार्णवे पतितः प्राह, अपार एवायमकूपारो मिथ्या रामायण मिति, तत् किमनेन। एवं ज्ञातुं निर्वक्तुं वा न शक्यते कीदृशं जगदित्येतावन्मात्रमपि पामरदशावन्निष्फलमेव। न च निष्फलत्वेऽपि श्रद्धेयमिदं, तावत्परामर्शपाटवाभावेनाप्युपपत्तेः। न हि जात्यन्धो नीलं ज्ञातुं निर्वक्तुं वा न शक्त इत्यज्ञेयानिर्वाच्यमेव तल्लोक इति।

कल्पलता- विचारकुशलस्पर्द्धया विचाराकुशलस्त्वं तत्त्वोपप्लवं विचारविकलमादर्शयन्नुपहसनीयोऽसीति दृष्टान्तेन दर्शयति सोऽयमिति। विचारस्य फलान्तरमाशङ्कते एवमिति।

तदुक्तम्–

बुद्ध्या विविच्यमानानां स्वभावो नावधार्यते।
अतो निरभिलप्यास्ते निःस्वभावमिदं जगत्।। इति।

परिहरति एतावन्मात्रम् इति। विचारं विनापि पामरसाधारणमिदं फलमित्यर्थः। महता विचारेण सिद्ध्यतु निर्वचनीयत्वं विश्वस्य, तदपि मोक्षाननुकूलतया निष्फलमेवेत्याह न चेति। अत्र हेयतायां निमित्तमाह तावदिति। विचारं विनापि तस्यान्यथासिद्धत्वादित्यर्थः। निर्वक्तुं ज्ञातुं चाशक्यमपि ज्ञेयं निर्वाह्यञ्च भवतीत्याह न हीति।

अस्तु तर्हि शून्यतैव परमं निर्वाणमिति चेन्न। सा हि यद्यसिद्धा, कथं तदवशेषमपि विश्वमभिधीयते, वाङ्मात्रस्य सर्वत्र सुलभत्वात्। परतश्चेत् सिद्धा परोऽप्यभ्युपगन्तव्यो ग्राह्यलक्षणं चावर्जनीयमिति। स च परो यदि संवृतिरेव, विश्वशून्यतयोर्न कश्चिद्विशेषः, कथं तदप्यवशिष्येत। असंवृतिरूपश्चेत् परः, परत एव तस्य सिद्धानवस्था स्वयमसिद्धश्चेत्

कथं शून्यत्वमपि साधयेत्। स्वतः सिद्धश्चेत्, आयातोऽसि मार्गेण।

कल्पलता- *माध्यमिकमतं* द्वितीयं पक्षमाह अस्तु तर्हीति। परमं निर्वाणं ज्ञानस्यापि लोपात्। यथा दीपस्य निर्व्वाणतो महान्धकार इति भावः। बाह्यज्ञानयोरभावे न कुतोऽपि भीतिरिति परमा निर्वृतिरित्यर्थ *इत्यन्ये*।

शून्यतायां यदि प्रमाणमस्ति तदा न शून्यता। यदि च न प्रमाणं तदा पूर्णतया किमपराद्धमित्याह **सा हीति**। **परत इति**। प्रमाणादित्यर्थः। भिन्नाया एव शून्यताया ग्रहणे सिद्धमस्य ग्राह्यलक्षणमित्यर्थः। ननु न प्रमाणं परशब्देनोच्यते किं तु सम्वृतिः। तथा च न ग्राह्यलक्षणं न वा शून्यताभङ्ग इत्याह **स चेति**। सम्वृत्या विश्वस्यापि विषयीकरणादित्यर्थः। **कथमिति**। शून्यतावादिनः सम्वृतेरभ्युपगमे शून्यताक्षतिरेवेत्यर्थः। **असम्वृतीति**। प्रमाणान्तरापेक्षायामनवस्थेत्यर्थः। **स्वयमिति**। अनवस्थाभयेन प्रमाणेन प्रमाणान्तराननुसरणे मूलपर्यन्तमसिद्धेरित्यर्थः। **स्वत इति**। स्वप्रकाशत्वादेव शून्यतासिद्धौ नानवस्थेत्यर्थः। अत्र तटस्थो *वेदान्ती* स्वमतपर्य्यवसानमालोच्याह **आयातोऽसीति**।

तथा हि स्वतः सिद्धतया तदनुभवरूपम्, शून्यत्वादेव च न तस्य कालावच्छेद इति नित्यम्। अत एव च न देशावच्छेद इति व्यापकम्। अत एव तन्निर्धर्म्मकमिति विचारास्पृष्टम्, तस्य धर्म्मधर्म्मिभावमुपादाय प्रवृत्तेः। अत एव विशेषाभाव इत्यद्वैतम्, प्रपञ्चस्यापारमार्थिकत्वाच्च। निष्प्रतियोगिकमिति विधिरूपम्। अविचारितप्रपञ्चापेक्षया तु शून्यमिति व्यवहारः। तथापि प्रपञ्चशून्यस्यानुभवमात्रस्य प्रपञ्चेन सह कः सम्बन्धः। न च नायं प्रकाशत इति चेत्, वस्तुगत्या न कश्चित्, संवृत्त्या तु गगनगन्धर्वनगरयोराधाराधेयभाव इव विषयविषयिभावः। स च यथा *नैयायिकैः* समर्थयिष्यते तथैव वेद्यनिष्ठस्त्वसावस्मिन् दर्शन इति विशेषः। अविद्यैव हि तथा तथा विवर्त्तते यथा यथाऽनुभाव्यतया व्यवह्रियते। तत्तन्मायोपनीतोपाधिभेदाच्चानुभूतिरपि भिन्नेव व्यवहारपथमवतरति, गगनमिव स्वप्नदृष्टघटकटाहकोटरकुटीकोटिभिः। तदास्तां तावत्, किमार्द्रकवणिजो वहित्रचिन्तया।

कल्पलता- *वेदान्ती* स्वमतमुपस्करोति **तथाहीति**। अनुभवरूपं स्वप्रकाशज्ञानात्मकम्। **शून्यत्वादिति**। प्रपञ्चस्य मिथ्यात्वादित्यर्थः। 'नित्यं

विज्ञानमानन्दं ब्रह्मेति' श्रौतं नित्यत्वं कालस्य कालोपाधीनाञ्चासत्त्वादेव न तदवच्छेद एतावतैवोपचरितमित्यर्थः। **अत एवेति**। शून्यत्वादेव देशाभावादित्यर्थः। **तस्येति**। विचारस्येत्यर्थः। **विशेषाभावो** वैधर्म्याभावस्तदभावाच्चान्योन्याभावाभाव इति द्वैताभाव इत्यर्थः। स च ब्रह्मात्मक एवेति भावः। ननु प्रपञ्चभिन्नत्वा-त्तन्निषेधरूपमेव तन्न कथमत आह **प्रपञ्चस्येति**। ब्रह्मभिन्नत्वं यदि परमार्थसद्भवेत् तदा तत्प्रतियोगिकनिषेधरूपता स्यात् न त्वेवमित्यर्थः। तर्हि सति स्वप्रकाशज्ञाने शून्यत्वाभिधानं कथमित्यत आह **अविचारितेति**। ज्ञानभिन्नं किमपि नास्तीत्येव शून्यतेत्यर्थः। **तथापीति**। विषयविषयिभावस्य त्वयाऽनभ्युपगमादिति भावः। **वस्तुगत्येति**। तस्यापि प्रपञ्चान्तर्गतत्वादित्यर्थः। व्यवहारं समर्थयति **सम्वृत्येति**। ननु विषयविषयिभावः क इत्यत आह **स चेति**। **वेद्यनिष्ठ** इति। तेन प्रपञ्चेन सहैव निवर्त्तत इत्यर्थः। न च *नैयायिकाना*मिव ज्ञाननिष्ठः ज्ञानस्यापारमार्थिकप्रपञ्चेन सम्बन्धाभावादिति भावः। **अस्मिन् दर्शने** वेदान्तदर्शने। नन्वेवं घटपटादीनां घटज्ञानपटज्ञानादीनां च कथं भेदाभिमान इत्यत आह **अविद्यैव हीति**। अनाद्यविद्यावशात्तथानुभव इत्यर्थः। एक एवानुभवो ब्रह्मात्मकः कथमविद्यावशादपि भेदेन भासतामित्यनुपपत्तिं दृष्टान्तेन निरस्यति **गगनमिवेति**। **तदास्तामिति**। इदानीं *योगाचारमत* निरासाय प्रवृत्तोऽहं *वेदान्तिमत* मग्रे निराकरिष्यामीत्यर्थः। *वेदान्तिमतस्य* सुनिरसत्वमुपहासेन दर्शयति **किमिति**। वहित्रस्य चिरसाध्यत्वमार्द्रकस्यापि च निवर्त्तनीयत्वं यथा तथा *योगाचारमतस्य* दुर्निरसत्वमस्य तु सुनिरसत्वमित्यर्थः।

तस्मादनुभवव्यवस्थितौ अनात्मापि स्फुरतीत्यवर्जनीयमेतत्। तत्सिद्धौ तल्लक्षणमपि किञ्चिदस्त्येव। तच्च बाह्याविरोधे ज्ञानानित्यतायां तन्निष्ठमुभयनिष्ठं वा, बाह्यविरोधे ज्ञाननिष्ठमेव, तन्नित्यतायां तु ग्राह्यनिष्ठमेवेति। तथाहि, लक्ष्यस्तावदत्र विषयविषयिभावः। स च प्रकाशस्य सतस्तदीयतामात्ररूपः स्वभावविशेषः। स्वभावत्वादेव च नोपकारान्तरम-पेक्षते, तन्मात्रीयत्वादेव च नान्यदीयः।

कल्पलता- तस्मादिति। बाह्यस्यालीकत्वेऽपि तदनुभवस्तावदस्ति। तथा चानात्मा स्फुरतीति त्वया स्वीकर्त्तव्यमिति प्रकाशमानत्वादीनां हेतूनाम-नैकान्तिकत्वादिति भावः। **तत्सिद्धाविति**। अनात्मस्फुरणसिद्धावित्यर्थः। **तल्लक्षणं** ग्राह्यलक्षणम्। **बाह्याविरोधे** बाह्यपारमार्थिकत्वे। **तन्निष्ठमिति** ज्ञाननिष्ठमित्यर्थः।

उभयनिष्ठमिति। ज्ञानज्ञेयनिष्ठमित्यर्थ:। एतच्च *साकारविज्ञानमते* ज्ञाननित्यतायामिति। *वेदान्तिपक्षे* ग्राह्यनिष्ठमेव। अन्यथा घटं जानामीति सर्वदाऽनुव्यवसायप्रसङ्गात्। इदानीं स्वमतेन विषयविषयिभावमुपपादयति। **तथाहीति। प्रकाशस्येति** वदता ज्ञायतेऽनेनेति वा ज्ञानं, जानातीति वा ज्ञानं, ज्ञप्तिर्वा ज्ञानमित्यादि *ज्ञानश्रिया* ज्ञानपदे कृतं विकल्पजातं निरस्तम्। **सत** इत्यनेन शून्यतानिरास:। **तदीयतेति।** घटज्ञानं पटज्ञानमित्यत्र षष्ठ्यर्थोऽनुभूयमान उपपादित:। **मात्रपदेन** घटज्ञानस्य पटविषयताप्रसङ्गो निरस्त:। **स्वभावपदेन** चोपकाराद्यधीनत्वं विषयित्वस्य निरस्तम्। **विशेषणपदेन** च ज्ञानाभावज्ञानसमवाययो: स्वरूपसम्बन्धेऽपि विषयत्वं निरस्तम्। नन्वेतावता ज्ञानविषययो: स्वरूपं विषयविषयिभाव इत्युक्तं भवति, तच्चातिप्रसक्तं, चैत्र: किञ्चित् जानात्ययञ्च घट इति स्वरूपद्वयज्ञानेऽपि तद्विषयताया अज्ञानादतिरिक्तैव सा वाच्या। स्वरूपं च प्रतिस्वमगनमित्यननुगम:। मैवम्। स्वरूपद्वयज्ञानेऽपि तदुपश्लिष्टताया अज्ञानात्। अन्यथा विषयतामादायाप्य-प्रतीकारात्। भवति हि चैत्रो जानाति क्वचिदस्य ज्ञानस्य विषयतेति जानतोऽयं घटं जानाति न वेति सन्देह:। विषयतयापि ज्ञानस्य स्वरूपसम्बन्धस्यैवाभ्युपगमात्। अन्यथातिप्रसङ्गात्। अननुगमस्तु न प्रकृते दोष:। अनुगतं तु तन्निरूपणयोग्यत्वं तद्विषयत्वमिति। **तन्मात्रीयत्वादेवेति।** तन्निरूपणाधीननिरूपणत्वादित्यर्थ:। एतादृशी च सविषयतेच्छाकृत्योरपि, परं तु न सा स्वाभाविकी, किं तु ज्ञानौपाधिकी, ज्ञानस्य तु स्वाभाविकीति विशेष:। अत एव विषयप्रवणत्वं ज्ञानस्यैव, न तु तयो:। लक्षणमपि तदेव ज्ञानस्य। यदिच्छाधिकरणक्षणाव्यवहितपूर्वक्षणस्थितिक समानाधिकरणज्ञानस्यैवेच्छाया विषयप्रतिनिबन्धनप्रयोजकत्वादेवञ्चेश्वरेच्छाया अपि स्वविषयतायां नित्यज्ञानस्यैव नियामकत्वमिति भाव:।

किमस्य फलमिति प्रश्नप्रसङ्गेऽपि बहिस्तद्गोचरव्यवहारप्रवृत्ति-रान्तरमपि तेन ज्ञाननिरूपणम्। कुतोऽयमीदृगित्यनुयोगेऽपि सामग्रीशक्तिरेवोत्तरं कार्यकारणवत्। अन्यथा तत्राप्युप कारान्तरापेक्षायामनवस्था, तदनपेक्षायां (वा) साधारण्यं केन वार्यम्। तेन तदेव क्रियते, अनेनाप्येतदेव विषयीक्रियत इति विवेचनीयम्। विषयीक्रियते इति कोऽर्थ:, क्रियत इत्यपि कोऽर्थ इति विचारणीयम्। कार्योत्पादनमेव करणं, तदीयतयोत्पत्तिरेव विषयीकरणमिति विवेचनीयम्।

उपकारस्तु यथाऽत्र विज्ञानस्वरूपातिरिक्तो नास्ति, तथात्रापि कार्यस्वरूपातिरिक्तो नास्तीति प्रतिसन्धेयमिति।

कल्पलता- किमस्येति। विषयविषयिभावसम्बन्धस्य किं फलमित्यर्थः। फलमन्तरेणार्थक्रियाजनकत्वरूपं सत्त्वमेवास्य न स्यादिति भावः। बहिर्व्यवहार एव फलमन्तरेऽपि ज्ञाननिरूपणमित्याह **बहिरिति**। यद्यप्युपेक्षाज्ञाने बहिष्फलं नास्ति ज्ञानबाधाविरामे चान्तःफलं नास्ति, तथापि स्वविषयविषयक संस्कारोत्पादनमुभयत्रापि फलमित्यर्थः। **ईदृगिति**। नियतविषय इत्यर्थः। **सामग्रीति**। स्वकारणबलान्नियतविषयमेवोत्पन्नमित्यर्थः। स्वप्रकाशेऽपि सामग्रीशक्तेरेव त्वया नियामकत्वोपगमादिति भावः। **कार्यकारणवदिति**। यथा कार्य्यस्य ताद्रूप्ये कारणमेव नियामकमित्यर्थः। **अन्यथेति**। यदि कारणेन कार्ये कश्चिदुपकारः प्रतिनियमं प्रत्याधीयत इत्यभ्युपगम्येत तदोपकाररूपेऽपि कार्य्ये स्यादुपकाराधानमित्यनवस्था स्यादित्यर्थः। साधारण्यं एकस्यैव सर्वकार्यकारित्वम्। पूर्वपक्ष्याह **तेनेति**। सिद्धान्त्याह **अनेनापीति**। पूर्वपक्ष्याह **विषयीक्रियत इति**। सिद्धान्त्याह **क्रियत इति**। पूर्व्वपक्ष्याह **(विषय)कार्येति**। सिद्धान्त्याह **तदीयतयेति**। ननु तथापि विषयप्रतिनियमं प्रति कश्चिदुपकारोऽभ्युपेय एवेत्याह **उपकारस्त्विति**। उपकारान्तरेऽनवस्थाया उक्तत्वादिति भावः। कारणस्वाभाव्यमेव प्रतिनियतविषयकज्ञानोत्पत्तौ नियामकं, ज्ञानस्वाभाव्यमेव तन्मात्रविषयतायामिति सिद्धान्तसारं प्रतिबन्दिमुखेन द्रष्टव्यम्।

अतएव कार्यकरणभावोऽप्युपेक्षितव्य इति तु महत्साहसम्। तथा सति हि स्यादेव न स्यादेवेत्याद्यापद्येत। तथा च प्रकाशतमसोरन्यतरस्य कौटस्थ्यप्रसङ्गः। सांवृतोऽस्त्विति चेत्, विषयविषयिभावोऽप्येवमस्तु। यदि विषयकार्ययोर्बलवती बाधेति सांवृतः। नो चेदेवमिति द्वयी गतिः।

कल्पलता- उपकाराधानेऽनवस्था, तदनाधाने च साधारण्यमिति, एतस्मादेव दोषात् कार्यकारणभाव एव वयं विप्रतिपद्यामहे। किं तद्दृष्टान्तेन विषयविषयिभावसाधनमित्याशङ्क्याह **अत एवेति**। साहसमेव दर्शयति **तथा सतीति**। **स्यादेवेति**। नित्यं स्यादित्यर्थः। **न स्यादेवेति** अलीकं स्यादित्यर्थः। कारणराहित्यस्य नित्यत्वालीकत्वान्यतरव्याप्यत्वादन्यतरापादनम्। यथा देवदत्तस्य गृहासत्त्वं मरणान्यत्रसत्त्वान्यतरव्याप्यत्वादन्यतरापादकमिति भावः। अपव्याख्यानमन्यत्। कार्यकारणभावाभावेऽपि विपक्षदण्डमुक्त्वा

विषयविषयिभावाभावे विपक्षदण्डमाह **तथा चेति**। विषयविषयिभावाभावो यदि ज्ञानाभावाधीनस्तदा तमःकौटस्थ्यं विषयाभावाधीनश्चेत्तदा प्रकाशकौटस्थ्यम्। जगतामान्ध्यमेव तमः। ननु कार्यकारणभावं नावजानीमहे, येन स्यादेव न स्यादेवेति वा स्यादपि तु साम्वृतोऽस्तीत्यह **साम्वृत इति**। **द्वयी गतिरिति**। बलवति बाधके साम्वृतत्वमसति बाधके वास्तवत्वमित्यर्थः।

तदत्र तत्त्वम्। न तावदुभयनिष्ठं लक्षणम्, सतोऽसतो वा स्थिरस्यापि स्फुरणात्। न च ज्ञाननित्यतायां पारमार्थिकबाह्यनिष्ठम्। सत्कार्यवादव्यावृत्तेः, सांख्यप्रक्रियाविध्वंसात्। न खलु पूर्वापरतिरोभावाविर्भवावन्तरेण विचारस्याप्यवसरः। नाप्यलीकग्राह्यतया क्षणिकज्ञाननिष्ठमिति। तुच्छस्य विशेषाभावात्, ज्ञानस्य च निराकारत्वात्, अन्यत्राप्यसिद्धेरारोपयितुम-शक्यत्वात्।

कल्पलता- सिद्धं स्वपक्षं पारिशेष्येण द्रढयति **तदत्रेति**। *बौद्धमते* विषयविषयिभावं निरस्यति **न तावदिति**। उभयनिष्ठतायां विषयस्थैर्ये तत्प्रतिबद्धस्वभावं ज्ञानमपि स्थिरं स्यादिति दोषः। *साङ्ख्यपक्षे* तदनुपपत्तिमाह **न च ज्ञानेति**। बुद्धेर्नित्यत्वात् तत्परिणामो ज्ञानमपि नित्यं विषयास्त्वाविर्भवन्ति तिरोभवन्ति चेति विषयनिष्ठैव विषयता, तेन न सर्वदा विषयप्रकाश इति *साङ्ख्यमतम्।* तच्च तदा स्याद्यदि सत्कार्यवादः स्यात्, स च निराकृत एवेत्यर्थः। सत्कार्यवादनिरासे युक्तिमाह **न खल्विति**। विचारेण ह्यपूर्वं ज्ञानमुत्पाद्यं पूर्वञ्च नाश्यं अन्यथा स निष्फल एव स्यादित्यर्थः। *योगाचारमतं* निराचष्टे **नापीति**। नीलपीतादीनामलीकत्वे ज्ञानमेव केन विशेष्यमित्यर्थः। ननु स्वाकार एव ज्ञानं विशिष्यादित्यत आह **ज्ञानस्य चेति**। नन्वारोपितेन नीलधवलादिना ज्ञानं विशिष्यतां रक्तः स्फटिक इतिवदित्यत आह **अन्यत्रापीति**।

असन्त एव विशेषकाश्चकासतीति चेन्न, असन्त इति ह्यतत्काला अतद्देशा इति वा अकिञ्चिद्रूपा इति वा नियतव्यावृत्तिमात्ररूपा इति वा। प्रथमे कालदेशान्तरयोः सत्त्वप्रसङ्गः। द्वितीये त्वविशेषता। तृतीये नीलस्यालीकस्यानीलव्यावृत्तिरूपतायामनीलानां पारमार्थिकत्वप्रसङ्गः। तेषामलीकत्वे तद्व्यावृत्त्यात्मनो नीलस्यानलीकत्वापत्तिः। तथाप्यलीकत्वेऽविशेषत्वम्।

कल्पलता- नन्वतीतानागतानामसतामेव यथा ज्ञानविशेषकत्वं तथा नीलधवलादीनामसतामेव विशेषकत्वं स्यादत आह **असन्त इति**। **प्रथम इति**।

मम त्वतीतानागतादीनां कालान्तरसतामेव विशेषकत्वमिति भावः। **द्वितीय इति।** तुच्छत्वान्न विशेषकतेत्यर्थः। **तृतीय इति।** यत्प्रतियोगिका व्यावृत्तिर्न्नीलादि-स्तत्परमार्थसदित्यर्थः। तदप्यलीकमिति यदि, तदा तद्व्यावृत्तिरूपं नीलाद्येव पारमार्थिकमित्यायातमित्याह **तेषामिति।** उभयमप्यलीकमिति यदि, तदा ज्ञानं केन विशेष्यतामिति पूर्वपक्ष एव दोष इत्याह **तथापीति।**

तेन रूपेणाविशेषत्वमेवेति चेत्, अथ विशेषः केन। नीलपीतादिनेति चेत्, तत् किं ततोऽधिकम्? अनलीकं तर्हि स्यात्। अनधिकं चेत्, कुतस्तेनापीति।

कल्पलता- ननु नीलादीनामलीकत्वेन रूपेण न ज्ञानविशेषकत्वं ब्रूम इत्याह **तेनेति।** तर्हि येन रूपेण ज्ञानविशेषकत्वं नीलादीनां तदलीकमेव वाच्यमित्याशयेन पृच्छति **अथेति। तेनापीति।** अत्र विशेष इत्यनुषङ्गः।

वासनावशाद्विशेषाः स्फुरन्तीति चेत्, स्फुरन्तु, कः कारणे विप्रतिपद्यते। ते तु नीलादयो यद्यकिञ्चिद्रूपाः, कथं विशेषाः। तदितररूपेणाकिञ्चिद्रूपत्वे तेन रूपेण किञ्चिद्रूपा एवेति ब्रूमः। विचारासहतामात्रमलीकत्वमिति चेत्, तथापि भाषापरिवर्त्तनमात्रम्। विचारासहतायाः किञ्चिद्रूपत्वविरोधित्वात्। अविरोधे वा त्वद्विचारासहना अपि किञ्चिद्रूपा एव नीलादय इति विचारस्य दुर्विचारत्वप्रसङ्गः। तेन नीलादीनां छायामात्रस्याप्यनाक्रान्तेः। प्रविश वा अनिर्वचनीयख्यातिकुक्षिम्, तिष्ठ वा मतिकर्दममपहाय *न्यायनया*नुसारेण नीलादीनां पारमार्थिकत्वे।

कल्पलता- वासनेति। वासनाविशेषादसन्तोऽपि स्फुरन्त्यतो ज्ञानस्य विशेषका भविष्यन्तीति भावः। असतां विशेषकत्वमनुपपन्नमित्याह **स्फुरन्तीति।** विशेषकाश्चेन्नूनं सन्त एवेत्याह **ते तदितररूपेणेति।** नीलादीनां यद्रूपं न भासते तेनाकिञ्चित्करत्वेऽपि भासमानेन रूपेण ज्ञानविशेषकत्वात् किञ्चित्करा एवेत्यर्थः। नीलादयः स्फुरन्ति ज्ञानमपि विशेषयन्ति, परं तु विचारं न सहन्त इत्येतावताऽलीकत्वं तेषामिति शङ्कते **विचारेति।** एतावता तुच्छत्वमेव पर्यवस्यतीत्याह **तथापीति।** भाषापरिवर्त्तनस्तुच्छत्वस्यैव विचारासहत्वेनाभिधानम्। न हि किञ्चिद्रूपवद्विचारा-सहञ्चेति सम्भवति। तेनैव रूपेण किञ्चिद्रूपवदपि भवतु, को विरोध इत्यत आह **अविरोधेति।** यदि तद्विचारेण नीलादीनां स्वरूपं न खण्डितं तदा तत्फलकत्वेनाभिमन्यमानो विचारो दुर्विचार एव पर्यवसन्न इत्यर्थः। अत्र हेतुमाह

तेनेति। नीलादीनां स्वरूपस्य विचारेणाखण्डितत्वादित्यर्थः। प्रविश वेति। असत्ख्यात्यभिमानं हित्वा *वेदान्तिमत*मालम्बस्वेत्यर्थः। तिष्ठ वेति *नैयायिकमत*मालम्बस्वेत्यर्थः।

तस्मात्,

न ग्राह्यभेदमवधूय धियोऽस्ति वृत्ति-
स्तद्बाधने बलिनि वेदनये जयश्रीः।
नो चेदनिन्द्यमिदमीदृशमेव विश्वं
तथ्यं तथागतमतस्य तु कोऽवकाशः।।१।।

कल्पलता- अन्यतरमतप्रवेशमन्तरेण नान्या गतिरित्युपसंहरति तस्मादिति। ग्राह्यभेदं ग्राह्यानां नीलधवलाधीनां परस्परं भेदं तस्यैवाज्ञानस्य भेदमवधूय तिरस्कृत्य धियां वृत्तिर्विषयविषयिभावः सम्बन्धो न सिद्ध्यतीत्यर्थः। तद्बाधन इति। ग्राह्यभेदबाधन इत्यर्थः। वेदनयो *वेदान्त*स्तस्य बलवत्त्व'मेकमेवाद्वितीयं ब्रह्मे'त्यादि *श्रुत्यु*पष्टम्भात्। ननु *श्रुति*वाक्यं घटात्पटो भिन्न इत्यादिप्रत्यक्षबाधितं ग्रावप्लवन*श्रुति*वदन्यतात्पर्यकमित्याह नो चेदिति। अनिन्द्यं परोक्तदोषास्पृष्टम्। ईदृशं यथाप्रतीयमानं तथ्यमबाधितम्। तथागतो *बौद्धः।*

तत्रालीकं विचारासहमनिर्वचनीयं वा, यमाश्रित्य, जगदुद्गीयते। स एव विचारश्चिन्त्यतां कोऽसौ कीदृशश्चेति। सतर्कं प्रमाणमेव वाक्यारूढमिति चेत्, तच्चेद्विचारासहं, किं तेन भौतविचारकल्पेन।

तथाहि, केनचिद्भौतेन राजद्वारि द्विरदमवलोक्य विकल्पितम्, किमयमन्धकारो मूलकमत्ति, आहोस्वित्, जलवाहो बलाकान् वर्षति गर्जति च, यद्वा बान्धवोऽयं, "राजद्वारे श्मशाने च यस्तिष्ठति स बान्धव" इति *परमाचार्य*वचनात्। अथवा योऽयं भूमौ दृश्यते तस्य छायेति।

दूषितञ्च, तत्र नाद्यः, शूर्पयुगलप्रस्फोटनानुपपत्तेः। न द्वितीयः, तस्य स्तम्भचतुष्टयाभावात्। न तृतीयः, तस्य लगुडभ्रामणाभावात्। न चतुर्थः, तस्य नरशिरःशतोद्गिरणाभावात्। ततो न किञ्चिदिदमिति।

किमेतावता द्विरदस्वरूपं निवर्तताम्, यद्वा वरमेतस्माद् योऽयं सोऽयमिति वादी द्वितीयो भौतः। तद्विचारसहमिति चेत्, एवं तर्हि स्वयमेव विलीनमलीकादिवादैः, नोत्तरप्रतीक्षणमपि।

कल्पलता- मतभेदेन विचारफलं दर्शयित्वा विचारस्वरूपं पृच्छति **कोऽसाविति**। वाक्यारूढं पञ्चावयववाक्यविषयः। **किं तेनेति**। विचारस्य विचारासहत्वे तत्फलस्यालीकत्वादिसिद्धेर्म्मिथ्यात्वमिति सिद्धं नः समीहितमित्यर्थः। भौतो बर्वरः। बर्वरान्तरविचारमुपदर्श्योपहसति **तथाहीति**। हस्तिनि तमस्त्वं दन्तद्वये च मूलकत्वमारोपितम्। कर्णे शूर्पत्वं जङ्घाचतुष्टये स्तम्भत्वं, लाङ्गूले शुण्डादण्डे वा लगुडत्वं पुरीषपिण्डेषु नरशिरस्त्वमारोप्यते। अत्र हस्तिनि मेघत्वं दन्ते बलाकात्वं मूत्रे मदक्षरणे वा वर्षणत्वं बृंहिते गर्जितमारोपितम्। **यद्वेति**। अत्र हस्तिनि बान्धवत्वारोपः। **अथ वेति**। छायायां हस्तित्वारोपो हस्तिनि च्छायारोपः। कर्णद्वये शूर्पत्वं जङ्घाचतुष्टये स्तम्भत्वं लाङ्गूले वा लगुडत्वं पुरीषपिण्डेषु नरशिरस्त्वं आरोप्यते। **योऽयं सोऽयमितीति**। अबाधितप्रत्यक्षेण यथा विषयीक्रियते तथेत्यर्थः। **तदिति**। सतर्कं प्रमाणमित्यर्थः। **स्वयमेवेति**। विचारस्यैवानलीकत्वात् निर्वचनीयत्वाच्चेत्यर्थः।

लोकसिद्धमिति चेत्, तर्हि तस्य परिकरशुद्धिरपि तथैव ग्राह्या। अन्यथा लोकस्यापि व्यतिक्रमे विचारस्य यादृच्छिकवाङ्मात्रत्वापत्तेः। लोके चाकाङ्क्षायोग्यतासत्तिमत्तया प्रतिसंहितमाश्लिष्टार्थं प्रमाणान्तराप्रतिहतं स्ववचनस्वक्रियास्वज्ञानव्याघातादिदोषरहितं स्वार्थप्रतिक्षेपकयुक्तेरनाक्षेपकं वाक्यमर्थप्रतिपत्तेरङ्गम्। यथायं पर्वतः वह्निमानिति। अनङ्गमितरत्, यथाऽयं पर्वतो देवदत्तो गौर इति। जलह्रदो वह्निमानिति, गिरिर्देवदत्तेन भुक्तमग्निमानिति, श्वेतो डित्थो धावतीति, शशो विषाणीति, माता वन्ध्येति, अहं मूक इति, इमं न जानामीति, मम कर्णे प्रविश्य गजो गर्जति भेषजमुच्यतामिति।

कल्पलता- तत् पञ्चावयववाक्यारूढं प्रमाणं यथालोकसिद्धं ग्राह्यं, न त्वेतावतैवालीकत्वादिक्षतिरित्याह **लोकेति**। **परिकरशुद्धिः** सहकारिचक्रशुद्धिः। **अन्यथेति**। लोकसिद्धातिक्रमे इत्यर्थः। शिष्यबुद्धिवैशद्याय परिकरमाह **आकाङ्क्षेति**। स्मारिततदाक्षिप्ताविनाभावे सति श्वो भवितरि तत्पादासंसर्गावगमः प्रागभावः। न च प्रागभावस्य कार्यमात्रहेतुत्वेन नासाधारणकारणतेति वाच्यम्। तदुत्पादासंसर्गावगमरूपप्रतियोगिविशेषितस्यासाधारणत्वात्। न च योग्यतासत्त्योरकारणतापत्तिः, अन्यत्रापि कार्ये कारणतान्तरविलोपापत्तेः। अभिधानापर्य्यवसानमाकाङ्क्षा, अपर्यवसानं च येन विना यस्य न

स्वार्थान्वयानुभावकत्वमित्यादावपि अपर्यवसानादेः प्रागभावरूपतया दोषसाम्यादित्यादि *मयूखे* विस्तीर्णम्। बाधकप्रमाविरहो योग्यता। अव्यवधानेन प्रकृतसंसर्गप्रतियोग्युपस्थितिरासत्तिः। स्वरूपसत्यश्चैताः शाब्दप्रमाप्रयोजिकाः। **तेन प्रतिसंहितमिति**। प्रतिपदं सङ्घटितमिति व्याख्येयम्।

आकाङ्क्षासत्तया हेतुरितरे च ज्ञाते *इत्याचार्य्याः*। सर्वा एव ज्ञाता *इत्यपरे*।

निराकाङ्क्षास्योदाहरणं **यथाऽयं पर्वत इति**। अयोग्यस्योदाहरणं **जलह्रद इति**। अनासन्नस्य **गिरिरिति**। श्लिष्टस्य **श्वेत इति**। प्रमाणान्तरप्रतिहतस्य **शशो विषाणीति**। यद्यप्ययोग्यमप्येतत् तथाऽपि प्रमाणान्तरप्रतीघातोऽत्र स्फुटतर इति तथोक्तम्। स्ववचनप्रतिहतस्य **मातेति**। जनकस्त्रीत्वमजनकस्त्रीत्वञ्च परस्परविरुद्धमित्यर्थः। स्वक्रियाप्रतिहतस्या**हमिति**। अत्र वचनलक्षणया स्वक्रिययैव मूकत्वं स्वस्य प्रतिहतम्। अज्ञानप्रतिहतस्योदाहरणमिति। ज्ञानविषयतैवेदन्ता न जानामीत्यनेन प्रतिहता। स्वार्थप्रतिक्षेपकयुक्तेराक्षेपकमुदाहरति **मम कर्ण इति**। न हि कर्णे गजप्रवेशः सम्भवति, यद्वारणार्थं भेषजोपन्यासः। यद्वा गजप्रवेशेन बाधिर्यं वाक्यार्थः। भेषजशुश्रूषया च तत्प्रतिक्षेपः।

तदर्थश्च साधनं दूषणं च। तत्र साधनं व्याप्तिपक्षधर्मतौपयिकरूप पञ्चकोपेतं लिङ्गम्। यथा विशिष्टधूमवत्त्वादिति। लिङ्गाभासमितरत्। यथा जलाशयत्वादिति। तत्परिकरश्च तर्कः। सोऽपि व्याप्तिबलमालम्ब्या निष्टप्रसङ्गरूपः। अनिष्टं च द्विविधं प्रामाणिकपरित्यागोऽप्रामाणिक-परिग्रहश्च। यथा यद्युदकं पिपासादुःखं न शमयेत् न पीयेत्। यदि च तदेव परमन्तर्दहेत् तदाविशिष्टं मामपि दहेत्। इतरस्तु तर्काभासः। यथा यदि जलं पिपासादुःखं नाशमयिष्यत् रूपवदपि नाभविष्यत्, यथाऽऽकाशम्। यदि च तदेव परमन्तरधक्ष्यत् मामपि सुरभिमकरिष्यदिति। दूषणमपि स्वार्थप्रतिक्षेपकयुक्तेरनाक्षेपकं दूष्यासाधकत्वाविनाभूतं सिद्धं च। यथाग्निमत्त्वे साध्ये प्रमेयत्वमनैकान्तिकत्वादहेतुरिति। अन्यथा तु तदाभासे, यथाऽयं धूमो नाग्निसाधकः सर्वथानुपलभ्यमानोपाधि-शङ्काग्रस्तत्वात् प्रमेयत्वात् विरुद्धत्वाच्चेति। इतरदपि प्रमाण-मनुमानच्छाययैव विचाराङ्गं, तर्कमनन्यथासिद्धिं च पुरस्कृत्य प्रवृत्तेः। ततस्तत्राप्येषैव रीतिरनुगन्तव्येति।

कल्पलता- तदर्थ इति। वाक्यार्थ इत्यर्थः। **रूपपञ्चकेति।** यद्यपि केवलान्वयिकेवलव्यतिरेकिणोश्चतूरूपमपि लिङ्गं तथापि परस्यानभ्युपगमात्तदर्थमुपन्यासः। **विशिष्टेति,** सन्ततोद्ध्र्वगामित्वादि विशिष्टोपादानम्। पर्वतोऽग्निमानिति प्रतिज्ञायामेव लिङ्गाभासमुदाहरति **यथेति।** अत्र न व्याप्तिर्न वा पक्षधर्मतेत्यर्थः। प्रामाणिकपरित्यागमनिष्टमुदाहरति **न पीयेतेति।** तोयपानस्येष्टत्वात्। अप्रामाणिकपरिग्रहमुदाहरति **यदि तोयमन्यपुरुषमप्यन्तर्दहेत्तदा तत्पुरुषाविशिष्टं मामप्यन्तर्दहेत्।** अत्र तोयदाहो न प्रमाणसिद्धः, स एवापाद्यते इति। **यथा यदीति।** उभयत्रापि मूलशैथिल्यादाभासत्वम्। **स्वार्थेति।** स्वव्याघातकत्वशून्यमित्यर्थः। **दूष्यासाधकत्वाविनाभूतमिति** जात्युत्तराणां निराकरणाय। **सिद्धमिति** छलानां निराकरणाय। **दूष्यो** हेतुपक्षदृष्टान्तादिस्तदसाधकत्वाविनाभावे सति। तत्र सत्यपि सिद्धत्वं पक्षधर्मत्वं नास्ति। **प्रमेयत्वमहेतुरिति।** प्रमेयत्वं प्रकृतसाध्यासाधकमित्यर्थः। अत्र हेतुमाह **अनैकान्तिकत्वादिति।** अनैकान्तिकत्वं हि दूष्यासाधकाविनाभूतं च प्रमेयत्वे सिद्धञ्चेत्यर्थः। दूषणाभासेषु मध्ये स्वप्रतिक्षेपकयुक्त्याक्षेपकमुदाहरति **सर्वथेति।** इदं हि दूषणं स्वात्मानमपि व्याहन्तीत्यर्थः। दूष्यासाधकत्वाविनाभावशून्यमुदाहरति **प्रमेयत्वादिति।** न हि यत् प्रमेयं तद्वह्न्यसाधकं धूमादौ व्यभिचारात्। असिद्धमुदाहरति **विरुद्धत्वादिति।** न हि वह्निसाधकत्वेनोपपत्तिविरुद्धत्वमस्ति। ननु सतर्कं प्रमाणं वाक्यारूढमिति यद्विचारलक्षणं कृतं तत् कथायां प्रत्यक्षोपन्यासस्थले शब्दोपन्यासस्थले चाव्यापकमत आह **इतरदपीति।** **अनुमानच्छाया** अनुमानेतिकर्त्तव्यता। तामेवाह **तर्कमिति।** यद्वा नन्वियमिति कर्त्तव्यताऽनुमानमात्रस्योक्ता, प्रमाणान्तरन्तु, कथं व्यवतिष्ठतामित्यत आह इतरदपीति।

एवं व्यवस्थिते लोकव्यवहारे साधनोपक्रमेण यदि विचारयसि, प्रतिज्ञैव तावन्नाङ्गं धारयति। तथाहि। न किञ्चिदस्ति, न किञ्चित्सत्यं, न किञ्चित्कारकं, न किञ्चिद्विचारसहं, न किञ्चित्सालम्बनं, न किञ्चिद्दर्शनं, न कश्चित्सिद्धान्त इत्यादौ स्वार्थप्रतिक्षेपस्तावद्दुरुद्धरः। प्रतिज्ञापि हि न स्यान्न सत्या न कारिका न विचारसहा, तद्विज्ञानमपि न सालम्बनं, तत्फलमपि न दर्शनं, तदर्थोऽपि न सिद्धान्त इत्यापद्येत।

कल्पलता- ननु भवत्वेतादृशो लोकव्यवहारस्तथापि *सौगता*दिभिरलीकत्वं

वा शून्यताया विचारासहत्वादि वा यत् साध्यते तत्र को दोष इत्यत आह एवमिति। न किञ्चिदस्तीत्यादौ किञ्चित्पदार्थः। प्रतिज्ञापि चेत्तदाह **प्रतिज्ञापि हीति।**

इष्यत एवेदमिति चेन्न, इच्छामात्रेण व्याघातानिवृत्तेः। यदि हि न (ज्ञातं) किञ्चिदस्तीत्यादिप्रतिज्ञार्थः प्रतिज्ञां स्पृशेत्, कथमयमर्थः प्रत्येतव्यः। न चेत् कथं सानुपपन्ना। तदनुपपन्नत्वे च कथं पुनः प्रतिज्ञार्थ उपपद्यते। तदिदमायातं स्वविषमूर्छिता भुजङ्गी आत्मानमेव दशतीति।

कल्पलता- कथमयमिति। तत्र प्रतिज्ञायाम् असत्त्वे भवत्प्रतिज्ञार्थः कथं प्रत्येतव्य इत्यर्थः। अथ प्रतिज्ञां प्रतिज्ञार्थोऽपि न स्पृशति तदा न किञ्चिदस्तीत्यादिप्रतिज्ञार्थः कथं सिद्ध्येत्, प्रतिज्ञाया एव सत्त्वात्। सत्यत्वात् कारकत्वाद्विचारसहत्त्वात् सालम्बनत्वात् दर्शनत्वात् सिद्धान्तत्वाच्चेत्याह **न चेदिति।**

तत्त्वत इति विशेषणादयमदोष इति चेत्, तद्विचारो वा स्यात् लोकमर्यादातिक्रमो वा। प्रथमः पूर्वमेव निरस्तः। तस्य प्रतिज्ञारूपतया कुलीरस्येव स्वप्रसूतयुक्त्यपत्येनैव प्रतिहतत्वात्। द्वितीये तु स्वच्छायातिक्रमवत् स एव व्याघातः। यदि हि लोकमर्यादातिक्रमो न विचारस्वरूपस्थितिः, तत्स्वरूपस्थितिश्चेन्न तदतिक्रम इत्यर्थः।

कल्पलता- ननु प्रतिज्ञायाः सत्त्वासत्यत्वादिकं व्यावहारिकं स्वीकुर्म एव। तेन न किञ्चिदस्तीत्यादिप्रतिज्ञायां तत्त्वत इति विशेषणं देयमित्याह **तत्त्वत इति।** तत्त्वपदे प्रकृतिभूते तच्छब्दार्थं पृच्छति **तदिति। पूर्वमेवेति।** विचारस्य सत्त्वे न सर्वासत्त्वं तदसत्त्वेऽपि न तदधीनं सर्वासत्त्वं विचारस्यैव दुर्विचारत्त्वादित्यर्थः। तदेवाह **तस्येति।** प्रतिज्ञाद्यात्मकस्य विचारस्य सर्वासत्त्वसाधकस्य प्रतिज्ञादिसत्त्वेनैव निरस्तत्वात्। यथा कुलीरः स्वापत्यनाश्य इत्यर्थः। **स एवेति।** विचारसत्त्वासत्त्वविकल्पघटित एवेत्यर्थः। एतदेव स्फुटयति **यदि हीति।** विचारस्य लोकमर्यादायत्ततया तदतिक्रमे दुर्विचारत्वं, सुविचारत्वे च न तदतिक्रम इत्यर्थः।

प्रतिषेध्यसिद्ध्यसिद्धिव्याघातश्च। यदि हि प्रतिषेध्यं सिद्धं नात्यन्ताय प्रतिषेधः। न चेन्नतराम्। लोकव्यवहारसिद्धमिति चेत्, सिद्धमेव हि तर्हि, न ह्यन्यतोऽपि किञ्चित्सिद्ध्यति। नायमबाध्यो व्यवहार इति

चेत्, न। यदि नैकत्र, अन्यत्रापि तथाभावप्रसङ्गात्। सर्वत्र बाध्यत इति चेत्, तदपेक्षसिद्धिना व्यवहारेणानपेक्षेण वा अव्यवहारेणैव वेति। यस्तावत्तदपेक्षसिद्धिः, स कथं तमेव बाधेत। न ह्यनुष्णत्वानुमानेनोष्णत्व ग्राहिप्रत्यक्षबाधो लोके। द्वितीयस्त्वसम्भवी। न हि निषेधकं प्रमाणं निषेध्यसिद्धिनिरपेक्षं भवितुं क्षमते। तृतीये तु तद्विपरीतापत्तिः। विचारबाध्यत्त्वमुपक्रम्याविचारेण मुद्रणात्।

कल्पलता- प्रतिज्ञासु दोषान्तरमाह निषेध्येति। प्रथमप्रतिज्ञायां निषेध्यं सत्त्वं द्वितीयादिषु सत्यत्वादि, तत् सिद्धञ्चेत् कथमत्यन्तनिषेधः। न सिद्धञ्चेत्तदा कथं निषेधः, प्रमितप्रतियोगिकस्यैव निषेधत्वादित्यर्थः। एतदेव स्फुटयति यदि हीति। ज्ञानमात्रमभिप्रेत्याह लोकेति। यदि लोकव्यवहारः प्रमाणं तदाह सिद्धमिति। एतदेवाभिप्रेत्याह नहीति। असत्ख्यातिमभिप्रेत्याह नायमिति। अन्यथाख्यातिमभिप्रेत्याह यदीति। एकत्र शुक्तौ रजतत्वञ्चेन्नाबाध्यमन्यत्र वणिग्वीथ्यां तथाभावादबाध्यत्वसम्भवादित्यर्थः। अपिरभ्युपगमे। अत्यन्तासत्त्वमभिप्रेत्याह सर्वत्रेति। तदपेक्षेति। यद्बाध्यत्वेनाभिमतं तत् सापेक्षं वा, बाधकत्वाभिमतं प्रमाणं तदनपेक्षं वा, अप्रमाणमेव वा तदिति विकल्पार्थः। व्यवहारपदं प्रमाणपरम्। आद्यं दूषयति यस्तावदिति। न हीति। न ह्युपजीवकेनोपजीव्यं बाध्यते तत्रोदाहरणमाह न हीति। औष्ण्य-सिद्धिमन्तरेणानौष्ण्यस्योपसंहर्त्तुमशक्यत्वात्। द्वितीयं निराचष्टे द्वितीयस्त्विति। प्रतियोगिप्रसिद्ध्यर्थमवश्यं तदपेक्षायाः सत्त्वात्। तदेवाह न हीति। विपरीतेति। बाध्यत्वाभिमतस्यैव सिद्धिरेवं सति स्यात्, न ह्यप्रमाणेन किञ्चिद्बाध्यते। एतदेवाह विचारेति। विचारबाध्यं विश्वमित्यभिधाय विचारबाध्यत्वेन पर्यवसानात्।

न चैतदपि निर्व्यूढम्। स ह्ययत्नसिद्धमध्यक्षं वा स्यात्, अनिष्टिमात्रं वा। आद्ये विरोधोऽसिद्धिश्च। द्वितीये लोकातिक्रमः, परानिष्ट्या त्वदनिष्टिबाधप्रसङ्गश्चेति।

कल्पलता- न चैतदिति। स्वव्यवहारबाध्यत्वमपि न सिद्धमस्तीत्यर्थः। किञ्च व्यवहारोऽपि न तावत् व्यवस्थित इत्याह स हीति। विशेषादर्शनसाधारणमध्यक्षमेव नाव्यवहारः। तथा सति प्रत्यक्ष-प्रमाण्याभ्युपगमविरोध इत्याह आद्य इति। असिद्धिर्न प्रतिविचारबाध्यं जगदिति प्रत्यक्षस्यासिद्धेरित्यर्थः। लोकेति। न ह्यनिष्टिमात्रेण किञ्चिद्बाध्यत इति

स्पष्टमित्यर्थः। दोषान्तरमाह परेति। मयान्विष्यमाणायास्त्वदनिष्टेर्नापबाध्यत्वं स्यादित्यर्थः।

एतेन हेतवो निरस्ताः। ते हि ज्ञेयत्वात्, ज्ञानत्वात्, असत्त्वात्, विकल्पानुपपत्तेः, प्रत्ययत्वात्, कर्मानुपपत्तेः, मिथो व्याघातादित्यादयः। एते हि सर्व एव स्वार्थक्रियाप्रातिक्षेपिकां युक्तिमाक्षिपन्ति। निषेध्यसिद्धिञ्चापेक्षन्ते। अनैकान्तिकौ च प्रथमद्वितीयौ, स्वफल एव व्यभिचारात्। असिद्धौ तृतीयचतुर्थौ। अनैकान्तिकश्च पञ्चमः, पूर्ववत्। असिद्धौ व्याघातेनानैकान्तिकश्च षष्ठः। असिद्धोऽनैकान्तिकश्च सप्तमः। सर्व एव कालात्ययापदिष्टा इति।

कल्पलता- **एतेनेति।** व्यावातेनैवेत्यर्थः। तदियं प्रयोगपरिशुद्धिर्न किञ्चिदस्ति ज्ञेयत्वात् रज्जुसर्पवत्। न किञ्चित् सत्यं ज्ञानत्वात् रज्जुसर्पज्ञानवत्। न किञ्चित् कारकमसत्त्वात् शशविषाणवत्। न किञ्चित् विचारसहं विकल्पानुपपत्तेः दर्पणमुखवत्। न किञ्चित् सालम्बनं प्रत्ययत्वात् स्वप्नप्रत्ययवत्। न किञ्चिद् दर्शनं कर्मत्वानुपपत्तेः, च्छेद्यानुपपत्तौ च्छिदावत्। न कश्चित् सिद्धान्तः मिथो व्याघातात्, मिथः शोषकनिर्वापकानलसलिलवत्। सर्वहेतूनां साधारणं दोषमाह **स्वार्थेति।** हेतूनां योऽर्थस्तत्प्रतिक्षेपिकामपवादिकां युक्तिमाक्षिपन्तीत्यर्थः। तथाहि ज्ञेयत्वमपि ज्ञेयं न वा? आद्ये हेतुरपि न स्यात्, तस्यापि ज्ञेयत्वात्। अन्त्ये हेतुत्वानुपपत्तेः, न ह्यज्ञातस्य हेतुत्वमुपपद्यते। ज्ञेयं हि रज्ज्वादावारोपितं सर्पत्वं ह्यसदित्युभयसिद्धम्। तदुक्तम् –

मायामात्रमिद विश्वं जगत् स्थावरजङ्गमम्। इति।

ज्ञानत्वादिति। रज्जुसर्पत इत्यर्थः। **निषेध्येति।** प्रतिज्ञापदेषु यन्निषेध्यं सत्त्वं सालम्बनत्वं कारकत्वं दर्शनत्वं सिद्धान्तत्वं वा। तच्च यदि न क्वचित् सिद्धं तदा तदभावोऽप्यसिद्ध एवेति व्याप्तिग्रहाभावात् व्याप्यत्वासिद्धा एव हेतव इत्यर्थः। विशेषदोषमाह **अनैकान्तिकाविति।** अनुमितिरस्ति तज्ज्ञेया चेति, अनुमितिः सत्या ज्ञानञ्चेति साध्याभाववत्त्वानुमिता त्वफल एवेत्यर्थः। न चेदेतस्या अनुमितेः सत्त्वं सत्यत्वम्वा तदा सिद्धं नः समीहितमिति भावः। **असत्त्वादिति** तृतीयो विकल्पानुपपत्तेरिति चतुर्थस्त्वसिद्धावित्याह। **असिद्धाविति।** बाह्यसत्त्वस्थसाधनात् विकल्पानाञ्चोपपादनादिति भावः। **प्रत्ययत्वादिति** पञ्चमस्य हेतोः स्वफल एव व्यभिचारादित्याह **अनैकान्तिक इति।**

कर्मत्वानुपपत्तेरिति षष्ठहेतुं दूषयति असिद्ध इति। कर्मत्वस्य ग्राह्यत्वस्योपपादनादसिद्धत्वं स्वफल एव चानैकान्तिकत्वं तस्य त्वया सविषयत्वाभ्युपगमात् ज्ञानविषयस्यैव ज्ञानकर्मत्वात् न किञ्चिद् दर्शनमित्याकारमेव त्वद्दर्शनम्। तस्य च तदेव कर्मेति व्याघातः। मिथो व्याघातादिति। सप्तमं हेतुं दूषयति असिद्धोऽनैकान्तिकश्चेति। एकस्यैव सिद्धान्तस्य प्रामाणिकत्वादन्यस्य तद्विरोधिनः प्रमाणाभासमूलकत्वात् क्व मिथो विरोधः। न कश्चित् सिद्धान्त इत्ययमेव च सिद्धान्त इति हेतुरयं अनैकान्त इत्यर्थः। कालात्ययापदिष्टा इति। सर्वसत्यत्वादेरेव साध्यभावस्य प्रमाणसिद्धत्वादित्यर्थः। एतच्च दृष्टान्तानां दूषणे व्यक्तीभविष्यति।

एतेन दृष्टान्ता अपि विसर्जनीयाः। ते हि रज्जुसर्पवत्, तज्ज्ञानवत्, शशविषाणवत्, दर्पणमुखवत्, स्वप्नप्रत्ययवत्, च्छेद्यानुपपत्तौ च्छिदावत्, मिथः शोषकनिर्वापकानलसलिलवदित्यादयः। येन च तत्र सर्पस्यासत्त्वं तज्ज्ञानस्य मिथ्यात्वं, शशविषाणस्याकारकत्वं, दर्पणमुखस्य विचारासहत्वं, स्वप्नज्ञानस्य निरालम्बनत्वं, च्छेद्यानुपपत्तौ च्छिदानुपपत्तिश्चावधारितानि। तेनैव तत्र रज्जोः सत्त्व मसर्पज्ञानस्य सत्यत्वं, शशस्यान्यत्र गवादेर्विषाण एव कारकत्वं, दर्पणस्य विचारसहत्वं, स्वप्नज्ञानस्य सालम्बनत्वं, च्छेद्यनिष्ठा च्छिदा सिद्धौ ज्ञानं कर्म चोपपादितानि। तदनुपपत्तौ वा साध्यविकलतया सर्व एवैते दृष्टान्ताभासाः। अन्तिमस्तु साधनविकलः। सिद्धान्तानां व्याघातः परस्परविरहरूपत्वलक्षणः, जलानलयोस्तु वध्यघातकस्वभावत्वलक्षणः। न च शब्दसाम्येनानुमानमित्येषा दिक्।

कल्पलता- तदेवाह ते हीति। व्यक्तमन्यत्। शशस्यान्यत्र लोमादौ। गवादेः स्वविषाण एव कारकत्वादित्यर्थः। शब्दसाम्येनेति। अन्यथा गोत्वादीनामपि विषाणित्वं स्यादिति भावः।

अस्तु तर्हि दूषणोपक्रमेण विचार इति चेत्, तमपि पश्यामः कीदृशोऽसाविति। नेदं स्थूलं विरुद्धधर्म्मासंसर्गप्रसङ्गात्। नास्थूलं तथा प्रतिभासप्रसङ्गात्। न परानपेक्षं सदातनत्वप्रसङ्गात्। न परापेक्षं सदसद्व्यतिरेकप्रसङ्गात्। नैकं तथा प्रतिभासप्रसङ्गात्। नानेकं भेदव्यवस्थितिप्रसङ्गात्। न च व्यापकं निष्क्रियत्वप्रसङ्गात्। नाव्यापकं अविधेयत्वप्रसङ्गादित्यादिरिति चेन्न। मिथोविरोधमूलशैथिल्येष्टा-

पादनानुकूलत्वविपर्ययापर्यवसानैस्तर्काभासत्वात्।

कल्पलता- अवयविनिरासे सर्वप्रत्यक्षविलोपे तन्मूलकसर्वप्रमाणविलोपे स्वप्रकाशज्ञानात्मकं जगत् स्यादथ वा शून्यतैव स्यात्। तदुक्तम् सर्वाग्रहणमवयव्यसिद्धे (न्या.सू. २।१।३५।) रित्यभिप्रायेण परोऽवयविनिरासाय प्रतिजानीते **नेदं स्थूलमिति।** अयमेव च दूषणोपक्रमो यदस्मात् सिद्धान्तव्यतिरेकस्थापना प्राथमिकी। तत्रावयविनि विप्रतिपत्तयः। द्रव्यत्वं अणुत्वव्याप्यं न वा। परमाणुः स्वभिन्नोपादेयोपादानं न वा। मूर्तत्वम् अणुत्व व्याप्यं न वा। एवं स्पर्शवत्त्वादि पक्षीकृत्योह्यम्। इदं घटादि यदि स्थूलं स्याद्विरुद्धधर्मासंसृष्टं स्यादित्यर्थः। विरुद्धधर्मस्य ग्रहणादेर्वक्ष्यमाणत्वादिति भावः। **तथा प्रतिभासेति।** अस्थूलत्वेन प्रतिभासप्रसङ्गादित्यर्थः। 'परस्परविरोधे हि न प्रकारान्तरस्थितिरिति' (न्या.कु.३।८।) भावः। **सदातनेति।** अहेतुकं हि सदेव वा यथा आकाशं असदेव वा यथा शशविषाणमिति भावः। **सदसदिति।** न हि घटः कारणव्यापारात् प्राक् सन्नेव दण्डादिभिर्जन्यते, नाप्यसन् असत्त्वाविशेषेण घटकरणात् पटोऽपि स्यादित्यर्थः। **नैकमिति।** रूपादिसमुदायो हि घटोऽनुभूयते एकत्वे तु रूपादिविनाकृतं घटमात्रं प्रतिभासेतेत्यर्थः। **भेदेति।** भेदव्यवस्थायाश्च दूष्यत्वादिति भावः। **अविधेयत्वेति।** देशभेदेन विधिनिषेधो ज्ञान एव प्रतिबन्धसिद्धिः। **असत्त्वादिति।** सत्त्वस्य व्यवस्थापयितुमशक्यत्वादित्यर्थः। **विकल्पानुपपत्तेरिति।** विश्वमिदं सदसदुभयात्मकमनुभयात्मकं वा। आद्यमपि नित्यमनित्यं वा, नित्यमप्येकमनेकं वा, एकमपि भावात्मकमभावात्मकं वा इति विकल्पेषु विनिगमकप्रमाणाभावादनुपपत्तिः। **कर्मत्वानुपपत्तिरिति।** परसमवेतक्रियाफलभागिता हि कर्मता, सा च दृशिकर्मणि *नैयायिकैर*भ्युपगम्यते, *मीमांसकैः* प्राकट्याभ्युपगमेऽपि स्वभावनियमाभावादुपकारोऽपि दुर्घट इत्यादिदोषदुष्टमेव। तथा च दृश्याभावे दर्शनाभाव इति सिद्धम्। **मिथो व्याघातादिति।** वादिनां परस्परं व्याघाताभ्युपगमात् सिद्धम्। एतेषां हेतूनां साधारणं दोषमाह **एते हीति।** हेतूनां हेत्ववयवानां यः स्वात्मज्ञेयत्वज्ञानत्वादि, तस्यापि प्रतिक्षेपोऽमीभिर्हेतुभिः क्रियते न वा इत्यर्थः। विधिनिषेधोभयविषयत्वमव्यापकत्वं विधेयत्वन्तु विधिमात्रविषयत्वं तथा चोभयविषयत्वे ह्येकमात्रविषयत्वमित्यर्थः। यद्वा इह घटोऽस्ति उपलभ्यमानत्वादित्यनेन प्रकारेण घटस्य विधेयत्वं न स्यात्। अव्यापकत्वादव्याप्त्यप्रतियोगित्वादिति छलम्। **मिथो विरोधः** परस्परप्रतिक्षेपकत्वम्।

मूलशैथिल्यं तर्कमूलभूतव्याप्तिविरहः। इष्टापादनं वादिस्वीकृतार्थापादनम्। अनुकूलत्वं प्रतिवाद्यभ्युपगतप्रमाणोपष्टम्भकत्वम्। विपर्ययापर्यवसानं व्यतिरेकव्याप्त्यभावः। यद्यपि मूलशैथिल्यनान्तरीयकमेतत्। तथाप्यन्वयव्यतिरेक (रूप) विषयभेदेन दोषद्वैधं द्रष्टव्यम्।

यथा हि नायं पर्वतो निरग्निः निर्धूमत्वप्रसङ्गात्। नाप्यग्निमान् तथोपलब्धिप्रसङ्गात् इत्यनयोरेक आभासः। परस्परार्थप्रतिक्षेपकयोस्तयोरनाभासत्वानुपपत्तेः, तथात्रापि। न ह्यस्थूलतादिनिषेधादन्यः स्थूलतादिविधिः। तन्निषेधाद्वान्योऽस्थूलतादिविधिरिति।

कल्पलता- मिथोविरोधमाह यथा हीति। तथेति। वह्निमत्तयेत्यर्थः। एकाभासतायां हेतुमाह तयोरिति। अन्यथा वस्तुद्वैरूप्यतापत्तेरिति भावः। दृष्टान्ते विरोधमुक्त्वा दार्ष्टान्तिके तमाह तथेति। विरोधमेवोपपादयति न हीति।

शिथिलमूलाश्चैते प्रतिबन्धस्यासिद्धेः। सिद्धौ वा व्याप्यव्यापक-तदधिकरणानां सिद्धौ विवादनिवृत्तेः।

कल्पलता- शिथिलेति। पराभ्युपगममनुरुध्य, अन्यथा न परानपेक्षं न व्यापकमित्यनयोर्व्याप्तिसत्त्वात् सर्वोपग्रहो मन्दः स्यात्। पराभ्युपगममेव स्फुटयति सिद्धौ वेति। विवादेति। व्याप्त्यादिसिद्धेरेव शून्यताद्यनुपपत्तेरित्यर्थः।

इष्टापादनं च प्रथमे, अनुभूतावसिते स्थूले विरुद्धधर्मासंसर्गस्येष्टत्वात्। तथा च वक्ष्यामः।

कल्पलता- प्रथम इति। नेदं स्थूलमित्यत्र।

अनुकूलश्च द्वितीयः। अस्थूलताप्रतिक्षेपस्य स्थूलोपलम्भानु-ग्राहकत्वात् तद्रूपताव्यवहारस्य तथा प्रतिभासव्याप्तत्वाच्च। एवं तृतीयोऽपि। अनपेक्षत्वप्रतिक्षेपस्य सापेक्षत्वोपलम्भानुग्राहकत्वात्। अनपेक्षत्वविधेः सदातनत्वव्याप्तत्वाच्च। चतुर्थस्त्वप्रसिद्धव्यापकः। सदसत्त्वस्य विरोधेनैकत्र विधिवन्निषेधस्याप्यनुपपत्तेः। पञ्चमस्त्वनुकूल एव। अनेकत्वाभिमते वस्तुन्येकताप्रतिक्षेपस्यानेकतोपलम्भोपष्टम्भकत्वात्। ताद्रूप्यव्यवहारस्य तथा प्रतिभासव्याप्तत्वाच्चेति। षष्ठस्त्विष्ट एवास्माकम्।

कल्पलता- स्थूलोपलम्भेति। तथा चास्मदनुकूलमेव साधितं स्यादित्यर्थः। द्वितीयस्य सत्तर्कत्वमाह तद्रूपतेति। तद्रूपतायास्तथाप्रतिभासव्याप्तत्वात् इति वक्तव्ये

व्यवहारपदं तद्रूपता दार्ढ्यार्थम्। **प्रतिभासः** कादाचित्को विवक्षित ऐश्वरो वा। एवमिति। अनूकूल: सत्तर्कश्चेत्यर्थ:। अनुकूलत्वमाह **अनपेक्षत्वेति**। सत्तर्कत्वमाह **अनपेक्षत्वविधेरिति**। चतुर्थे आपाद्याप्रसिद्धिमाह **चतुर्थस्त्विति**। अप्रसिद्धिमेव दर्शयति **सदसत्त्वस्येति**। नचावयविनि एकत्वनिषेधो नानुकूल इत्यत आह **अनेकत्वाभिमत इति**। सत्तर्कत्वमाह **ताद्रूप्येति**। यदनेकं तत्र कदाचित्तथा प्रतिभासो भवत्येवेत्यर्थ:। **इष्ट एवेति**। अनेकत्वाभिमतं वस्तु भेदेन व्यवतिष्ठत एवेत्यर्थ:।

ननु भेद: स्वरूपं वा स्यादितरेतराभावो वा धर्मान्तरं वा। न पूर्व:, घटो भिन्न इति सहप्रयोगानुपपत्ते:। नापर:, प्रतीतावात्माश्रयप्रसङ्गात्। भिन्नप्रतियोगिनिरूपणाद्धि तदभावो निरूप्यस्तन्निरूपणमेव च भेदनिरूपणम्। नोत्तर:, अनवस्थाप्रसङ्गात्। तत् कथमसौ व्यवतिष्ठतामिति चेत्।

कल्पलता- ननु भेद एव नास्ति कथं तद्व्यवस्थेति *वेदान्त्याह* **नन्विति**। सहप्रयोगानुपपत्तेरित्युपलक्षणम्। भेदो घटविशेषणत्वेन न भासेत इत्यपि द्रष्टव्यम्। न हि स्वमेव स्वविशेषणं भवति। **आत्माश्रयेति**। भिन्नतया प्रतियोगिज्ञाने सति भेदग्रह इति। तेनैव तन्निरूपणमित्यर्थ:। आत्माश्रयमेव विवृणोति **भिन्नेति**। भिन्नत्वेन प्रतियोगिनिरूपणादित्यर्थ:। **अनवस्थेति**। वैधर्म्ये हि घटपटयोर्घटत्वं पटत्वञ्च। तत्रापि वैधर्म्यान्तरं वाच्यमेवं तत्र तत्रापीत्यर्थ:। **तत् कथमिति**। भिद्यत इति भेदो भिद्यते अनेनेति भेदो भेदनं भेद इति प्रकारत्रयस्यापि दुष्टत्वादित्यर्थ:।

तत् किं भेदज्ञानमेव नास्ति, सदपि वा नित्यम्, अनित्यमपि वा निर्हेतुकं, सहेतुकमपि वा निर्विषयकं, सविषयकमपि वा बाध्यमानविषयकमिति। तत्र प्रथम: सर्वतो विरोधादनुत्तर:। द्वितीय: सुषुप्त्यवस्थानुरोधादुपेक्षणीय:। तृतीयोऽपि विरोधाद्धेय:। चतुर्थस्तु भेदोल्लेखादेव त्याज्य:। पञ्चमस्तु चिन्त्यते, किमेतेष्वन्यतमात्मा तस्य विषय: तदन्यो वेति। तत्र यद्यन्य एव, किमेताभिर्व्याधिकरणानुपपत्तिभिस्तस्य बाध्येत। एवं हि चौरापराधेन व्यक्तमयं माण्डव्यनिग्रह: स्यात्।

कल्पलता- **तत् किमिति**। ज्ञानस्य ज्ञेयनिरूप्यतया भेदसिद्धि-पर्यवसानादित्यर्थ:। **सर्वत इति**। भेदज्ञानं नास्तीति सर्वानुभवसिद्धज्ञानापलाप:

प्रतियोग्यप्रसिद्धिः स्ववचनविरोधः। न हि भेदमज्ञात्वा तदभिलापसम्भवः। वादिप्रतिवादिनोर्भेदेन ज्ञाने सत्येव कथाप्रवृत्तिश्चेति। सुषुप्तेति। ज्ञानाभावदशाया एव सुषुप्तित्वादित्यर्थः। विरोधादिति। अहेतुकत्वेऽनित्यत्वानुपपत्तेरित्यर्थः। भेदोल्लेखादित्युपलक्षणम्। ज्ञानस्य सविषयत्वनियमादित्यपि द्रष्टव्यम्। अन्यतमोऽस्य विषयो यो बाध्यत्वेनाभिमत इति शेषः। यद्यन्य एवेति। त्वया त्वेतेषामेव त्रयाणां बाधोपन्यासाद्वैयधिकरण्यमित्यर्थः।

अथान्यतमात्मा, तत्रापि यदि धर्मान्तरमेवेति तत्त्वं, तदाऽनवस्थाभिया तदधिक एव प्रवाहस्त्यज्यतां तस्य कुतस्त्यागः। न ह्यनवस्था प्रतिभासमानमर्थं निवर्त्तयति, किन्तु प्रवाहं परिहापयति, गन्धे गन्धान्तरवत्।

कल्पलता- वैधर्म्यभेदे बाधमुद्धरति तत्रापीति। स्वरूपभेदेनैव घटत्वपटत्वयोरपि भेदव्यवहारसिद्धेरित्यर्थः। प्रतिभासमानमिति। बलवत्प्रमाणविषयीभूतस्य त्यागादित्यर्थः।

अथेतरेतराभावमेव भेदज्ञानमवलम्बत इति तत्त्वं, तत्रापि क्वात्माश्रयः। तेन हि भेदज्ञानमेव न स्यात्। अस्ति च तत्, ततो हेत्वन्तरमाक्षिपेत्, न तु स्वात्मनि स्वयमहेतुत्वे स्वयमेव निवर्तते। अविद्यावशादिति चेत्, किञ्चातः। न ह्यविद्येत्येवात्माश्रयनिवृत्तिः। तथा सति घटादयोऽपि कुलालादिनिरपेक्षाः स्वयमेव भवेयुः। अथात्माश्रयदोषोपहततया तन्न स्वस्यैव कारणम्। ततो यतः कुतश्चित् तस्य जन्म। तच्च दुर्निरूपमतोऽविद्येत्युच्यत इति विचारार्थः। नाम्नि तर्हि विवादः। न च तदपि दुर्निरूपम्, प्रतियोगि-रूपत्वेनाप्रतीतावधिकरणप्रतीतिरधिकरणस्वभावत्वेनास्मृतौ प्रतियोगि-स्मृतिश्चेतरेतराभावग्रहणकारणमिति निरूपणात्।

कल्पलता- स्वयमेवेति। स्वस्य स्वं प्रत्यजनकतयाऽन्योन्याभावभेदालम्बना बुद्धिरेव नोत्पद्येत, उत्पद्यते च। तथा च कारणान्तरमनुसर्तुमर्हतीति भावः। अविद्येति। भेदज्ञानमाविद्यकं न कारणान्तरापेक्षमित्यर्थः। किञ्चात इति। भेदज्ञानं चेत्त्वयाऽङ्गीकृतं तदाऽविद्या कारणत्वेन त्वयोपन्यस्त इत्यस्मदनुकूलमेवाचरितमित्यर्थः। यद्वा आविद्यकमपि भेदज्ञानं न कारणनिरपेक्षं न वा स्वजन्यमिति कारणान्तरं तत्रावश्यं वाच्यमित्यर्थः। तथा सतीति। त्वन्मते घटादीनामप्यविद्याविवर्त्तत्वेन त्वयोपन्यस्यतां स्वयमेवोत्पत्तिः स्यादित्यर्थः। स्वस्मादेव तावद्भेदज्ञानं नोत्पद्यते यत उत्पद्यते तद् दुर्निरूपमित्यविद्येत्युच्यते

इत्याह **अथेति**। **नाम्नीति**। यत् कारणं मयाऽभिप्रेतं तदेवाविद्यापदेन त्वयोच्यत इत्यर्थः। घटः पटो न भवतीत्यत्र घटवृत्ति पटत्वं पटावृत्तिघटवृत्तिघटत्वस्वरूपेण ज्ञातं सदन्योन्याभावप्रतीतिकारणं, न तु प्रतियोगिवृत्तित्वेनाधिकरणवृत्तित्वेन, येन प्रतियोगित्वाधिकरणत्वग्रहगर्भोऽन्योन्याभावग्रह इत्यात्माश्रयः स्यादित्यत आह **न च तदपीति**।

अथ स्वरूपमेव भेदप्रतिभासस्य विषय इति तत्त्वम्, तथापि सहप्रयोग एवानुपपन्नस्त्यज्यताम्, भेदेन तु किमपराद्धम्। सोऽपि दृश्यत इति चेत्, नैमित्तिकस्तु स्यात्, न स्वरूपतः। न हि घटमानय पटमवलोकयेत्यादौ भेदपदमपि प्रेक्षावानुपादत्ते। व्याख्यायां तु मूढप्रबोधनाय घटः कुम्भ इतिवत् सहप्रयोगेऽपि न दोषः।

कल्पलता- तथापीति। स्वरूपभेदस्य भेदज्ञानविषयत्वेन त्वयाऽभ्युपगमात्। तत्र बाधकं द्वयोरप्यावयोर्निरसनीयमित्यर्थः। **सोऽपीति**। यथा भेदज्ञानमस्ति तथा सहप्रतियोगोऽप्यस्ति। तथा च तद्बलाद् भेदज्ञानमेव निवर्ततामित्यर्थः। न हि घटो भेद इति सहप्रयोगोऽस्ति घटो भिन्न इति तु भेदस्य वैधर्म्यस्यान्योन्याभावस्य वा वैशिष्ट्यं घटे भासते। भवतु वा कथञ्चित् सहप्रयोगः समूहप्रतीत्यर्थं भवतीति न दोष इत्याह **नैमित्तिकमिति**।

तथापि कः परमार्थः? यथायथं त्रयमपि। पटस्य हि घटात्मनाऽप्रतीतिरघटात्मना च प्रतीतिस्ततो वैशिष्ट्यप्रतीतिश्चेत्यनुभवसिद्धम्। तत्राभावस्य, प्रथममात्रम्, अभावान्तरधर्मान्तरयोरभावात्। सामान्यादिषु त्रिषु द्वयं, धर्मान्तरयोरभावात्। सामान्यादिषु त्रिषु द्वयं, धर्मान्तराभावात्। द्रव्यादिषु त्रिषु त्रयं, त्रयस्यापि सम्भवात्। भवति पटोऽयं न घटस्तन्तुमयश्चेति, गन्धोऽयं न रूपं सुरभिश्चेति, गतिरियं नोत्क्षेपणं तिर्यक् चेति। लक्षणं च स्वरूपभेदस्य ताद्रूप्येणाप्रतीतौ प्रतीतिः। इतरेतराभावस्य त्वबाधितः समानाधिकरणो निषेधप्रत्ययः, वैधर्म्यस्य तु विरोधः। स चैकधर्म्यसमावेश इत्येषा दिक्।

कल्पलता- सुहृद्भावेन पृच्छति **तथापीति**। **यथायथमिति**। यत्र यत् प्रमाणसिद्धं तत्र स एव भेद इत्यर्थः। द्रव्ये त्रयमपि प्रामाणिकम्। तत्र स्वरूपभेदमाह **पटस्य हीति**। घटाद्यात्मनाऽप्रतीतौ सत्यां पटस्य स्वरूपप्रतीतिरेव स्वरूपभेदलक्षणमित्यर्थः। अन्यथा पटमानयेति नियुक्तो घटमप्यानयेदिति भावः।

अन्योन्याभावमाह **अघटेति**। घटान्योन्याभाववत्तयेत्यर्थः। यद्यपि पटान्योन्याभावप्रतीतिर्नेयं तथापि पटनिष्ठघटान्योन्याभावप्रतीतिस्तावदियमिति भावः। तत इति। घटनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगिधर्मविशिष्टप्रतिपत्तिश्चेत्यर्थः। **यथायथमिति** यदुक्तं तदेव स्फुटयति **तत्रेति**। **प्रथमः स्वरूपभेदः**। **अभावान्तरेति**। तत्राभावान्तराभ्युपगमेऽनवस्थापत्तिरिति भावः। **धर्मान्तरेति**। सामान्यरूपस्य वैधर्म्यस्येति भावः। वस्तुतः प्रतियोग्यादिघटितं वैधर्म्यं तत्रास्तीति भावः। **द्वयमिति**। अन्योन्याभावस्वरूपभेदावित्यर्थः। अत्रापि वैधर्म्यस्याभावाभिधानं जातिपरं वैधर्म्यमित्यभिप्रेत्य। अन्यथाऽन्योन्याभावग्रहोऽपि न स्यात्। एतच्च तन्तुमयश्चेति वैधर्म्यभेदाभिधानेन स्वयमेव स्फुटीकरिष्यति। **तिर्यक्त्वं** गतौ जातिविशेषः। **ताद्रूप्येणेति**। स्वान्योन्याभाववत्तयाऽप्रतीतौ स्वरूपप्रतीतिरित्यर्थः। तथा च प्रतीयमानं स्वरूपमेव **स्वरूपभेद** इति भावः। वस्तुतो भिद्यत इति व्युत्पत्त्या भेदपदं घटादौ प्रवर्तते, भेदव्यवहारस्तु वैधर्म्यान्योन्याभ्यामेव, अभावेऽपि तयोर्दर्शितत्वात्। **समानाधिकरण** इति। प्रतियोगिसमानकालीनसमानाधिकरणो निषेध इत्यर्थः। प्रतीयत इति प्रत्ययो निषेधश्चासौ प्रत्ययश्चेति **निषेधप्रत्ययः** प्रतीयमानो निषेध इत्यर्थः। **विरोध इति**। सहानवस्थितौ धर्मौ गोत्वाश्वत्वे गवाश्वयोर्वैधर्म्ये भेद इत्यर्थः। एतदेव दर्शयति। **स चेति**।

दिगिति। ननु घटे पटत्वात्यन्ताभावाधीन एव तदन्योन्याभावव्यवहारोऽस्तु किमधिकेनेति चेन्न। इदमिदं न भवतीति धर्मिसमभिव्याहृतनञा धर्माभावासंस्पर्शात्। इदमिदं न भवति नेदमिहेति प्रतीतिभ्यामेवाभावद्वयविभागात्। तादात्म्यावच्छिन्न-प्रतियोगिताकत्वसंसर्गावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वयोश्चान्योन्याभावसंसर्गा-भावयोर्वैलक्षण्यादिति दिगित्यर्थः।

सप्तमोऽप्यनुकूल एव, घटादौ व्यापकताप्रतिक्षेपस्याव्यापकतो-पलम्भोपष्टम्भकत्वात्, व्यापकत्वस्य निष्क्रियत्वव्याप्तत्वाच्च।

कल्पलता- सप्तमोऽपीति। न व्यापकं निष्क्रियत्वप्रसङ्गादित्यनुकूल एवेत्यर्थः। नन्वयमनुकूलस्तदा स्याद्यदि सत्तर्कः स्यादतः सत्तर्कतां दर्शयति **व्यापकत्वस्येति**।

अष्टमस्तु क्वचिदिष्ट एव। यत एव हि क्वचिदविधेयोऽत एव क्वचिद्विधेयेऽव्यापक इति व्यवह्रियते। सर्वत्रेति, चेन्न। व्याप्त्यसिद्धेः,

विरोधाच्च। न हि यदव्यापकं तत् सर्वत्राविधेयमिति प्रतिबन्धः। क्वचिदस्तीत्यव्यापकार्थः। सर्वत्र नास्तीति चाविधेयार्थस्तवाभिमतस्तदन योर्विरोधोऽपि स्यात्।

कल्पलता- अष्टमस्त्विति। अविधेयत्वप्रसङ्गलक्षणः। **क्वचिदिति।** स्वाभावस्थले। न हि यत्र घटाभावस्तत्रापि घटो विधीयते। क्वाचित्केनाविधेयत्वेन क्वाचित्कं यद्विधेयत्वं तदेवाव्यापकत्वार्थ इत्यर्थः। **सर्वत्रेति।** सर्वत्रैव विधेयत्वमापाद्यत इत्यर्थः। अव्याप्तिमाह **न हीति।** विरोधमाह **क्वचिदिति।**

यद्विधेयस्वभावं तत् कथं प्रतिषेध्यमिति चेन्न। प्रतिषेधस्वभावता हि विधेयस्य विरुद्धा, न तु प्रतिषेधप्रतियोगितापि। अथ योऽस्ति कथं तस्य प्रतिषेधोऽप्यस्तीति चेत्, को दोषः। अनयोरविरोधप्रसङ्ग इति चेत्, प्रकारभेदेन प्रसक्तोऽपि न दोषमावहति। तदभेदेन तु विधिनिषेधौ केन स्वीकृतौ यं प्रत्यविरोधः प्रसज्येतेति। एतेन कालभेदादिनाऽप्यविरोधो द्रष्टव्यः।

कल्पलता- ननु प्रतिषेध्यत्वं विधेयत्वं चैकस्य विरुद्ध-स्वाभाव्यादनुपपन्नमित्याह **यदिति।** प्रतिषेध्यत्वविधेयत्वयोर्न विरोधोऽपि तु प्रतिषेधत्वविधेयत्वयोरित्याह **प्रतिषेध्येति।** ननु वस्तुनः कथमभावप्रतियोगिता स्यादस्ति नास्तीति प्रतीत्योरेकत्रासम्भवादिति शङ्कते **अथेति। प्रकारभेदेनेति।** प्रसक्तोऽपि सन्न प्रकारभेदेन दोषमावहतीति योज्यम्। **तदभेदेनेति** प्रकाराभेदेन। एकत्राप्यधिकरणेऽवच्छेदकभेदेन संयोगतदभावयोः प्रतीयमानत्वात्। देशभेदेन तु भावाभावयोर्विरोधगन्धोऽपि नास्तीति भावः। नन्ववच्छेदकभेदं विनाऽप्येकत्र कपाले घटतत्प्रागभावप्रध्वंसदर्शनात् कथं न विरोध इत्यत आह **एतेनेति।**

अस्तु तर्हि स्थूलघाती विरुद्धधर्माध्यासो ग्रहणाग्रहणादिः पञ्चविधः। न, असिद्धेः।

कल्पलता- स्थूलघातीति। अवयविनि बाधक इत्यर्थः। **पञ्चविध इति।** ग्रहणाग्रहणावृतानावृतत्वकम्पाकम्परक्तारक्तसंयुक्तासंयुक्तरूप इत्यर्थः। वृत्तिविकल्पेन सह वा पञ्चत्वम्। **नासिद्धेरिति।** समावेशस्यासिद्धेः। यद्वा विरोधासिद्धेः समावेशादेवेत्यर्थः।

तथाहि यो येन यत्रैव यदैवोपलभ्यते स तेन तत्रैव तदैव नोपलभ्यत

इति नानुभवः, नाप्यभ्युपगमः। एकावयवसहितस्योपलम्भेऽन्यावयवसहितस्यानुपलम्भ इति चेत्, एवं तर्ह्यवयविन्युपलभ्यमाने कश्चिदवयव उपलभ्यते कश्चिन्नेति वाक्यार्थः। सविशेषणे हि विधिनिषेधौ विशेषणमुपसङ्क्रामत इति न्यायात्। तथा चावयवानामुपलम्भानुपलम्भाववयविनि सञ्चार्य प्रसङ्गस्तदलमनेन।

कल्पलता- ग्रहणाग्रहणे हि तदा विरुद्धे स्यातां यदि कालाभेदेन पुरुषाभेदेन विषयाभेदेन स्यातामित्यर्थः। नन्वेक एव घट एकदा एकेनैव पुरुषेणार्वाग्भागावच्छेदेन गृह्यते परभागावच्छेदेन न गृह्यत इति कथं न विरोध इति शङ्कते एकावयवेति। एवमिति। उपलम्भानुपलम्भयोरवयविनि समावेशो नोपपादित इत्यर्थः। सञ्चार्येति। अवयवगतावुपलम्भानुपलम्भाववयविनि सञ्चारितावित्यर्थः।

एतेनावृतत्वानावृतत्वं व्याख्यातम्। अनावरणदशावत् कतिपयावयवावरणेऽपि तथाविधस्थौल्योपलम्भः किं न स्यादिति त्ववशिष्यते। तदप्यसत्, तस्य परिमाणगतसामान्यविशेषस्य ततोऽन्यस्य नियतसामग्रीवेद्यस्य तदभावे तदुपलम्भेऽप्यनुपलम्भात्।

कल्पलता- एतेनेति। अवयविनि तदुभयसमावेशाभावेनेत्यर्थः। अत्र दोषमाशङ्क्य निराकरोति अनावरणेति। तथाविधेति। द्विहस्तत्वत्रि-हस्तत्वादिरूपस्थौल्योपलम्भप्रसङ्ग इत्यर्थः। ततोऽन्यस्येति। अवयविनोऽन्यस्येत्यर्थः। नियता सामग्री भूयोऽवयवावच्छेदेनेन्द्रियसन्निकर्षः। तदुपलम्भेऽपीति। अवयविनः परिमाणस्य चोपलम्भेऽपीत्यर्थः।

एतेन कम्पाकम्पसंसर्गो निरस्तः। सामग्रीभेदेनावयवनियतकम्पोत्पादे तस्यां दशायामवयविनो निश्चलत्वात्। एवं तर्हि कम्पाकम्प-योरवयवयोर्विभागात् संयोगनाशे द्रव्यनाशः स्यादिति चेत्, ततः किम्। अपसिद्धान्त इति चेन्न। एवमपि क्वचिदभ्युपगमात्। सर्वत्रैवं प्रसङ्ग इति चेत्, तथाप्यवयविनः किमत्याहितम्। न चैवमपि। कर्मणो द्रव्यारम्भकसंयोगप्रतिद्वन्द्विविभागजनननियमानभ्युपगमात्। कारणविशेषात् कस्यचिदेव कर्मणस्तथाभूतविशेषोपलब्धेः।

कल्पलता- एतेनेति। अवयविन्येकदा ज्ञानसमावेशाभावेनेत्यर्थः। सामग्रीति। अवयवकम्पसामग्रीतोऽवयविकम्पसामग्र्या भिन्नत्वेन

तदुभयोपपत्तेरित्यर्थः। **एवं तर्हीति।** कतिपयावयवकम्पेऽपि कतिपयावयव-निश्चलतायामित्यर्थः। **अपसिद्धान्त इति।** तस्यां दशायामवयविनाशस्य त्वयाऽनभ्युपगमादित्यर्थ एवेत्यर्थः। **एवमपीति।** द्रव्यनाशस्यापीत्यर्थः। **सर्वत्रेति।** यत्रापि त्वया नाभ्युपगम्यते तत्रापीत्यर्थः। **तथापीति।** एतावताप्यवयवी सिद्ध एवेत्यर्थः। **अत्याहितम्** महाभयम्। **न चेति।** अवयवकर्मणा द्रव्यारम्भक-संयोगविरोधिविभागाजननात्। अन्यथोत्पलादौ प्रत्यभिज्ञानं न स्यादिति भावः।

एतेन पाणौ चलति तन्मूलभूतः परमाणुरपि चलेत्। ततोऽचलत्तद्भुजपरमाणोर्विभागः। ततो यो येन संयुज्यते विभज्यते वा स तत्कार्यद्रव्येणापीति न्यायेन भुजपाण्योरपि विभागः, ततः संयोगनाशः, ततः शरीरनाश इति निरस्तम्।

न हि पाणिपरमाणुक्रिया भुजपरमाणुविभागमारभते नियमेन। तदनारम्भकत्वे कर्मलक्षणक्षतिरिति चेन्न। आकाशादिदेशविभागजननादपि तदुपपत्तेः। अथ नुद्यकर्मवत्। कुतोऽयं विशेष इति चेत्, कारणविशेषादि-त्युक्तम्। यद्येवमवयवकम्पेऽप्यकम्प एवावयवी हन्तावयवसंयोगि-विभागिभ्यामाकाशादिदेशाभ्यां न संयुज्येत न विभज्येतेति चेन्न। अवयवसंयोगविभागाभ्यामेव तत्सिद्धेः। एतच्च सम्यगवबोद्धुं *वैशेषिक*मनुसन्धेयम्। तर्हि चलदवयवसमाश्रितोऽप्यचलन्नेवावय-व्युपलभ्येतेति चेत्, नेदमनिष्टम्। पाणौ कम्पमाने शरीरं न कम्पत इति प्रत्ययात्।

कल्पलता- एतेनेति। सर्वेषामवयवकर्मणां द्रव्यविरोधिविभागजनकत्वा नभ्युपगमेनेत्यर्थः। **तत इति।** चलतः पाणिपरमाणोरचलभुजपरमाणुविभागे पाणिभुजविभागोऽपि स्यादित्यर्थः। **संयोगनाश इति।** शरीरारम्भकभुज-पाणिसंयोगनाश इत्यर्थः। यदि तु पाणिर्भुजावयवस्तदाऽवयवान्तर-परमाणुकर्मोदाहार्यम्। **कर्मलक्षणेति।** संयोगविभागयोरनपेक्षं कारणं कर्मेति लक्षणक्षतिरिति भावः। **तदुपपत्तेरिति।** कर्मलक्षणोपपत्तेरित्यर्थः। **अथ नुद्यकर्मवदिति।** यथा नुद्यनिष्ठेन कर्मणा नोदकेन सह विभागाजननेऽ-प्याकाशादिविभागजननेन कर्मलक्षणोपपत्तिरित्यर्थः। **अयमिति।** किञ्चित्कर्म द्रव्यारम्भकसंयोगविरोधिविभागजनकं किञ्चिन्न तथेति विशेष इत्यर्थः। अवयवकम्पेनाकाशादवयवस्य संयोगविभागयोरुत्पादेऽपि निष्कम्पस्यावयविनः

कथमाकाशादिदेशात् तौ स्यातामित्याशङ्कते यद्येवमिति। एवं कारणसंयोगविभागाभ्यां कार्यस्य तावित्यभ्युपगमादित्यर्थः। ननु तत्रैव न प्रमाणामित्यत आह एतच्चेति। नन्वेवं पाणौ चलत्यपि तदवच्छिन्नोऽवयवी निश्चल एवोपलभ्येतेत्यत आह तर्हीति।

अथवा यो यदाश्रिततयोपलभ्यते स तस्मिंश्चलत्यचलोऽपि चल एव विभाव्यते दर्पणमुखवत् जलचन्द्रवच्चेत्यपि द्रष्टव्यम्। कृतं प्रतीतिकलहेन। एवमपि सर्वत्र चल एवोपलभ्येतेति चेत्, चलत्यवयवे सर्वत्र तथैवेति न किञ्चिदनुपपन्नम्। अचले तु कथं तथोपलभ्यताम्। तथापि चलाचलाश्रयस्य चलाचलतया प्रतीतौ चलाचलजलचन्द्रवत् द्वैतप्रत्ययोऽपि स्यादिति चेत्, स्यादपि यद्याश्रयविच्छेदः स्यात्। न ह्येकस्मिन्नेव जलेऽविच्छिन्नावयवभेदेन द्विचन्द्रभ्रमो नाम। किन्तु स एवैकश्चले चल उपलभ्यतेऽचले त्वचल इति। वीचिषु सोऽपि सहस्रनिभ इति चेत्, एवमेतत्। तासां विच्छेदेनाकलनात्।

कल्पलता- ननु पाण्यवच्छेदेनाप्यवयविनो निश्चलस्योपलम्भ इति दुर्घटमित्यनुशयेनाह अथ वेति। निश्चलोऽपि चलाश्रितश्चलतीति न प्रतीतिविषयो भवतीति दृष्टत्वाद्दुष्टमित्यर्थः। चलाश्रितश्चेच्चल उपलभ्यते तदा निश्चलपादावच्छिन्नेनापि शरीरं चलमेवोपलभ्येतेत्याशङ्कते एवमपीति। अचले त्विति। तदवच्छेदेन शरीरस्य चलाश्रितत्वाभावादित्यर्थः। द्वैतेति। तत्र शरीरे द्वित्वं प्रतीयेतेत्यर्थः। आश्रयविच्छेद इति। चलाचलयोराश्रययोर्यत्र विभागस्तत्रैवं, न तु सर्वत्र तथा प्रतिभासनियम इत्यर्थः। न हीति। यत्र जलमचलं तत्र चन्द्रबिम्बमप्येकमेव भासत इत्यर्थः। तथा चाश्रयविच्छेदो द्वित्वविभ्रमे मूलमिति भावः। आश्रयचलत्वाधीन आश्रितचलत्वप्रत्यय इति द्रढयति किं त्विति। वीचिष्विति। आश्रयाविच्छेदाभिमानेनाशङ्का। आश्रयविच्छेदप्रत्ययेन समाधिमाह तासामिति।

अस्तु तर्हि चलाचलयोर्युतसिद्धिप्रसङ्ग इति चेन्न। स्वयं प्रतिबन्धासिद्धेः। न च प्रसङ्गे व्याप्तावपि पराभ्युपगमः शरणम्। न चैवं पराभ्युपगमोऽपि। वस्त्रोदकादौ दृश्यते तावदयमिति चेन्न। तन्तुवस्त्रादौ विपर्ययस्यापि दर्शनात्। इदं मिथ्येति चेत्, तत् कथं सत्यम्। अबाधादिति चेत्, इह तर्हि बाधकान्तरं वाच्यम्। चलाचलत्वमेवेति चेन्न। युतसिद्धा

वपि किमिति नेदं बाधकमिति, विपर्ययस्यापि वक्तुं शक्यत्वादिति।

कल्पलता- यदि पाणौ चलत्यपि शरीरमचलमेव तदा पाणिशरीरयोः सम्बद्धयोरसम्बद्धयोरपि विद्यमानत्वं स्यादित्याह **अस्तु तर्हीति।** ननु द्वयोरसम्बद्धविद्यमानत्वं क्षणिकत्ववादिना नाभ्युपेयत इति न प्रसङ्ग इत्याह **स्वयमिति।** ननु तर्कः पराभ्युपगमाधीनप्रवृत्तिक एवेत्याह **न चेति।** आपादकस्य पराभ्युपगमस्तर्के प्रयोजको न त्वापाद्यापादकयोर्व्याप्तावपीत्यर्थः। **न चैवमिति।** चलाचलयोर्युतसिद्धिरिति *नैयायिकोऽपि* नाभ्युपगच्छतीत्यर्थः। वस्त्रोदकादौ दर्शनबलादवश्यं तथा स्वीकर्तव्यमित्यह **वस्त्रेति।** तन्तुपटयोस्तथा दर्शनाद् व्यभिचारान्नैवं व्याप्तिरित्यर्थः। तन्तुपटयोरप्यसम्बद्धविद्यमानत्वमस्त्येव। सम्बन्धानुभवस्तु भ्रान्त इत्याह **इदमिति।** **तत्कथं सत्यमिति।** वस्त्रोदकयोरसम्बद्धविद्यमानत्वदर्शनमित्यर्थः। **अबाधादिति।** वस्त्रात् स्खलितमपि जलं वस्त्रसम्बद्धमेवेति कस्यापि नात्र बाधावतार इति तत्सत्यमित्यर्थः। **इहेति।** चलाचलयोस्तन्तुपटयोः सम्बद्धयोः सत्त्वेऽपि न बाधकमस्तीत्यर्थः। चलाचलत्वमसम्बद्धविद्यमानत्वव्याप्यमित्युक्तमित्याह **चलाचलत्वमिति।** चलाचलयोरपि तन्तुपटयोर्दर्शनेन चलाचलत्वमयुतसिद्धत्वव्याप्यं किं न स्याद्दर्शनस्योभयत्र तुल्यत्वादित्याह **युतसिद्धाविति।** तथा च संयोगिनोश्चलाचलत्वं युतसिद्धत्वव्याप्यं न त्वसंयोगिनोरपि पाणिशरीरयोरिति भावः।

रक्तारक्तविरोध इति चेन्न। भ्रान्तत्वात्। तन्मूलरागिद्रव्यसंयोगासंयोग विरोधोऽस्त्विति चेन्न। परमाणुवादिनं प्रति प्रागेव परिहृतत्वात्। इतरं प्रति का वार्तेति चेत्, सैव तावत् तथैवाविरोधात्। प्रकारभेदेनापि विरोधाभ्युपगमे व्याप्तेरसिद्धेः संयोगतदभावयोरेवासिद्धेः। सिद्धौ वा प्रकारभेदा-विरुद्धस्वाभावसादेश्यापरित्यागात्। न चैवं पदार्थान्तरवैधर्म्येण संयोग एव निराकर्त्तव्यः। तद्वैधर्म्येण तेषामेव निराकरणप्रसङ्गात्।

कल्पलता- **रक्तारक्तविरोध इति।** अवयविनि बाधक इति शेषः। **न भ्रान्तत्वादिति।** रक्तः पट इति प्रतीतेरिति शेषः। तथा च पटस्यारक्तमेवेति। न विरोध इति भावः। तर्हि महारजनसंयोगासंयोगावेवैकत्र विरुद्धाववयविभेदकावित्याह **तन्मूलेति।** परमाणुवादिनं प्रति क्षणभङ्गनिराकरणावसरे प्रकारभेदमादाय विरोधस्य परिहृतत्वादित्याह **परमाण्विति।** **इतरं प्रतीति।** ज्ञानभिन्नपरमाण्वनङ्गीकर्त्तारं

प्रतीत्यर्थः। **सैवेति**। प्रकारभेदेनाविरोधोपपादकयुक्तेरिहापि तुल्यत्वात्। अन्यथा रक्तारक्तप्रकारकैकज्ञानेऽपि विरोधापत्तेरिति भावः। यदि पटो महारजनसंयोगतदभाववान् स्यात् भिद्येतेति व्याप्तिरेवासिद्धेत्यर्थः। कुत इत्यत आह **संयोगेति**। संयोगतदभावसिद्धौ प्रकारभेदेनाविरोधो मूलम्। तेनापि च विरोधे तावेव न स्यातामित्यर्थः। **सिद्धौ वेति**। यदि संयोगतदभावयोः सिद्धिस्तदा प्रकारभेदेनाविरुद्धो यः स्वाभावस्तत्सादेश्यमादायैवेत्यर्थः।

न चैवमेव न्याय्यम्, नियमवता हि सत्यवैधर्म्येणेतरन्निराक्रियते। असत्यवैधर्म्येण सत्यत्वस्यैव निर्वाहात्। निषेध्यप्रतीतिनान्तरीयकत्वाच्च निषेधसिद्धेः। शशविषाणादौ कल्पितेन निषेध्येन निषेधसिद्धिरिति चेन्न। निराकृतत्वात्। संयोगस्य वाङ्मात्रेण काल्पनिकत्वसिद्धावतिप्रसङ्गाच्च। शशशृङ्गन्यायस्य च योग्यानुपलम्भाभावेनासिद्धेः। इत एव बाधकात् तत्सिद्धावितरेतराश्रयत्वम्।

कल्पलता- न चैवमेवेति। अस्तु सर्वपदार्थनिराकरणं नेदमनिष्टमित्यर्थः। तथा च ममाभिमता शून्यतैव सिद्ध्येदिति भावः। **नियमवता हीति**। साधर्म्यासमानाधिकरणेन वैधर्म्येणेत्यर्थः। प्रकृते तु संयोगस्य सत्त्वगुणत्वाभिधेयत्वप्रमेयत्वादिकं सत्यधर्म्यमप्यस्तीति भावः। **असत्यवैधर्म्येणेति**। सत्त्वप्रमेयत्वादिनेत्यर्थः। दोषान्तरमाह **निषेध्येति**। तथा च संयोगनिषेधमहिम्नैव संयोगसिद्धिरित्यर्थः। असत्ख्यातिरूपैव तर्हि प्रतीतिरत्रापीत्याशङ्कते **शशेति**। **निराकृतत्वादिति**। क्षणिकतावादे व्यतिरेकिभङ्गावसरे। **संयोगस्येति**। शब्दादिस्वलक्षणार्थक्रियाकारिणः संयोगस्य काल्पनिकत्वे नीलाद्यपि काल्पनिकं स्यादित्यर्थः। ननु यथा शशे शृङ्गाभावो योग्यानुपलम्भेन सिद्धस्तथा संयोगाभावोऽपि सेत्स्यतीत्यत आह **शशशृङ्गेति**। संयोगस्य योग्यायोग्यसाधारणतया परमाण्वादौ संयोगानुपलम्भेऽपि योग्यताविशेषणं नास्ति। घटपटादिसंयोगे त्वनुपलम्भ एव नास्तीत्यर्थः। **इत एवेति**। पदार्थान्तरवैधर्म्यात् संयोगाभावसिद्धावनुपलम्भोऽपि सिद्ध एव यदि, तदाऽन्योन्याश्रयः। संयोगाभावे सिद्धे योग्यानुपलम्भसिद्धिस्तत्सिद्धौ च संयोगाभावसिद्धिरित्यर्थः।

शब्दप्रत्यभिज्ञानवत् संयोगप्रतीतेरन्यथोपपत्तिमात्रेण बाधकप्रवृत्तिरिति चेन्न। अनुभवस्य तदनुरूपमुपाधिमुखपिण्डमदत्वा भ्रान्तत्वेनान्यथोपपत्तौ

तद्विपरीतानुमानप्रवर्त्तनेऽग्नावनुष्णत्वानुमाने प्रवृत्तिप्रसङ्गात्। न च प्रत्यभिज्ञानस्य सामान्यवत् संयोगप्रत्ययस्य तदनुरूपमुपाध्यन्तरमस्ति। एवम्भूतमर्यादातिक्रमे तु त्वदभिप्रेतप्रतिबन्धप्रत्ययस्यापि भ्रान्तत्वेनान्यथासिद्धिप्रसङ्गः कथं वार्यः, तदवधारणे शिथिलमूलस्तर्कः कथं प्रवर्त्तेत। यथालोकव्यवस्थानं चाध्यक्षान्तरवत् संयोगस्यापि शब्दपाकजाद्यार्थक्रियास्थितेस्तदध्यक्षस्यापि प्रामाण्यसिद्धेर्न भ्रान्तत्वशङ्कावकाश इति।

कल्पलता- ननु द्रव्ययोरविरलदेशोत्पादनिबन्धना संयोगप्रतीतिर्यथा स एवायं गकार इति जात्यभेदालम्बना प्रतीतिर्न गकाराभेदमवलम्बते। तथा चानुपलम्भ एव चेत् संयोगस्य पदार्थान्तरवैधर्म्यं यत् संयोगबाधकं तत्प्रतीतिरप्रत्यूहेत्याशङ्कते शब्देति। तत्र यथा गत्वाभेदो विषयस्तथा संयुक्तप्रतीतौ संयोगातिरिक्तं न विषयो येनान्यथासिद्धिः स्यादविरलदेशोत्पादस्त्वतीन्द्रियो न तथा भवितुमर्हतीति परिहरति अनुभवस्येति। अनन्यथासिद्धस्याप्यनुभवस्य तिरस्कारे वह्नावौष्ण्यग्राहि प्रत्यक्षमप्यनौष्ण्यानुमानपरिपन्थि न भवेदित्यर्थः। न चेति। स एवायं गकार इति प्रत्यभिज्ञानस्य गत्वसामान्यवदित्यर्थः। एवम्भूतेति। अनन्यथासिद्धप्रत्यक्षस्य वस्त्वनुरोधातिक्रम इत्यर्थः। यद्विरुद्धधर्माध्यस्तं न तदेकं यथा गवाश्वमहिनकुलं विरुद्धधर्माध्यस्तश्चैकत्वेनाभिमन्यमानो घटादिरिति त्वदनुमतप्रतिबन्धप्रत्ययोऽपि भ्रान्त एव स्यादित्यर्थः। प्रतिबन्धप्रत्ययस्य भ्रान्तत्वे दण्डमाह तदवधारण इति। अध्यक्षान्तरवदिति। नीलाद्यध्यक्षवदित्यर्थः। नीलादीनामर्थक्रियास्थितेर्यदि व्यवस्थितिस्तदा प्रकृतेऽपि तुल्यमित्याह संयोगस्यापीति।

अस्तु तर्हि तद्देशत्वातद्देशत्वरूपो विरोधः। न, विरोधलक्षणाभावात्। न हि तद्देशसंसर्गविधौ नियमेन देशान्तरसंसर्गनिषेधः। तद्देशत्वतद-देशत्वयोस्तु स्यात्। तत्संसर्गस्तु केनेष्यते। अध्यक्षमेवैकसंसर्गपरिच्छेदकं तदभावव्यवच्छेदमुखेन तदन्यव्यवच्छेदफलमिमं विरोधमुद्गिरतीति चेत्, स्यादप्येवं, यदि नियमेनैकसंसृष्टस्यान्यसंसर्गं प्रतिक्षिपदध्यक्षमुदियात्, न त्वेतदस्ति। युगपदेकस्यानेकसंसर्गप्रवृत्तमध्यक्षमविशेषात् सर्वसंसर्गं वा प्रतिक्षिपेत्, न वा कमपि, स्वात्मानमेव वा, सर्वथा न विरोधं दीपयेत्, अन्ततः परमाणोरप्येकस्यानेकैः परमाणुभिः संसर्गस्वीकाराच्चेति।

कल्पलता- अतद्देशत्वमिति। तद्देशभिन्नदेशत्वं नञः पर्युदासार्थत्वमाश्रित्य यदि विवक्षितं तदा न विरोध इत्याह **विरोधेति।** विरोधाभावमेवाह **न हीति।** प्रसज्यप्रतिषेधार्थत्वे विरोधमभ्युपेत्य तदभावमाह **तद्देशत्वेति।** एतद्देशसंसृष्टोऽयमित्यध्यक्षं नैतद्देशासंसृष्ट इत्याकारेण जायमानं नैतद्देशभिन्नदेशसंसृष्ट इत्यपि फलतो विषयीकरोत्येवेति कथं न विरोध इति शङ्कते **अध्यक्षमेवेति।** एतादृशमध्यक्षमेव नोदेतीत्याह **स्यादपीति।** प्रत्युत प्रकृते विपरीतमध्यक्षमस्तीत्याह **युगपदिति।** तन्तुषु पट इत्यध्यक्षं तावदस्ति, तच्च यदि तन्त्वन्तरसंसर्गं प्रतिक्षिपेत् तन्तुमात्रसंसर्गमेव प्रतिक्षिपेत्। सर्वतन्तुषु संसर्गग्रहस्याविशेषात्। न वा कमपीत्यत्र प्रतिक्षिपेदित्यावृत्तेन सम्बन्धः। एवमग्रेपि। **आत्मानमिति।** नोत्पद्यतैवेत्यर्थः। **अन्तत इति।**

'षट्केन युगपद्योगात् परमाणोः षडंशता–' इति त्वदभ्युपगमादित्यर्थः।

एतेन वृत्तिविकल्पो निरस्तः, पमाणुवृत्त्याऽवयविवृत्तेस्तुल्य-योगक्षेमत्वात्।

कल्पलता- एतेनेति। अवयविनि सम्भवेनेत्यर्थः। **वृत्तिविकल्प इति।** अवयवी यद्येकस्मिन्नवयवे कार्त्स्न्येन वर्त्तते तदाऽवयवान्तरे न वर्त्तेतैव, एकत्रैव परिसमाप्तेः। नाप्येकदेशेन अवयवभिन्नस्यैकदेशस्याभावात्। तथा च न वर्त्तत इत्यायातम्। एवं संयोगविभागसामान्यादीनां प्रतिक्षेप इति *बौद्धाः*। अत्र प्रतिबन्दिमाह। **परमाण्विति।** परमाणौ संयोगलक्षणा वृत्तिरवयविनि तु समवाय इति विशेषः। एकत्रावयविनि कार्त्स्न्यैकदेशव्यवस्थैव नास्तीति न तद्विकल्पावसर इत्यग्रे स्फुटीभविष्यति।

अस्तु तर्हि चित्रे नीलानीलादिविरोधः। न हि तदेकं रूपं चित्रत्वविरोधात्। नाप्यनेकम्, एकावयविसमवायविरोधात्। न चानेकं व्यापकं, तथानुपलम्भविरोधात्। न चाव्यापकं, स्वाभावविदेशजातीयत्व विरोधात्। अन्यथा विरोधाविरोधव्यवस्थाविरोधात्। न चारूप एवावयवी, चाक्षुषत्वविरोधादिति चेन्न।

कल्पलता- चित्रः पटो गुणविरोधान्नैकः स्यादित्याक्षिपति **अस्त्विति। चित्रत्वेति।** नानाभूत एव वस्तुनि चित्रपदप्रयोगादित्यर्थः। **स्वाभावेति।** रूपादीनां व्याप्यवृत्तिजातीयत्वेनाव्याप्यवृत्तित्वविरोधादित्यर्थः। ननु यथा हरीतकी गुणविरोधेन

नीरसैव, तथा पटोऽपि नीरूप एव स्यादित्यत आह न चेति।

चित्रत्वं हि नानात्वं वा मिथोविरुद्धनानाजातिसमवायं वाऽभिप्रेत्य यदि एकत्वाभ्युपगमे विरोध उद्भाव्यते, तदैवमेतत्, न तु तथाऽभ्युपगमः। न खल्वनेकत्वं चित्रत्वम्, शुक्लेष्वप्यनेकेषु चित्रप्रत्ययप्रसङ्गात्। नाप्येकस्मिन् विरुद्धानेकजातिसमवायः, विरोधेनैव निराकृतत्वात्। अपि तु नीलत्वादिवच्चित्रत्वमपि जातिविशेष एव। स चावयववृत्तिविजातीय रूपसमाहाराभिव्यङ्ग्यत्वान्नैकरूपावयवसहितस्यावयविन उपलम्भेऽप्युप-लभ्यते। अत एव त्र्यणुके चित्रेऽपि चित्रप्रत्ययो न कदापि। तथाप्यचित्रे पार्श्वे चित्रप्रत्ययो मा भूत्, धवलप्रत्ययस्तु कुत इति चेत्, अवयवरूप-सञ्चारेणावयविनोऽपि तथा प्रत्ययात्। अत एव यत्रावयवरूपं न प्रत्यक्षं तत्र त्रसरेणावेतदपि नास्ति दृश्यमेव बाह्यालोकरूपमारोप्य पिञ्जर-स्त्रसरेणुरालोक्यते।

कल्पलता- चित्रः पट इति प्रतीतिर्न नानारूपावलम्बना, न वा नीलत्वपीतत्वविरुद्धनानाजात्याश्रयैकरूपालम्बना। किन्तु तच्चित्रत्वजाति मदेकचित्ररूपवदवयव्यालम्बनेति न विरोधगन्धोऽपीति परिहरति चित्रत्वं हीति। एवं तर्हि धवलैकपार्श्वावच्छेदेनोपलब्धेऽपि पटे चित्रप्रत्ययः स्यादित्यत आह स चेति। अत एवेति। तत्रावयवरूपस्य व्यञ्जकस्याग्रहादित्यर्थः। तर्हि तत्र पार्श्वे धवलप्रत्ययः कथम्, न हि तद्धवलं रूपमपि तु चित्रमिति शङ्कते तथापीति। तत्रावयविरूपं न गृह्यत एव, किं त्ववयवरूपमात्रमिति परिहरति अवयवेति। अत्रापि त्रसरेणुरूपं दृष्टान्तमाह अत एवेति। एतदपि नास्तीति। धवलादिप्रत्ययोऽपि नास्तीत्यर्थः। कीदृशी तर्हि त्रसरेणौ रूपप्रतिपत्तिरित्यत आह दृश्यमेवेति।

स्यादेतत्। यदि चित्रत्वं नाम जातिविशेषः। कथं तर्हि विरुद्धजातीयरूपसमाहारमात्रे चित्रत्वप्रत्यय इति चेत्, न वै नीलधवलारुणेषु पटेषु क्वचिदपि कार्बुरार्थश्चित्रप्रत्ययः कस्यापि। वैधर्म्यनिमित्तस्तु केन वार्यते? चित्रशब्दस्याक्षादिपदवदनेकार्थत्वात्। नीलपीतादिषु मिथः संसृष्टेष्वनारब्धद्रव्येष्वपि कर्बुरप्रत्ययो भवतीति चेत्, सत्यम्। द्रव्यान्तरोत्पादाभिमानात् स्थौल्यातिशयप्रत्ययवदुपपत्तेरिति।

कल्पलता- अनारब्धद्रव्येषु नीलधवलादितन्तुषु कथं न चित्रप्रत्यय इति शङ्कते **यदि चित्रत्वमिति**। तत्र चित्रत्वजातिनिबन्धनो न चित्रप्रत्ययः, किन्तु वैधर्म्यं यद्वैलक्षण्यं वैचित्र्यमिति यावत्, तन्निबन्धनमिति परिहरति **न वै इति**। तर्हि तत्र चित्रशब्दप्रयोगः कथमत आह **चित्रशब्दस्येति**। चित्रशब्दस्तावदनेकार्थो भवतु कर्बुरप्रत्ययशब्दौ कथमनारब्धद्रव्यस्थले समर्थनीयावित्याशङ्कते **नीलेति**। यथाऽनारब्धद्रव्ये धान्यराशौ स्थौल्यप्रत्ययशब्दौ द्रव्यान्तरारम्भभ्रमेण, तथा प्रकृतेऽपि कर्बुरप्रत्ययशब्दाविति परिहरति **सत्यमिति**।

अस्तु तर्हि परमाणुनिवृत्तेः सर्वविलोपः। तथाहि बहुभिः परमाणुभिः संसृज्यमानः परमाणुः प्रत्येकं किमेकदेशेन संयुज्यते, कार्त्स्न्येन वा, प्रकारान्तराभावात्। न प्रथमः, तस्यैकदेशाभावात्, भावे वा परमाणुत्वव्याघातात्। न द्वितीयः, परमाण्वन्तरेणासंसर्गप्रसङ्गात्। न ह्यस्ति सम्भवः, एकत्रैव परिसमाप्तवृत्तिरन्यत्रापि वर्त्तत इति।

कल्पलता- नन्ववयवी तदा भवेद्यदि तन्मूलकारणं परमाणुः स्यात्। स एव तु नास्तीति शङ्कते **अस्त्विति**। **सर्वविलोप इति**। बाह्यसर्वविलोप इत्यर्थः। विज्ञानवादी परमाणुनिराकरणयुक्तिमाह **तथाहीति**। विज्ञानवादिना परमाणुनिराकरणायोक्ता युक्तिरवयवनिराकरणेऽपीति भावः।

न, बुद्ध्या समानयोगक्षेमत्वात्। तथाहि, बुद्धिरपि सन्तमसन्तं वाऽनेकं विषयमालम्बमाना स्वाकारं वा बिभ्रती कार्त्स्न्येन वा, एकदेशेन वा। न प्रथमः, पीतादिविषयाकारविलोपप्रसङ्गात्। नह्यस्ति सम्भवो नील एव विषय आकारे व परिसमाप्तात्मा पीतादिसम्पृक्तात्मा चेति। न द्वितीयः, तदभावात्। एवमनाकारत्वमविषयत्वं च बुद्धेरिष्यत एवेति चेत्, तत् किं यत् प्रतिभासते तदसत् आहोस्वित् न प्रतिभासत एव किञ्चित्। नाद्यः, असत्यपि नीलपीतादौ ज्ञानवृत्तिविकल्पस्य तदवस्थत्वात्। न हि कृत्स्नमेव विज्ञानं नीलोल्लेखि, पीताद्यनुल्लेखप्रसङ्गात्। नापि तदेकदेशः, तदभावादित्युक्तत्वात्। न द्वितीयः, बाह्येऽपि वृत्तिविकल्पस्यानुपपत्तेरिति।

कल्पलता- सिद्धान्ती युक्तिमिमां विज्ञाननिराकरणेऽप्यतिदिशति **न बुद्ध्येति**। मतभेदेनाह **सन्तमसन्तमिति**। मतान्तरमाह **स्वाकारं वेति**। **पीतादीति**। पीतादिविषयाकारयोर्विलोपप्रसङ्गादित्यर्थः। **तदभावादिति**। बुद्धावेक-देशाभावादित्यर्थः। अत्र निराकारबुद्धिवादीष्टापत्तिमाह **एवमिति**। सविषयत्वं

बुद्धेर्द्रढयितुमाह तत्किमिति। असद्भानेऽपि विज्ञाने कात्स्न्यैकदेशविकल्पस्यापरीहारादित्याह असत्यपीति। वृत्तिविकल्पमेव विशदयति न हीति। बाह्येऽपीति। न चेत् कश्चित् प्रतिभासते तदा बाह्यं नास्त्येव, कुत्र वृत्तिविकल्पः स्यादित्यर्थः।

स्यादेतत्। निःशेषसमुदायी कृत्स्नशब्दस्यार्थः। समुदाये कश्चिदेव समुदाय्येकदेशपदार्थः। न च बुद्धिः समुदायस्वभावा, तस्या एकरूपत्वात्, तत् कुतः कृत्स्नैकदेशविकल्पोत्थानम्। कथं तर्हि तद्विषयिणी तदाकारवती वा? प्रकारान्तराभावादिति यदि, तदा स्वरूपेणेति ब्रूम इति चेत्, स्फुटं निरटङ्कि तार्किकवेदिकाविटङ्केन केवलमसभ्यमभ्यसूयता दूरङ्गत्वेति।

कल्पलता- अवयविनि वृत्तिविकल्पं निराकर्त्तुं बुद्धौ परस्य तन्निराकरणं शङ्कते स्यादेतदिति। एकस्या बुद्धेर्न समुदायत्वं न चैकदेशत्वमिति कुतस्तद्घटितो वृत्तिविकल्पोऽवकाशमासादयतीत्यर्थः। कथं तर्हीति। तद्विषयत्वं तदाकारत्वं वा कात्स्न्यैकदेशयोरन्यतरेण सम्भाव्यते, तच्चेन्नास्ति तदनुपपत्तिरित्याशङ्कार्थः। *बौद्ध* एव समाधत्ते स्वरूपेणेति। ब्रूम इति। तदेतत्तुल्यन्यायतया परिहरति स्फुटमिति। *तार्किकवेदिका* तार्किकाध्यापनस्थानं तत्र विटङ्को धूर्त्तः। दूरं गत्वा स्वदोषसमाधानावसरे।

एतेन तदतद्देशत्वं निरस्तम्। तथाहि बुद्धेर्नीलाकारतां परिच्छिन्ददध्यक्षं तदभावव्यवच्छेदमुखेन तदविनाभूतां पीताद्याकारतामपि व्यवच्छिन्द्यात्। तथा च कथमेका बुद्धिर्नीलपीताद्याकारा स्यादिति तुल्योऽनुयोगः। भवेदेवं यदि नीलाद्याकारतायाः पीताद्याकारत्वाभावाविनाभावः स्यात्। स एव तु कुतः, नीलपीताद्याकाराया बुद्धेरैकात्म्येनैव निश्चयात्। प्रत्याकारनियतत्वे चित्रप्रतिपत्तेरप्यनुपपत्तिरिति चेत्, तदेतत् तुल्यं परमाण्ववयव्यादिष्वपि। न हि तत्राप्यनेकपरमाणुसंसृष्टस्य परमाणोरनेकावयवसंसृष्टस्यावयविनो वा नैकात्मताऽनुभूयते। तथात्वे वा एकस्यानेकसंसर्गप्रतिपत्तिः कदापि न स्यादिति तुल्यैवार्थगतिः। वाचि वैचित्र्यं तु क्वोपयुज्यत इति।

कल्पलता- एतेनेति। बुद्धिप्रतिबन्दिद्वारेणेत्यर्थः। प्रतिबन्दिमेव स्फुटयति तथाहीति। परसमाधिं स्वमतसमाधानाय विशदयति भवेदप्येवमिति। यथाऽनेकविषयत्वमनेकाकारत्वं वा बुद्धौ स्फुटसिद्धं न दोषमावहति।

तथाऽनेकावयवाश्रितत्वमवयविनि बहुसंयोगित्वं च परमाणौ न दोषमावहतीत्याह तदेतदिति। तुल्यमिति। बौद्धकोटितुल्यतामेवाह न हीति।

संयोगव्यवस्थापनेनैव षट्केन युगपद्योगात् दिग्देशभेदाच्छाया-वृत्तिभ्यामित्यादयो निरस्ताः।

कल्पलता- परमाणौ बौद्धैर्यद्बाधकमुपन्यस्तं तद्दूषयितुमुपन्यस्यति संयोगेति।

षट्केन युगपद्योगात् परमाणोः षडंशता।
दिग्देशभेदतश्छायावृत्तिभ्यां चापि सांशता।। इति।

बौद्धकारिकार्थस्तु एकस्य परमाणोर्दिक्चतुष्टयवर्त्तिनश्चत्वारः परमाणव उपर्यधश्च द्वौ परमाणू, तदेवं षट्केन युगपत् एककालं योगात् षडवयवाः परमाणोः प्राप्ताः। न हि यदवच्छेदेनैकपरमाणुसंयोगस्तदवच्छेदेनैवा परपरमाणुसंयोगो मूर्तानां समानदेशताविरोधात्। किं च प्राच्यः परमाणुः प्रतीच्यः परमाणुरिति व्यपदेशोऽस्ति। स च सावयवानामेव दृष्टः। किं च परमाणुना च्छायाऽवश्यं जननीया, किं चावरणं जननीयम्। तदुभयं सावयवानामेव दृष्टमतः परमाणुः सावयव इति सिद्धम्।

तदेतदनुपपन्नम्, संयोगस्तत्तद्दिगवच्छेदेन, न तु परमाण्ववच्छेदेन। प्रमाणाभावात्। अव्याप्यवृत्तितापि तत्तद्दिगवच्छिन्नात्यन्ताभावसामानाधिकरण्यादेव। दिग्देशभेदोऽप्येतद्दिग्वर्त्तिताधीनः, न तु सावयवत्वाधीनः। छायाजनकत्वमावरकत्वं च मूर्त्तत्वप्रयुक्तं, न तु सावयवत्वप्रयुक्तम्। वस्तुतस्तूभयत्र प्रमाणाभाव एवेति भावः।

परमाणुसिद्ध्यसिद्धिभ्यामेव मूर्त्तत्वादयो निरवकाशिताः। आकाशव्यतिभेदादयस्त्वसम्भाविता एव।

कल्पलता- ननु परमाणवः सावयवाः मूर्त्तत्वादवयवत्वाद्रूपवत्त्वात् स्पर्शवत्त्वादित्यादौ को दोष इत्यत आह परमाण्विति। न त्वारोप एवेत्यर्थः।

नन्वाकाशं परमाणुमध्ये वर्त्तते न वा? आद्ये सावयवत्वं परमाणोः सिद्धम्। अन्त्ये चाकाशस्य सर्वगतत्वमसिद्धमत आह आकाशेति। मध्याभावादेव तदनुपपत्तिरित्यर्थः। आदिपदाद्गतिमत्त्वादयः सङ्गृहीताः।

सर्वत्र चात्र हेतुदशायां प्रतिज्ञापदयोर्व्याघात:, कालात्ययापदेशश्च। प्रसङ्गदशायामाश्रयासिद्धिर्व्याप्त्यसिद्धिश्च, दृष्टान्तासिद्धे:। अनवस्थालक्षणविपरीततर्कस्य तदुपष्टम्भकतया त्रुटेरमेयत्वप्रसङ्गस्य च विद्यमानत्वात्।

कल्पलता- सर्वत्रेति। निरवयवद्रव्यत्वं परमाणुत्त्वम्। तच्च सावयवत्वेन व्याहतम्। धर्मिग्राहकमानबाधमाह कालेति। ननु यदि परमाणुर्निरवयव: स्यात् मूर्त्तो न स्यात्, षट्केन युगपद्युक्तो न स्यात्, आवरको न स्यादित्यादौ किं दूषणमत आह प्रसङ्गेति। कुतो व्याप्त्यसिद्धिरत आह दृष्टान्तेति। परमाणुनिवृत्तौ सर्वविलोपस्य त्वयैवोक्तत्वेनान्वयिनो व्यतिरेकिणो वा दृष्टान्तस्यासिद्धे: कुत्र व्याप्तिग्रह इत्यर्थ:। यद्वा मूर्त्तश्चासौ तस्मान्न निरवयव इत्युपसंहारस्थानस्य दृष्टान्तस्याभावाद्विपर्ययापर्यवसानमवयविनस्त्वयाऽनभ्युपगमादिति हृद्यम्। परमाण्ववयवकल्पनायामनवस्था, अनन्तावयवारब्धत्वेन मेरुसर्षपयोस्तुल्य-परिमाणत्वापत्तिश्चेत्याह अनवस्थेति। त्रुटिस्त्रसरेणु:, तस्यामेयत्वं परिदृश्यमानपरिमाणरहितत्वं, तदधिकपरिमाणवत्त्वं वा, तदवयवस्यापि महत्त्वं तदवयवस्य प्रत्यक्षत्वं वा, अनन्तावयवारब्धत्वेन मेरुपरिमाणतुल्यपरिमाणवत्त्वं वाऽऽपाद्यम्।

न च प्रलय:, परमाणो: असत्त्वसाधकस्य प्रमाणस्याभावात्। सावयवत्वापादकानां च हेतूनामनवस्थोत्थापकत्वादिति। तदन्य एवायं परमाणू रक्तबीजो यस्य भागा युक्तिचामुण्डोदरमपि भित्वा निष्पतन्तीति।

कल्पलता- ननु परमाणोरपि विनाश एवास्तु, तथापि त्वदभ्युपगतहानिरित्यत आह न चेति। असत्त्वसाधकस्य ध्वंससाधकस्य समवाय्यसमवायिनाशरूपस्य प्रमाणस्याभावादित्यर्थ:। ननु परमाणो: सावयवत्त्वादेतद्विनाशकौ स्वीक्रियेतामत आह-सावयवत्वादेवेति। तदन्य एवेति। परमाणो: सावयवत्त्वसाधिका युक्तिरेव चामुण्डा, तथा च यथा यथा तदवयवसाधनं तथा तथा परमाणुसिद्धिरित्यर्थ:।

न च कल्पिताश्रया: कल्पितप्रतिबन्धाश्च प्रसङ्गा भविष्यन्तीति युक्तम्। स्वे इच्छाकल्पितेन व्यवहारेण सर्वविधिनिषेध व्यवहारविलोपप्रसङ्गात्। लोकव्यवस्थापेक्षणे तु तद्विरोधेनोत्तरस्य निषेध(क) स्यात्मलाभाभावादित्यसकृदावेदितत्वात्।

कल्पलता- नन्वसत्ख्यात्युपनीतपरमाण्वाश्रया एव प्रसङ्गाः सावयवत्वसाधकाः स्युरित्यत आह न चेति। तथा सति किमपि न सिद्ध्येदित्यत आह इच्छेति। ननु न विधिनिषेधव्यवहारविलोपो यथालोकव्यवहारं तयोरिष्यमाणत्वादित्यत आह लोकेति। एवं सत्यवयविसंयोगादिनिषेधकं यत्तत्सर्वं जात्युत्तरमतः स्वव्याघातकत्वात्तस्यात्मलाभ एव नास्तीत्यर्थः।

अन्यथा सर्वमेतद्बुद्धावपि समानम्। सापि हि षट्केन युगपद्योगादिभिः सावयवा प्रसज्येत। तस्यामसिद्धास्त इति चेन्न, अनुमानसिद्धत्वात्। तथाहि बुद्धिः षट्केन युगपद्योगिनी मूर्त्तिमती च, सत्त्वाद् व्यवहर्त्तव्यत्वाद्वा बोध्यवदिति शक्यते। विपर्ययस्यापि धर्मिग्राहकमानसाधितत्वादनवकाशमिदमिति चेत्, एवमन्यत्रापि प्रतिसन्दधीथा इत्येषा दिक्।

कल्पलता- अन्यथेति। यदि जात्युत्तरमपि प्रतिषेधकमित्यर्थः। उत्तराभासत्वमेव दर्शयति सापि हीति। बोध्यवदिति। अवयव्यादिवदित्यर्थः। विपर्ययस्येति। बुद्धौ षट्कयोगित्वविपर्ययस्य मूर्त्तिमत्त्वविपर्ययस्य चेत्यर्थः।

अन्यस्तु चक्षुषी निमील्य निर्भयीभवितुमिच्छन्नाह, अस्तु तर्हि बुद्धेरपि विलोप इति।

कल्पलता- निर्भयीभवितुमिति। बुद्धिप्रतिबन्ध्या वृत्तिविकल्पादिकं परेणोद्ध्रियते, बुद्धेरनभ्युपगमे मम कुतो भयमित्यर्थः।

अत्र तु किं वक्तव्यं यत्र हेत्वादिव्यवहारो नास्ति। अस्तु परं साम्वृत इति चेत्, भवेदेवं यदि सम्वृतिरपि परमार्थसती स्यात्। अन्यथा तु यथा न वास्तवस्तथा न साम्वृतोऽपि। सम्वृतिरपि सम्वृतिसतीति चेत्, अस्या अप्यसत्त्वे न किञ्चिदधिकमुक्तम्। परसम्वृतेस्तु परमार्थसत्त्वस्वीकारे सैव बुद्धिरपरिहेयेति। सती च बाधकवती चेति सम्वृतिसती चेति चेत्, सत्येव यदि तत् कथं बाधकम्। तथा चेत्, कथं तदालीढस्य सत्त्वमिति।

कल्पलता- हेत्वादिव्यवहार इति। व्यवहारस्य बुद्ध्यधीनत्वेन बुद्धेरभावे हेतुपक्षदृष्टान्तादीनामभावाद् बुद्धिविलोपः कथं साध्य इत्यर्थः। पारमार्थिको हेत्वादिव्यवहारो जगतः शून्यतां विहन्ति, न तु साम्वृतोऽपीत्याह अस्त्विति। साम्वृतत्वमपि सत्या सम्वृत्या निर्वहेन्न त्वसत्येत्याह भवेदिति। परसम्वृतेरिति।

चरमा सम्वृतिर्यदि परमार्थसती तदापि न शून्यता, तस्या एव बुद्धेः सत्त्वात्। ननु चरमापि बुद्धिः सती, परं तु विविच्यमाना सापि बाध्येत्याह सती चेति। तदलीढस्येति। बाधकाक्रान्तस्येत्यर्थः।

दृश्यते तावदेवमिति चेत्, सत्त्वैकार्थसमवायिनो बाधकत्वमेव तर्हि हेयम्। बाधकैकार्थसमवायिनः सत्त्वमेव किन्न हीयत इति चेन्न। बाधकस्यापि त्यागप्रसङ्गात्। उभयमप्यवर्जनीयमेव तर्हि। एवमेतत्। मिथो विरोधस्तु हेयः। न हि विरुद्धयोरेकार्थसमवायस्तथाभूतयोर्वा विरोधः शक्य उपपादयितुमृते स्वसमयात्। न च विचारावसरे स्वसमयावतार इति। यथा यथा च बुद्धिनिवारणाय यत्नस्तथा तथोज्वलः प्रकाशः। तन्निवारणमपि बोद्धव्यमेवेति। तदेतदायातं प्रदीपान्तरेण प्रदीपं निर्वाप्य तिमिरापादनमिति।

कल्पलता- दृश्यत इति। आपाततो यत्र बाधकं नोदेति तदपि सत्त्वेन व्यवह्रियत इत्यर्थः। यदि सत्त्वं तदा क्रमेणापि स्फुरद्बाधकं बाधकाभासमेवेत्याह सत्त्वैकार्थेति। वैपरीत्यमेव किन्न स्यादित्यत आह बाधकैकार्थेति। बाधकेति। सर्वसत्त्वत्यागे बाधकसत्तापि न भवेदित्यायाता पूर्णतेत्यर्थः। उभयमपीति। सत्त्वं बाधकवत्त्वं चेत्यर्थः। मिथो विरोध इति। असमावेशो हेय इत्यर्थः। समयः परिभाषा। नन्वस्मत्परिभाषयैव सत्त्वबाधकसत्त्वयोः समावेशः स्यादित्यत आह न हीति। बुद्धिनिराकरणस्यापि बोद्धव्यतया कथं बुद्धिनिरास इत्यर्थः।

एतेन हेतुफलभावानुपपत्तेः सर्वविलोप इति निरस्तम्। तन्निराकरणप्रयासस्य साफल्यवैफल्याभ्यां तन्निराकरणानुपपत्तेः। सत्कार्यदूषणस्येष्टत्वात्। असत्कार्यदूषणस्य च प्रत्यक्षबाधितत्वात्। तत्प्रतिपादनस्यासत एवोत्पत्तावनैकान्तिकत्वात्। सत्त्वे वा प्रयास-वैफल्यादिति।

कल्पलता- एतेनेति। बुद्धिनिराकरणव्यवस्थापनेनेत्यर्थः। हेतुफलभावे सत्यवयविनः कार्यत्वस्य तन्मूलकारणपरमाणोश्च सिद्धिः स्यात्। स एव तु नास्ति, एवं च कारणाधीनोत्पत्तिका बुद्धिरपि नास्तीति सर्वविलोप इत्यर्थः। तन्निराकरणेति। हेतुफलभावनिराकरणं यदि सफलं तदा सिद्ध एव हेतुफलभावः। अथ निष्फलं तदा तन्निराकरणप्रयासो विफल एवेत्यर्थः। ननु सत एव घटादेर्नोत्पत्तिः सत्त्वादेवेति यदि हेतुफलभावो दूष्यते तदऽस्मदभिमतमेव। अथासन्नपि

घटादिर्नोत्पद्यते, असत्त्वाविशेषेण घट एव दण्डादेरुत्पद्यते न तु पट इति। तन्नियमानुपपत्तिरिति हेतुफलभावं दूषयसि, तदा प्रत्यक्षबाधः। न हि घटोत्पत्तेः पूर्वं केनापि घट उपलभ्यते। नियमस्तु कारणस्वाभाव्याधीनो न नियोक्तुं पर्यनुयोक्तुमर्हतीत्यर्थः। किञ्च घटो नोत्पद्यतेऽसत्त्वादिति दूषणप्रतिपादने हेतुफलभावनिराकरणप्रतिपादने चानैकान्तिकमित्याह तत्प्रतिपादनस्येति। यदि च तत्प्रतिपादनमपि पूर्वं सदेव तदा तदर्थं तवायं प्रयासो विफल इत्यर्थः।

स्यादेतत्। मा भूवन्नेतानि दूषणान्यवयविनि, अनुपलम्भस्तु स्यात्। न हि परमाणुसञ्चयादपरं किञ्चिदुपलभ्यत इति चेत्, वैलक्ष्य विष्टम्भिकेयम्, स्थूलैकानुभवस्य सर्वजनसिद्धत्वात्।

विकल्पमात्रं तदिति चेन्न। स्पष्टप्रतिभासत्वात्। औपाधिकमस्य स्पष्टत्वमिति चेत्, तथाभूतानुभवमन्तरेणोपाधेरप्यभावात्। अन्यथा नीलादिविकल्पानामपि तथैव स्पष्टत्वोपपत्तौ सर्वप्रत्यक्षोच्छेदप्रसङ्गात्। गृहीतनिश्चित एवार्थे प्रत्यक्षप्रामाण्यात्। निश्चयोपप्लवे तस्याप्युपप्लवादिति।

कल्पलता- वैलक्ष्येति। पराजयेन लज्जितस्य तव जृम्भणमित्यर्थः। इदमेकं स्थूलमित्यन्यथासिद्धेन प्रत्यक्षेणैवावयविन उपलम्भात् क्वानुपलम्भ इत्याह **स्थूलैकेति।**

विकल्पमात्रमिति। सविकल्पकं तत्, तन्न प्रमाणम्, निर्विकल्पकं च तथा नास्तीत्यर्थः। **स्पष्टेति।** साक्षात्कारित्वादित्यर्थः। **औपाधिकमिति।** अतो न त(त्त) दधीना वस्तुव्यवस्थितिरित्यर्थः। तत्रोपाधिरपि निर्विकल्पकमेव। तथा च सिद्धं तत्प्रामाण्यमित्याह **तथाभूतेति।** अनुभवो निर्विकल्पकम्। विपक्षे दण्डमाह **अन्यथेति।** गृहीतनिश्चिते निर्विकल्पकसविकल्पकविषये। **तस्यापीति।** निर्विकल्पकस्यापीत्यर्थः। निश्चयमात्रप्रमाणकत्वात्तस्येति भावः।

न च परमाणव एव स्थूलाः, तत्त्वव्याघातात्। न च तत्समुदायस्तथा, तस्य समुदितस्थानस्य त्वयाऽनभ्युपगमात्। अभ्युपगमे वाऽवयविना किमपराद्धम्। न च समुदिता एव तथा प्रतिभासितुमर्हन्ति, तेषां प्रत्येकमस्थूलत्वात्। न च नानादिग्देशव्यापितैव स्थौल्यम्, परमाणुषु प्रत्येकमसम्भवात्। न च नानात्वैकार्थसमवायिन्येव सा स्थौल्यमिति साम्प्रतम्, स्थूल एक इति प्रत्ययनियमात्।

कल्पलता- तत्त्वव्याघातात् परमाणुत्वव्याघातादित्यर्थ;। अभ्युपगम इति। समुदायस्यैव व्यासज्यवृत्तिताभ्युपगमादित्यर्थः। समुदिता एवेति। परमाणव इत्यर्थः। ननु स्थौल्यं न परिमाणविशेषः, किन्तु परमाणूनामेव नानादिग्देशव्यापिता, सैव स्थौल्यमित्यत आह न चेति। सापि प्रत्येकं परमाणूनां न सम्भवतीत्यर्थः। सेति। नानादिग्देशव्यापितेत्यर्थः। स्थूल इति। तथा सत्येकत्व-सामानाधिकरण्यानुपपत्तिरित्यर्थः।

न च भागेष्वेवारोपितेनैकत्वेनेदमुपपत्तिमत्, तदसम्भवात्। न हि करचरणचिबुकनासिकादिपरमाणूनामैक्यं कश्चित् क्वचिदारोपयति। न च तेषु भेदेन प्रथमानेषु न स्थूलप्रत्ययः। न च तत्त्वे स्फुरत्येव तद्विपरीतातत्त्वसमारोपसम्भवः।

कल्पलता- भागेषु परमाणुषु। इदमिति एकत्वसामानाधिकरण्यमित्यर्थः। अवयवेषु भिन्नतयाऽनुभूयमानेष्वेकत्वारोपो न सम्भवतीत्याह न हीति। ननु यदि तत्र नैकत्वारोपस्तदा स्थूलप्रत्ययोऽपि न तत्रेत्यत आह न चेति। ननु करचरणादीनामनेकत्वेन ज्ञानेऽप्येकत्वमारोप्यतां को दोष इत्यत् आह न चेति।

अपि चैवमेकपरमाण्वात्मना परमाणुकोटिरप्यारोपिता परमाणुमात्रतयैव परिस्फुरेत्, न स्थूलतया। न च नानादिग्देशव्यापित्वस्यैष महिमेति साम्प्रतम्, विरोधात्। यदि हि नानादिक्काः परमाणवो देशतयाऽवभासेरन् नैकतया देशितया चारोप्येरन्। तथा च कस्य नानादिग्देशव्यापिता, देशिनोऽपरिस्फूर्तेः। अथ तथात्वेनारोप्येरन्? न नानात्वेन देशत्वेन वाऽवभासेरन्। तथा च कस्य नानादिग्देशव्यापिता, देशिनोऽपरिस्फूर्तेः। तस्मादेकत्वारोपे परमाणुमात्रावभास एव स्यादिति।

कल्पलता- किञ्चान्यत्राननुभूतं स्थौल्यं परमाणुषु कथमारोप्यतामित्यत आह अपि चेति। ननूक्तं स्थौल्यं न परिमाणभेदोऽपि तु नानादिग्देशव्यापितैव तदित्यत आह न चेति। एष महिमेति। स्थौल्यप्रतीतिविषयत्वमहिमेत्यर्थः। विरोधमेव स्फुटयति यदि हीति। परमाणूनामाधारतया स्फुरणे सति नाधेयतया स्फुरणम्। आधेयतयैव स्फुरणे नाधारतया स्फुरणं स्यात्। तथा चैकत्वं स्थौल्यं च कुत्रारोप्येत, आरोपविषयानुपस्थितेरित्यर्थः। परमाणुमात्रतावभास एव स्यान्न तु स्थौल्यावभास इति शेषः।

एवं तर्ह्यनारब्धद्रव्यराशिषु का वार्त्तेति चेत्, न तावद्देशव्याप्तिसाम्येन

तावत्परिमाणद्रव्यत्वारोपः। न चेहापि तथा स्यात्, अन्यत्राप्यसिद्धेः। न चासन्नेवैकः स्थूलः परिस्फुरति, बाधकानामपास्तत्वात्।

कल्पलता- एवं तर्हीति। यद्यनेकेषु न स्थौल्यारोप इत्यर्थः। तावद्देशेति। अन्यत्र प्रतीतस्य स्थौल्यस्य प्रत्यक्षे सम्भवत्यारोपो न तत् त्वत्पक्ष इत्यर्थः। इहापीति। त्वत्पक्षेऽपीत्यर्थः। नन्वसत्ख्यात्युपनीतमेकत्वं स्थौल्यं न भासतामत आह न चेति। बाधकानामिति। अवयविनि बाधकानां रक्तारक्तविरोधानाम-पास्तत्वादित्यर्थः।

एतेन प्रतिभासधर्मोऽपि निरस्तः। सोऽपि ह्यसन् बौद्धो वास्तवो वेति त्रयीं गतिं नातिवर्त्तत इति।

कल्पलता- एतेनेति। अवयविनि बाधकनिरासेनैवेत्यर्थः। प्रतिभासधर्म इति। प्रतिभास एवानेकधर्मगोचरः स्थूलाकार उत्पद्यत इत्यर्थः। सोऽपीति। प्रतिभासाकारो यद्यसन् कथं भासेत्, बुद्ध्यन्तराधीनश्चेदनवस्था, वास्तवश्चेत्तदा विषयस्य ताद्रूप्यमन्तरेण तादृशज्ञानाकारानुपपत्त्या, सिद्धं स्थौल्यमित्यर्थः। अन्यथा नीलादिकमपि प्रतिभासधर्म एव स्यादिति भावः।

अतीन्द्रियाश्च प्रत्येकमणवः कथं मिलिता अपि दृश्येरन्, अतीन्द्रियसमूहस्याप्यतीन्द्रियत्वात्। विशिष्टोत्पादादैन्द्रियकत्वमिति चेत्, किमद्यापि स्वप्ने हस्तं प्रसारयसि।

कल्पलता- पूर्वं परमाणुसमूहस्य प्रत्यक्षतामुपगम्योक्तमिदानीं तदपि नास्तीत्याह अतीन्द्रिया इति। विशिष्टोत्पादादिति। इन्द्रियग्रहण-योग्योत्पादादित्यर्थः। विशिष्टोत्पादे क्षणभङ्गो मूलम्, स च निराकृत एवेत्याह किमद्यापीति।

अस्तु वैवम्, तथापि क्षणभेदाज्जातिभेदो निराकृतः, जातिसङ्करप्रसङ्गात्। तदभेदेन तूत्पादेऽपि तद्वा तादृग्वेति तत्त्वदृशा न कश्चिद्विशेषः।

कल्पलता- तथा चोत्पादमङ्गीकृत्याह अस्तु वेति। ऐन्द्रियकत्वावच्छेदिका परमाणुषु कुर्वद्रूपत्वं जातिस्तावन्नास्ति। जातिसङ्करापादनेन पूर्वमेव निराकरणात्। जात्यभेदे तु य एव परमाणवः पूर्वमतीन्द्रिया आसन् त एवाग्रे ऐन्द्रियकाः स्युरन्त्ये वा न कश्चिद्विशेषः। तथा च सञ्चितानामप्यतीन्द्रियत्वमसञ्चितानामपि

क्वचिदैन्द्रियकत्वमित्यनियमः स्यादिति भावः।

भवतु वा जातिविशेषोऽपि, तथापि स्थूलत्वमेवैन्द्रियकत्वं प्रति प्रयोजकं मन्तव्यम्। अन्यथा स्थूलतामनाप्नुवन्नेकोऽपि परमाणुः कदापि तथोत्पन्नः प्रत्यक्षतामियात्। नियमेन तु तद्विपरीतस्य प्रत्यक्षता तथाविधस्याप्रत्यक्षतायामेव विश्राम्यति, अन्वयव्यतिरेकफलत्वाद्धेतुफलभावस्य।

कल्पलता- ननु वैजात्यमेव तथोत्पादप्रयोजकमिति कुतोऽयमनियम इत्यत आह भवतु वेति। अन्वयव्यतिरेकाभ्यां स्थौल्यस्य परिमाणविशेषस्य प्रत्यक्षज्ञानकारणत्वावधारणादिति सञ्चितानामपि क्वचित्प्रत्यक्षत्वं न स्यादित्यर्थः।

न च सञ्चिता अपि स्थूलतयोत्पन्नाः। न च बहुत्वमेव स्थौल्यं तद्विपर्यय एव सूक्ष्मता,विततदेशानामपि प्रत्यक्षत्वप्रसङ्गात्। नैरन्तर्यमपि विवक्षितमिति चेन्न। तस्य प्रकृतेऽप्यसम्भवात्, रूपपरमाणूनां रसादिपरमाणुभिरन्तरितत्वात्। न चारोप्यते नैरन्तर्यम्, इतरेतराश्रयप्रसङ्गात्। नैरन्तर्यारोपे तेषां स्थूलानां ग्रहणं तद्ग्रहणे च सति नैरन्तर्यारोप इति। तस्मादैन्द्रियकत्वे स्थूलतायाः प्रयोजकत्वात् अप्रयोजकत्वे विततदेशानामपि प्रत्यक्षत्वप्रसङ्गात्। तेषां च प्रत्येकमस्थूलत्वादतीन्द्रिया एव परमाणवः। तथा च सर्वाग्रहणमवयव्यसिद्धेरिति। (न्यायसूत्रम् २।१।३५।)

कल्पलता- नैरन्तर्यमपीति। निरन्तरा बहवः परमाणव एव स्थूलप्रत्ययविषया इत्यर्थः। रूपेति। त्वन्मते रूपरसगन्धस्पर्शपरमाणुभिरन्तरिताः पृथिव्यप्तेजोवायुपरमाणव एव एकं द्रव्यमेवाष्टद्रव्यकोऽणवः शब्द इति सिद्धान्तादित्यर्थः। ननु परमाणुषु नैरन्तर्यमारोप्य स्थौल्यारोपः स्यात्, को दोष इत्यत आह न चेति। अन्योन्याश्रयमेव स्फुटयति नैरन्तर्येति। स्थौल्यस्य प्रत्यक्षकारणत्वमुपसंहरति। तस्मादिति *पारमर्षेण* सूत्रेण स्वोक्तां युक्तिं द्रढयति तथा चेति। सर्वाग्रहणमवयव्यसिद्धेरिति। (न्या.सू. २।१।३५।) सूत्रमिति शेषः।

अस्तु तर्हि क्षणमात्रस्थायी स्थूलोऽर्थ इति चेन्न। भागभागिनोर्युगपदुपलम्भबाधितत्वात्। घटपटादिभङ्गे तन्तुकपालादीनामुत्पादे समानोपादानतया सप्रतिघत्वव्याघाताच्चेति।

कल्पलता- निराकृतमपि। युक्त्यन्तरमभिधातुं प्रस्तौति अस्त्विति।

भागभागिनोरिति। स्वोपादानसमानकालीनतयाऽवयविन उपलम्भः न क्षणिकताबाधक इत्यर्थः। दूषणान्तरमाह **घटपटादीति**। उत्पत्त्यग्रिमक्षण एव यो घटो नष्टस्तं प्रति कपालमाला तावदुपादानम्। तत्र विसभागसन्तानस्य त्वयाऽभ्युपगमात्। सैव च कपालमाला अग्रिमकपालमालां प्रत्युपादानकारणम्। तत्र सभागसन्तानस्य त्वयाऽभ्युपगमात्। तथा चैकैव कपालमाला घटं कपालमालां चाग्रेतनीं प्रत्युपादानमिति मूर्त्तानां समानदेशताविरोध इत्यर्थः। घटपटादिभङ्गाभिधानं तन्तुकपालमालास्फोरणार्थम्। स्थैर्यपक्षे तु सभागसन्तानव्यवस्थैव नास्तीति नायं दोष इति भावः। अपव्याख्यानमन्यत्।

सोऽयमधिकरणसिद्धान्तन्यायेन स्थूलत्वसिद्धौ क्षणभङ्गभङ्गः।

कल्पलता- सोऽयमिति। स्थौल्यं सिद्ध्यत् स्थैर्यमादायैव सिद्ध्यति, अवयवावयविनोर्युगपदुपलम्भे स्थौल्योपलम्भ एव स्थैर्योपलम्भपर्यवसन्न इत्यर्थः। ननु पक्षधर्मताबललभ्योऽर्थोऽधिकरणसिद्धान्तः, प्रकृते च स्थौल्यप्रत्यक्षं व्यवस्थापितमत आह **अधिकरणसिद्धान्तन्यायेनेति**। यत्सिद्धावन्यसिद्धिरेतावता तुल्यनायेनेति भावः।

एतेन यत् सत् तन्निरवयवं यथा विज्ञानं संश्च विवादास्पदीभूतो घटादिरिति निरस्तम्। विपर्यये बाधकाभावेन व्याप्त्यसिद्धेः। यत्सत् तत्सावयवं यथा घटः, सच्च विज्ञानमिति *चार्वाक*परिवर्त्तस्याप्य-वकाशाच्च। समो वा समाधिः।

कल्पलता- एतेनेति। स्थौल्यव्यवस्थापनेनेत्यर्थः। **विपर्यय इति**। सदपि स्यान्न तु निरवयवमित्यत्र बाधकं नास्तीत्यर्थः। **समो वेति**। एतस्यासाधकत्वे त्वदनुमानमपि न साधकम्, उभयत्राप्यनुकूलतर्काभावादित्यर्थः।

ननु निरवयवमेव विज्ञानं स्वसम्विदितरूपम्। घटस्य च सावयवतायामद्यापि विवाद एव। तत् कथं परिवर्त्तः कथं वा समः समाधिरिति चेत्, शुष्कविवादस्य विज्ञानेऽपि दुर्वारत्वात्। न हि कश्चित् कण्ठौष्ठपार्श्वजठरादिपरिहीनं पिठरमनुभवति। अस्तु वा सत्त्वात् सप्रतिघत्वसिद्धिर्बुद्धावप्रतिघत्वं वा घटादाविति।

कल्पलता- ननु सत्त्वस्य सावयवत्वसाधकस्य विज्ञान एव व्यभिचार इति कुतः साम्यमिति शङ्कते **नन्विति**। त्वदभिमतस्य निरवयवत्वसाधकस्य

सत्त्वस्यापि घट एव व्यभिचार इत्यभिप्रायेणाह शुष्केति। परानुमाने बाधमाह न हि कश्चिदिति। प्रकृतेऽप्रयोजकतां दर्शयितुमप्रयोजकान्तरं दर्शयति अस्तु वेति। सप्रतिघत्त्वं मूर्तत्त्वम्।

अपि च स्वतन्त्रसाधनमिदं प्रसङ्गो वा। न प्रथमः, घटादिशब्देन स्थूलेतराणां रूपादीनां परमाणूनां वा पक्षीकरणे सिद्धसाधनात्। स्थूलमेकमभ्युपगम्य पक्षविधौ कालात्ययापदेशात्। अनभ्युपगमे त्वाश्रयासिद्धेरिति। ननु प्रामाणिकेऽभ्युपगमे बाधः स्यात्। सर्वथाऽनभ्युपगमे चाश्रयासिद्धिः स्यात्। न चैवमत्रेति चेत्, तदेतन्नभःस्थलकमल परिमलसाधनस्यापि साश्रयतामापादयदाश्रयसिद्धिदोषमोषायेत्यलमनेन।

कल्पलता- स्वतन्त्रसाधनमिति। घटो निरवयवः सत्त्वात्, विज्ञानवदिति साधनमित्यर्थः। प्रसङ्गो वेति। यदीदं सत्स्यान्निरवयवं स्यादिति तर्क इत्यर्थः। अत्र परमाणुपक्षत्त्वे सिद्धसाधनमवयविपक्षत्वे बाधः, स्थूलास्वीकारे त्वाश्रयासिद्धिरित्याह घटादीति। स्थूलत्वेनाभ्युपगतस्यैव पक्षत्त्वम्। न च बाधः, तस्य सावयवत्वेन प्रमाविरहात्। न चाश्रयासिद्धिराश्रयस्याभ्युपगतत्वादित्याशङ्कते नन्विति। तर्हि गगनारविन्दं सुरभीत्यत्राप्याश्रयासिद्धिर्न स्यात् असत्ख्यात्याऽ-न्यथाख्यात्या वा तदुपस्थितेरित्याह तदेतदिति।

पर्वतादिवल्लोकप्रतीतिसिद्धान् घटादीनुपादाय निरवयवत्वानुमानं स्यात्। अन्यथा ब्रह्मविवर्त्तादिविप्रतिपत्तिविहततया दहनानुमानमपि पर्वतादौ न स्यादिति चेन्नैवम्, अविरोधात्। न हि ब्रह्मविवर्त्तादिसिद्धावप्याश्रयाद-योऽन्यप्रकाराः सम्भवन्ति। तथाहि, सर्वत्र स्वप्नपर्वते स्वप्नधूमेन स्वप्नवह्निरेव साध्यते। केवलं साम्वृतेऽपि व्यवहारे सत्यानृतव्यवस्थाऽस्तीति तस्यां निर्भरः कर्त्तव्यः। इह तु घटादिव्यपदेशेन स्थूल एव यदि पक्षीकृतः, कथं निरवयवत्वेन साध्येन न विरोधः।

कल्पलता- ननु पर्वतोऽग्निमानित्यादावपि पर्वतपदार्थापरिच्छेदनिबन्धना दोषाः प्रसज्येरन्नित्याशङ्कते पर्वतादिवदिति। ब्रह्मपरिणामपक्षो वा, विवर्त्तपक्षो वा, सर्वत्र पर्वतस्तद्रूप एव न त्वपर्वत इति। तत्र नाश्रयासिद्धिरित्याह नैवमिति। पर्वते ब्रह्मविवर्त्ते तादृशेनैव धूमेन तादृश एव वह्निः साध्यत इति न विरोध इत्यर्थः। अत्रानुरूपमुदाहरति स्वप्नेति। प्रकृते वैषम्यमित्याह इह त्विति। घट इति पदं स्थूलवाचकं परमाणुवाचकं वेति विकल्पतः कथं बाधसिद्धसाधने न

स्यातामित्यर्थः।

अथ परमाणुरेव, कथं न सिद्धसाधनम्। विप्रतिपन्नं प्रति न तथेति चेत्, न वै कश्चित् परमाणूनां निरवयवत्वे विप्रतिपद्यते। लोकव्यामोहनिबर्हणाय साधनमिति चेत्, तथापि यं लोकः स्थूलमेकमुपलब्धवान् तस्य पक्षत्वे विरोध एव। ततोऽन्यस्य पक्षत्वे सिद्धसाधनमेव। एकः स्थूलोऽयमिति मिथ्येति चेत्, एतदेव तर्हि साध्यताम्। किमनेनाजागलस्तनकल्पेन सत्त्वेन। न च तत्रैवेदं शक्यमुपसंहर्त्तुम्, व्यधिकरणत्वात्। तस्माद्येन रूपेण यस्य पक्षत्वं विवक्षितम्, तेन सिषाधयिषितधर्मविरोधविवादाभ्यां तत्रानुमानप्रवृत्तिर्नातोऽन्यथेति।

कल्पलता- घटपदवाच्यस्य सावयवत्वे यो विप्रतिपद्यते तं प्रति सिद्धसाधनमभिधातुमयुक्तमित्याशङ्कते **विप्रतिपन्नमिति।** परीक्षकाणामविप्रतिपत्तावपि लौकिकानां विप्रतिपत्तिरस्त्येवेति न सिद्धसाधनमित्याशङ्कते **लोकेति।** लोका नाणुदर्शिनः, किन्तु स्थूलमात्रदर्शिनः, तेषां निरवयवत्वे साध्ये बाधावतार एवेति परिहरति **तथापीति।** बाधो हि विपरीतप्रमा, एकः स्थूल इति धीस्तु भ्रम इति न तया बाध इति शङ्कते **एक इति।** तर्हि स्थूलप्रत्ययस्य मिथ्यात्वसाधनमेव तवेष्टमस्मदनिष्टं च निरवयवत्वसाधनमप्रयोजकमिति परिहरति **एतदेवेति।** ननु स्थूलप्रत्ययो मिथ्या सत्त्वादित्येव मया साधनीयमित्यत आह **न चेति। व्यधिकरणत्वादिति।** त्वदभिमतप्रामाण्ये निर्विकल्पके व्यभिचारादित्यर्थः। नन्वेवं प्रसिद्धानुमानेऽपि वह्निमतः पर्वतस्य पक्षत्वे सिद्धसाधनं, निर्वह्नेः पक्षत्वे बाध इति, सकलानुमानोच्छेद इति चेन्न। तत्र च वह्निमत्त्वनिर्वह्नित्वकोट्योः प्रसिद्धतया सन्दिग्धस्य पक्षता यथा न तथा प्रकृते। त्वन्मते सावयवत्वस्य क्वचिदप्यप्रसिद्धेः। यद्वा प्रत्यक्षबाधप्रपञ्च एवायम्। अत एव तथैवोपसंहरति **तस्मादिति।** पक्षतावच्छेदकधर्मावच्छेदेन यत्र न साध्यबाधः संशयश्च तत्रानुमानप्रवृत्तिरित्यर्थः।

नापि द्वितीयः, विपर्ययापर्यवसानात्। न च विवादविषयो निरवयवस्तस्मान्न सन्निति विपर्ययः। न चैवं सावयवत्वं पक्षस्यानिच्छता प्रवर्त्तयितुं शक्यते। न च तत् त्वयेष्यते। न च तस्येष्टौ तेनासत्त्वं शक्यसाधनम्। आश्रयासिद्धेर्विरोधादसाधारण्याद्वा। न च विपर्ययोऽपि परेष्ट्या प्रवर्त्तत इति।

कल्पलता- प्रसङ्गो वेति पक्षं दूषयति नापीति। यदि घटः सन् स्यात् निरवयवः स्यात्। न च निरवयवस्तस्मान्न सन्निति प्रसङ्गविपर्ययनिष्ठा। तत्र न च निरवयव इति सावयवश्चायमित्यर्थः। स च त्वया नेष्यत इत्यर्थः। ननु यद्ययं सावयवः स्यात् असन् स्यादिति प्रसङ्गः स्यादिति चेन्न। आपादकाप्रसिद्ध्या व्याप्तेरसिद्धेः। तेनेति। सावयवत्वेनेत्यर्थः। स्वाश्रयेति। घटादिरसन् सावयवत्वादिति हि विपर्ययः। तत्र सावयवत्वस्य हेतोस्त्वयाश्रय एव न स्वीक्रियते इत्याश्रयासिद्धिः। स्वीकारे वा विरोधः। सावयवत्वस्य शशशृङ्गादेरसतः सपक्षादिव विज्ञानपरमाण्वादेर्विपक्षादपि व्यावृत्तेरसाधारण्यमित्यर्थः। ननु त्वया सावयवत्वाश्रयः स्वीक्रियत एव। तथा च त्वदभ्युपगममाश्रित्यैव विपर्ययः स्यादित्यत आह न चेति। विपर्ययस्यानुमानतया स्वाभ्युपगममात्राधीन प्रवृत्तिकत्वादित्यर्थः।

कः पुनरवयविनि न्यायः। तत् किं प्रत्यक्षान्न्यायो गरीयान्। यद्येवम्, बुद्धावेव कोऽसौ। तस्मादसारमेतत्।

कल्पलता- प्रत्यक्षमन्यथासिद्धिशङ्काकलङ्कितमतोऽनुमानं पृच्छति, कः पुनरिति। अनन्यथासिद्धेरुपपादनादाह तत् किमिति। बुद्धावपीति। तस्यास्त्वया स्वसम्वेद्यत्वेनानुमानमन्तरेणैवाभ्युपगमादिति भावः।

तथापि यन्निरस्तसमस्तविरुद्धधर्माध्यासं तदेकमेव व्यवहर्त्तव्यम्, यथा विज्ञानम्। तथा च विवादाध्यासित एकस्थूलोऽनुभवगोचर इति स्वभावहेतुः। तावन्मात्रानुबन्धित्वादेकताव्यवहारस्य। न ह्ययमेकव्यवहारो निर्निमित्तोऽनियमप्रसङ्गात्। नाप्यन्यनिमित्तः, द्रवकठिनशीतोष्णादावपि तथाव्यवहारप्रसङ्गात्।

कल्पलता- पिशाचः पिशाचभाषयैव बोधितो भवतीति परीत्यैवानुमानमाह यन्निरस्तेति। विवादाध्यासित इति। माषादिराशिव्यवच्छेदार्थं व्याप्तिं द्रढयति तावन्मात्रेति। अन्यथासिद्धिं निरस्यति न हीति। द्रवकठिनशीतोष्णरूपेति परेषां पृथिव्यप्तेजोवायूनां परिभाषा।

अस्तु तर्हि बाह्येष्वर्थेषु नित्यसन्देहः। तथ्यातथ्यविभागस्याशक्यत्वादिति चेत्, न तावत् सर्वस्य यथार्थत्वादेव विभागोऽनुपपन्नः, उत्तरविरोधात्। तथाहि विपरीतमवगतं मयेति लौकिकी प्रतिपत्तिः

अन्यथाख्याताततिरिति च वैनयिकी यथार्था न वा, उभयथाप्युत्तरेण न सर्वयाथार्थ्यसिद्धिः।

कल्पलता- नीलादिप्रत्यक्षाणामप्यन्यथासिद्धिशङ्काकलङ्कितत्वादाह अस्तु तर्हीति। तथ्यातथ्ये याथार्थ्यायाथार्थ्ये प्रामाण्याप्रमाण्ये इति यावत्। उत्तरविरोधादिति। यन्मया प्रष्टव्यं तदुत्तरत एव विभागः सेत्स्यतीत्यर्थः। उत्तरं विधेयं पृच्छति विपरीतमिति। विनयः शास्त्राधीनो विवेकः, तत्र व्यवस्थिता वैनयिकी यथार्था चेदियं धीस्तदा विषयोऽस्या भ्रमोऽथायथार्था स्यात्तदास्या एवायाथार्थ्यमित्युभयथा न सर्वायाथार्थ्यं नापि सर्वयाथार्थ्यमित्यर्थः।

शब्दसंलापमात्रमेतन्न प्रतीतिरिरिति चेन्न, विवादानुपपत्तेः। न हि व्यवहारमात्रे परीक्षकाणां विवादः। न च नायमस्तीति। शब्दार्थे विवाद इति चेत्, एवं सत्यप्रतीतस्य निषेद्धुमशक्यत्वात् पराभिप्रायनिषेधार्थत्वाच्च विवादस्य, अभ्युपगन्तृप्रतिषेद्धोः प्रतिषेध्यप्रतीतिः कथं नास्तीति।

कल्पलता- शब्देति। विपरीतं मयाऽवगतमिति वाङ्मात्रमित्यर्थः। विवादेति। ख्यातिपञ्चकमधिकृत्य परीक्षकाणां विवादानुपपत्तेरित्यर्थः। विवादानुपपत्तिमेवाह न हीति। व्यवहारः सर्वजनसिद्धस्तत्र विवादो न सम्भवतीत्यर्थः। ननु विवाद एव नास्ति, तदनुरोधेन विपरीतख्यातिरपि कथं कल्पनीयेत्यत आह न च नायमिति। ननु विवाद एवात्र नास्तीति नेत्यर्थः। शब्दार्थ इति। अन्यथाख्यातिशब्दस्य योऽर्थस्तत्र विवाद इत्यर्थः। *केचित्त*द्विशिष्टज्ञानं मन्वते *केचित्तु* तदगृहीतभेदं ज्ञानद्वयमिति तदर्थे विवादस्तथा च विशिष्टज्ञानं भ्रमरूपं यत् प्रतिषिध्यते तदभ्युपगच्छता *नैयायिकेन* प्रतिषेद्धा *मीमांसकेन* चावश्यं प्रत्येतव्यमित्यत आह एवमिति।

न चान्यज्ञानादन्यत्र प्रवृत्तिसम्भवोऽतिप्रसङ्गात्। न च तज्ज्ञानसान्निध्यं नियामकमतिप्रसङ्गादेव। न च तत्सहितो भेदाग्रहः, अग्रहप्राधान्ये भेदाविवक्षायां निवृत्तेरपि प्रसङ्गात्। तद्धेतोरभेदाग्रहस्यापि विद्यमानत्वात्। नासौ निवर्त्तकः, अपि तु भेदग्रह इति चेन्न। रजत एव नेदं रजतमिति कृत्वा न निवर्त्तेत, भेदग्रहस्य तत्कारणस्याभावात्। भावे वा विपरीतख्यातिरभिन्ने भेदप्रत्ययात्। तस्मात् प्रवर्त्तकवन्निवर्त्तकोऽप्यग्रह एव तेषां स्वीकर्त्तुमुचितः। तथा च स दोषस्तदवस्थ एव।

कल्पलता- इदानीमिदं रजतमिति विशिष्टज्ञानमिति साधयति न चेति। रजतज्ञानाच्छुक्तौ प्रवृत्तिर्विशिष्टज्ञानमन्तरेणानुपपन्नेत्यर्थः। ननु शुक्तिज्ञानसन्निहितमेव रजतज्ञानमिति कृत्वा रजतार्थी शुक्तौ प्रवर्त्तत इत्यत आह न चेति। नन्वगृहीतभेदं ज्ञानद्वयं प्रवर्त्तकमतो नातिप्रसङ्ग इत्यत आह न चेति। तत्सहित इष्टज्ञानसहितः। तथा चेष्टभेदाग्रहः प्रवर्त्तक इत्यर्थः। अग्रहप्राधान्य इति। इष्टभेदो वस्तुगत्यास्तु मा वा, परन्त्विष्टभेदाग्रहः प्रवर्त्तक इति चेदुच्यते तदानिष्टभेदोऽस्तु मा वा तदग्रहः शुक्तौ निवर्त्तकोऽपि स्यादिति युगपत्प्रवृत्तिनिवृत्ती स्यातामित्यर्थः। एतदेवाह तद्धेतोरिति। नन्विष्टाभेदाग्रहो न निवर्त्तकः किन्त्विष्टभेदग्रह इति। स च प्रकृते नास्तीति न निवर्त्तत इति शङ्कते नासाविति। तत्कारणस्येति। निवृत्तिकारणस्येत्यर्थः। ननु तत्रापि रजतभेदग्रहोऽस्त्येवेत्यत आह भावे वेति। स दोष इति। युगपत्प्रवृत्तिनिवृत्तिप्रसङ्गरूपो दोष इत्यर्थः।

अथ भेदः प्रधानम्, अङ्गमग्रहः। तदा सत्यरजतज्ञानाद्रजते न प्रवर्त्तेत। इदमंशरजतांशयोर्भेदाभावादिति स्वयमूहनीयम्।

कल्पलता- ननु पुरोवर्त्तिरजतयोर्यत्र वास्तवो भेदो भवति तत्र भेदाग्रहात्प्रवृत्तिः। प्रकृते च पुरोवर्त्तिरजतयोरस्ति भेद इति तदग्रहात्प्रवर्त्तत इति शङ्कते अथेति। भेदस्य प्राधान्यं प्रवृत्तिविषयनिष्ठत्वम्। परिहारमाह तदा सत्येति। तत्र पुरोवर्त्तिरजतयोर्वास्तवभेदाभावादित्यर्थः।

प्रवृत्तिवत् प्रतिपत्तावप्युभयाग्रहस्तुल्य इति चेन्न। अग्रहस्याविवक्षितत्वात्। सामग्रीविशेषादेव तत्सिद्धेः। तत्त्वेऽपरिस्फुरतीति तु नियमः। न च क्वचिदपि भेदाभेदावुभावपि तत्त्वं यतस्तथा स्यादित्येषा दिक्।

कल्पलता- ननु भ्रमोत्पत्तेः पूर्वं शुक्तिरजतभेदाग्रहवत्तदुभयाभेदाग्रहोऽप्यस्त्येव। तथा च भेदाग्रहादभेदारोपवदभेदाग्रहाद्भेदज्ञानमेव किं न स्यादित्याशङ्कते प्रवृत्तिवदिति। अभेदारोपे दोषस्य भेदज्ञाने च दोषाभावस्य कारणतया न यौगपद्यापत्तिः। न हि दोषतदभावयोर्यौगपद्यमिति परिहरति सामग्रीति। नन्वेवं भेदग्रहे सत्यपि क्वचिदभेदारोपः स्यादित्यत आह तत्त्व इति। भेदस्य तत्र सत्त्वात्तदग्रहादभेदारोपो भवति। अभेदस्तत्र नास्तीति तदग्रहे सत्यपि क्वचिद्भेदग्रहः प्रसज्यत इत्याह न चेति। ननूपस्थितेष्टभेदाग्रहः प्रवर्त्तकः, उपस्थितानिष्टभेदाग्रहश्च निवर्त्तकः। तत्र यद्यपीदंत्वेनानिष्टोपस्थितिस्तथापि नानिष्टतावच्छेदकप्रकारेण। तथा

च कथं तत्र निवृत्तिः स्यादिति चेन्न। इदं रजतं न शुक्तिरिति भ्रमान्निवृत्तिप्रसङ्गात्। तत्र शुक्तित्वेनैवानिष्टग्रहात्। न च स्वतन्त्रोपस्थितानिष्टभेदाग्रहो निवृत्तिहेतुरत्र त्वभावप्रतियोगित्वेनानिष्टोपस्थितेर्न निवर्त्तत इति वाच्यम्। वणिग्वीथ्यभावप्रतियोगीदं रजतमिति भ्रमान्न तर्हि प्रवर्त्तते, इष्टस्याभावप्रतियोगित्वेनैव भानात्। किं च इमे रङ्गरजते इत्यत्र विपरीतारोपे युगपत्प्रवृत्तिनिवृत्ती स्यातामुभयकारणसत्त्वादिति दिगर्थः।

नापि सर्वस्यायथार्थत्वात्, तद्ग्राहकस्य यथार्थत्वा-यथार्थत्वाभ्यामुत्तर विरोधात्। तत् किञ्चित् प्रमाणं किञ्चिदप्रमाणमिति विभाग एव वस्तुगतिः। न चासौ प्रतीतिगतिमवधूय व्यवहारगोचरः।

कल्पलता- नापि सर्वस्यायाथार्थ्यादिति। विभागानुपपत्तिरित्यावर्त्तनीयम्। तद्ग्राहकस्येति। अन्यथाख्यातिरियमिति ज्ञानस्य याथार्थ्ये क्व सर्वायाथार्थ्यमयाथार्थ्ये च विषयीभूतज्ञानस्यैव याथार्थ्यमिति क्व सर्वायाथार्थ्य मित्यर्थः। उपसंहरति तस्मादिति। ननु तथ्यातथ्यविभागस्य व्यवहारः सिद्ध्यतु, न तु प्रतीतिरपीत्यत आह न चेति। असाविति। प्रामाण्याप्रामाण्यव्यवहार इत्यर्थः।

कथन्ता तु निरूप्यते स्वतः परतो वेति। आद्येऽपि स्वयं स्वग्राहकेणेति वा। तत्र न प्रथमः स्वसम्वेदनस्यासिद्धेः।, प्रकाशत्वस्यासाधारणत्वात्। शब्दसाम्येनानुमानाप्रवृत्तेः। न चाध्यक्षमेवात्र प्रमाणम्, सन्दिग्धभेदत्वात्। अप्रत्यक्षोपलम्भस्य नार्थदृष्टिः प्रसिद्ध्यति। परेण परवेदनेऽनवस्था स्यात्। न च क्रिया स्वजातीयक्रियाकर्म भावमश्नुते च्छिदावदिति तर्कपुरस्कारन्नैष दोष इति चेन्न।

कल्पलता- नन्वेतावता प्रामाण्यं गृह्यत इत्यायातम्, कथं गृह्यत इत्यसाधितमेवेत्याह कथन्तेति। केनोपायेन गृह्यत इति निरूप्यत इत्यर्थः। निरूपणं विचारः, स च संशयाधीनः, संशयश्च प्रकृते विप्रतिपत्तिजन्मा, ततो विप्रतिपत्तिमाह स्वत इति।

तत्र *भट्टगुरुमिश्र*साधारणी स्वतस्त्वविप्रतिपत्तिः। ज्ञानं प्रामाण्याविषयक प्रतीत्यविषयो न वा, यावती ज्ञानग्राहिका सामग्री सा प्रामाण्यग्राहकसामग्र्यभिन्ना न वा, ज्ञानविषयता प्रामाण्यविषयताव्याप्या न वा, ज्ञानज्ञानत्वं प्रामाण्यज्ञानत्वं च प्रामाण्यज्ञानत्वान्यूनानतिरिक्तवृत्ति न वा। प्रसिद्धिस्तु सर्वत्र स्वयमूहनीया।

प्रामाण्याप्रामाण्यग्राहकसामग्र्यामभेदेन व्याप्यव्यापकभावाङ्गीकारे (प्रामाण्यज्ञानत्वे) च यथासङ्ख्यमन्वयकोटिप्रसिद्धिः। व्यतिरेककोटिस्तु सर्वत्र सुग्रहैव। यदि च ज्ञानपदजनितज्ञानेन निर्विकल्पके वाऽप्रामाण्योल्लेखिना च ज्ञानेन स्मरणेन च प्रामाण्यं न गृह्यते इत्युपदर्शितविप्रतिपत्तिषु केषाञ्चिद्विप्रतिपत्तिः। तदा प्रामाण्यम् अप्रामाण्यानुल्लेखिसप्रकारकसविषयकयावदनुभवग्राहकानुभवग्राह्यं न वा, तज्ज्ञानप्रामाण्यं तज्ज्ञानविषयकजन्यज्ञानाजन्यजन्यज्ञानग्राह्यं न वेत्याद्यूह्यमित्यलमतिपाण्डित्येन।

विशिष्य तु घटोऽयमिति ज्ञानप्रामाण्यमेतज्ज्ञानानुभवविषयता-व्यापकानुभवविषयताश्रयो न वा। एतज्ज्ञानप्रामाण्यमेतज्ज्ञानविषयो न वा। अनुभवानुव्यवसायत्वं प्रामाण्यविषयताव्याप्यं न वा। तज्ज्ञानप्रामाण्यं तज्ज्ञानभिन्नसाक्षात्कार ग्राह्यं न वा। तज्ज्ञानविषयकज्ञानाजन्यानुमितिग्राह्यं न वेति वा।

स्वसम्वेदनस्येति। ज्ञानं स्वात्मानमेव न गृह्णाति दूरे स्वधर्म-प्रामाण्यग्रहशङ्केत्यर्थः। धर्मधर्मिणोरभेदे चाप्रामाण्यमपि स्वत एव गृह्येतेति भावः। ज्ञानं स्वव्यवहारे प्रकाशान्तरानपेक्षम्, प्रकाशत्वात्, प्रदीपवदिति शङ्कते **प्रकाशत्वस्येति**। प्रकाशत्वं यदि तेजस्त्वं तदा स्वरूपासिद्धिर्यदि ज्ञानत्वं (चेत्) तदा साधनविकलो दृष्टान्तः। प्रकाशशब्दवाच्यत्वं चेत्, तदा गोपदवाच्यतया वागादीनामपि विषाणित्वप्रसङ्ग इत्याह **असाधारणत्वादिति**। ननु जानामीति प्रत्यक्षमेव स्वप्रकाशे प्रमाणमित्यत आह **न चेति**। ग्राह्यज्ञानभिन्नं ज्ञानं तदेव वा ज्ञानमिति सन्दिग्धभेदत्वान्न प्रकाशे प्रमाणमित्यर्थः। इति चेदित्यन्तं शङ्कते **अप्रत्यक्षेति**। यदि ज्ञानं प्रत्यक्षं न भवेत्तदाऽर्थदृष्टिरेव न सिद्ध्येत् ज्ञानमेव न सिद्ध्येदित्यर्थः। ननु ज्ञानान्तरेणैव ज्ञानं गृह्यतामत आह **परेणेति**। ज्ञानान्तरेण ग्रहणे दोषान्तरमाह **न चेति**। **नैष दोष इति**। न सन्दिग्धभेदत्त्वं दोष इत्यर्थः। तथा च परिशेषात् स्वमेव स्वस्मिन् प्रमाणम्। तच्च स्वप्रकाशमन्तरेण न स्यादिति भावः।

उपलम्भापरपर्यायाया दृष्टेः सिद्धिर्निष्पत्तिर्वा स्यात् प्रतीतिर्वा। नाद्योऽनागतोपलम्भवेदनप्रसङ्गः, अनुपलब्धस्यानिष्पत्तेः। न चाविद्यमानेनाविद्यमानस्योपलम्भ इति स्वसम्वित्तावसम्वित्तिरेवेति।

कल्पलता- उपलम्भेति। अर्थदृष्टिरर्थोपलम्भस्तस्य यदि निष्पत्तिरेव तदुपलब्धौ सत्यां स्यात्। तथा चानागतवेदनप्रसङ्गः कुत इत्यपेक्षायामाह अनुपलब्धस्येति। त्वया तथाभ्युपगमात्। नन्वनागतमेव ज्ञानं ज्ञातं सदुत्पद्यतां को दोष इत्यत आह न चेति। अनागतस्यापि वेदनं वेदने सत्येवोत्पद्येतेत्येवं तत्तदपीति किमपि वेदनं न निष्पद्येतेत्यर्थः।

द्वितीये तु सिद्धसाधनम्, न ह्यनुपलब्ध उपलब्धो भवति। न चैवं सत्यर्थोऽपि नोपलभ्येत। न ह्युपलम्भप्रतीतिरर्थवेदनमपि तूपलम्भनिष्पत्तिः। उपलम्भादृष्टावुपलम्भनिष्पत्तिरित्येव व्यवहारः कुत इति चेत्, मा भूत्। न ह्यव्यवहारादेव निष्पन्नस्य वस्तुनो निवृत्तिः। तथा च तन्निबन्धनोऽर्थव्यवहारो दुर्वार एव। न चानवस्था, अवश्यवेद्यत्वानभ्युपगमात्, निश्चयवत्। अन्यथा त्वनिश्चितनिश्चयस्यार्थनिश्चयोऽपि न सिद्ध्येत्। न चासौ स्वात्मन्यपि निश्चय इति। तददिदं वधूमाषमापनवृत्तान्तमनुहरति।

कल्पलता- उपलम्भेति। यावदुपलम्भो न प्रतीयते तावदुपलम्भप्रतीतिर्न भवतीति मयाप्यभ्युपगम्यत इत्याह **द्वितीये त्विति।** ननु चोपलब्धैवोपलब्धिरर्थदृष्टिरिति च त्वयाप्यभ्युपगम्यते तदा सिद्धं स्वप्रकाशत्वमित्यत आह **न चैवमिति।** अनुपलब्धाऽप्युपलब्धिरर्थदृष्टिर्भवत्येवेत्याह **न हीति।** नन्वनुपलब्धावर्थदृष्टिरपि कथं व्यवह्रियतामित्याह **उपलम्भेति।** निष्पन्नार्थदृष्टिर्ज्ञाता सती व्यवहरिष्यत इति को दोष इत्याह **न हीति।** अर्थदृष्टावज्ञातायामर्थव्यवहारोऽप्येवं सति न स्यादित्याह **तथा चेति।** स्वरूपसतो ज्ञानादेवार्थव्यवहारसिद्धेरित्यर्थः। न च ज्ञातमेव ज्ञानमर्थव्यवहारक्षममिति वाच्यम्। प्रमाणाभावात्। भावे वा ईश्वरज्ञानेनैवान्यथासिद्धेरिति भावः। ननूक्तं परेण परवेदनेऽनवस्थेत्यत आह **तथा चेति।** **स्वरूपमतो न चेति।** ननु संयुक्तसमवायप्रत्यासत्तेः सत्त्वात् कथं नावश्यवेद्यत्वमिति चेन्न। सुखादिसामग्र्या बलवत्या प्रतिबन्धात्। अन्यथा सुखाद्यनुभवो न स्यात्। चरमं ज्ञानमनुद्भूतमेवोत्पद्यते विशेषगुणत्वेनैवोद्भवानुद्भवकल्पनादिति भावः। **निश्चयवदिति।** विशेषदर्शनानन्तरं यो निश्चयो जायते स निश्चयत्वेनापि न स्वयं गृह्यते, स्वप्रकाशत्वेऽपि तत्रासामर्थ्यात्। तथा च निश्चयत्वेनागृह्यमाणो निश्चयोऽर्थनिश्चयो न स्यादित्यर्थः। यदि च स्वधर्मतया निश्चयत्वं गृह्णीयात्तदाऽप्रामाण्यमपि गृह्णीयादित्युक्तत्वादिति भावः।

केचित्तु स्वप्रकाशत्ववदिति व्याचक्षते, न हि स्वप्रकाशत्वानुमितिरप्यात्मनः स्वप्रकाशत्वं गृह्णाति। तथाच तत्राप्यनवस्था तुल्येत्यर्थमाहुः। तच्चिन्त्यम्। प्रकृतासंस्पर्शात्। अन्यथा त्वनिश्चितनिश्चयस्येत्याद्यसम्बद्धं स्यात्। तथा च निश्चयत्वमवधारणात्मकत्वं परव्यवच्छेदमुखेन जायमानत्वं तच्च न स्वप्रकाश गम्यमित्येवार्थः। तदिदमिति। माषमापनव्याकुला वधूः स्वगुह्यसम्वरणं यथा न करोति तथा त्वयापि स्वदोषो न समाहित इत्यर्थः।

च्छिदादिवदिति तु दृष्टान्तमात्रेण नास्मदवधानम्। ज्ञानं न ज्ञानान्तरकर्म, तज्जातीयक्रियात्वात्। या यज्जातीया क्रिया नासौ तत्क्रियाकर्म, यथा च्छिदा च्छिदान्तरस्येति तु न्यायविप्लवः। छिदावत् सर्वथा सजातीयाकर्मत्वे साध्ये बाधितविषयत्वात्, पुरुषान्तरज्ञानस्य च पुरुषान्तरज्ञानवेद्यत्वात्, स्वयमपि स्मृत्यादिगोचरत्वाच्च। स्वकर्मत्वे साध्ये दृष्टान्तस्य साध्यविकलतया हेतोर्विरुद्धत्वादिति।

कल्पलता- दृष्टान्तमात्र इति। हेतुविनाकृतस्य तस्यातन्त्रत्वादित्यर्थः। हेतूपहतमाशङ्क्य निराचष्टे ज्ञानमिति। अत्र बाधमाह न्यायविप्लव इति। तदेव स्फुटयति सर्वथेति। सजातीयाकर्मत्वं सजातीयाविषयत्वम्। पूर्वकमपि कर्मपदं विषयपरम्। ननु तज्ज्ञानं तज्ज्ञानविषयः, क्रियात्वात्, च्छिदावदित्यनुमानं स्यादित्यत आह स्वकर्मत्व इति। विरुद्धत्वादिति। सर्वत्र क्रियात्वस्य स्वाविषयत्वेनैव दृष्टत्वादित्यर्थः।

नापि स्वग्राहकेण, विवेचनानुपपत्तेः। न हि प्रमाणग्रहणं यथार्थत्वैकनियतम्, अप्रमाणेऽपि प्रमाणाभिमानात्। अन्यथा विपर्ययज्ञानादप्रवृत्तिप्रसङ्गाच्च।

कल्पलता- ननु जडत्वेन घटादीनां स्वव्यवहाराजनकत्वेऽपि ज्ञानं स्वयमेव स्वव्यवहारजनकमस्तु। स्वस्मिन् सति स्वव्यवहारादसति तु तदभावात्। स्वव्यवहारजनकत्वमेव स्वविषयकत्वं पारिभाषिकमिति चेन्न। व्यवहारस्य व्यवहर्त्तव्यगोचरज्ञानजन्यत्वनियमात्। तच्च स्वविषयतायां स्वभिन्नज्ञानविषयतायां वा सत्यामेव। तत्र स्वजनकेन्द्रियप्रत्यासत्त्यनधिकरणत्वादेव न स्वविषयत्वमतो ज्ञानान्तरविषयतयैव तस्य व्यवहर्त्तव्यत्वोपपत्तेः। स्वग्राहकेण वेति द्वितीयं पक्षं दूषयति नापीति। स्वग्राहकेणानुव्यवसायेन प्राकट्यलिङ्गेन वेत्यर्थः। विवेचनेति।

अप्रामाण्यव्यावृत्तप्रामाण्यग्रहानुपपत्तेरित्यर्थः। अप्रामाण्यशङ्काकलङ्काभावो वा विवेचनम्। तथा च प्राकट्येन लिङ्गेनानुव्यवसायेन वा ज्ञायमानं निष्कम्पप्रवृत्तिजनकं न स्यादित्यर्थः। ननु प्रामाण्योपहितज्ञानग्रहः प्रमाणमेव। तथा च कथं न समाश्वास इत्यत आह न हीति। गृहीतप्रामाण्यमेव ज्ञानं प्रवर्त्तकमित्यभिप्रेत्याह अन्यथेति।

ततो यदि प्रामाण्यमापाततः स्फुरेदपि, तथापि नियमहेतोरभावात् प्रमाणमेवेदमिति निश्चयः कुतः? स च मृग्यते, पारलौकिकव्यवहाराङ्गत्वात्। शङ्कानिवर्त्तनेन तदप्रत्यूहं निश्चितमेवेति चेत्, तन्निवृत्तिरेव कुतः? प्रमाणान्तरादिति चेत्, तदपि निश्चयफलमन्यथा वेति। अन्यथात्वे न शङ्काविच्छेदो निश्चयसाध्यत्वात्तस्य। निश्चयफलत्वे तु यो मृग्यते नासौ स्वत इति।

कल्पलता- दोषं स्पष्टयति तत इति। ननु सन्देहादपि प्रवृत्तेः किं प्रामाण्यनिश्चयेनेत्यत आह पारलौकिकेति। ऐहिकी प्रवृत्तिरस्तु यथा तथा, पारलौकिकी तु प्रवृत्तिर्बहुवित्तव्ययायासफला प्रामाण्यनिश्चयं विना न स्यादेवेत्यर्थः। ननु स्वग्राहकादेव प्रामाण्यग्रहोऽप्रामाण्यशङ्का तु कुतश्चिन्निवर्त्स्यतीत्याह शङ्केति। तदपीति। शङ्कानिवर्तकं प्रमाणमित्यर्थः। अन्यथात्वे अनिश्चयफलत्वे। निश्चयफलत्व इति। येन प्रमाणेन शङ्कापरिभवक्षमः प्रामाण्यनिश्चयो जननीयो न तदनुव्यवसायरूपं प्राकट्यलिङ्गरूपं वेत्यर्थः।

स्फुरणमात्रमपि तावदस्तु स्वत इति चेत्, किं तेन। न चैतदपि, अननुसंहितोपाधेरुपहितप्रत्ययायोगात्। न च विषयोपधानमात्रं प्रामाण्यम्, तदाभाससाधारण्यात्। अपि त्वनुभवस्य सतो भूतार्थानुसन्धानम्। न चार्थानुसन्धानेऽपि तस्य भूतत्वमनुसन्धीयते। आरोपितत्वव्यावर्त्तक विशेषणाननुसन्धानात्। अननुसंहितस्य चारोपसाधारण्यात्। क्वचिद्विशेषोऽप्यनुसन्धीयत इति चेत्, न क्वापि प्राथमिकेन। अन्यथाऽनभ्यासदशायां तत्रापि संशयो न स्यात्। अभ्यासदशोत्पन्ने तु अनुसन्धानं व्याप्तिग्रहजनितसंस्कारसमुद्भवस्मरणबलेन भवत् प्रमाणान्तरशरीर एव प्रविशतीति परत एवावशिष्यते।

कल्पलता- ताभ्यां प्रामाण्यस्फुरणं तावदस्तीत्यतः स्वतस्त्वं सिद्धमेवेत्याह स्फुरणमात्रमिति। ततो निष्कम्पा प्रवृत्तिश्चेन्न भवति तदा किं तेन प्रामाण्यस्फुरणेनेत्याह किं तेनेति। ननु तथापि त्वदभिमतं परतस्त्वं भग्नमेवेत्यत

आह न चेति। विशेष्यावृत्त्यप्रकारत्वात्मकस्य स्वप्रामाण्यस्य तत्रास्फुरणादित्यर्थः। प्रामाण्यघटकोपाध्यननुसन्धाने प्रामाण्योपहितप्रत्ययासम्भवादित्यर्थः। ननु घटविषयत्वमेव घटज्ञानस्य प्रामाण्यम्, तच्च ज्ञानग्राहकग्राह्यमेवेत्यत आह न चेति। घटभ्रमेऽपि घटविषयकत्वसम्भवादित्यर्थः। तर्हि किं तत् प्रामाण्यं यत् स्वतो ग्रहीतुमशक्यमित्यत आह **अपि त्विति**। यथार्थानुभवत्वमित्यर्थः। यथार्थत्वञ्च विषयतासमानाधिकरणप्रकारावच्छिन्नत्वं विषयताव्यधिकरणप्रकारानवच्छिन्नत्वं वेत्यर्थः। तर्हि तदेव स्वतो निश्चीयतामत आह न चेति। अर्थविषयकत्वग्रहेऽपि तत्त्वस्य ग्रहीतुमशक्यत्वादित्यर्थः। आरोपितत्वव्यावर्त्तकं विशेषणं विशेष्यावृत्त्यप्रकारकत्वादि। तदननुसन्धानञ्च पूर्वं तदनुपस्थितत्वेनेत्याह **आरोपितेति**। **अननुसंहितस्येति**। तद्विषयकत्वमात्रस्येत्यर्थः। **क्वचिदिति**। घट एवायमितीतरव्यवच्छेदमुखेन जायमानज्ञान इत्यर्थः। **प्राथमिकेनेति**। प्रथमं ज्ञानग्राहिणा अनुव्यवसायेन ज्ञाततालिङ्गकानुमानेन वेत्यर्थः। कथं नेत्यत आह **अन्यथेति**। अयं वह्निरेवेत्यपरिचितवह्नेरपि शब्दादिना जायमाने ज्ञाने प्रामाण्यस्य स्वयं ग्रहणापत्तेः। तथा च प्रामाण्याप्रामाण्यकोटिकः संशयो न स्यादित्यर्थः। ननु क्वचिदित्यभ्यासदशापन्नमेव ज्ञानं ब्रूमः, तच्च स्वतो गृह्यताम्। न हि तत्रापि संशयोऽस्तीत्यत आह **अभ्यासदशेति**। तत्रापि तज्जातीयत्वेन लिङ्गेनैव प्रामाण्यं गृह्यते। तथाहि अयं पृथिवीत्वेनानुभवः पृथिवीत्ववति पृथिवीत्वप्रकारकः। गन्धवद्विशेष्यकपृथिवीत्वप्रकारकनिश्चयत्वात् पूर्वपृथिवीत्वप्रकारकनिश्चयवत्। एवमयं शरीरत्वेनानुभवः शरीरत्ववत्येव शरीरत्वप्रकारकः। करचरणादि-मद्विशेष्यकशरीरत्वप्रकारकानुभवत्वादित्याद्यूह्यम्। तज्जातीयत्वं लक्षण-वद्विशेष्यकलक्ष्यज्ञानत्वं द्रष्टव्यम्। **व्याप्तीति**। यो गन्धवद्विशेष्यकः पृथिवीत्वप्रकारकानुभवः स पृथिवीत्ववत्येव पृथिवीत्वप्रकारक इत्यादिप्रकारेण यद्व्याप्तिग्रहणं तज्जनितो यः संस्कारस्तत्प्रभवं यत्स्मरणमित्यर्थः। प्रमाणान्तरमनुमानम्, तत्रैवान्तर्भवतीत्यर्थः।

तत्राप्यनवस्थेति चेत्, न तावदसौ दृष्टान्तद्वारिका, प्रागेव तन्निश्चयात्। फलद्वारिका तु स्यादपि, यदि प्रामाण्यमवश्यनिश्चेयमभ्युपेयते। अज्ञातप्रामाण्येन कथं परप्रामाण्यवेदनमिति चेत्, यथा विषयसंवेदनम्। अस्तु तर्हि धर्मिलिङ्गद्वारिका, ताभ्यामनिश्चिताभ्यामननुमानात्। तन्निश्चयस्य च प्रामाण्यनिश्चयमन्तरेणानुपपत्तेः। न, द्वैताभावात्। यत्र

हि लिङ्गज्ञाने धर्मिज्ञाने वा तथ्यातथ्यभावेन द्वैतमुपलभ्यते तत्र तथ्यत्वानिश्चये लिङ्गमाभासशङ्काक्रान्ततया न निश्चीयते। यत्र तु तज्ज्ञानं तदेकनियतं तत्र तावतैव लिङ्गनिश्चयः, तदाभासशङ्कानुत्थानात्। एककोटिनियतो ह्यनुभवो निश्चयः। ज्ञानतद्धर्मग्राहिणि च ज्ञाने न द्वैतमिति व्यवस्थितिरेव। प्रामाण्यनिश्चयस्तु तस्यापि परत एवेति *न्यायसम्प्रदायः*। इत एव विशेषात्तादृशस्य स्वत एवेति *तात्पर्याचार्याः*।

कल्पलता- तत्रापीति। तज्जातीयत्वेन लिङ्गेन प्रामाण्यग्रहेऽपीत्यर्थः। **न तावदिति**। दृष्टान्तीभूतं यत्प्राक्तनं पृथिवीत्वप्रकारकं ज्ञानं तस्यापीदानीमेव प्रामाण्यं ग्राह्यम्। एवं तत्र तत्रापीत्यनवस्था तावन्न भवति, प्रागेव तत्प्रामाण्यग्रहादित्यर्थः। ननु तज्जातीयत्वादिना लिङ्गेन याऽनुमितिरिदानीमुत्पद्यते साऽपि गृहीतप्रामाण्या परप्रामाण्यं निश्चाययत्येव। सापि सापीति फलद्वारिकाऽनवस्था स्यादित्यत आह **फलद्वारिकेति**। प्रामाण्यस्यावश्यज्ञेयत्वानभ्युपगमादेव नेयमनवस्थेत्यर्थः। **यथेति**। न हि गृहीतप्रामाण्यमेव ज्ञानमर्थनिश्चायकम्, तथा सति प्रथममर्थनिश्चयोऽपि न स्यादिति भावः। **धर्मीति**। पक्षज्ञानलिङ्गज्ञानद्वारिकेत्यर्थः। अनवस्थामेव स्फोरयति **ताभ्यामिति**। **द्वैताभावादिति**। प्रामाण्यानुमितौ धर्मि तावज्ज्ञानमेव। तद्विषयं च ज्ञानमनुव्यवसायरूपम्। तत्र च द्वैतं प्रामाण्यैकनियतत्वात्तत्राप्रामाण्यशङ्कानुदयान्न तत्रापि प्रामाण्यग्रहापेक्षेत्यर्थः। तर्हि धर्मिज्ञानं लिङ्गज्ञानं वा न क्वापि परीक्ष्येतेत्यत आह **यत्र हीति**। तदेकनियतम् प्रामाण्यैकनियतम्। **तावतैव** अगृहीतप्रामाण्यज्ञानमात्रेणैव। कुत एतदित्यत आह **तदाभासेति**। द्वैताभावादिति सङ्ग्रहव्याख्यानमुपसंहरति **एककोटीति**। नन्वेवमनुव्यवसायप्रामाण्ये स्वतस्त्वं समायातमित्यपसिद्धान्त इत्यत आह **प्रामाण्येति**। यदि व्यसनितया तत्र प्रामाण्यमनुमीयते तदा तत्प्रामाण्यमनुमानादेव गृह्यते, *न्यायनये* प्रामाण्यस्य नित्यानुमेयत्वादित्यर्थः। नन्वनुमानस्य निरस्तसमस्तविभ्रमाशङ्कस्य स्वत एव प्रामाण्यमिति कथं *टीका*, कथं वा तवापि तत्र तादृशमेव व्याख्यानमत आह **इत एवेति**। तत्रापि स्वतः प्रामाण्यमप्रामाण्यशङ्कानास्पदत्वं *टीकाकृत्तात्पर्यविषयो* ममापि तदभिप्रायकमेव तत्र तथा व्याख्यानमित्यर्थः।

स्यान्मतम्। एतदेव तु कथं निश्चेयं यदेवम्भूतमेककोटिनियतमेव यावता तत्राप्यनवस्थितिरिति चेन्न। व्याप्तिज्ञानस्य साक्षादात्मन्यप्रवृत्तावपि

सर्वोपसंहारेण यमुपाधिमादाय प्रवृत्तिस्तद्धर्मवत्त्वात्। तज्जातीयत्वं हि तत्रोपाधिस्तच्च तत्राप्यविशिष्टमनुव्यवसायत्वात्। न च सामान्यतो नियमनिश्चये तदालिङ्गिते विशेषे द्वैतशङ्कावकाश:। यथा वाचक: शब्द इति स्वात्मनो वाचकत्वं न साक्षाद्विधत्ते वृत्तिविरोधात्। तथापि सामान्येन यमुपाधिमधिकृत्य प्रवृत्त: शब्दस्तद्वत्त्वात् शब्दशब्दो वाचको न वेति शङ्कया न परिभूयते नाप्यनवस्थेत्येवमिहापीति।

कल्पलता- नन्वनुव्यवसाय: प्रामाण्यैकनियत इत्यपि निश्चय: कथं स्यात्तत्राप्यनुमित्यपेक्षायां पुनरनवस्थैवेति शङ्कते स्यान्मतमिति। यो योऽनुव्यवसाय: स सर्व: प्रमाणमेवेत्यनुव्यवसायत्वावच्छेदेन गृहीता व्याप्ति:। प्रकृताऽनुव्यवसाय स्याप्यनुव्यवसायत्वेनैव तज्जातीयत्वेन लिङ्गेनानुव्यवसायप्रामाण्यानुमानमित्यर्थ:। नन्वेवं सर्वत्रानुव्यवसाये प्रामाण्यानुमितिरायातेत्यनवस्थैव पुनरित्यत आह न चेति। अत्राप्रामाण्यशङ्कैव नोदेति। यत्र त्वनुमितीच्छा तत्रायं प्रकार इत्यर्थ:। अत्रानुरूपमुदाहरणमाह यथा चेति। शब्दत्वावच्छेदेनैव वाचकत्वग्रहे शब्दशब्दस्यापि वाचकत्वं परिच्छिद्यत एवातस्तत्र यथा न शङ्का तथा प्रकृतेऽपीत्यर्थ:।

तर्काश्चात्र भवन्ति। यदि धर्मिज्ञानं व्यभिचरेत्, निरालम्बनमसदालम्बनं वा भवेत्, निषिद्धं च तत्। यद्यनुव्यवसायो व्यभिचरेत्, तदार्थकर्मकोऽपि न स्यात्, ज्ञानेतरस्यार्थप्रावण्याभावात्। यदि तज्जातीयं व्यभिचरेत् अव्यभिचारो न क्वचिद्व्यवतिष्ठेत्। तदव्यवस्थितौ व्यभिचारोऽपि न स्यात्। अन्यथाख्यातिरूपत्वात्तस्य, तत्त्वस्थितौ चान्यथात्वं स्यात्, तदवधिकत्वात्।

कल्पलता- अत्रेति। धर्मिज्ञानं प्रमाणमेव, अनुव्यवसाय: प्रमाणमेव, लक्षणवल्लक्ष्यज्ञानमव्यभिचार्येवेत्यादौ प्रथमव्याप्तौ तर्कमाह यदीति। द्वितीयव्याप्तावाह यद्यनुव्यवसाय इति। व्यभिचरेत् व्यवसायमन्तरेण स्यादेवेत्यर्थ:। अर्थकर्मको न भवेदिति। अर्थं बाह्यं कर्मतया नोल्लिखेत्। व्यवसायमन्तरेण मनसस्तत्रासामर्थ्यात्। एतदेवाह ज्ञानेतरस्येति। अर्थप्रवणं ज्ञानं विषयीकुर्वत् एव तस्यार्थकर्मत्वोपपत्ते:। तृतीयव्याप्तावाह यदि तज्जातीयमिति। तदवधिकत्वादिति। तत्त्वसापेक्षत्वादन्यथात्वस्येत्यर्थ:।

एतेन स्वप्नजागरावस्थयोरविशेष इति निरस्तम्। असत्ख्यातेरात्मख्यातेश्च निराकृतत्वात्। अन्यथाख्यातेश्च तत्त्वख्यातिव्यवस्थामन्तरेणानुपपत्तेरिति। सा च जागरेऽपि यदि न स्यात्, न स्यादेवेति।

कल्पलता- एतेनेति। तथ्यातथ्यविभागव्यवस्थापनेनेत्यर्थः। यद्वा भ्रमस्यान्यथाख्यातित्वव्यवस्थापनेनेत्यर्थः। तथा च जागरज्ञानं न प्रमा ज्ञानत्वात् स्वप्नज्ञानवदित्यादीनामनवकाश इति भावः। स्वप्नज्ञानानामप्रामाण्य मन्यथाख्यातिरूपतयैव वाच्यम्। सा च तत्त्वख्यातिपूर्विकैव। तत्त्वख्यातिश्च जागरावस्थज्ञानविशेष एवेत्याह **असत्ख्यातेरिति।**

तथापि कथमनयोरवस्थयोर्विभागः कर्त्तव्य इति चेन्न। लोकसिद्धत्वात्। किमनयोर्लक्षणमिति चेत्, कर्तृकर्मकरणदेशकाल प्रबन्धबाधः। काकतालीयसम्वादवान् स्वप्नस्य। प्रबन्धे काकतालीयः कस्यचिदेव विषयस्य बाधो जागरस्येति। एतेन बाध्यप्रबन्धोऽवस्थाविशेषः स्वप्नः, प्रबन्धबाधकादिर्बाध्यमानप्रबन्धान्तो जागरितमित्यपि द्रष्टव्यमित्येषा दिक्।

कल्पलता- भवेदेवं यदि लक्षणभेदोऽनयोरवस्थयोः स्यादित्यत आह **तथापीति।** ननु लोकस्यापि भेदव्यवस्थितिर्लक्षणाधीनेत्याह **किमिति।** अहं धवलगृहे मध्याह्ने हस्तेन पायसं भुञ्ज इत्यत्र कर्त्रादीनां सर्वेषां बाधः। ननु सर्वबाधे कथं ज्ञानं निरालम्बनं, कथं वाऽन्यथाख्यातिः, कुत्र वाऽऽरोपः, कथं वा जागरानन्तरमपि क्वचिदपि सम्वाद इत्यत आह **काकतालीयेति।** अन्यथानुपपत्त्यैवारोपविषयाणामन्ततो बहिरर्थादीनां मन्दतरतमादिभावेन शब्दाद्युपलम्भादिति भावः। **स्वप्नस्येति।** लक्षणमित्यनुवर्त्तनीयम्। एवं जागरस्येत्यत्रापि। **एतेनेति।** लक्षणान्तरेण विभागव्यवस्थापनेनेत्यर्थः। **अवस्थाविशेष इति।** सिद्धोपप्लुतान्तःकरणावस्थाविशेषः। तथा स्वप्नवहनाडीविशेषसंयोगजं ज्ञानं स्वप्नः। तदितरज्ञानं जागरः। स्वप्नत्वजागरत्वे जातिविशेषौ वा। न चानुमितत्वादिना परापरभावानुपपत्तिः, सर्वस्वप्नानां साक्षात्कारिस्वभावरूपत्वात्। अत एव न स्मृतित्वसाङ्कर्यमपीति भावः।

तस्मात्तथ्यमेव विश्वं, मन्दप्रयोजनत्वात्तु सत्वरैर्मुमुक्षुभिरुपेक्षितमिति युक्तमुत्पश्यामः। तर्हि *नैयायिकानां* जगत्परिरक्षणे कोऽयमभिनिवेशातिशय

इति चेत्, सहसैव तदुपेक्षायां न्यायाभासावकाशे प्रमाणमात्रविप्लवो भवेत्। तथा च न्यायरुचिः प्रेक्षावान्न तत्त्वमधिगच्छेदिति भियेति।

कल्पलता- प्रकृतमुपसंहरति तस्मादिति। तर्हि *वेदान्तिनां* प्रपञ्चमिथ्यात्वप्रवादः किन्निबन्धन इत्यत आह मन्दप्रयोजनत्वादिति। *उपनिषदभ्यास*जनितात्मसाक्षात्कारा *वेदान्तिनो* मोक्षाय त्वरमाणाः प्रपञ्चविचारे प्रयोजनाभावमाकलयन्तस्तत्रोदासत इत्यर्थः। तर्हि *नैयायिका* अपि मुमुक्षवस्तेषां कथमत्राग्रह इत्यत आह तर्हीति। श्रवणानन्तरं यन्मननं तत्रान्वीक्षिकीप्रवृत्तिस्तत्र मनने हेतुदृष्टान्तपक्षव्याप्त्यादिज्ञानं प्रमारूपं प्रयोजकम्। प्रमा च यथार्थानुभवरूपेति प्रपञ्चसत्यत्वे परं तदुपपद्यत इति तदर्थोऽभिनिवेश इत्यर्थः।

गुणगुणिभेदवादः।

अस्तु तर्हि गुणगुणिनोरभेदान्नैरात्म्यम्। क्षणिकज्ञानमात्रपरिशेषादिति चेत्, उच्यते। अस्ति तावदिह दर्शनस्पर्शनाभ्यामेकार्थानुसन्धानम्। तदिदमेकैकविषयं वा स्यात्, समुदायविषयं वा, तदतिरिक्तविषयं वा, वस्त्वननुरोध्याकारविषयं वा, अलीकविषयं वा।

कल्पलता- आत्मनि तृतीयं बाधकं दूषयितुमुपन्यस्यति अस्तु तर्हीति। ज्ञानभिन्न आत्मा नास्तीत्येव हि नैरात्म्यपक्षः। स च ज्ञानात्मनोरभेदादेव पर्यवसन्न इत्यर्थः। आत्मा ज्ञानाभिन्न; तदविषयकप्रतीत्यविषयत्वात्। ज्ञानं वा आत्माभिन्नं, तदविषयकप्रतीत्यविषयत्वादिति विशेषतो गुणिनं पक्षयित्वा गुणाभेदो गुणं वा पक्षयित्वा गुण्यभेदसाधनं वा सामान्यत एव वेति। गुणभिन्नं गुणिनं साधयितुमुपक्रमते अस्तीति। यमहमद्राक्षं तमहं स्पृशामि यं वाऽस्पार्क्षं तं पश्यामीत्येक एवार्थ इन्द्रियाभ्यां गृह्यते, तेन गुणभिन्न एव गुणी सिद्ध्यतीत्यर्थः। प्रतिसन्धानस्यान्यथा सिद्धिमाशङ्क्य निराकरोति तदिदमिति। एकैकविषयमिति। रूपमात्रविषयं स्पर्शमात्रविषयं वेत्यर्थः। समुदायेति। रूपस्पर्शसमुदायविषयमित्यर्थः। तदतिरिक्तेति। अवयविविषयं वेत्यर्थः। आकारेति। ज्ञानाकार एव तथोल्लिख्यत इत्यर्थः।

न तावदाद्यः, न हि यदेव रूपं स एव स्पर्श इति। न च रूपं त्वगिन्द्रियग्राह्यम्, अन्धस्यापि नीलादिप्रत्ययप्रसङ्गात्। न चैकमेव वस्तु करणभेदेनान्यथा प्रथत इति युक्तम्, अनात्मकत्वप्रसङ्गात्,

भेदाभेदव्यवस्थानुपपत्तेश्च।

कल्पलता- रूपमात्रविषयत्वे दोषमाह न हीति। स्पर्शमात्रविषयत्वे तु तद्वैपरीत्येनापादनम्। दोषान्तरमाह न चेति। रूपस्य त्वगिन्द्रियग्राह्यत्वे दोषमाह अन्धस्येति। ननु रूपमेव त्वचा स्पर्शत्वेन गृह्यत इत्यत आह न चेति। इन्द्रियभेदेन जनिते ज्ञाने प्रकारभेदानुपलब्धेः। रूपत्वस्पर्शत्वे जाती परं भिन्नेन्द्रियवेद्ये न तु जातिमदपि तथेति यदि तदा तद्वस्तु न रूपं स्यान्न वा स्पर्शः स्यात्। विरुद्धत्वात् इत्याह अनात्मकत्वेति। भेदाभेदेति। अभिन्नस्यैव करणभेदेन विभिन्नप्रकारक प्रथासम्भवादित्यर्थः।

नापि द्वितीयः, स हि एकदेशतया वा, एककालतया वा, एककार्यतया वा, एककारणतया वेति।

कल्पलता- स हीति। रूपस्पर्शयोः समुदाय इत्यर्थः। अत्र सर्वत्र बहुव्रीहिः।

न तावदुपादानरूपैकदेशसम्भवः, तयोः प्रतिनियतोपादानत्वात्। सम्भवे वा तदेव द्रव्यमिति पर्यवसितं विवादेन। नाप्यधिकरणीभूतभूतलाद्या धारतया तत्सम्भवः। चक्षुषा ह्युपलभ्यमाने भूतले रूपविशेषे घटोऽपि चक्षुषैवोपलभ्यमानो रूपविशेषस्तदाधार इति शक्यते निश्चेतुम्। तयोरधरोत्तरभावेनैकज्ञानसंसर्गित्वात्। तदधिकरणाः स्पर्शादयोऽपीति तु कस्य प्रमाणस्य विषयः। न हि स्पर्शादयश्चाक्षुषे चेतसि चकासति। त्वचोऽयं व्यापार इत्यपि नास्ति। तयापि भूतलघटस्पर्शयोराधारा धेयभावप्रतीतेः। न च समुदाययोस्तत्सम्भवः, परस्पराश्रयत्वप्रसङ्गात्। एकाधारतायां हि समुदायानुसन्धानं समुदायानुसन्धाने चैकाधारतानु-सन्धानसम्भव इति। अनवस्थाप्रसङ्गाच्च, भूतलस्यापि समुदायत्वं किङ्कृतमित्यनुयोगानिवृत्तेः।

कल्पलता- आद्यं दूषयति न तावदिति। त्वन्मते रूपस्यैव रूपोपादानत्वादित्यर्थः। सम्भव इति। रूपस्पर्शयोर्यदेकमुपादानं स एव गुणीत्यर्थः। भूतले रूपात्मके घटस्य रूपात्मकस्याधाराधेयभावः परं गृह्यते न तु स्पर्शरूपयोरपीति नैकदेशता। त्वचापि स्पर्शयोरेवाधाराधेयभावो गृह्यते न रूपस्पर्शयोरित्याह चक्षुषा हीति। ननु रूपादिसमुदाये भूतले रूपादिसमुदायो घट उपलभ्यत एवेति कथं नाधाराधेयभाव इत्यत आह न चेति। रूपरसादीनामेकाधारतानुसन्धानाधीनं

समुदायानुसन्धानं चेत् तदाऽन्योन्याश्रय इत्यर्थः। अनवस्थेति। भूतलस्यापि समुदायत्वमेकाधारतयैव स्यादेवं तत्र तत्रापीत्यर्थः।

अत एव नैककालतयापि, तयोरेककालतायां प्रमाणाभावात्। भावे वा रासभकरभयोरप्येककालतया समुदायत्वप्रसङ्गः। भेदाग्रहस्य प्रकृतेऽप्यसम्भवात्।

कल्पलता- अत एवेति। समुदायमित्यनुवृत्तेन सम्बन्धः। रूपसादीनामेकेन्द्रियग्राह्यत्वादेवेत्यर्थः। प्रमाणाभावमुक्त्वाऽतिप्रसङ्गमाह भावे वेति। ननु रासभकरभयोरेककालतायामपि भेदग्रहादेव न समुदायव्यवहार इत्यत आह भेदेति। रूपरसादीनामपि भेदेनैव ग्रहादित्यर्थः।

अत एव नैककार्यतयापि, उपादेयरूपस्यैककार्यस्याभावात्। एकोदकाहरणलक्षणार्थक्रियेत्याद्यपि न युक्तम्। रूपाद्यतिरिक्तस्योदकस्यानभ्युपगमात्। एकैकस्यानेकाहार्यत्वे प्रमाणाभावात्। समुदायस्य चासिद्धेः।

कल्पलता- अत एवेति। रूपरसादीनामेकस्य कार्यस्याननुभवादित्यर्थः। उपादेयेति। न हि रूपादिभिरेकं कार्यमुपादीयत इति तव मम वाऽभ्युपगम इत्यर्थः। ननु रूपादिभिरेकं कार्यं नोपादीयते, तथापि निमित्तमुदकाहरणादेर्भवन्त्येवेत्यत आह एकेति। उदकमपि त्वन्मते रूपाद्येवेत्यर्थः। ननु तथापि रूपाद्यात्मकमेव तत् सर्वेषां कार्यं स्यादित्यत आह एकैकस्येति। रूपजन्ये स्पर्शजन्यतायां प्रमाणाभावात्। तथापि रूपादिसमुदायजन्यमेव तज्जलाहरणमत आह समुदायस्येति। तदर्थमेवैककार्यत्वस्यानुसरणात् तत्र च प्रमाणाभावादित्यर्थः।

अत एव नैककारणतयापीति। निमित्तमन्तरेण तु समुदायव्यवहारेऽतिप्रसङ्गः। तृतीये न विवादः। नापि चतुर्थः, स हि विज्ञाननयमाश्रित्य वा स्यात् द्विचन्द्रादिवद् विसम्वादाद्वा।

कल्पलता- अत एवेति। चतुर्णां रूपादीनामेकं कारणमत्र प्रमाणाभावादित्यर्थः। अतिप्रसङ्ग इति। भिन्नकालभिन्नदेशानामपि समुदायव्यवहारः स्यादित्यर्थः। तृतीये त्विति। प्रतिसन्धानस्य रूपाद्यतिरिक्तवस्तुविषयत्व इत्यर्थः। वस्त्वननुरोध्याकारविषयत्वेति दूषयति नापीति। स हीति।

आद्ये तु रूपादिषु कः पक्षपातः। प्राप्तेरर्थक्रियास्थितेश्च न

द्वितीयोऽपि। ते द्वे रूपादीनामिति चेत्, न तेषाम्, किन्तु तस्यैवेति किं न स्यात्। बाधकादिति चेत्, न तावत्क्रमयौगपद्यविरोधो रक्तारक्तविरोधो वा बाधकं, निषिद्धत्वात्। क्षणिकपरमाणुरूपद्रव्येणाक्रान्तेश्च। सम्बन्धाभाव इति चेत्, असम्बन्धस्तावदस्तु। कथं तद्वत् प्रतीयत इति चेत्, तेषां तथोत्पादादिति। परिहारोऽस्तु तवैव यथा शरीरं चेतनावदिति। रूपादिभिरेव समस्तार्थक्रियासिद्धेः किं तदतिरिक्तद्रव्यकल्पनयेति चेन्न। तावन्मात्रेणैव समस्तार्थक्रियासिद्धेः किं रूपादिकल्पनयेत्यस्यापि वाचाटवचसोऽवकाशप्रसङ्गात्। प्रतीयमानत्वादिति चेत्, तुल्यम्।

कल्पलता- यदि *विज्ञानवाद*माश्रित्योच्यते तदा रूपादीनामपि विप्लव ऐवत्याह आद्य इति। नन्वेकं स्थूलमित्यवयविगोचरं ज्ञानम्, तच्च द्विचन्द्रादिज्ञानवद्विसम्वादीति नावयविनि प्रमाणमित्यत आह प्राप्तेरिति। अत्रान्यथासिद्धिमाह ते द्वे इति। प्राप्त्यर्थक्रिये इत्यर्थः। अत्र विनिगमनाविरहं तावदाह न तेषामिति। तस्यैवेति अवयविन इत्यर्थः। बाधकादिति। यदि गुणी स्थिरः स्यान्न क्रमेण कुर्यान्न वा युगपत्। यदि चावयवी पटादिः स्यात्तदा रक्तारक्तविरोधः स्यादिति गुणिनि बाधकमित्यर्थः। एतद्द्वयबाधकं पूर्वमेव परिहृतमित्याह निषिद्धत्वादिति। किञ्च क्षणिके परमाणुरूपे च गुणिनि नैतद् द्वयं बाधकमित्याह क्षणिकेति। सम्बन्धाभाव इति। गुणिनि बाधकमित्यनुषञ्जनीयम्। गुणसमवायाद्धि गुणी भवेत्, स एव तु नास्तीत्यर्थः। सम्बन्धाभावे रूपविशिष्टप्रतीतिः कथमित्याह कथमिति। तेषामिति। रूपादीनां तथैवोत्पादात् सम्बन्धं विनैव विशिष्टबुद्धिजनकत्वेनोत्पादादित्यर्थः। तवैवेति। ज्ञानचैतनिकस्येत्यर्थः। रूपादीनामुभयसिद्धत्वाल्लब्धः क्लृप्तपरिग्रह इति किं गुणिनेत्याह रूपादिभिरेवेति। ननु रूपाद्यनभ्युपगमे तवापसिद्धान्त इत्यत आह वाचाटेति। प्रतीयमानत्वादिति। रूपाद्यभ्युपगम इति शेषः। प्रतीतिर्द्रव्येऽपि तुल्येत्याह तुल्यमिति।

एतेनालीकविषयतापि निरस्ता। अभेदसाधनं बाधकमिति चेत्, किं तत्। सहोपलम्भनियम इति चेन्न। समसहोपलम्भनियमस्यासिद्धेः, पीतशङ्खोपलम्भादौ श्वैत्यानुपलम्भेऽपि शङ्खोपलम्भात्।

कल्पलता- एतेनेति। रूपादीनामप्यलीकत्वप्रसङ्गेनेत्यर्थः। गुणी गुणाभिन्नः सहोपलम्भनियमादिति बाधकं शङ्कते अभेदेति। समसहोपलम्भनियमस्येति। परस्पराविषयकप्रतीत्यविषयत्वस्येति। व्यभिचारमाह पीतेति। श्वैत्याविषयक-

प्रतीत्यविषयत्वस्य शङ्खेऽसिद्धेरित्यर्थः।

नासौ शङ्खः, किन्तु शङ्ख इव, तैमिरिककेशवदिति चेत्, अहो गुणवद्विद्वेषः। यत् तैमिरिककेशाः करतलपरामर्शप्रतिनियतार्थक्रिययोरपायान्न सम्भवन्तीति व्यवस्थापयति। इह तु तत्सम्भवेऽपि शुभ्रतामात्रानुपलम्भादिति।

कल्पलता- नासाविति। यच्च पीतत्वेनोपलभ्यत इत्यर्थः। तैमिरिककेशानां यथा करपरामर्शस्य केशनियतार्थक्रियाविरहस्य चाभावादसत्त्वं स्यादिह तु तदुभयमस्तीति कथं शङ्खश्वैत्यमित्याह अहो इति।

व्यापकत्वादिति चेत्, वस्तुनोर्व्याप्तिरुपलम्भयोर्वा। आद्ये न विप्रतिपत्तिः। न च व्यापकानुपलब्धिमात्रेण व्याप्यतदुपलब्धी निवर्त्तेते। दहनानुपलब्धौ धूमतदुपलब्ध्योरपि निवृत्तिप्रसङ्गात्। तत्रापि वा किं न परिकल्पयसि धूम इवासौ न धूम इति। पावकवत्तानुपलब्धेरिति। तस्मान्न व्यापकानुपलब्धेर्व्याप्यनिवृत्तिः, किन्तु व्यापकनिवृत्तेः। सा चात्रासिद्धेति वाच्यम्। तदेतत् तुल्यं प्रकृतेऽपि। उपलब्धेस्तु व्याप्तिरिहैव भग्ना। श्वैत्यानुपलम्भेऽपि शङ्खोपलम्भादित्युक्तम्।

कल्पलता- ननु शुभ्रता शङ्खव्यापिका। तथा च प्रकृते तदुपलम्भनिवृत्तौ कथं शङ्खनिवृत्तिर्न स्यादित्याह व्यापकत्वादिति। शुभ्रतायाः शङ्खस्येति शेषः। न चेति। शुभ्रताया व्यापकत्वेऽपि तदुपलब्धिनिवृत्तौ न शङ्खनिवृत्तिः, न वा शङ्खोपलम्भनिवृत्तिः, न हि वह्न्युपलम्भनिवृत्तौ धूमनिवृत्तिर्धूमोपलम्भनिवृत्तिर्वेत्यर्थः। उपहसति तत्रापि वेति। धूमं दृष्टान्तीकृत्य शङ्खेऽप्यतिदिशति तदेतदिति। इहैवेति। पीतः शङ्ख इत्यत्रैवेत्यर्थः। कथं भग्नेत्याह श्वैत्येति।

स्यादेतत्। पीत एव शङ्ख उत्पन्न इति चेन्न। पुरुषान्तरेण श्वैत्यस्यैवोपलब्धेः।

कल्पलता- *वैनाशिकः* शङ्कते पीत एवेति।

नाप्यसम एव सहोपलम्भनियमो हेतुः अनैकान्तात्। अभास्वरं रूपं भास्वरेण सह नियमेनोपलभ्यते भिन्नं चेति। देशाविच्छेद इति चेन्न, असिद्धेः। देहदेहिभ्यामनैकान्ताच्च। न तयोरविच्छेदस्तदनुपलम्भेऽप्युपलम्भादिति चेत्, तुल्यम्। रूपाद्यनुपलम्भेऽपि तद्वतामुपलब्धेः। तथापि

न विपर्ययः कदापीति चेत्, तुल्यम्। न हि देहाद्यनुपलम्भे देह्यनुपलम्भवद्देह्यनुपलम्भेऽपि देहस्योपलम्भसम्भवस्तव दर्शने। प्रतिपत्तिनिष्पत्तिसामग्रीसाहित्यनियमेन सहोपलम्भो वा देशाविच्छेदो वा स्यात्। नियमेन विरुद्धधर्माध्यासाद्भेदश्चेति को विरोधः। धर्मविरोध एव कोऽत्रेति चेत्, तदुपलम्भेऽप्यनुपलम्भः तदभिधानेऽप्यनभिधानं तन्निषेधेऽप्यनिषेध इत्यादि। नीलमुत्पलं चलतीत्यादौ च व्यावृत्तिभेदनिराकरणे पूर्वक एव न्यायोऽनुसन्धेयः। अन्यत्रोपाधिभेदात्।

कल्पलता- नापीति। गुणेन सहैव गुणिनोऽनुपलम्भेऽपि गुणिना सहैव गुणोपलम्भ इत्यसमसहोपलम्भो गुणगुणिनोरभेदसाधकोऽस्त्विति शङ्कार्थः। अत्रानैकान्तिकतामाह अभास्वरेति। घटरूपमालोकरूपेण सहैवोपलभ्यते न च तयोरभेद इत्यर्थः। तयोर्घटरूपालोकरूपयोर्भिन्नदेशत्वमतः सहोपलम्भेऽपि नाभेद इह तु देशाविच्छेद इति गुणगुणिनोरभेदः स्यादित्याह देशाविच्छेद इति। पूर्वहेतुविशेषणम्। स्वतन्त्रो वा हेतुः, उभयमपि गुणगुणिनोरसिद्धमित्याह नासिद्धेरिति। रूपस्य शङ्खदेशत्वात् शङ्खस्य च स्वावयवदेशत्वादित्यर्थः। देहेति। देही तन्मते ज्ञानविशेषः। तथा च देहदेहिनः स्वप्रकाशज्ञानस्याहमित्युपलम्भादित्यर्थः। देहदेहिनोर्देशाविच्छेदेन प्रतीतावपि नाभेद इत्यनैकान्त इत्यर्थः। अनैकान्तिकत्वं परिहरति न तयोरिति। देहदेहिनोर्देशाविच्छेदः कुत इत्यत आह देहानुपलम्भेति। देहिनः स्वप्रकाशज्ञानस्याहमित्युपलम्भादित्यर्थः। तुल्यमिति रूपानुपलम्भेऽपि शङ्खस्योपलम्भमाह गुणगुणिनोरपि देशाविच्छेदाभावादित्यर्थः। तथापीति। यद्यपि गुणानुपलम्भे गुण्युपलम्भोऽस्ति तथापि गुण्यनुपलम्भे गुणोपलम्भो नास्तीत्यर्थः। तुल्य इत्येव दर्शयति न हीति। देहानुपलम्भेऽपि देहिनो ज्ञानस्योपलम्भो न पुनर्ज्ञानस्यानुपलम्भे देहस्योपलम्भस्त्वद्दर्शने त्वया देहोपलम्भस्य देहिनः स्वप्रकाशकत्वेनोपलम्भनियमस्वीकारादित्यर्थः। सहोपलम्भनियमं देशाविच्छेदं च हेतुद्वयमभ्युपगम्यान्यथासिद्धिमाह प्रतीतीति। भेदे सत्यपि देहसत्त्वमन्यथोपपन्नमित्यर्थः। तदुपलम्भ इति। रूपाग्रहणेऽपि शङ्खग्रहणं शङ्खाभिधानेऽपि तद्रूपाद्यनभिधानं शङ्खनिषेधेऽपि तद्रूपाद्यनिषेध इति भेदे सत्येवोपपद्यत इत्यर्थः। ननु यत्र यत्र गुणानुपलम्भे गुण्युपलम्भस्त्वयोच्यते तत्र गुणी शङ्खो न भासत एव। किं नाम? अशङ्खव्यावृत्तिमात्रमन्यत्र तु सहोपलम्भनियम एवातो न गुणगुणिनोर्भेद इत्यत आह नीलमिति। पूर्वक इति। विधिरूपगुणस्या

पोहवादनिराकरणावसरे समर्थितत्वादित्यर्थः। यद्वा नीलमुत्पलं चलतीति गुणजातिक्रियासामानाधिकरण्यं प्रतीयते। तच्च समानाधिकरणं द्रव्यमेव। न चात्रानीलादिव्यावृत्तिमात्रस्फुरणमपोहनिराकरणेन तन्निराकरणादित्याह नीलमिति। तत् किं सर्वत्र जातिगुणक्रियानिबन्धन एव विशिष्टप्रत्ययस्तथा च नित्यत्वानित्यत्वादिविशिष्टप्रत्ययाः कथं स्युरित्यत आह अन्यत्रेति। क्वचिदुपाधिकृतोऽपि विशिष्टप्रत्यय इत्यर्थः। यद्वा ननु सर्वत्र विशिष्टप्रत्यये यदि व्यावृत्तिभेदनिराकरणं तदा नाश्वोऽयमगौरयमित्यादिविशिष्टप्रत्ययाः कथमत आह अन्यत्रेति।

अभेदे च धर्मधर्मिणोर्दूरादूरतया ग्रहणे पट्वपटुनी कुतः। न च पुरुषभेदेन तथैवान्यस्योत्पादः, एकस्य द्वैरूप्याभावात्। न चान्यान्य एवासौ, एकदेशतया तत्त्वेन प्रतिसन्धानात्। न च सा भ्रान्ता, भिन्नदेशस्य तथाभूतस्य प्रत्यासीदताप्यनुपलम्भात्। न च निरालम्ब एव तदुपलम्भो वृक्षादिदेशप्रतिनियमानुपपत्तेः।

कल्पलता- दूषणान्तरमाह अभेदे चेति। दूरग्रहणे अपाटवम्, अल्पविषयत्वम्, अदूरग्रहणे च पाटवं बहुविषयत्वं न स्यादित्यर्थः। ननु तथोत्पादादेव ते स्यातामित्यत आह न चेति। एवं सति तद्वस्तु द्विरूपमापद्येतेत्यर्थः। नन्वन्यः पटुग्रहणविषयोऽन्यश्चापटुग्रहणविषय इति कुतो वस्तुद्वैरूप्यमित्यत आह न चेति। य एव दूराद्दृष्टः स एवायं वृक्ष इति निकटस्थेन प्रत्यभिज्ञानादित्यर्थः। न च सेति। सा एकदेशता भ्रान्ता भ्रमविषय इत्यर्थः। प्रत्यासीदतोऽपि पुरुषस्य तत्र बाधानवतारान्न भ्रान्तेत्याह भिन्नदेशस्येति। ननु तैमिरिक-केशोपलम्भवन्निरालम्बन एव पट्वपटुग्रह इत्यत आह न चेति। एवं सति वृक्षादिस्तद्विषयतया नोल्लिख्येतेत्यर्थः।

न चाधिपतिप्रत्ययत्वात्तस्येति युक्तम्। अनुभवानां तद्देशोल्लेखाननुरोधात्। उल्लेखे वा स एवालम्बनप्रत्ययः। तावन्मात्रानुबन्धित्वादवलम्बन व्यवहारस्य। न च देशोऽस्त्वालम्बनं न तु वृक्षादिरिति साम्प्रतम्। अनुपलब्धविशेषतया देशदेशिनोरविशेषात्। न च दवीयांसोऽपि विशेषाः स्फुरन्त्येव, न तु निश्चीयन्त इति युक्तम्। न हि योगविमलाञ्जन धौतदृष्टेरन्यस्य ताराव्यूहगतयः प्रतिभान्तीति शक्यं प्रतिपादयितुम्।

कल्पलता- ननु वृक्षादिदेशप्रतिनियतोऽप्युपलम्भः स्पष्टास्पष्टरूपोऽनादि वासनाप्रभव एवेत्यत आह **न चाधिपतीति**। **अधिपति**रनादिवासना, यदधीनाः स्थूलादिविकल्पाः। सा **प्रत्ययः** कारणं यस्येत्यर्थः। वासनाया निरपेक्षायाः कारणत्वाभ्युपगमेऽतिप्रसङ्ग इति तदुद्बोधकोऽनुभवो वाच्यः। स च न देशमुल्लिखतीति तदुद्बोधिता वासनापि न तदुल्लिखेदित्याह **अनुभवानामिति**। निर्विकल्पकानामित्यर्थः। नन्वननुभवेनापि देश उल्लिख्यतामत आह **उल्लेख इति**। तर्हि सिद्ध एव वृक्षादिर्देशस्तत्र च स्पष्टास्पष्टग्रहणं च सिद्धमित्यर्थः। नन्वनुभवविषयत्वेऽपि वृक्षादिः कथं सालम्बन इत्यत आह **तावन्मात्रेति**। ननु स्पष्टास्पष्टग्रहणयोर्यथा देशिनि वृक्षे विरोधापादकत्वं तथा देशे भूतलादावपि तदा स्यात्तत्रापि हि दूराद् यावद्विशेषानुपलम्भस्याविशेषादित्यर्थः। ननु स्पष्टग्रहणं नास्त्येव येन विरोधः स्यात्, किन्तु ग्रहणानि निर्विकल्पकानि सर्वत्र स्पष्टान्येव, सविकल्पकं तु सर्वविशेषविषयं यत्र नोत्पद्यते तदस्पष्टग्रहणमिष्यत इति कुतो विरोध इत्यत आह **न च दवीयांस इति**। योगविमलाञ्जनदृष्टिर्योगी, तदन्योऽस्मदादिस्तस्यापि ताराव्यूहस्य दवीयांसो गतयः प्रतिभान्तीति न शक्यं वक्तुमतो यदुक्तं दवीयांसोऽपि विशेषाः स्फुरन्ति न तु निश्चीयन्त इति, तन्न युक्तमित्यर्थः।

अनिश्चयानुपपत्तेश्च। अनुभूतो ह्यात्मा न निश्चीयत इत्यत्र हेतुर्वाच्यः। वासनानुद्भव इति चेन्न। निःशेषविशेषवन्तं धर्मिणमुपलभ्य विदूरवर्त्तिनस्तदखिलस्मरणेऽपि अनुभवव्यापारानुसारिनिश्चयानुदयात्।

कल्पलता- किञ्च निर्विकल्पकगृहीतः सविकल्पकेन न विषयीक्रियत इत्यप्ययुक्तमित्याह **अनिश्चयेति**। ननु निर्विकल्पकानन्तरं यत्र संज्ञास्मरणं भवति तत्र तद्विशिष्टज्ञानमुत्पद्यते न तु सर्वत्रेत्याह **वासनेति**। **अनुभवव्यापारेति**। **अनुभवव्यापारः** साक्षात्त्वम्। तेन निकटे गृहीतसकलविशेष्यधर्मिणो दूरेऽपि तदनुभवबलात् साक्षात्कारि ज्ञानं स्यात्। त्वया च चक्षुषः प्राप्यकारित्वानभ्युपगमात् सामग्र्यन्तरस्य सद्भावादित्यर्थः।

तथापि चानुभवकल्पनायां सर्वः सर्वदा सर्वं जानाति न तु निश्चिनोतीति किं न स्यात्। भ्रान्तिवशात् तद्विपरीतविशेषनिश्चयेऽनुभूत विशेषानिश्चय इति चेन्न। अनुभववैपरीत्ये निश्चयस्य सर्वत्रानाश्वासप्रसङ्गात्। यत्र च विपरीतस्याप्यनिश्चयस्तत्र का वार्त्ता, यथा पराचीनैर्भागैरर्वाचीनानां संयोगविभागयोरिति।

कल्पलता- तथापीति। अनिश्चितेऽप्यर्थ इत्यर्थः। ननु रजतभ्रमेणान्तरिते शुक्तिनिर्विकल्पके शुक्तिनिश्चयो न भवति। तथा च कुतोऽयं नियमो यदनुभूतं निश्चीयत एवेत्याशङ्कते **भ्रान्तीति**। **अनुभवेति**। अनुभवानन्तरं विपरीतनिश्चयश्चेत्तदाऽनुभवमात्रप्रामाण्यवादिनः क्वापि समाश्वासो न स्यात्। शुक्तौ तु निर्विकल्पकं न भवत्येव, किन्तु स्मृतरजतस्य धर्मेन्द्रिय-सन्निकर्षाद्विपरीतनिश्चय एवोत्पद्यत इति भावः। किञ्च परभागार्वाग्भागयोः संयोगविभागौ प्रत्यक्षाप्रत्यक्षवृत्तितया वायुवनस्पतिसंयोगविभागवदप्रत्यक्षौ तत्रापि त्वया ग्रहणमभिधीयते, विपर्ययश्च नास्ति, तत् कथं न निश्चीयत इत्याह **यत्र चेति**।

अनुपलम्भवादः

अस्तु तर्हि नैरात्म्यम्, अनुपलब्धेरिति चेन्न।
सर्वादृष्टेश्च सन्देहात् स्वादृष्टेर्व्यभिचारतः।

दृश्यत्वविशेषणान्नैवमिति चेन्न, तदसिद्धेः। परोपगमसिद्धेरदोष इति चेन्न, स्वतन्त्रसाधनत्वात्। यदि परः सहसैव नैवमभ्युपगच्छेत्, नूनं साधनमिदं मूर्छेत्। यदि च परादृष्टिमवधूय दृश्यन्तमभ्युपगच्छेत्, एवमपि सम्भवेत्। न चैवं शक्यम्, तस्य तदुपहितरूपत्वादिति सङ्क्षेपः। विस्तरस्त्वसन्तोऽ क्षणिका इतिवदूहनीयः।

कल्पलता- अनुपलम्भो वेति यदात्मनि बाधकं शङ्कितं तन्निरस्यन्नाह **अस्तु तर्हीति**। आत्मा नास्ति, अनुपलब्धेः, शशविषाणवदित्यर्थः। अत्र सर्वानुपलब्धिमादाय सन्दिग्धासिद्धिमाह **सर्वेति**। पुरुषविशेषानुपलब्धिमादाय व्यभिचारमाह **स्वादृष्टेरिति**। ननु योग्यानुपलम्भेन प्रत्यक्षत एवात्माभावो गृह्यत इत्याशङ्क्याह **दृश्यत्वेति**। अनुमानपक्षे दोषमाह **तदसिद्धेरिति**। त्वयाऽऽत्मनो दृश्यत्वानभ्युपगमात्, अभ्युपगमे वा सिद्धं नः समीहितमित्यर्थः। *नैयायिकै*स्तावद् दृश्यत्वमङ्गीक्रियते। तथा च कथं तदसिद्धिरित्याह **परेति**। **स्वतन्त्रेति**। तर्कः पराभ्युपगमाधीनप्रवृत्तिर्न तु स्वतन्त्र्य(साधन) मनुमानमपीत्यर्थः। ननु कुतो व्यवस्थेयमित्याह **यदि चेति**।

'सोऽपि यावत् परासिद्धः स्वयं सिद्धो विधीयते।
भवेत्तत्र प्रतीकारः स्वतोऽसिद्धे तु का क्रिया'।। इत्यर्थः।

सहसेति स्वारसिकानभ्युपगमवारणाय, अन्यथाऽपसिद्धान्तापत्तेः। मूर्छेदिति। स्वरूपासिद्धं स्यादित्यर्थः। नन्वनुमानमपि परसिद्धेन प्रवर्त्तताम्, को दोषः, त्वदनभ्युपगमस्त्वपसिद्धान्तभयादेव वादिना न कर्त्तव्य इत्यत आह यदि चेति। परोऽपि दर्शने सति दृश्यत्वमभ्युपगच्छेत् न तु तदन्तरेण दृश्यत्वमात्रमित्यर्थः। तस्येति। दृश्यत्वस्य दर्शनोपहितत्वादित्यर्थः। विस्तरस्त्विति। असन्तोऽक्षणिकाः क्रमयौगपद्यरहितत्वादित्यत्राश्रयासिद्धिर्बाधो वा, तथाऽऽत्मा नास्त्यनुपलब्धेरित्यत्रापीत्यर्थः।

अथात्मसद्भावे किं प्रमाणम्। प्रत्यक्षमेव तावत्, अहमिति विकल्पस्य प्राणभृन्मात्रसिद्धत्वात्। न चायमवस्तुकः सन्दिग्धवस्तुको वा, अशाब्दत्वादप्रतिक्षेपाच्च। न च लैङ्गिकः, अननुसंहितलिङ्गस्यापि स्वप्रत्ययात्। न च स्मृतिरियम्, अननुभूते तदनुपपत्तेः। अनादिवासनावशादनादिरयमवस्तुको विकल्प इत्यपि न युक्तम्, नीलादिविकल्पसाधारण्यात्। इह वासनामुपादायानाश्वासे प्रमाणान्तरेऽपि कः समाश्वासो यतो नीलादिविकल्पेषु समाश्वासः स्यात्।

कल्पलता- ननु साधकबाधकमानाभावादात्मनि सन्देहः स्यादतः साधकमाह प्रत्यक्षमिति। *आगमा*नुमानयोरपि आत्मनि सत्त्वे प्रत्यक्षस्योपजीव्यत्वात्तदेव प्रथममुक्तम्। ननु शशविषाणप्रत्ययवदहमिति प्रत्ययः स्यादित्यत आह न चेति। *बौद्धैः* शब्दादिविकल्पानामवस्तुकत्वाभ्युपगमादाह अशाब्दत्वादिति। सन्दिग्धवस्तुकतायामाह अप्रतिक्षेपादिति। नायं स्थाणुरितिवन्नाहमिति प्रतिक्षेपाभावादित्यर्थः। न च लैङ्गिक इति। यद्यपि लैङ्गिकमप्यसत्ख्यातिरूपमेव तन्मते, तथापि हेत्वन्तरमप्याह अननुसंहितेति। नन्वाधुनिकी वासना मूलानुभवमपेक्षते नत्वनादिरपीत्याशङ्क्य निराकरोति अनादीति। तर्हि नीलाद्यपि पारमार्थिकं न स्यादनादिवासनावशादेव तेषामपि स्फुरणसम्भवादित्याह नीलादीति। तदेव स्फुटयति इहेति आत्मनीत्यर्थः।

तस्माद्वासनामात्रवादं विहायागन्तुकमपि किञ्चित् कारणं वाच्यम्। तच्चाप्तानाप्तशब्दौ वा लिङ्गतदाभासौ वा प्रत्यक्षतदाभासौ वेति। तत्र यथा प्रथममध्यमप्रकाराभावान्नीलविकल्पश्चरमं कल्पमालम्बते तथाऽहमिति विकल्पोऽपि। तत्रायं

प्रत्यक्षपृष्ठभावित्वे साक्षादेव सवस्तुकः,
तदाभासे तु मूलेऽस्य पारम्पर्यात् सवस्तुता। इति।

कल्पलता- तस्मादिति। नीलाद्युपप्लवभयादित्यर्थः। प्रथममध्यमेति। पूर्वदूषितत्वादित्यर्थः। चरममिति। प्रत्यक्षतदाभासपक्षमित्यर्थः। प्रत्यक्षाभासमूलतायामपि सवस्तुकतामाह तत्रेति। अहमिति विकल्पस्य निर्विकल्पकजन्यत्वे नीलादिविकल्पवत् सवस्तुकता, प्रत्यक्षाभासमूलत्वे तु परम्परया मूलभूतं प्रत्यक्षमभ्युपेयं प्रमापूर्वकत्वादारोपस्येत्यर्थः।

न च बाह्यप्रत्यक्षनिवृत्तावेव निर्मूलत्वम्, बुद्धिविकल्पस्यापि तथात्वप्रसङ्गात्। तत्र स्वसम्वेदनं मूलमिहापि मानसप्रत्यक्षमिति न कश्चिद्विशेषः।

कल्पलता- ननु यद्यात्मास्ति तदा नीलादिवद्बहिरिन्द्रियवेद्यं स्यादित्यत आह न चेति। ननु बुद्धिः स्वयमेव स्वस्मिन् प्रमाणं न त्वात्मा तथा, तस्य जडत्वादित्यत आह तत्रेति। मानसमिति। वेदनमित्यनुषज्यते। तथा च मानसप्रत्यक्षसिद्ध एवात्मेत्यर्थः।

शरीरादिवस्तुको भविष्यतीति चेन्न, निरुपाधिशरीरेन्द्रियबुद्धि तत्समुदायालम्बनत्वेऽतिप्रसङ्गात्। स्वसम्बन्धिशरीरादावयं स्यादिति वाच्यम्, तत्र कः स्वार्थ इति वचनीयम्। अनन्यत्वं स्वत्वं सर्वभावानाम्। तथा च यदा तेनैव तदनुभूयते तदा प्रत्येतुः प्रत्येतव्यादव्यतिरेकादहमिति स्यात्। अत एव घटादयो न कदाचिदनन्यानुभवितृका इति न कदाप्यहमास्पदमिति चेत्, एवं तर्हि त्वन्मतेऽप्यहं प्रत्ययः शरीरादावारोपरूप एव, ततः प्रत्येतुरन्यत्वात्।

कल्पलता- नन्वयमहं प्रत्ययः शरीर एव स्थौल्यादिसामानाधिकरण्येना हन्त्वग्रहादित्याशङ्कते शरीरेति। एवं सति चैत्रशरीरेऽपि मैत्रस्याहं प्रत्ययः स्यादिति। स्वसम्बन्धिनीत्यन्तर्भाव्य प्रत्ययशङ्कामाह निरुपाधीति। बुद्धिचैतनिकतत्समुदाय चैतनिकवादिनावपि तुल्यन्यायेन प्रत्याख्यातुं तदन्तर्भावेन शङ्कितम्। तत्रेति। स्वपदेनात्मैव वाच्यः। तथा च सिद्धं नः समीहितमिति भावः। अनन्यत्वं अन्योन्याभावात्यन्ताभाववत्त्वमित्यर्थः। एवं सति स एवातिप्रसङ्ग इत्यत आह तथा चेति। प्रत्येता यत्र प्रत्येतव्यस्तत्राहमिति प्रत्यय इति नातिप्रसङ्ग इत्यर्थः।

बुद्धिचैतनिकं प्रत्याह एवं तर्हीति। शरीरादेः प्रतिपत्तृभिन्नत्वादित्यर्थः।

बुद्धौ मुख्य एवेति चेन्न। तस्याः क्रियात्वेनानुभूयमानाया भिन्नस्य कर्त्तुरहं च्छिनद्मीतिवत् अहं जानामीत्यनुभवात्। नीलादिप्रत्येतव्याकारवत् प्रतिपत्त्याकारोऽपि प्रतिपत्तेरेवायमात्मा तथा भासत इति चेत्, तर्हि प्रत्येतव्यप्रतिपत्त्याकारयोस्तुल्ययोगक्षेमत्वात् सिद्धं नः समीहितम्। अस्तु स्वोपादानमात्रमिति चेन्न। तत्प्रतिभासने तदाकारस्यापि प्रतिभासप्रसङ्गात्। आकारमन्तरेणाकारिणोऽनवभासात्। प्रवृत्तिसन्तानान्यो बुद्धिसन्तानः प्रतिपत्ता, वयं तमालयविज्ञानमाचक्ष्महे इति चेत्, अस्तु तर्हि प्रवृत्तिविज्ञानोपादानमनादिनिधनः प्रतिपत्ता। स किं सन्तन्यमानज्ञानरूपस्त-द्विपरीतो वेति चिन्ताऽवशिष्यते, निःशेषिता चासौ प्रागेवेति।

कल्पलता- बुद्धिस्तत्रोपाधिरित्याह बुद्धाविति। अहन्त्वाधिकरणे क्रियात्वेन भासमाना बुद्धिर्नाहङ्कारास्पदं भवितुमर्हतीत्याह तस्या इति। ननु यथा नीलादिबुद्धौ नीलादिराकारस्तथा प्रतिपत्तेराकारोऽहन्त्वं प्रतिपत्तौ भासत इति शङ्कते नीलादीति। एवं यथा नीलादिः प्रतीतिभिन्नस्तथा प्रतिपत्तापि प्रतिपत्तिभिन्न एव तस्याकारस्तत्र भासत इति सिद्धं नः समीहितमित्याह तर्हीति। नन्वहमाकारायाः प्रतिपत्तेर्या प्रतिपत्तिरुपादानभूता सैवाहन्त्वेन भासत इत्याह अस्त्विति। स्वोपादानमात्रमहं प्रत्ययविषय इति शेषः। स्वोपादानं हि नीलादिविज्ञानं यदि तदा तदुल्लिखद्विज्ञानं नीलाद्यप्युल्लिखेत्। तथा च क्वाहं प्रत्यय इत्याह तत्प्रतिभासन इति। आकारेति। प्रवृत्तिविज्ञानाकारो नीलादिस्तमन्तरेणाकारिण उपादानस्य नीलादिविज्ञानस्यानव भासनादित्यर्थः। आलयविज्ञानमुपादानपदेनोच्यते तस्य चाहंत्वमात्रमाकार इति। न नीलादिभानप्रसङ्ग इत्याह प्रवृत्तीति। अनादिनिधन इति। सन्तानाभिप्रायम्। प्रागेवेति। क्षणभङ्गप्रकरण एवेत्यर्थः।

कः पुनरत्र न्यायः। प्रतिसन्धानम्। तथ्यमिदमित्यसिद्धमतथ्यञ्च विरुद्धम्। अविशिष्टमनैकान्तिकमिति चेन्न। हेत्वर्थानवबोधात्। नहि प्रत्यभिज्ञानमात्रमत्र विवक्षितम्। तत् किं कार्यकारणयो रेकसन्तानप्रतिनियमः। सोऽपि विरुद्ध इति चेत्? एषोऽपि न विवक्षितो नः। कस्तर्हि? पूर्वापरधियामेककर्तृतया विनिश्चयः। एषोऽपि तासामुपादानोपादेयभावेनाऽप्युपपद्यत इति चेन्न। स्थैर्यस्थितौ तदभावात्। क्षणिकत्वेऽपि नैकजातीयत्वे सति तदुत्पत्तिरेवोपादानोपादेयभावः।

शिष्याचार्यधियामपि तथाभावप्रसङ्गात्।

कल्पलता- अत्रेति। स्थिरात्मनीत्यर्थः। न्यायरुचिम्प्रत्युत्तरमाह **प्रतिसन्धानमिति।** वस्तुतः प्रत्यक्षमेव प्रतिसन्धानं स्थैर्ये प्रमाणं, कथायान्तु प्रत्यक्षमप्यनुमानच्छाययैव प्रयोक्तव्यम्। तथा च प्रयोगः, अहमिति प्रत्ययालम्बनं स्थिरं ताद्रूप्येण प्रत्यभिज्ञायमानत्वात् घटादिवत्। प्रमारूपं प्रत्यभिज्ञानं स्वरूपासिद्धं, भ्रमरूपं चेद्विरुद्धं, प्रत्यभिज्ञानमात्रन्तु जात्यादिप्रत्यभिज्ञानेऽनैकान्तिकमित्याह **तथ्यमिति। कार्येति।** कार्यकारणयोरनुभवस्मरणयोरेकसन्ताननियमः सन्तानान्तरे तदनुपपत्तेरित्यर्थः। **सोऽपीति।** कार्यकारणसन्तानस्य भेदनियतत्वादित्यर्थः। आशयमुद्घाटयति **पूर्वापरधियामिति।** योऽहं रूपमद्राक्षं सोऽहं स्पर्शं स्पृशामि योऽहं घटमन्वभवं सोऽहं तं स्मरामि इति प्रत्यभिज्ञानमनेककर्तृका-द्व्यावर्तमानमेककर्तृकतायां विश्राम्यतीत्यर्थः। पूर्वं प्रत्यभिज्ञायमानत्वं स्थैर्येऽन्वयप्राधान्येनैव शङ्कितमित्यविरोधः। अन्यथासिद्धिमाह **एषोऽपीति।** धियामुपादानोपादेयभावव्यतिरेकप्रयुक्तः चैत्रमैत्रयोः प्रतिसन्धानव्यतिरेको नैककर्तृकव्यतिरेकप्रयुक्त इत्यर्थः। **तदभावादिति।** धियामुपादानोपादेय-भावाभावादित्यर्थः। अभ्युपगमवादेनाह **क्षणिकत्वेऽपीति।** साजात्ये सति कार्यकारणभाव एवोपादानोपादेयभावलक्षणं तच्च धियामस्त्येवेत्यर्थः। अत्रातिव्याप्तिमाह **नैकेति।** न च साक्षात्कारणत्वं विवक्षितमिह तु वचनादिद्वारा तदिति वाच्यम्। स्मृत्यनुभवयोस्तदभावात्।

भेदाग्रहे सतीति चेन्न, प्रकृतेऽपि तदभावात्। शरीरभेदाग्रहस्तावदस्तीति चेन्न। भिन्नजन्मज्ञानाव्याप्तेः। अनुपलब्धपितृकेणापि बालेनातिप्रसङ्गात्। घटकपालक्षणयोरतथाभावप्रसङ्गाच्च। एकाधारतया नियम इति चेन्न। तस्य वास्तवस्य क्षणिकत्वपक्षेऽपि विषमसमयानां क्षणानामभावात्। काल्पनिकस्य त्वतिप्रसञ्जकत्वात्। शरीरबुद्ध्योरपि समानदेशताभिमानात्।

कल्पलता- प्रकृते इति। नीलपीतादिधियां भेदेनैव ग्रहादित्यर्थः। एकबुद्धिसन्ताने शरीरभेदाग्रहोऽस्तु न तु शिष्याचार्यबुद्धिसन्तान इति न तत्रोपादानोपादेयभाव इत्याह **शरीरेति। भिन्नेति।** तत्र जातिस्मरत्वानु-रोधेनोपादानोपादेयभावस्त्वयाङ्गीक्रियते न तु शरीरभेदाग्रह इत्यव्याप्तिरित्यर्थः। दोषान्तरमाह **अनुपलब्धेति।** तत्र शरीरभेदाग्रहोऽस्ति न तूपादानोपादेयभावः।

तथात्वे वा पित्रनुभूतस्य पुत्रेण स्मरणप्रसङ्ग इत्यर्थः। **घटेति**। तदुत्पत्तावपि साजात्याभावात् उपादानोपादेयभावाभावप्रसङ्ग इत्यर्थः।

बाल्ययौवनभेदेन स्वशरीरभेदग्रहोऽस्त्येवेति तत्रोपादानोपादेयभावाभावात्प्रतिसन्धानं न स्यादित्यपि द्रष्टव्यम्।

घटकपालयोः स्वबुद्ध्योश्चैकाधारत्वात् कार्यकारणभावे सत्युपादानोपादेयभाव इत्याह **एकेति**। घटकपालयोर्वास्तवैकाधारता न देशकृता, न कालकृता, घटकाले च कपालनाशाद्देशकालयोश्च क्षणिकत्वेन भिन्नत्वादित्यर्थः। **काल्पनिकस्येति**। तन्तुघटयोः कपालपटयोश्च कदाचिदेकाधारताभ्रमसम्भवादित्यर्थः। अतिप्रसङ्गमेवाह **शरीरेति**।

एतेन-

अभ्रान्तसमतैकावसायः प्रकृतिविक्रिये।
ततौ हेतुफलस्योपादानोपादेयलक्षणम्।।

इति निरस्तम्।

कल्पलता- अभ्रान्तेति। हेतुफलस्य ततौ सन्तताविति द्वयमुपादानोपादेयलक्षणम्। किन्तदित्याह **अभ्रान्तः** समतया **एकावसायः** एकाकारावसायः सभागसन्तानोपादानोपादेयलक्षणं, विसभागसन्ताने तु प्रकृतिविकारभाव इत्यर्थः।

काष्ठस्य तु प्रकृतेर्विकृतिरङ्गार इति कुतो निश्चितं भवता, यावता वह्नेरेवाऽयं विकारः किं न स्यात्? वह्निसम्बन्धिकाष्ठादेव तदुत्पत्तेरिति चेन्न। काष्ठसम्बन्धेन वह्नेरेव तदुत्पत्तिरित्यपि किं न कल्प्येत। पार्थिवं पार्थिवोपादानकमिति निश्चयादिति चेत्? कुत एतत्। सभागेषु स्वक्षणेषु तथादर्शनादिति चेत्? एतदपि कुतः ? अभ्रान्तसमतैकावसायादिति चेत्! अथ केयं समता नाम? यदि साजात्यम्? सादेश्यं वा? तत् प्राङ्निरस्तम्। एकसन्तानत्वञ्चेत्तदपि तदुत्पत्तिमात्रञ्चेत्? निमित्तनैमित्तिकयोरपि तथाभावप्रसङ्गः। उपादानोपादेयभावश्चेत्? कथं तेनैव तद्व्यवस्थाप्येत। ज्ञानेषु तत्प्रतिसन्धानमेवोपादानोपादेयलक्षणमिति चेन्न। आत्माश्रयप्रसङ्गात्।

कल्पलता- अत्राननुगमे सत्येव विसभागसन्ताने लक्षणस्य दुरवगमत्वमाह **काष्ठस्येति**। **पार्थिवमिति**। सजातीयमेवोपादानकारणम्। तथा च काष्ठाङ्गारयोः

साजात्यं, न तु वह्न्यङ्गारयोरित्यर्थः। **कुत एतदिति।** साजात्यं तत्त्वमिति कुत इत्यर्थः। सभागसन्ताने तावदुपादानोपादेयभावं प्रति साजात्यमेव तन्त्रमतो विसभागसन्तानेऽपि तदेव तन्त्रं कल्पनीयमित्यर्थः। **एतदपीति।** सभागसन्तानेऽपि साजात्यमेतदपि कुत इत्यर्थः। **अभ्रान्तेति।** घटोऽयं घटोऽयमिति यत्समतया एकावसायोऽनुगतावसायस्तेनात्र साजात्यं निश्चितमित्यर्थः। समतैव दुर्निरूपेत्याह **अथेति।** साजात्यञ्चेत्तदाऽऽत्माश्रयः साजात्येनैव साजात्यनिरूपणात्। सादेश्यञ्चेत् तदा एकाधारताखण्डनेनैव निरस्तेत्यर्थ। नन्वेकसन्तानत्वमेव साजात्यं, तच्च सभागविसभागयोस्तुल्यमित्याह **एकेति। निमित्तेति।** पुञ्जात् पुञ्जोत्पत्तिस्तथा च पूर्वरूपस्य रूपं प्रत्युपादानत्वं रसं प्रति निमित्तत्वमिति त्वदभ्युपगमरीत्या रूपस्यापि रसं प्रत्युपादानत्वं स्यादित्यर्थः। तदुत्पत्तिशब्देनोपादानोपादेयभाव एव विवक्षित इत्यतो नातिप्रसङ्ग इत्यत आह **उपादानेति।** तथा आत्माश्रय इत्यर्थः। एककर्तृकत्वव्यावृत्त्या प्रतिसन्धानव्यावृत्तिः सिद्धान्तिनोक्ता। तत्र परेण कार्यकारणभावाभाव एवोपाधिरुपन्यस्तस्तत्र च प्रतिसन्धानाभावो हेतुव्यतिरेकः साध्यव्यतिरेकव्यापको वक्तव्य उपाधिश्च। तत्र साध्यव्यापको वक्तव्यस्तत्र च शिष्याचार्यधियोः पितापुत्रधियोश्च प्रतिसन्धानाभावोऽस्ति न तु कार्यकारणभावाभाव उपाधिरिति। साध्याव्यापकत्वमुपाधौ दूषणमुक्तं, उपादानोपादेयभावलक्षणखण्डनन्तु प्रसक्तानुप्रसक्तिकमित्यवधेयम्।

तद्योग्यतेति चेत्? सैव केति चिन्त्यम्। शक्तिविशेष इति चेत्? स तावन्न प्रतिक्षणनियतः। यथा हि तेन तत्कर्तव्यं तथा तादृशाऽपि तत्कर्तव्यमित्यपि नियम एव। अन्यथा तेन तत्कृतमित्यपि न निश्चीयेत। क्षणस्य दुरुन्नेयत्वात्। तथा च निरीहं जगज्जायेत। आकस्मिकञ्च कार्यस्य तादृशत्वमापद्येत। तथा च न नियम उपलभ्येत। नापि प्रतिसन्ताननियतः (शक्तिविशेषः) विशेषाभावात्।

कल्पलता- सैवेति। प्रतिसन्धानयोग्यताया एव विचार्यमाणत्वान्न सैव लक्षणमित्यर्थः। **शक्तिविशेष इति।** बुद्धीनां स तादृशः शक्तिविशेषो येन प्रतिसन्धाननियमः कार्यकारणभावे सत्युपपद्यते, शिष्याचार्यधियोश्च स नास्तीति न प्रतिसन्धानमित्यर्थः। **स तावदिति।** शक्तिविशेषो हि कारणत्वमेव तत्र प्रतिव्यक्तिग्राह्यमशक्यत्वादननुगमाच्च। किं च या व्यक्तिश्च कारणं तज्जातीयाऽपि व्यक्तिः कारणमेवेति नियम एव। न चाकाशः शब्दकारणं, न चाकाशजातीयं

तत्र जातेरभावादिति वाच्यम्। अन्वयव्यतिरेकग्राह्यकारणताया एवंरूपत्वात्। प्रकृते तु धर्मिग्राहकमानसिद्धेत्यदोषात्। **अन्यथेति**। जातेः कारणत्वानवच्छेदकत्वे। कुत एतदित्यत आह **क्षणस्येति**। ननु नोपलब्धे कारणत्वं को दोष इत्यत आह **तथा चेति**। इष्टसाधनताऽनिष्टसाधनताज्ञानाभावात् प्रवृत्तिनिवृत्ती न स्यातामित्यर्थः। **निरीहं निश्चेष्टं** हिताहितप्राप्तिपरिहारलक्षणक्रियाशून्यमित्यर्थः। **आकस्मिकञ्चेति**। कारणतावच्छेदकरूपं विना कार्यतावच्छेदकरूपं प्रतिनियतं न स्यादित्यर्थः। मा भूत्को दोष इत्य आह **तथा चेति**। धूमजातीयं वह्निजातीयजन्यमिति नियमो नोपपद्येतेत्यर्थः। तथा च बुद्धित्वेनैव कारणता वाच्या प्रतिसन्धानं प्रति, तच्च शिष्याचार्यबुद्ध्योरपीति भावः। **प्रतिसन्ताननियत इति**। शक्तिविशेष इत्यनुषञ्जनीयम्। **विशेषाभावादिति**। शिष्याचार्यबुद्धिसन्तानयो र्व्यावर्तकधर्माभावादित्यर्थः।

अस्तु वैजात्यमिति चेन्न, अनुपलब्धिबाधितत्वात्। नहि शिष्याचार्यनीलधियोर्मात्रयाऽपि जातिकृतं विशेषमुपलभामहे। अदृश्यत्वादयमदोष इति चेन्न। दृश्यसमवायिन्या जातेरदृश्यत्वानुपपत्तेः। उपपत्तौ वा धूमादावपि अवकाशप्रसङ्गात्। तथा चावान्तरसत्त्ववदवान्तरधूम एव वह्नेः कार्यः स्यादिति शङ्काकलङ्कितत्वात्। न (च) धूमसामान्यमग्निं गमयेत्। एवमेतत्। आद्यस्यैव तथाभावादिति चेन्न। तत्रापि शङ्कायास्तदवस्थत्वात्। तस्मात् कारणस्य वैजात्ये प्रमाणसिद्धे कार्यस्य सौसादृश्येऽप्यवान्तरजातिभेदः कल्प्यते। हेतुवैजात्यस्य फलवैजात्यं प्रति प्रयोजकत्वात्। अप्रयोजकत्वे तस्याऽऽकस्मिकत्वप्रसङ्गात्। कारणसाजात्येऽपि कार्यस्य वैजात्यं सहकारिवैजात्ये पर्यवस्यतीति युक्तमुत्पश्यामः। अन्यथा प्रकृते परलोकोऽपि न सिद्ध्येत्। अचेतनोपादानकमपि ज्ञानमवान्तरजातीयं स्यात्। अचेतनमप्यवान्तरजातीयं ज्ञानोपादानं भवेत्। दृश्यजात्यभेदेऽपि किञ्चिदेव निमित्तं भविष्यतीति शङ्कायाः समुत्थापयितुं शक्यत्वादिति।

कल्पलता- अदृश्यत्वादिति। एकसन्तानिकबुद्धिष्वेव स विशेषोऽस्ति परन्तु नोपपद्येत इत्यर्थः। व्यक्तियोग्यतानियतत्वाज्जातियोग्यताया अन्यथा वह्निप्रयोज्या काचिज्जातिः पिशाचजन्यधूमाद्विशेषा भविष्यतीत्यपि शङ्क्येतेत्यर्थः। **एवमेतदिति**। धूमेऽपि वैजात्यशङ्का भवत्येव किन्तु प्रथम एव वह्निप्रभवो धूमो

वह्निं गमयतीत्यर्थः। आद्योऽपि धूमः पिशाचादेव किं इति शङ्कायास्तत्रापि सद्भावादित्याह **तत्रापीति**। नन्वेवं तृणारणिमणिस्थलेऽपि वह्नौ वैजात्यं न कल्प्येतेत्याशङ्क्योपसहंरति **तस्मादिति**। अत्र हेतुमाह **हेतुवैजात्यस्येति**। अत्रैव विपक्षदण्डमाह **अहेतुकत्व इति**। नन्वात्ममनःसंयोगजन्यमपि ज्ञानसुखादि कथं विजातीयमित्यत आह **कारणेति**। इन्द्रियार्थादिसहकारिवैजात्यप्रयुक्तं तद्वैजात्यमित्यर्थः। *वैभाषिकं* प्रत्याह **अन्यथेति**। यदि कारणवैजात्ये कार्यवैजात्यं न कल्प्येत, कार्यवैजात्ये कारणवैजात्यं न तन्त्रं, तदा बुद्धिसन्तान–मात्रादविशिष्टादविशिष्टसुखदुःखात्मकपरलोकसिद्धिरपि न स्यादित्यर्थः। यद्वा **अन्यथेति**। एकस्य कर्तुरनभ्युपगम इत्यर्थः। अनियमश्चेत्तत्राह **अचेतनेति**। ज्ञानोपादानकात् ज्ञानादज्ञानोपादानकं विजातीयमेव किञ्चिज्ज्ञानं भवेदित्यर्थः। **अचेतनमपीति**। घटोऽपि कश्चिद्विजातीयो ज्ञानोपादानकः स्यादित्यर्थः। **दृश्यजात्यभेद इति**। धूमत्वावच्छिन्न एव कश्चिद्वह्नेः, कश्चित् पिशाचाद्भविष्यतीति धूमाद्वह्न्यनुमानं न स्यादित्यर्थः।

अस्तु तर्हि सहकारिभेदान्नियम इति चेत्? स एवैकः कर्तेति गीयते। अथैक एव कर्ता न तु तादृक् सहकारिपरम्परेति। कुतो, विशेषादिति चेत् (न), तत्कर्तृकत्वं भिन्नकर्तृकेभ्यो व्यावर्तते न तु तादृक् सहकारित्वमित्यतो विशेषात्। कुतश्चिदेवमपि स्यादिति चेन्ननु स एव विशेषश्चिन्त्यते। स च तत्स्वभावत्वं वा, तज्जातीयत्वं वा, तत्सहकारित्वं वा, तादृक् सहकारित्वं वेत्यतो नातिरिच्यते। तत्र प्रथमोऽसम्भवी। द्वितीयोऽतिप्रसञ्जकः। चतुर्थे नियामकाभावः। ततस्तृतीय एव परिशिष्यते गत्यन्तराभावादिति।

कल्पलता- अतिप्रसङ्गापादनेन भग्नः परः प्रतिसन्धाननियामकं शिष्याचार्यबुद्धिविलक्षणं शङ्कते **अस्तु तर्हीति**। सिद्धं नः समीहितमित *सिद्धान्त्याह* **स एवेति**। प्रतिसन्धाननियामक इत्यर्थः। ननु सिद्धेऽपि प्रतिसन्धातरि तदभेदसिद्धिः कथमिति शङ्कते **अथेति**। प्रतिसन्धानबलादेव तदेकत्वं तादृशस्य नियामकत्वे चैत्रदृष्टमपि मैत्रः प्रतिसन्दधीतेति परिहरति **तदिति**। **एवमपीति**। तादृशत्वमपि प्रतिसन्धाननियामकं स्यादित्यर्थः। परिहारमाह **नन्विति**। **तत्स्वभावत्वमिति**। प्रतिक्षणनियतशक्तिभेदात्मकत्वमित्यर्थः। **तज्जातीयत्वमिति**। बुद्धिसन्तानमात्रजातीयत्वमित्यर्थः। **तत्सहकारित्वमिति**। बुद्धिसन्तानेऽप्येकस्य सहकारिणः सापेक्षत्वमित्यर्थः। **तादृगिति**। क्लृप्तसहकारिविजातीयत्वमित्यर्थः।

असम्भवीति। क्षणान्तरेऽपि कार्यदर्शनादित्यर्थः। अतिप्रसञ्जक इति। शिष्याचार्यबुद्धिसन्तानेऽपि प्रतिसन्धानप्रसङ्ग इत्यर्थः। नियामकाभाव इति। चैत्रदृष्टेऽपि मैत्रस्मरणप्रसङ्ग इत्यर्थः। तृतीय इति। तदेकसहकारित्वमित्यर्थः।

अथवा सम्भवन्नपि नायमुपाधिः। तत्र तावन्मात्रस्यानिबन्धनत्वात्। तथाहि सर्वज्ञः स्वप्रत्ययानेककर्तृकतया प्रतिसन्धत्ते न वा? आद्ये तत्प्रतिसन्धानादेव प्रतिसन्धातुरेकत्वं सिद्धं ज्ञानाद्भेदश्च। धियामस्थैर्यस्य सर्वैरेव प्रतीतेः। प्रतिसन्धातुः क्षणिकतायाः सर्वज्ञेनाप्यनाकलनात्। अथ न प्रतिसन्धत्ते? न तर्हि कार्यकारणभावमात्रनिबन्धनं प्रतिसन्धानम्। न ह्यस्ति सम्भवो यदन्वयेऽपि यस्यानन्वयस्तत्तावन्मात्रनिबन्धनमिति। प्रतिसन्धत्ते, न तु सत्यं तत्प्रतिन्धानमतो न तावन्मात्रादेककर्तृकत्व-सिद्धिरिति चेत्? तत् किं सर्वज्ञस्यापि विपर्ययः? आहार्यो न दोषावह इति चेत्, न। निबन्धनाऽभेदेऽपि कथमेक आहार्योऽन्यस्तु स्वरसवाहीति वाच्यम्। भेददर्शनादर्शनाभ्यामिति चेन्न। प्रवृत्तिविज्ञानानां भेदस्यासर्वज्ञैरपि दर्शनात्। विषया एव भिन्नाः प्रतिभान्ति न बुद्धय इति चेन्न। तासामपि भेदनिश्चयात्। विषयभेदाप्रथनेऽपि ज्ञानाभ्यासदर्शनात्। यदि च भेदग्रहेऽपि बुद्धितामात्रेण तदग्रहोऽभेदारोप उपपद्यते। पार्थिवतया वृक्षात् काष्ठं काष्ठादङ्गारस्ततो भस्माप्यभेदेन प्रतिसन्धीयेत। न चैवम्।

कल्पलता- अयमिति। उपादानोपादेयभाव इत्यर्थः। ज्ञानादिति। योऽहमन्वभवं सोऽहं स्मरामीत्यनुभवस्मरणयोः कर्तृभिन्नत्वेनैव स्फुरणादित्यर्थः। ज्ञानभेदे मानमाह धियामिति। अन्वभवमज्ञासिषमित्यतीतत्वेनैव ज्ञानभानादित्यर्थः। क्षणिकताया इति। विनाशित्वस्येत्यर्थः। न तर्हीति। अन्वयव्यभिचारादित्यर्थः। नन्वेवं दण्डादिरपि न घटादिकारणं स्याद् व्यभिचारादित्याह न हीति। एकमात्रकारणस्यान्वयव्यभिचारस्यापि कारणताखण्डकत्वात्। अएवोक्तं तावन्मात्रनिबन्धनमिति। ज्वालादिप्रतिसन्धानवत् प्रतिसन्धानमिदमतन्त्रमिति शङ्कते प्रतिसन्धत्त इति। दोषाजन्यत्वान्नेदं भ्रान्तमित्याह तत्किमिति। स्वरसवाहिनि विपर्यये दोषः कारणमयन्त्वाहार्य इत्याह आहार्य इति। निबन्धनाभेद इति। बुद्धीनां कार्यकारणभावो निबन्धनं तच्च *सर्वज्ञस्या*पीति कथमयमाहार्य इत्यर्थः। मादृशा भेदं बुद्धीनां न पश्यन्ति। तेनास्मदादीनां योऽहं सोऽहमित्यभेदोल्लेखि-प्रतिसन्धानं स्वरसवाहि। *सर्वज्ञस्तु* बुद्धिभेददर्शी तेन तस्याहार्यं

प्रतिसन्धानमित्याशङ्कते भेदेति। अस्मदादीनामपि बुद्धिभेदग्रहोऽस्त्येवेत्याह प्रवृत्तीति। बुद्धिभेदग्रहो विषयभेदग्रहेणान्यथासिद्ध इति शङ्कते विषया इति। तासामपीति। बुद्धीनामपीत्यर्थः। धारावहनादौ विषयभेदप्रथनं नास्ति, तथापि बुद्धीनां भेद एव गृह्यत इत्याह विषयेति। ननु च बुद्धित्वेन बुद्धीनां भेदाग्रहस्तत्राऽप्यस्त्येवेत्यत आह यदि चेति। एवं सति पार्थिवत्वेन गृह्यमाणानां काष्ठाङ्गाराणामपि भेदो न भासेतेत्यर्थः।

स्यादेतत् आलयभेदाग्रहात् प्रतिसन्धानमिति चेत्, न। स ह्यहमास्पदं प्रवृत्तिसन्तानादन्य एव वा स्यात्तदन्तःपाति कादाचित्कानेकाहम्प्रत्ययरूपो वा। न तावदाद्यः। न ह्यहमहमिकया मिथः स्वतन्त्रं सन्तानद्वयमनुभूयते। सत्यपि वा परस्परमनुपादानोपादेयभावान्न परस्परं प्रत्याकलितार्थानुसन्धानबन्धः। तथात्वेऽपि वा चैत्रमैत्रादिष्वपि प्रसङ्गः। उभयोर्वा उभयोपादानत्वे एकमप्यनेकाश्रयमिति किमपराद्धमवयविसंयोगादिभिः। न चालयविज्ञानोपात्तं प्रवृत्तिविज्ञानं न किञ्चिदुपादत्त इति युक्तम्। तथात्वे निमित्ततामपि न यायात्। उपादानत्वव्याप्तत्वान्निमित्ततायाः। अन्यथा निमित्ततामात्रमुपगम्य एकस्य निवृत्तौ सर्वसन्तानोच्छेदः, अविशेषात्। ओमिति ब्रूवतश्चरमक्षणानामकिञ्चित्करणे शक्तिविहतेरसत्त्वप्रसङ्गः। तथा च पूर्वक्षणानामपीत्यनेन पर्यायेणाकिञ्चित्करं जगदापद्येत इति साधु कार्यकारणभावः प्रतिसन्धाननिबन्धनं समर्थितः स्यात्। तस्मादन्यदेव निमित्तं किञ्चिदुपाददीत। तथाच न प्रतिसन्धानमपूर्वानन्तसन्तानप्रवृत्तिश्च प्रसज्येतेति। एवं च–

अशक्तिरनुपादानादन्यादानादनन्तता।
मिथो न प्रतिसन्धिश्च सङ्करेऽनेकसंश्रितिः। इति सङ्ग्रहः।

कल्पलता– ननु प्रवृत्तिविज्ञानानां भेदज्ञानेऽप्यहमित्याकारालयविज्ञानानां भेदाग्रहादभेदारोपः स्यादित्याशङ्कते स्यादेतदिति। आलयविज्ञानसन्तानस्य प्रवृत्तिविज्ञानाद्भेदे दोषमाह न हीति। अभ्युपगम्याह सत्यपीति। चैत्रमैत्रबुद्धिसन्तानद्वयाविशेषादिति भावः। उभयोरिति। प्रवृत्तिविज्ञानं समनन्तरप्रवृत्तिविज्ञानं प्रत्युपादानमालयविज्ञानं च तदुपादानमित्युभयमपि व्यासज्यवृत्तीति नातिप्रसङ्ग इत्यर्थः। एवं सत्यवयव्यादौ वृत्तिविकल्प-

दोषस्त्वयैवापास्त इत्याह **एकमपीति**। ननु प्रवृत्तिविज्ञानमेव प्रवृत्तिविज्ञानोपादानं न त्वालयविज्ञानमपीत्यतो न व्यासज्यवृत्तिता। प्रतिसन्धाननियमश्च तन्निमित्ततामात्रादित्यत आह **न चेति**। **उपादानेति**। यन्निमित्तं तदुपादानं भवत्येवेत्यर्थः। अत्र विपक्षे दण्डमाह **अन्यथेति**। यदि सभागसन्तानं विसभागसन्तानं वा प्रत्युपादानं न स्यात्तन्निमित्तकारणमपि न स्यादित्यर्थः। अत्र हेतुमाह **अविशेषादिति**। उपादानत्वं प्रति शक्तिविरहे निमित्तत्वं प्रति तद्विरहस्याविशेषादित्यर्थः। ननु किञ्चिन्निमित्तमपि मा भूत्को दोष इत्यत आह **ओमिति**। तर्हि तस्यार्थक्रियासमर्थस्य सत्त्वस्याभावात्तत्तत्पूर्वपूर्वक्षणानामपि तन्निबन्धनं सत्त्वं न स्यादित्यर्थः। नन्वस्तु शून्यतयैव परमं निर्वाणमत आह **साध्विति**। तथाच प्रतिसन्धानाय कार्यकारणभावोऽपि त्वदभिमतो न स्यादित्यर्थः। **तस्मादिति** निमित्ततानुरोधेन प्रवृत्तिविज्ञानातिरिक्तमेवालयविज्ञानं किञ्चिदुपाददीत। तथा च कथं प्रतिसन्धानमित्यर्थः। दोषान्तरमाह **अपूर्वेति**। सर्वमालयविज्ञानं निमित्ततानुरोधेनान्यदन्यमुपाददीत, तत्तदुपात्तमपि प्रत्येकमन्यदन्यमित्यनन्तसन्तानापत्तिरित्यर्थः। उक्तमर्थं श्लोकेन सङ्गृह्णाति **अशक्तिरिति**। यदि न किञ्चिदुपाददीत तदा निमित्तमपि न स्यादशक्तेः। यदि सन्तानान्तरमुपाददीत तदाऽनन्तसन्तानापत्तिः। किञ्च स्वतन्त्रसन्तानद्वये परस्परगृहीताप्रतिसन्धानं, यदि चालयविज्ञानं प्रवृत्तिविज्ञानाभ्यामेकमुपादेयं तदाऽवयव्यादिस्वीकारापत्तावपसिद्धान्त इत्यर्थः।

नापि द्वितीयः। तस्यापि भेदाग्रहः स्वरूपतो वा स्यात्, विषयतो वा। आद्ये पूर्वाहमिति प्रत्ययमात्राद्वा प्रवृत्तिविज्ञानेभ्योऽपि वा। न प्रथमः। अहमित्यज्ञासिषमहमिति जानाम्यहमिति ज्ञास्यामीति त्रैकाल्योल्लेखस्य भेदनिश्चयमन्तरेणानुपपत्तेः। कथञ्चिदुपपत्तौ तदर्थस्यैव प्रतिसन्धिरुचितो न प्रवृत्तिविज्ञानार्थानामपि। न च तेभ्योऽपि भेदाग्रह इति चोक्तमेव। नापि विषयतः। स हि आकारो वा, वस्त्वन्तरं वा, अलीकं वेति। नाद्यो, दूषितत्वात्। न द्वितीयः, स्वयमनभ्युपगमात्। योऽप्यभ्युपगच्छेत् सोऽपि विरुद्धधर्माध्यासाद्भेदमिच्छेत् तन्निवृत्तौ च तन्निवृत्तिम्।

कल्पलता- नापीति। तदन्तःपातिकादाचित्काहंप्रत्ययरूपि द्वितीयोऽपि पक्षो नेत्यर्थः। तद्भेदाग्रहस्तावत्प्रतिसन्धानप्रयोजको वाच्यस्तद्विकल्पयति **स्वरूपत इति**। विज्ञानानामेवान्योन्यमित्यर्थः। **पूर्वाहमिति**। आलयविज्ञानमात्राद्भेदग्रह

इत्यर्थः। अहमिति। क्रियात्वेन कर्तृत्वेन च भेदस्यैव ग्रहादतीतानागतत्वादिना चेत्यर्थः। कथञ्चिदिति। यद्भेदाग्रह इत्यर्थः। अहमिति। क्रियात्वेन कुतस्तस्यैव प्रतिसन्धानं न तु पूर्वं भेदेन गृहीतस्यापि विज्ञानस्य विषयप्रतिसन्धानं दृश्यते तदपीत्यर्थः। न च तेभ्योऽपीति। प्रवृत्तिविज्ञानेभ्योऽपीत्यर्थः। उक्तमेवेति। त्रैकाल्योल्लेखस्य भेदनिश्चयमन्तरेणेत्यादिना। विषयत इति। आलयविज्ञानानां परस्परं विषयतो भेदाग्रहो न प्रतिसन्धानहेतुरित्यर्थः। स हीति। आलयविज्ञानहेतुरित्यर्थः। स्वयमिति। अहमिति ज्ञानस्य त्वया वस्त्वन्तरविषयत्वानभ्युपगमादभ्युपगमे वा स एवाऽऽत्मेत्यर्थः। ननु त्वया तावदभ्युपगम्यते विषयः, स च तावत् नानैव सिद्ध्यतु, न त्वेक इति कुत आत्मसिद्धिरित्यत आह योऽपीति। तत्र भेदसाधकविरुद्ध-धर्माध्यासा-भावादेकत्वमेवेत्यर्थः।

न तृतीयः। अहमिति विकल्पस्य सवस्तुकतायाः प्रागेव प्रसाधनात्। अवस्तुकत्वेऽपि न तत्र प्रकृतोपयोगिभेदाग्रहसम्भवः। सदसदारोपित-सत्त्वारोपितासत्त्वव्यधिकरणाव्यपदेश्यभेदेन षड्विधस्यापि भेदस्या-ग्रहोऽभेदारोपौपयिकतया तत्र न सम्भवतीत्युक्तत्वादिति।

कल्पलता- प्रागेवेति। प्रत्यक्षदृष्टभावित्वे साक्षादेव सवस्तुक इत्यादिनेत्यर्थः। अभ्युपगम्याह अवस्तुकत्वेऽपीति। प्रकृतम्, अभिन्नत्वेन प्रतिसन्धानं, तदुपयोगीत्यर्थः। सदसदिति। आलयविज्ञानविषयाणामलीकानां सतो भेदस्याऽग्रहस्तावन्न सम्भवति अलीके तदनभ्युपगमात्। नासतः। अतिप्रसञ्जकत्वात्। नाप्यारोपितसत्त्वस्य भेदस्याग्रहो विरोधात्, आरोपे सत्यग्रहानुपपत्तेः। ना प्यारोपितासत्त्वस्य भेदस्याग्रहः। असत्त्वस्यारोपे पारमार्थिकसत्त्वप्रसङ्गात्। व्यधिकरणाव्यपदेश्यभेदाग्रहो यद्यभेदारोपहेतुस्तदा सर्वत्राभेदारोपः स्यादित्यर्थः।

अथवा इहानुभवः कालान्तरभाविनीं स्मृतिं जनयेत्, तज्जनितो वा संस्कारः। सोऽप्यतीन्द्रियः प्रत्यक्षसिद्धो वा, अतीन्द्रियोऽपि तावत्कालावस्थायी सन्तान्यमानो वा, अध्यक्षसिद्धोऽपि तदुत्तरबुद्धिधारारूपः तदन्यो वा तद्विशेषो वा, विशेषोऽप्यनुभवप्रभवत्वमात्रं वा अनुभवितृसन्तानवैजात्यं वा। तत्र न प्रथमः। अनुत्पन्नानन्वयध्वस्त-योरविशेषात्। नापि दृश्योऽन्यः। तस्यानुपलब्धिबाधितत्वात्।

नाप्यनुभवप्रभवत्वमात्रं विशेषः। न हि कर्मकरकरोपनीतमेव बीजं क्षितिमासाद्याङ्कुरं कुरुते न तु प्रमादपतितम्। तथा नीलाद्यनुभवप्रभवसन्तानः पीताद्यनुभवेनैवोपनीयतां नीलाद्यनुभवेनैव वेति न कश्चिद्विशेषः। एवं चाऽननुभूतेऽपि स्मरणप्रसङ्गो न चानुभूतेऽपीति।

कल्पलता- प्रतिसन्धानबलात् प्रत्यक्षतः कर्त्रैक्यं साधयित्वा सम्प्रति स्मृत्यन्यथानुपपत्त्याऽनुभवितृस्मर्त्रोरभेदं साधयितुमुपक्रमते **अथवेति**। इह त्वत्पक्षे। द्वितीयविकल्पं विकल्पयति **सोऽपीति**। द्वितीयविकल्पस्य प्रथमविकल्पं विकल्पयति **तावत्कालावस्थायीति**। द्वितीयेऽपि पक्षत्रयमाह **तदुत्तरेत्यादि**। अत्रापि तृतीये विकल्पे पक्षद्वयमाह **अनुभवेति**। चिरोत्पन्न एव नीलानुभवो ऽनाहितव्यापारश्चिरेण नीलस्मृतिं जनयतीति न सम्भवतीत्याह **तत्रेति**। हेतुमाह **अनुत्पन्नेति**। नीलादिविषयतां तिरस्कृत्य बुद्धिधारातिरिक्तो नास्तीत्याह **नापीति**। ननु नीलानुभवप्रभवोऽनुभवसन्तान एव नीलस्मृतिं जनयेदित्यत आह **नापीति**। नीलादिविषयतां तिरस्कृत्यानुभवप्रभवत्वमात्रं बीजत्ववत्प्रयोजकमिति मत्वा दूषयति **एवं चेति**।

शालिप्रभवस्य बीजस्य शालित्वप्रतिसन्धानवन्नियम इति चेत्, न। क्षीरजम्बूरसपायिनीलधवलकलरवजनितविपरीतपारावतवदनियमदर्शनेन तस्याप्रयोजकत्वात्। वैजात्यन्तु विशेषो भवेत्, यथा क्षीरावसेकादम्लत्वं परिहृत्य माधुर्यमुपादायानुवर्तमानाऽऽमलकी कालान्तरेऽपि फले माधुर्यमुन्मीलयति। लाक्षारसावसेकाद्वा धवलिमानमपहाय रक्ततामनुवर्तमानं कार्पासबीजं कुसुमेषु रक्तताम्। न चैवं प्रकृते, जपाकुसुमाद्युपधानसन्निधानेऽपि तद्रूपतामनादाय धवलिमानमेव संदधानस्य स्फटिकस्येव विज्ञानस्य विषयोपधानमपगम्य चिद्रूपतामात्रेणानुवृत्तेः। सर्वाकारत्वमेव सर्वज्ञानानां किन्तु कश्चिदाकारः पटुरन्ये त्वपटव इति स्वदर्शनश्रद्धावतो विरुद्धधर्माध्यासादपि न भीः। न हि स एव पटुरपटुश्चेति संभवति। न च स्वसंविदितरूपस्यापाटवार्थं पश्यामः।

कल्पलता- नीलादिविषयपुरस्कारेण दूषयितुं शङ्कते **शालीति**। शालित्वप्रतिसन्धानवदिति। परम्परया शालिबीजोत्पादकत्ववदित्यर्थः। नीलधवलपारावतयोर्नीलपारावतप्रभवत्वधवलपारावतप्रभवत्वमात्रं यथा न तन्त्रं वैपरीत्यस्यापि दर्शनात्तथा नीलानुभवप्रभवत्वादिकमपि न विशेषः स्याद्

व्यापारोऽवश्यं कल्पनीय इति भावः। **वैजात्यं त्विति**। यत्र सन्ताने नीलानुभवो न वृत्तस्तद्वैजात्यमित्यर्थः। तथा च नाननुभूते स्मरणप्रसङ्ग इति भावः। आमलकीकार्पासयोः पाकजगुणपरम्पराधीनं माधुर्यं रक्तता च यथा, तथा विशेषः कश्चिदिह नास्तीत्यर्थः। ननु नीलानुभवपरम्परयापि नीलविषयतैव। तथा च किमन्येन विशेषेणेत्यत आह **सर्वाकारेति**। एवं सति सर्व एवानुभवो नीलोल्लेखी स्यात्। तत्रापाटवं यदि तदा पटुत्वापटुत्वलक्षणविरुद्धधर्माध्यासः स्यादित्यर्थः। ननु नीलपीतादिविषयावच्छेदेनैकत्रैव पटुत्वमपटुत्वं च स्यादित्यत आह **न चेति**। त्वन्मते ज्ञानं साकारं स्वप्रकाशं च। तथा च नीलपीताद्याकारनिकरविशिष्टमेव स्वं प्रकाशेतेत्यर्थः।

निराकारपक्षेऽपि यावानर्थो बुद्धेर्विषयस्तावति स्फुटैव सा, यत्र चास्फुटा नासौ तस्य विषयः। तथात्वे वा विषयेतरव्यवस्था न स्यात्। सांशे त्वर्थे युक्तमेतदिति दर्शितं प्राक्। तस्मादतीन्द्रियः संस्कारः परिशिष्यते। स च न संतन्यमानः तत्रैव स्मृत्यादिप्रसङ्गे प्रवृत्तिसन्ताने फलानवकाशप्रसङ्गात्। अन्यत्र संस्कारेऽन्यत्र फलेऽतिप्रसङ्गात्। परम्परयैकोपादानतया नियमे संस्कारान्तरसन्तानेऽपि स्मृतिप्रसङ्गात्। तस्मात् स्वोपादान एव स्मृतिं करोतीति गत्यन्तराभावा दापाततिक्तमप्युपेयमेव। तथा च स्मृतेः कालान्तरसम्बन्धात् संस्कारतदुपादानयोः स्थैर्य्यमयत्नसिद्धमवर्ज्जनीयञ्चेति।

कल्पलता- निराकारपक्षेऽपि पटुत्वापटुत्वे एकत्र न सम्भवत इत्यत आह **निराकारेति**। **तथात्वे वेति**। अस्फुटविषयत्वे सर्वं ज्ञानं सर्वविषयकं स्यादित्यर्थः। नन्वेवं संयोगतदभावावपि नैकत्र स्यातामत आह **सांश इति**। तत्राऽवच्छेदभेदस्य दर्शितत्वादिह तु विषयोऽवच्छेदकः, स एव विरोधघटक इति भावः। स्वाभिमतमुपसंहरति **तस्मादिति**। **तत्रैवेति**। संस्कारस्मृतिसन्तान एवेत्यर्थः। फलं स्मृतिः प्रत्यभिज्ञानं च, प्रवृत्तिविज्ञानसन्ताने तु फलं दृश्यते गेहे स घट इति स्मरणात् प्रवृत्तेरिति भावः। ननु यत्र नीलानुभवो मूलकारणं तज्जनितः संस्कारसन्तानः फलं जनयतीति नोक्तदोष इत्यत आह **परम्परयेति**। नीलानुभवानन्तरोत्पन्नपीतानुभवरक्तानुभवादिभिः प्रत्येकं संस्कार एव स्मृतिं जनयतीत्यवश्यमङ्गीकर्तव्यम्। तथा च पीतानुभवजनितसंस्कारसन्तानेऽपि नीलस्मृतिः स्यादित्यर्थः। **स्वोपादान एवेति**। संस्कारः स्वसमवायिकारण एव

स्मृतिं जनयतीत्यवश्यमङ्गीकर्तव्यमित्यर्थः। ततः किमित्यत आह तथा चेति। अनुभवानन्तरं संवत्सरानन्तरमपि भवन्ती स्मृतिः संस्कारस्य तदुपादानस्य च आत्मनः स्थैर्यमाक्षिपतीत्यर्थः।

एतेन धर्माधर्मरूपः संस्कारो व्याख्यातः। तथा च यो यः संस्कारः क्वचित् सन्तान आहितः, स तत्रैव फलाधानयोग्यो नान्यत्रेत्याद्यपि निरस्तम्। अतिरिक्तसंस्कारपक्षे हेतोर्व्यधिकरणत्वात्। विशेषलक्षणस्य च स्वरूपासिद्धत्वात्। अविशिष्टोत्तरकार्यप्रवाहमात्रस्य च विरुद्धत्वादिति।

कल्पलता- एवं च यागहिंसादिजनितौ धर्माधर्मावपि स्वस्य स्वोपादानस्य च स्थैर्यमन्तरेण कालान्तरभाविफलजनकौ न भवत इत्यत आह **एतेनेति**। ननु परोपदर्शितव्याप्तौ को दोष इत्यत आह **तथा चेति**। संस्कारः स्वसन्ताने फलजनकः संस्कारत्वादिति व्यधिकरणो विगताधिकरणः। त्वया संस्कारस्यानभ्युपगमादित्याश्रयासिद्धिरित्यर्थः। अथ ज्ञानगतजातिविशेषः संस्कारत्वं तत्राह **विशेषलक्षणस्येति**। त्वया जातिमात्रस्य मया ज्ञाने संस्कारस्यातिरिक्त स्यानभ्युपगमात् स्वरूपासिद्धिः। ननु कार्यप्रवाह एव संस्कारस्तथा च नाश्रयासिद्धिस्वरूपासिद्धी इत्यत आह **अविशिष्टेति**। नीलानुभवोत्तरकार्यप्रवाहो घटपटादिसन्तानोऽपि भवति तत्र स्मृतिरूपं फलजनकत्वं विरुद्धमित्यर्थः। संस्कारस्य स्वसन्ताने फलजनकत्वं सम्भाव्यते न तु प्रवृत्तिविज्ञानसन्ताने व्यधिकरणत्वात्। किञ्च **विशेषलक्षणः** स्थिरातीन्द्रियलक्षणविशेषगुणस्त्वन्मते स्वरूपासिद्धः, नीलानुभवोत्तरकार्यप्रवाहमात्रस्यैव संस्कारपदवाच्यत्वं विरुद्धं घटपटादौ सुखादौ च संस्कारपदवाच्यत्वप्रसङ्गादिति वार्थः।

न चातीन्द्रियोऽपि संस्कारः *सौगतनये* संभवति। तस्य ज्ञानत्वे परोक्षत्वानुपपत्तेः। अज्ञानत्वे ज्ञानोपादानकत्वायोगात्। सन्तानान्तरत्वे ज्ञानस्यापि पारोक्ष्ये तदन्तः पातिनः स्मृतिसुखादेरपि तथा भावप्रसङ्गादिति। तदिदमुक्तरूपं प्रतिसन्धानं निमित्ततया व्याप्तम्। अनिमित्तकत्वे नियमानुपपत्तेः। तच्चानेककर्तृकत्वे नास्तीति व्यापकानुपलब्ध्या विपक्षान्निवर्तमानं निमित्तवत्येककर्तृकत्वे विश्राम्यतीति प्रतिबन्धसिद्धिः। एवं च सति अन्वयोऽपि नर्तकीभ्रूलताक्षेपादौ द्रष्टव्यः। सैव हि भ्रूलतात एव वा परमाणवः प्रतिसंधीयमाना नाज्ञाननिमित्तत्वेऽवस्थिताः। विरुद्धधर्मविरहिविषयत्वेन तु विशेषणीयमत्र प्रतिसन्धानम्। अन्यथा य

एव बालस्त्वया दृष्टः स एव युवा मया दृश्यत इत्यनेनानैकान्तात्।

कल्पलता- नन्वस्त्वतीन्द्रियः स्थिरः संस्कारः। तथा च न स्वरूपासिद्धिरित्यत आह न चेति। स यदि ज्ञानातिरिक्तस्तदा ज्ञानोपादानको न स्यात्, परोक्षज्ञानधारैव चेत्तदा तत्सन्ताने स्मृतिसुखादेरपि परोक्षत्वप्रसङ्ग इत्यर्थः। उक्तरूपमिति। पूर्वापरप्रत्ययप्रत्यवमर्शरूपमित्यर्थः। प्रकरणबलात्प्रतिसन्धानबलेन स्मृतिरेवोच्यत इत्येके। स्मृतिः स्वकारणानुभवसमानाधिकरणा स्मृतित्वादिति केवलव्यतिरेकी। न च संस्कारसुखादेः सपक्षाद्व्यावृत्तावसाधारण्यम्। परेण सपक्षानङ्गीकारदशायां व्यतिरेकिप्रवृत्तेः। सपक्षाङ्गीकारे वा सिद्धं नः समीहितमिति भावः। इदानीमन्वयव्यतिरेकिणमाह एवं च सतीति। विवादपदं प्रतिसन्धानम्, एक विषयं प्रतिसन्धानत्वात् नर्तकीभ्रूक्षेपप्रतिसन्धानवदित्यन्वयी। भवति हि भवन्मतनिपुणानां य एव भ्रूलतायां क्षेपस्त्वया दृष्टः स एव मयापीति प्रतिसन्धानं न तु नर्तकी भ्रूलताक्षेपो न ह्येकः पारमार्थिकः अनेकार्थः समूहत्वादत आह अत एवेति। तादृशार्थसमूहस्यापि त्वया प्रत्यक्षत्वेनाभ्युपगमादित्यर्थः। ज्वालादिप्रत्यभिज्ञाने व्यभिचारदर्शनादाह विरुद्धेति। भूतचैतनिकमुत्थापयितुं व्यभिचारिप्रत्यभिज्ञानविशेषमुदाहरति य एवेति।

न चासिद्धमिदं विशेषणं देहस्यैव चेतनत्वात्। मैवं। देहत्वमूर्तत्वभूतत्वरूपादिमत्त्वादिभ्यः। न च भूतानां समुदाये पर्यवसिते चैतन्यं, प्रतिदिनं तस्यान्यत्वे पूर्वपूर्वदिवसानुभूतस्यास्मरणप्रसङ्गात्। नापि प्रत्येकपर्यवसितम्। करचरणाद्यवयविश्लेषे तदनुभूतस्य स्मरणायोगात्। देहस्य चेतनत्वे बालस्य प्रथममप्रवृत्तिप्रसङ्गाच्च। इच्छाद्वेषावन्तरेण प्रयत्नानुपपत्तेः। इष्टाभ्युपायताप्रतिसन्धानं विना चेच्छानुपपत्तेः। इह जन्मन्यननुभूतस्य प्रतिबन्धस्यास्मृतौ प्रतिसन्धानायोगात्। जन्मान्तरानुभूते चानुभवितरि भस्मसाद्भूतेऽन्येन स्मरणायोगात्। अनुभवादीनां च प्रवृत्त्यन्तानां कार्यकारणभावस्य इहैव जन्मनि निश्चितत्वात्। तथा च तदभावे तदभावस्य सुलभत्वात्। अन्यथा त्वतिप्रसङ्गात्। अतएव नेन्द्रियाणि चेतयन्ते, दर्शनस्पर्शनाभ्यामेकार्थग्रहणाच्च। न च मनस्तथा। तस्य करणत्वेनैवानुमानादिति प्रतिबन्धसिद्धिः, परलोक्यात्मसिद्धिश्च। अनादिश्चासौ वीतरागजन्मादर्शनात्। अनन्तश्च सतोऽनादित्वात्। द्रव्यं च समवायिकारणत्वात्। विभुश्च नित्यद्रव्यत्वे सत्यमूर्तत्वात्। अमूर्तश्च

निष्क्रियत्वात्। निष्क्रियश्च नित्यत्वे सति अस्मदादिप्रत्यक्षत्वात्, प्रत्यक्षधर्माश्रयत्वाच्चेति।

कल्पलता- ननु सिद्धमिति। देह एव चेतनस्तस्य च परिमाणभेदेन प्रतिदिनं विरुद्धधर्माध्यासादित्यर्थः। आदिपदाद्रसवत्त्वगन्धवत्त्वादिपरिग्रहः। दृष्टान्तश्च घटपटादिः। देहः समस्तश्चेतनस्तदवयवा वा प्रत्येकम्। आद्य आह **प्रतिदिनमिति**। अन्त्ये त्वाह **करचरणादीति**। दोषान्तरमाह **देहस्येति**। **प्रथममिति**। जन्मानन्तरं स्तन्यपानादौ प्रवृत्तिर्न स्यादित्यर्थः। प्रवृत्त्यभावमुपपादयति **इच्छेति**। स्तन्यपानस्येष्टसाधनता अनुमानसाध्या। ततस्तत्रेच्छा, ततः प्रवृत्तिः। इष्टसाधनतानुमितिश्च व्याप्तिस्मरणाधीना, व्याप्तिस्मरणं च संस्काराधीनं, संस्कारश्च तदनुभवाधीनः, तदनुभवश्च भूयोदर्शनाधीनः, एतच्च सर्वं प्राग्भवीयसंस्कारमन्तरेणानुपपन्नमिति भावः। नन्वियमेव प्रक्रिया कुत इत्यत आह **अनुभवादीनामिति**। **तदभाव इति**। व्याप्त्यनुभवाभावे संस्काराभावस्तदभावात् स्मरणाभावस्तदभावादनुमानाभावस्तदभावादिच्छाभावस्तदभावात्प्रवृत्त्यभाव इति न्यायसिद्धमित्यर्थः। **अन्यथेति**। बलवत्प्रमाणावधूतकारणमन्तरेण कार्योत्पत्तौ तदाकस्मिकत्वं स्यादित्यर्थः। **अत एवेति**। प्राथमिकप्रवृत्त्यनुपपत्तेरित्यर्थः। युक्त्यन्तरमाह **दर्शनेति**। योऽहं चक्षुषाऽद्राक्षं सोऽहं तमर्थं त्वचा स्पृशामीति कर्तृकरणाभ्यां भेदेनैव ग्रहादित्यर्थः। **प्रतिबन्धेति**। विरुद्धधर्मविरहि-विषयप्रतिसन्धानविषयत्वादेकः कर्तेति प्रतिबन्धासिद्धिरित्यर्थः। आद्यप्रवृत्त्यन्यथानुपपत्तेरेव परलोक्यात्मसिद्धिश्च। एतदेवाह **अनादिश्चासाविति**। **वीतरागेति**। रागवज्जन्मदर्शनादित्यर्थः। **सत इति** प्रागभावव्यवच्छेदार्थम्। समवायिकारणत्वमिच्छादिसत्त्वादेव सिद्धमिति हृदयम्। **द्रव्यत्वे सत्यमूर्तत्वादित्यत्रा** मूर्तत्वमवच्छिन्नपरिमाणायोगित्वं, तच्चाद्यक्षणे घटादावपीति नित्यपदम्। **निष्क्रियश्चेत्यत्र** सामान्यं दृष्टान्तः **प्रत्यक्षधर्मेत्यत्रापि** नित्यत्वे सतीत्यनुषञ्जनीयम्।

तर्काश्चात्र भवन्ति। आदिमत्त्वे प्रथमप्रवृत्त्यनुपपत्तौ सर्वथैवाप्रवृत्तिप्रसङ्गः। सान्तत्वेऽनादेः सत्त्वानुपपत्तिप्रसङ्गः। अद्रव्यत्वे निर्गुणत्वप्रसङ्गः। अविभुत्वे दहनपवनादेः क्रियानुपपत्तिप्रसङ्गः। न च संयुक्तसंयोगात्तदुत्पत्तिः, साक्षात् क्रियावदद्वारकस्य तस्याभावात्। अतथाभूतस्य च तद्धेतुत्वेऽतिप्रसङ्गात्। मूर्तत्वे नित्यस्यास्मदादि

प्रत्यक्षधर्मानाधारत्वप्रसङ्गः, विशेषगुणवतामारम्भकत्वप्रसङ्गश्च। सक्रियत्वे मूर्तत्वप्रसङ्ग इति शास्त्रार्थसंग्रहः।

अणुरेवासौ, विज्ञानासमवायिकारणसंयोगाधारत्वान्मनोवत्। अणीयांसमणोरपीति बाधप्रतिरोधाविति कश्चित्। तदयुक्तम्। आत्मन्यविभौ मनसोऽणुत्वासिद्धेः। तत् संयोगक्रमादेव क्रियाक्रमोपपत्तेः। आगमस्तु महतोऽपि महीयांसमिति प्रथमपादमपहायोपन्यस्तस्तदलमनेन।

कल्पलता- अत्रेत्युक्तहेतुषु। अविभुत्व इति। अदृष्टवदात्मसंयोगासमवायिका क्रिया विप्रकृष्टदहनपवनादेरात्मनो विभुत्वमन्तरेण न स्यादित्यर्थः। ननु शरीरसंयुक्तमाकाशं तत्संयोगादेव दहनपवनादौ क्रिया स्यादित्याह न चेति। संयुक्तसंयोगेन यत्र क्रिया तत्र क्रियावदेव द्वारं संभवति यथा सन्दंशादिक्रियया लौहादिक्रिया, न चाकाशं क्रियावदित्यर्थः। अतिप्रसङ्गादिति। शरीरसंयुक्ताकाशसंयोगादितस्तस्य क्रियोत्पत्तिप्रसङ्गादित्यर्थः। न चादृष्टवदात्मसंयोगस्यापि क्रियाहेतुत्वे तदवस्थ एवातिप्रसङ्गः, क्लृप्तक्रियाकारणान्तराभावे या क्रिया साऽदृष्टवदात्मसंयोगजन्यैवेति नियमात्। धर्मानाश्रयत्वप्रसङ्गादित्यत्र धर्मपदं गुणपरम्। तेन जातिमत्तया न व्यभिचारः। दोषान्तरमाह विशेषगुणवत इति। विशेषगुणवन्नित्यं मूर्तमारम्भकमेवेति व्याप्तेः। आद्यविशेषणेन मनसो द्वितीयेनान्त्यावयविनो व्युदासः। आगमेन बाधः, अनुमानेन प्रतिरोध इत्याह बाधप्रतिरोधाविति। क्रियाक्रमोपपत्तेरिति। ज्ञानायौगपद्योपपत्तेरित्यर्थः। महतोऽपि महीयांसमणीयांसमणोरपीति स्तुतिपर आगम इत्याह आगमस्त्विति।

स्यादेतत्, सिद्धोऽप्ययमीदृशो हेय एव। आत्मदर्शी हि तदुपकारिणि रज्यते, तदपकारिणं च द्वेष्टि, रागद्वेषौ च मूलं संसारस्य। यस्तु न तं पश्येत् नासौ तदुपकारापकारिणमपि, ततो न रज्येत, न द्विष्यात्, न संसरेदिति जाङ्गलिकेन (विषविद्यावता) नैर्विष्यवत् मुमुक्षुणापि नैरात्म्यमेव भावनीयमिति चेत्, न। अनात्मदर्शिनो मुमुक्षुत्वव्याघातात्। न ह्यात्मानमप्रतिसन्धाय कश्चिद्दुःखं हातुमिच्छेत् सुखं वाऽवाप्तुम्। मया स्वर्गापवर्गफलभागिना भवितव्यमित्यभिप्रायस्य यावदभियोगमनुवृत्तेः। अननुवृत्तावभियोगनिवृत्तौ फलासिद्धेः। इयं च नैरात्म्यदृष्टिर्नास्तिक्यं द्रढयेत्। तच्च प्रबलविषयतृष्णा निष्णातमनर्थमनन्तं प्रसुवीत्। न चेदेवं

कुतो यावज्जीवेत् सुखं जीवेदित्यादयोऽपि निःशङ्कमुल्लापाः। यदुक्तमुपकारिणि रज्येत्, अपकारिणं द्विष्यादिति तदेवमेतदिति। यो हि मोक्षमुपकारं मनुते स तद्धेतौ रक्तः तमुपाददानः तत्परपन्थिनं द्वेषादलंप्रत्ययाद्वा परिहरन्नेव समीहितं समासादयेत्, न तु विपर्ययात्। यस्तु भोगं, सोऽपि तथा इत्यनुकूलमेव प्रतिकूलत्वेन गृहीतं मन्दैः। अन्यत्रानुरज्येत, अन्यत्रापि द्विष्यादिति तु न दृष्टं गोवैद्यकेऽपीति।।

कल्पलता- अयमीदृश इति। आत्मा नित्यविभुरित्यर्थः। हेयत्वे हेतुमाह आत्मदर्शी हीति। अनात्मदर्शिन इति। दुःखवन्तमात्मानं दृष्ट्वैव तद्दुःखहानेच्छा मुमुक्षा सा आत्मदर्शिन एवेत्यर्थः। एतदेवोपपादयति न हीति। सुखं वा आप्तुमिति दृष्टान्तार्थम्। अभियोगः सुखाप्तिदुःखहानानुकूलो व्यापारः। नास्तिक्यमिति। नास्ति कर्म नास्ति कर्मफलमिति निश्चयवत्त्वं नास्तिक्यं, ततः किमित्यत आह तच्चेति। विषयतृष्णा तावदगम्यागमनाभक्ष्यभक्षणापेयपानाद्यभिलाषः तत्परिप्लुतं तदुपरक्तमनर्थं नरकहेतुभूतमधर्मं बहु जनयेदित्यर्थः। न चेदेवमिति। यदि नास्तिक्यं न द्रढयेदित्यर्थः। सुखं जीवेदिति। भक्ष्यपेयादावविगानतः प्रवृत्तिपरः स्यात्। तद्धेतौ मोक्षहेतौ। तत्परिपन्थिनं भोगाभिलाषम्। विपर्ययात् मोक्षपरिपन्थिसेवनात्। सोऽपि तथेति। भोगपरिपन्थिनं परिहरेदित्यर्थः। अन्यत्रापीति। समीहितादन्यत्रेत्यर्थः। गोवैद्यको गोचिकित्सकः, सोऽपि हि गवां पाटनप्लोषणादिसाहसमनुतिष्ठत्येवेत्यर्थः।

तथापि दुःखहेतुत्वादिन्द्रियादिवदसौ हीयतामिति चेत्? यादृशो दुःखहेतुस्तादृश हेय एव, सोपाधिश्च तथा। निरुपाधिरपि हीयतामिति चेत्? न। अशक्यत्वात्, निष्प्रयोजनत्वाच्च। न हि तस्य हानं विनाशो नित्यत्वात्। नापि विप्रयोगो व्यापकत्वात्। नाप्यप्रतिपत्तिः, यथा यथा तदर्थं यत्नः, तथा तथा प्रतिपत्तेः। उपेक्षात इति चेत्? कृतैवैतावन्तं कालमुपेक्षा, तथापि तद्धानासिद्धेः। निष्प्रयोजनं चैतत्, सोपाधेर्हि त्यागो दुःखहानाय, निरुपाधेस्तु किमर्थम्। पुनः सोपाधित्वशङ्कया इति चेत्, न। बीजाभावादिति। कुतः पुनरुपादेयः? तथा सति भावनाक्रमेण निःश्रेयससिद्धेः। किमस्योपादानं? विवेकः। कुतः? अनात्मनःशरीरादेः।

कल्पलता- सोपाधिरिति। शरीरादिसम्भिन्न इत्यर्थः। अशक्यत्वादिति स्फोरयति न हीति। विप्रयोगो विप्रकर्षः। अप्रतिपत्तिरित्यत्र हानमित्यनुषञ्जनीयम्।

उपेक्षात इत्यत्राप्रतिपत्तिरित्यनुषञ्जनीयम्। कृतैवैतावन्तमिति। आत्मप्रतिपत्तावुपेक्षा कृता श्रवणादौ यत्नो न कृतस्तथाऽप्यात्महानं न सिद्धमित्यर्थः। निष्प्रयोजनत्वादिति विवृणोति निष्प्रयोजनं चेति। किमर्थमिति। हेयमिति शेषः। सोपाधित्वेति। पुनः शरीरादिप्राप्त्यापत्तिशङ्कयेत्यर्थः। बीजाभावादिति। संसारबीजं धर्माधर्मौ तदभावादेव न पुनरावृत्तिरित्यर्थः। निरुपाधेरात्मनः प्रतिपत्त्यर्थं प्रणिधानं किमर्थमिति पृच्छति कुत इति। मननार्थं न्यायानुसरणेन मनने जाते भावनया निदिध्यासनेन साक्षात्कारान्निःश्रेयससिद्ध्यर्थमित्याह तथा सतीति। नित्यविभुतया हानवदुपात्तस्यैवोपादानमप्यशक्यमित्याह किमिति। विवेक इति। भेदेन ज्ञानमित्यर्थः।

किं पुनरत्र प्रमाणं? न्यायः, आम्नायश्च। शरीरमेव हि तावन्मूर्धाभिषिक्तमनात्मानमात्मानं मन्यमानस्य। तदुपादाय तदनुकूलत्रैलोक्यविषया तृष्णा विजृम्भते। तथा तत्प्रतिकूलविषयो द्वेषः। न चैतत्केवलात्मदर्शिनः सम्भवति, निरुपाधेः पुत्रवित्तलोभाभावात्, तैरनुपकार्य्यत्वात्, छेदक्लेददाहशोषाद्यनुपपत्तेः विधिनिषेधानधिकाराच्च। जन्मजातिवयोवित्तसंस्काराद्युपग्रहेण तत्प्रवृत्तेः। ततोऽनात्मन्यात्मग्रहो निदानं संसारस्य, मिथ्याज्ञानं च तत्त्वज्ञानान्निवर्तते। तच्च श्रवणमननादि क्रमेणोत्पद्यते, कारणनिवृत्तौ च कार्यं न जायते। उत्पन्नश्च धर्माधर्मप्रचयो भोगेन क्षीयत इति न्यायानुसारसङ्क्षेपः।

कल्पलता- अत्रेति। अनात्मनः शरीरादेर्भेदेनात्मा प्रतिपत्तव्य इत्यत्र किं प्रमाणमित्यर्थः। न्यायमत्र सङ्क्षेपतो दर्शयति शरीरमेवेति। शरीरमेवात्मेति मन्यमानस्य तदनुकूले रागस्तत्प्रतिकूले च द्वेषः सदा स्यादित्यर्थः। रागाभावे हेतुमाह पुत्रेति। तैः पुत्रादिभिः। द्वेषाभावे हेतुमाह छेदादीति। केवले त्वात्मनि छेदादिदुःखानुभवो नास्तीति न तद्धेतुषु द्वेष इत्यर्थः। ननु केवलात्मदर्शिनोऽपि विधिनिषेधबलाद्यागहिंसादौ प्रवृत्तिनिवृत्ती स्यातामेवात आह विधीति। तत्प्रवृत्तेरिति। विधिप्रवृत्तेरित्यर्थः। जन्म उच्चाभिजने, जातिः ब्राह्मणत्वादिः, वयो दीर्घायुष्ट्वं, न चैतत्सर्वं वीतरागस्य काम्यमित्यर्थः। तत इति। तथा च तद्विवेकार्थं मुमुक्षुणा यतितव्यमेवेति भावः। ननु रागद्वेषयोरपि मिथ्याज्ञानं निदानं तत्संस्कारस्य चानादेः कथमुच्छेद इत्यत आह मिथ्याज्ञानमिति। तत्त्वज्ञानमेव कुत इत्यत आह तच्चेति। ननु निवर्ततां मिथ्याज्ञानं, तथापि रागद्वेषयोश्च कुतो निवृत्तिरित्यत आह

कारणनिवृत्ताविति। कारणस्य मिथ्याज्ञानस्य निवृत्त्या दोषो दोषनिवृत्त्या च प्रवृत्तिस्तन्निवृत्त्या च जन्म, कार्यं निवर्तते नोत्पद्यते इत्यभिमतम्। तथापि पूर्वोत्पन्नधर्माधर्माभ्यां पुनः संसारापत्तिस्तदवस्थैवेत्यत आह उत्पन्नश्चेति। न्यायानुसारेति। एतदर्थं मननानुकूलन्यायानुसरणमित्यर्थः।

आम्नायसारसङ्क्षेप 'स्त्वशरीरं वावसन्त 'मित्यादि। तदप्रामाण्यं प्रपञ्चमिथ्यात्वसिद्धान्तभेदतत्त्वोपदेशपौनःपुन्येषु अनृतव्याघात पुनरुक्तदोषेभ्य इति चेत्, न। सतात्पर्यत्वात्। निष्प्रपञ्च आत्मा ज्ञेयो मुमुक्षुभिरिति हि तात्पर्यं प्रपञ्चमिथ्यात्वश्रुतीनाम्। आत्मन एकस्य ज्ञानमपवर्गसाधनमित्यद्वैतश्रुतीनाम्। दुरूहोऽयमिति पौनःपुन्यश्रुतीनाम्। बहिः संकल्पत्यागो निर्मनस्कश्रुतीनाम्। आत्मैवोपादेय इत्यानन्दश्रुतीनाम्। गारुडवदनुष्ठाने तात्पर्यं प्रकृत्यादिश्रुतीनाम्, तन्मूलानां *साङ्ख्यादिदर्शनानां* चेति नेयम्। अन्यथा

जैमिनिर्यदि वेदज्ञः कपिलो नेति का प्रमा।
तावुभौ यदि वेदज्ञौ व्याख्याभेदस्तु किं कृतः।। इति।

कल्पलता- निरुपाधेरात्मन उपादाने *आम्नायं* सङ्क्षेपतो दर्शयति अशरीरमिति। वावसन्तं चिरकालं वसन्तं प्रियाप्रिये सुखदुःखे न स्पृशत इत्यर्थः। तदप्रामाण्यमिति। आम्नायाप्रामाण्यमित्यर्थः। प्रपञ्चमिथ्यात्व-प्रतिपादकाम्नायस्यानृतत्वं प्रपञ्चस्य प्रत्यक्षत एवोपलब्धेः। सिद्धान्तभेदे, "सदेव सौम्येदमग्र आसीन्नाहरासीन्न रात्रिरासीदित्यादौ" सिद्धान्तभेदप्रतिपादनाद्व्याघातः। तत्त्वोपदेशे सिद्धान्तभेदोपदेशे आत्मोपदेशे वा "त्रिः प्रथमामन्वाह त्रिरुत्तमा"-मित्यादौ वा पौनरुक्त्यमित्यर्थः। तासां श्रुतीनामन्यत्र तात्पर्यान्नैते दोषा इत्याह नेति। तदेव दर्शयति निष्प्रपञ्चेति। इदानीं सिद्धान्तभेदप्रतिभासश्रुतीनामन्यपरत्वं दर्शयति बहिरिति। गारुडवदिति। शरीरादितो भिन्नं स्वकीयं तत्त्वमजानत एवात्मनस्तत्त्वज्ञानार्थं प्रणिधानं विधेयमित्येतदर्थं *साङ्ख्यमतो*त्थानम्, तत्रापि ह्यचेतनाया एव प्रकृतेर्महत्तत्त्वस्य वा चेतनोपरागप्रतिपादनं, यथा जाङ्गलिकेनाचेतनस्यैव दष्टस्य कष्टेन चैतन्यमुत्पाद्यत इत्यर्थः। अन्यथेति। यदि न तात्पर्यभेदकल्पनमित्यर्थः।

प्रामाण्यं तु तस्य कुत इति चेत्? आप्तोक्तत्वात्। तदसिद्धिमिति

चेत्, न। विश्वस्य कर्तुरनुमानसिद्धत्वात्। विवादाध्यासितकर्तृकं सकर्तृकं कार्यत्वादिति।

कल्पलता- नन्वेतावता तावदप्रामाण्यं परिहृतं, प्रामाण्यन्तु कुत इत्याह प्रामाण्यमिति।

विशेषविरुद्धोऽयं हेतुरिति चेत्, न। विरोधिविशेषाप्रतीतौ विरोधस्य प्रत्येतुमशक्यत्वात्। तत्प्रतीतौ वा सहोपलम्भनियमेन विरोधस्य बाधितत्वात्। सर्वथैवाप्रतीतस्याभिप्रायगोचरत्वमपि कथमिति चेत्, न। स्वार्थानुमानसिद्धत्वात्। ततोऽपि कथं सिध्यत्विति चेत्, अप्रतीतिप्रत्यायकं प्रमाणं, न त्वप्रतीतेन विरोधः शक्यनिश्चय इत्यतो विशेषात्। का पुनरनुमानस्यैवम्भूतप्रत्यायने शक्तिरस्तीति चेत्? आकाङ्क्षानुपपत्ति नियमभेदेन त्रिविधः सम्बन्धः। तत्राकाङ्क्षानियमाभ्यामन्वयी, अनुपपत्तिनियमाभ्यां व्यतिरेकीति विभागः।

कल्पलता- विशेषेति। पक्षधर्मताबलायातं नित्यसर्वज्ञत्वं व्याप्तिबलायात-शरीरिकर्तृकत्वविरुद्धमित्यर्थः। विरोधो ह्यशरीरिकर्त्रा, स च न सिद्धः, सिद्धश्चेन्न विरोध इत्याह नेति। अभिप्रायेति। अभिप्रायो ज्ञानमिच्छा वा तदुभयं कथमत्यन्ताप्रसिद्धे, सप्तमे रस इवेत्यर्थः। स्वार्थेति। पक्षधर्मताबलेन स्वार्थानुमाने तद्भानमावश्यकमित्यर्थः। ततोऽपीति। पक्षधर्मतापि व्याप्तिबलानीतमर्थं पक्षे साधयति न तु सर्वथैवाप्रतीतमित्यर्थः। प्रमाणमहिम्ना तदुपस्थितिरित्याह अप्रतीतेति। रसे तु सप्तमे न प्रमाणमहिमेति भावः। ननु विरोधोऽपि तादृशेनैव निरूप्यतामित्यत आह न त्विति। प्रतीतिदशायां च सहोपलम्भादेव अविरोध इत्यर्थः। का पुनरिति। एवम्भूतार्थप्रत्यायन इति। अप्रसिद्धार्थप्रत्यायन इत्यर्थः। आकाङ्क्षेति। आकाङ्क्षानुपपत्तिनियमयोर्भेदेन त्रिविधः सम्बन्धः। एकोऽन्वयसहचारमात्रग्राह्यः, अपरोऽन्वयव्यतिरेकसहचारग्राह्यः, अन्यश्च प्रतीतापर्यवसानम् अनयोरन्यतरस्यानुमितौ नियम एवेत्यर्थः। क्वचित्तु द्विविधः सम्बन्ध इति पाठः, स तु सुगम एव। इममेव पाठं विशदयति तत्रेति। उपादानगोचरापरोक्षबुद्धिमत्पूर्वकत्वं हि सकर्तृकत्वम्। तथा चाद्व्यणुकादा च भूगोलकात् सकलपक्षीकरणे क्षितिः सकर्तृकेत्यन्वय एव तावन्न पर्यवस्यति, यावत्कर्तुः सार्वज्ञ्यमनुमितौ न भासत इत्यर्थः।

अस्तु तर्हि सत्प्रातिपक्षत्वं शरीराजन्यत्वादिति चेत्। न।

असमर्थविशेषणत्वेनासिद्धभेदस्यातुल्यबलत्वात्। असिद्धिपरिहारे विशेषणं समर्थमिति चेत्, न। एकामसिद्धिं परिहरतो द्वितीयापत्तेः। अन्यथा विवादाध्यासितं नादृष्टहेतुकं शरीराजन्यत्वादित्यनेनापि जन्यत्वस्य सत्प्रतिपक्षप्रसङ्गादिति।

कल्पलता- असमर्थेति। व्यभिचारावारकविशेषणान्तर्भावेन व्याप्त्यभावाद्व्याप्यत्वासिद्धेरित्यर्थः। अजन्यत्वमात्रे कृते स्वरूपासिद्धिः स्यात्। तथा च तद्वारणे विशेषणं सार्थकमित्याशङ्कते असिद्धीति। अत एव व्याप्यत्वासिद्धिरित्याह एकामिति। स्वरूपासिद्धिपरिहारेऽपि व्याप्यत्वासिद्धेर परिहारादित्यर्थः। गौरवेण नीलधूमत्ववद्विशेषणान्तर्भावेन व्याप्तिग्राहक-प्रमाणानुदयादिति भावः। अनिष्टान्तरमाह अन्यथेति। क्षित्यादेरदृष्टजन्यत्वं त्वदभ्युपगतमेवं सति निवर्तेतेत्यर्थः।

तर्हि तर्कापरिशुद्धिरस्तु दूषणम्। शरीरनिवृत्तौ बुद्धिनिवृत्तेः, बुद्धिनित्यत्वे शरीरानुपयोगवत्। प्रयत्ननित्यतायां ज्ञानेच्छानुपयोगादिति चेत्, न। प्रयत्नस्य द्विधर्मकत्वात्। स हि ज्ञानकार्यो ज्ञानैकविषयश्च कर्तृत्वम्। तत्र कार्यत्वनिवृत्तौ कारणतया ज्ञानं मा पेक्षिष्ट, विषयार्थं तु तदपेक्षा केन वार्यते? न चास्य स्वरूपेणैव विषयप्रवणत्वं ज्ञानत्वप्रसङ्गात्। अयमेव हि ज्ञानात् प्रयत्नस्य भेदः, यदयमर्थाप्रवण इति। न च निर्विषय एवास्त्विति वाच्यम्, अकारणत्वप्रसङ्गात्। तथा च सोऽप्येकः कथं सिद्ध्येत्? मा सैत्सीदिति चेत्, न। तत्र साधनस्य निर्दोषत्वात्। दोषे वा स एव बाधः। सर्वविषयत्वात्तस्य किं विषयनियमार्थेन ज्ञानेनेति चेत्, न। तस्य स्वरूपेणार्थप्रवणत्वाभावात्। भावे वा ज्ञानत्वप्रसङ्गादित्युक्तम्। जीवनयोनिप्रयत्नवद्विषयव्यवस्था भविष्यतीति चेत्, न। जात्यन्तरत्वात्। एकजातीयत्वे तस्याऽपीच्छापूर्वकत्वप्रसङ्गात्। इच्छाया वा तत्कारणत्वं न स्यात्, तामन्तरेणापि तज्जातीयस्योत्पत्तेः। तस्मात् कृतिजातीयस्य ज्ञानेच्छाभ्यामेव सविषयव्यवस्था। स च साधयितुमिष्ट इति।

कल्पलता- *कणिकाकारोक्तां* तर्कापरिशुद्धिमाशङ्कते तर्हीति। दूषणमिति। अनुमानस्येत्यर्थः। शरीरेति। तर्कैरपरिशुद्धिरनुमानस्येत्यर्थः। शरीरं विना तत्कार्या बुद्धिर्न स्यात्। यदि नित्यायां बुद्धौ न शरीरापेक्षा तदा नित्येच्छाप्रयत्नयोर्ज्ञानापेक्षाऽपि न स्यादितीश्वरे ज्ञानमपि न सिद्ध्येदित्यर्थः। नित्यावपीच्छाप्रयत्नौ विषयलाभार्थं

ज्ञानमपेक्षेते एवेति परिहरति नेति। स हीति। प्रयत्न एव कर्तृत्वपर्यवसन्नः, स च ज्ञानकार्यः सन् ज्ञानसमानविषयोऽवश्यमभ्युपगन्तव्य इत्यर्थः। तत् किमीश्वरेऽपि कार्यः प्रयत्न इत्यत आह तत्रेति। विषयप्रवणत्वं विषयनिरूपणाधीननिरूपणत्वम्। अर्थाप्रवण इति। न स्वरूपसम्बन्धेन। विषयनिरूपणाधीननिरूपणः ज्ञानद्वारा तु तत् स्यादित्यर्थः। ननु सविषयत्वे यदि ज्ञानापेक्षा तदा प्रकृते प्रयत्नो निर्विषय एवास्त्वित्यत आह न चेति। विषयनिष्ठव्यापारजनकतया हि यत्नस्य कारणत्वमविषयत्वे तु कारणतैव न स्यादित्यर्थः। सोऽपीति। प्रयत्नोऽपीत्यर्थः। तत्रेति। कार्यत्वेन कृतिमज्जन्यत्वे साध्ये दोषाभावादित्यर्थः। जीवनेति। जीवनयोनियत्ने। ज्ञानमन्तरेणैव यथा प्राणादिविषयत्वं तथात्रापि स्यादित्यर्थः। नासौ कृतिजातीयो येन तज्ज्ञानमपेक्षेतेत्याह नेति। वैजात्ये हेतुमाह एकजातीयत्व इति। तत्कारणं कृतिकारणमित्यर्थः। उपसंहरति तस्मादिति। कृतिजातीयस्येति। चिकीर्षाधीनस्येत्यर्थः।

तार्किकगर्ववाहस्त्वाह– ननु सपक्षविपक्षयोर्दर्शनादर्शनमात्रस्य शतशः प्रवृत्तावपि व्यभिचारोपलम्भात्। तल्लक्षणस्यानुपलब्धव्यभिचारस्यापि तथाभावसंभावनाक्रान्तत्वात् लक्षणान्तरं प्रतिबन्धस्य वक्तुमुचितम्। तच्चोपाधिविरहो वा स्यात्, तदुत्पत्तिर्वा, विपक्षे बाधकं वेति संक्षेपः। तत्र न प्रथमः, अदृश्योपाध्यभावनिश्चयोपायाभावात्। दृश्येनैवोपाधिना भवितव्यमिति च नियमानुपपत्तेः। नापि द्वितीयः, सा ह्यन्वयव्यतिरेकाभ्यां निश्चीयते। तौ च दृश्यशरीरवच्चेतननिष्ठौ वा स्याताम्, उपाधिविधुर दृश्यादृश्यसाधारणचेतनमात्रनिष्ठौ वा। न प्रथमः, विटपादौ व्यभिचारात्, प्रकृतासिद्धेश्च। न द्वितीयः, घटादिकार्यव्यतिरेकसमये तत्प्रयोजक कुलालव्यतिरेकवद् दृश्यचेतनमात्रव्यतिरेकस्य निश्चेतुमशक्यत्वात्। न हि कुलालादिदृश्यव्यतिरेकस्यावश्यं व्यतिरेको विटपादावपि तथाभावप्रसंगात्। तर्हि सन्तानान्तरानुमानमपि कथम्, कुम्भकारव्यतिरेके दृश्यादृश्यचिन्मात्रव्यतिरेकासिद्धिवत् स्वचित्तव्यतिरेकेऽपि कम्पं प्रति चिन्मात्रव्यतिरेकासिद्धेरिति चेत्, न। वादान्तरत्वात्। यदापि तत् प्रस्तावः तदापि स्वदेहे स्वपरसन्तानसाधारणचिन्मात्राविनिर्भागवृत्तिदृश्यदेहमात्रस्यैव प्रत्यक्षानुपलम्भाभ्यां कम्पं प्रति कारणत्वप्रतीतेः। परचित्तस्यापि कारणत्वं प्रतीयत इति। नापि तृतीयः, विपक्षे बाधकाभावात्। देशकालनियमादीनां

स्वकारणायातसन्निधिना कादाचित्वेन प्रातिनियतशक्तिना कारणेनाचेतनेनाप्युपपत्तेरिति।

कल्पलता- बौद्धमुत्थापयति **तार्किकेति।** **व्यभिचारोपलम्भादिति।** पार्थिवत्वलोहलेख्यत्वादाविति शेषः। **तल्लक्षणस्येति।** अव्यभिचारित्वलक्षणस्या विनाभावस्य निश्चेतुमशक्यत्वात्, तदतिरिक्तमविनाभावलक्षणं वक्तव्यमित्यर्थः। **उपाधिविरहो वेति।** अनौपाधिकः सम्बन्धो वा, कार्यकारणभावो वा, विपक्षे बाधकवत्त्वं वेत्यर्थः। **सा हीति।** तदुत्पत्तिरित्यर्थः। कार्यकारणभावो हि तदुत्पत्तिः, स चान्ययव्यतिरेकगम्यः। तौ चान्वयव्यतिरेकौ शरीरिणि चेतने सति कार्यं तमन्तरेण नेति वा प्रवर्तते, चेतने सति कार्यं न तु तमन्तरेणेति वा प्रवर्तत इति विकल्पार्थः। उपाधिविधुरेत्यत्रोपाधिः शरीरम्। **विटपादाविति।** शरीरिचेतनमन्तरेणाप्यङ्कुरादि-दर्शनादित्यर्थः। **प्रकृतेति।** त्वदभिमताशरीरि कर्त्रसिद्धेरित्यर्थः। **घटादीति।** कुलालादिव्यतिरेकप्रयुक्तो घटादिव्यतिरेक इति यथा सुग्रहं तथा चेतनव्यतिरेकात् कार्यव्यतिरेको निश्चेतुमशक्य इत्यर्थः। ननु कुलालादिव्यतिरेकनिश्चयादेव चेतनान्तरव्यतिरेकोऽपि निश्चेष्यत इति सुग्रह एव चेतनव्यतिरेक इत्यत आह **न हीति।** **विटपादावपीति।** तत्रापि कुलालादिव्यतिरेकग्रहे चेतनमात्रव्यतिरेको गृह्येतेति कार्यत्वहेतोस्तत्रैव सकर्तृकत्वव्यभिचारः स्यादित्यर्थः।

तदुक्तं *ज्ञानश्रिया-*

दृश्यश्चेद्व्यतिरेकसिद्धिमनसा कर्ता समाश्रीयते।
तत्त्यागेऽपि तथा तृणादिकमिति व्यक्तं विपक्षे क्षणम्।

कार्यत्वस्य विपक्षवृत्तिहतये सम्भाव्यतेऽतीन्द्रियः।
कर्ता चेद्व्यतिरेकसिद्धिविधुरा व्याप्तिः कथं सेत्स्यति।।

कीर्तिरप्याह-

दृश्यैकव्यतिरेकोऽयं दृश्यादृश्यसमो यदि।
तृणादौ व्यभिचारः स्याद्दृश्यैकव्यतिरेकतः।।

दृश्याभावेऽप्यदृश्यस्य दृगादौ यदि संशयः।
तस्यान्यत्रापि शङ्कायां सन्दिग्धव्यतिरेकिता।। इति।

बौद्धः शङ्कते कथं तर्हीति। येन चेष्टया तावत् परचित्तसन्तानोऽनुमीयते, तत्रापि व्यतिरेको दुर्ग्रह एव यथा कुलालव्यतिरेके तृणादौ चेतनमात्रव्यतिरेको

दुर्ग्रहः। तथा परदेहचेष्टां प्रति स्वचित्त (व्यतिरेकग्रहोऽपि चिन्मात्र) व्यतिरेकस्य दुर्ग्रहत्वादन्वयव्यतिरेकाभ्यां चेष्टां प्रति सन्तानस्य कारणता न स्यादित्यर्थः। बौद्ध एव परिहरति नेति। अर्थान्तरमेतदित्यर्थः। ननु तत्रापि तदुत्पत्तिग्रहस्त्वयाऽवश्यं वाच्य इत्यत आह यदापीति। स्वदेहचेष्टां प्रति स्वचित्तसन्तानावच्छेदकशरीरत्वेन कारणताग्रहकाले चिन्मात्रावच्छेदकदेहत्वेन सामान्येनैव कारणताग्रहोऽन्वय-व्यतिरेकाभ्यामित्यर्थः। अविनिर्भागो नियतः संश्लेषः। कम्प इह चेष्टा। देशकालेति। यदि कर्ता न स्यादिहेदानीं कार्यं न स्यादित्यनेन विपक्षबाधकेन व्याप्तिर्ग्राह्या, तत्र कर्तृव्यतिरेकप्रयुक्तो न कार्यव्यतिरेको न वा कर्त्रन्वयप्रयुक्तस्तदन्वयः। किन्तु कारणान्तरान्वयव्यतिरेकप्रयुक्त एवेत्यर्थः।

उत्तानोल्लपितमेतत्। विकल्पत्रयस्याप्युपपत्तेः। तथाहि चत्वारो जगति भावा भवन्ति। विरोधी बहिर्वृत्तिः सहवृत्तिरन्तर्वृत्तिश्चेति। न च पञ्चमः प्रकारः काङ्क्षितुमपि शक्यते। विरोधाविरोधयोः साहित्यासाहित्ययोः आधिक्यानाधिक्ययोः परस्परनिषेधरूपत्वात्। तत्र द्वयमत्र नोपाधित्वेन शङ्कनीयम्। कार्यस्येवाकार्यस्यापि वा सकर्तृकत्वप्रसंगात्। न चेदमिष्टम्। अकार्यस्य कारणवत्तामात्रेण सहजविरोधे कारकविशेषस्य कर्तुरनवकाशात्। नापि तृतीयः, तुल्ययोगक्षेमयोरविशेषात्, व्यभिचारशङ्कानापादकत्वाच्च। चतुर्थस्तु स्यात्। सोऽपि न शरीरान्तर्भूतवृत्तिः, चेष्टमानशरीरहेतुकस्यापि कस्यचिदचेतनपूर्वकत्वप्रसंगात्। न चेदमिष्टं, चेष्टाचेतनयोरविनाभाव भङ्गप्रसङ्गात्। नापि सहवृत्तिः, देहस्यानुपाधित्वे तस्याप्यनुपाधित्वात् तयोस्तुल्ययोगक्षेमत्वात्। अतथाभावे वा सहवृत्तिनियमानुपपत्तेः।

कल्पलता- समाधत्ते विकल्पेति। प्रकारत्रयेणापि प्रतिबन्धः सुग्रह इत्यर्थः। अनौपाधिकत्वमुपपादयितुं पीठं रचयति जगतीति। विरोधी साधनविरोधी। बहिर्वृत्तिः साधनव्यापकः। सहवृत्तिः साधनसमनियतः। अन्तर्वृत्तिः साधनव्याप्यः। ननु कथं चत्वार एवेत्यत आह विरोधाविरोधयोरिति। द्वयमिति। विरोधी बहिर्वृत्तिश्चेति द्वयम्। कार्यस्यैवेति। साधनं विरोधी चेदुपाधिः, स साध्यव्यापकत्वे सति साध्यव्याप्यो वाच्यः। तथा च साध्यव्याप्येनोपाधिना कार्यविरोधिनाऽकार्यस्य गगनादेरेव सकर्तृकत्वं सिद्ध्येदित्यर्थः। साधनव्यापकस्योपाधेर्दोषमाह अकार्यस्यापीति। इदमपि समव्याप्ताभिप्रायमेव। ननु भवत्वकार्यमपि सकर्तृकं

को दोष इत्यत आह **अकार्यस्येति**। यस्य कारणवत्त्वमेव विरुद्धं तस्य सकर्तृकत्वं सुतरां विरुद्धमित्यर्थः। साधनसहवृत्तिरुपाधिरित्यत्राह **तुल्येति**। तर्हि कार्यत्वेन वा सकर्तृकत्वमनुमीयतां तत्समनियतेनोपाधिना वेति न कश्चिद्विशेष इत्युभयथाऽप्यपेक्षितसिद्धिरित्यर्थः। नन्वेवं साधनस्य सोपाधित्वं स्यादेवेत्यत आह **व्यभिचारेति**। साध्यव्यापकेन साधनाव्यापकेन चोपाधिना व्यभिचारशङ्काभिधानं भवेत् न तु साधनसमनियतेनेत्युपाधिपरिभाषामात्रमित्यर्थः। **चतुर्थस्तु स्यादिति**। साधनव्याप्य इत्यर्थः। **शरीरेति**। शरीरजन्यत्वव्याप्यः कुलालजन्यत्वादिरित्यर्थः। **चेष्टमानेति**। कुलालजन्यत्वं चेतनपूर्वकत्वस्य साध्यस्य व्यापकं चेत्, तदा कुविन्दजन्यपटादौ तन्निवृत्त्या चेतनपूर्वकत्वं निवर्तेतेत्यर्थः। ननु चेष्टमानशरीरहेतुकमपि चेतनपूर्वकं मास्तु किन्तत इत्यत आह **चेष्टेति**। **सहवृत्तिरिति**। शरीरसहवृत्तिरित्यर्थः। शरीरजन्यत्ववत्तद्भोक्तृजन्यत्वादिकमपि नोपाधिरित्यर्थः। **तयोरिति**। देहतदुपाध्योरित्यर्थः। **अतथाभाव इति**। तुल्ययोगक्षेमत्वाभावे इत्यर्थः।

शरीरस्य च नोपाधित्वं, कर्त्रव्यापकत्वात्। तत्कार्यत्वस्योपाधेर्विद्यमानत्वात्। नाप्यायतनतया तथाभावो भोगोपाधित्वात्। नाप्युपकरणप्रापकतया साक्षात्प्रयत्नानधिष्ठेयतोपाधित्वात्। अन्यथापि तत्प्राप्तेरिति। नाप्यधिकवृत्तिः। शरीरविनाकृतस्य कर्तुः स्वयमनभ्युपगमात्। अस्तु पाक्षिकोऽभ्युपगमः, तेन न कार्यत्वमात्रात् कर्तृमत्वसिद्धिः, शङ्कितोपाधित्वात्। न चोपाधेरेव तत्सिद्धिः, तस्य स्वयं संदिग्धासिद्धत्वादिति चेत्, न। उभयथाप्यशरीरिकर्तृव्यवस्थितिनियमात्। किं तु कथंचिदुपाधिमादाय स व्यवतिष्ठताम्। यद्वा कार्यत्वमेवेति सन्देहः परिशिष्यते गत्यन्तराभावादिति सोऽपि निवार्यते। न तावत् देहव्यतिरेकेऽनित्यज्ञानसम्भवः, तयोः कार्यकारणभावनियमात्। ततो नित्यं भवेत् ततः सर्वविषयं च नियतविषयताया अनित्यत्वेन व्यापनात् विषयनियमस्य सामग्रीशक्तिसमवधानाधीनतया नित्यात्तस्याः सव्याप्यमुपादाय निवर्तमानाया अनित्ये विश्रामात्। सर्वगोचरे च ज्ञाने चिकीर्षाप्रयत्नयोरपि तथाभावः, तदेकविषयत्वात्तयोः। तथा च कञ्चिदुपाधिमादायाशरीरपूर्वकमपि किञ्चिदेव कार्यं कर्तृपूर्वकं भविष्यतीति शङ्कापिशाच्या क्वावकाशः। एवमन्यत्राप्यनया दिशा

उपाधिशंका निराकरणीयेति निरुपाधिसम्बन्धसिद्धिः। विपक्षसम्भवे च साधनप्रयुक्तसाध्यसद्भावसिद्धौ साध्याभावप्रयुक्तसाधनाभावलक्षणस्य व्यतिरेकस्यापि सिद्धेः, न तदर्थं पृथगपेक्षेति।

कल्पलता- ननु शरीरजन्यत्वमेव तर्ह्युपाधिः स्यादत आह **शरीरस्य चेति।** सकर्तृकत्वे साध्ये शरीरजन्यत्वं नोपाधिः, कर्तृत्वे वा साध्ये शरीरित्वं नोपाधिः, उभयत्रापि शरीरनिष्पाद्यकार्यविशेषस्योपाधित्वान्नोपाधेः साध्यव्यापकतेत्यर्थः। कर्तुः शरीरापेक्षा किमायतनत्वेन सहकार्यन्तरसन्निधापकत्वेन वा नाद्य इत्याह **भोगोपाधित्वादिति।** द्वितीये त्वाह **साक्षादिति।** यत्र कर्त्ता साक्षात्प्रयत्नेनाधिष्ठातुं न शक्यते तत्रैवोपकरणप्रापकतया शरीरापेक्षा, ईश्वरे तु न भोगो येन भोगायतनतया शरीरमपेक्षेत, न वा तत्प्रयत्नाविषयः, किञ्चित्, येन तत्प्रापकतया शरीरमपेक्षेतेत्यर्थः। **अन्यथापीति।** साक्षात्प्रयत्नेनापीत्यर्थः। **अधिकवृत्तिरिति।** शरीरापेक्षया अधिकवृत्तिरित्यर्थः। **अशरीरेति।** शरीराधिकवृत्तिरुपाधिः, सकर्तृत्वस्य साध्यस्य व्यापकत्वे सति व्याप्योऽपि वाच्यस्तथा च शरीरविनाकृतस्यापि कर्तृत्वमायातमतस्त्वयाऽपसिद्धान्तभयेन नैतादृश उपाधिर्वाच्य इत्यर्थः। ननु शरीराधिकवृत्तिरुपाधिर्निश्चितो नोच्यते, येन तद्बलादशरीरी कर्ता सिद्ध्येत्। अपि तु सन्दिग्धोपाधिरसावित्याह **अस्त्विति।** तत्प्रयोजनमाह **तेनेति।** ननु साध्यस्य सकर्तृकत्वस्य व्याप्योऽप्युपाधिरिति तद्बलादशरीरस्यापि कर्तृत्वं सेत्स्यतीति स एवापसिद्धान्तस्तवेत्यत आह **न चेति।** त्वया तस्योपाधित्वं न स्वीक्रियते येन तद्बलात् साध्यं सिद्ध्येदित्यर्थः। **नोभयथापीति।** शरीराधिकवृत्तेरुपाधित्वेऽनुपाधित्वे वेत्यर्थः। यदि तस्योपाधित्वं तदा तद्बलादेवाशरीरी कर्ता सिद्धः। अनुपाधित्वे तु निरुपाधेः कार्यत्वादेव हेतोः क्षित्यादावशरीरी कर्ता सिद्ध इति भाव;। किमत्र तत्त्वमिति निर्द्धारयितुं विमृशति **किन्त्विति।** उपाधिबलाद्वा स्यादशरीरी कर्ता निरुपाधिहेतुबलाद्वेति सन्देह इत्यर्थः। **सोऽपि सन्देहोऽपि।** उपाधिशङ्का ह्यशरीरपूर्वकमपि किञ्चित्कार्यं सकर्तृकमेव स्यादिति शङ्कामापादयेत्। स च न सम्भवति अशरीरेऽपि कर्तरि सिद्धे तस्य ज्ञानेच्छाप्रयत्नानित्याः सर्वविषयाश्च वाच्यास्तथा च यत् कार्यमकर्तृकत्वेन शङ्क्यते तदुपादानमपि तज्ज्ञानादिभिर्विषयीकर्तव्यमिति कुतः कार्यस्य कस्याप्यकर्तृत्वशङ्केति न तावद्देहव्यतिरेकेणेत्यादि फक्किकार्थः। **एवमिति।** विरोधीसहवृत्तिरित्यादिविकल्प (सकर्तृकाद्विपक्षात् कार्यत्वस्य हेतोर्व्यावृत्तिरित्यादिविकल्प) चतुष्टयमुखेनेत्यर्थः।

निरुपाधीति। यत् कार्यं तत् सकर्तृकमिति प्रतिबन्धसिद्धिरित्यर्थः। नन्वाकाशादेरसकर्तृकाद्विपक्षात् कार्यत्वस्य हेतोर्व्यावृत्तिरुपदर्शनीया भवतीत्यत आह विपक्षेति। व्यतिरेकिणो धर्मस्यान्वयव्याप्तेर्व्यतिरेकव्याप्यत्वादन्वयदर्शनेनार्थाद्व्यतिरेकोऽपि दर्शित एवेत्यर्थः।

द्वितीयेऽपि श्रवणसम्पुटमवधाय कलकलस्त्यज्यताम्। तथाहि दण्डादिषूदासीनेषु दृश्योऽदृश्यो वा (नाना) कारकव्यापाराविनिर्भागवृत्तिश्चेतनो निवृत्तो न वेति त्वमेव प्रष्टव्यः। न चेत्, कुतः कारणान्युदासते। निवृत्तश्चेत् कथमदृश्यव्यतिरेकसंशयः। तथापि यादृशस्यान्वयः, तादृशस्य व्यतिरेकोऽपि उपयुज्यत, इति चेत्। कोऽत्र विप्रतिपद्यते, कारकप्रयोक्तुरुभयत्रापि तुल्यत्वात्। देही तादृश इति चेत्? कोऽस्यार्थः? किं देह-(देहव्यापारसंपादन-) द्वारैव सर्वाणि कारकाणि प्रयुङ्क्ते चेतनः, आहो देहं प्रयुञ्जान एवेति। न पूर्वः, देहस्यापि कारकतया देहान्तरप्रयोज्यतायामनवस्थानात्। न द्वितीयः, विषशकलचालनादौ व्यभिचारात्। देहं धारयन्निति चेत्? सोऽयं देहो धार्यः, किं कारकतया तत्कारकान्तरप्रयोगार्थं? अथ स्वकर्मोपात्ततामात्रेण? प्रथमे न विरोधः। देहस्य क्वचित् कार्यकारकतयाऽधिष्ठाननियमात्। यत्र तु न तत् कारकं तत्रापि तदधिष्ठेयमिति कश्चेतनोऽभिदध्यात्। द्वितीयेऽपि यः साक्षादधिष्ठातुमशक्तः स साक्षादधिष्ठेयमुपादाय तत् प्रयुञ्जीत, न त्वेकस्य साक्षादधिष्ठानायोग्यमन्यस्यापि तथेति नियमः। देह एव व्यभिचारात्। तृतीये त्वजागलस्तनकल्पः कायो नोपयुक्तांशविवेचने स्वं निवेशयति। यथा धूममात्रं प्रति तार्णदहनान्वयव्यतिरेकयोरालोकवत्तेति। यदि चाकारकस्याप्यतत्प्रयोजकस्यापि अवश्यमपेक्षा स्यात्, य एव कुलालकायवान् घटस्य कर्त्ता स एव करभशरीरवानपि दण्डादीन् प्रयुञ्जीत। न खलु स्वकर्मोपात्ततामात्रेण करभकुम्भकारशरीरयोः कश्चिद्विशेषः। कार्यविशेषे कायविशेषोऽनुपयोग्यपेक्षणीय इति चेत्? तत्र कार्येऽनुपयुक्तश्चावश्यापेक्षणीय इति व्याघातः। अव्याघाते वा कुम्भे कर्तव्ये करभशरीरमप्यवश्यमपेक्षणीयमविशेषादिति। तस्मात् सन्दंशवदयःपिण्डवत् कारकतत्प्रयोजकतयैव शरीराधिष्ठाननियमो न तु शरीरत्वेनैव। न च शरीरस्य सर्वत्र कार्ये कारकत्वं तत्प्रयोजकत्वं वेति।

एवं तर्हि न प्रतिनियतदेहाधिष्ठातृसिद्धिः। अङ्कुरादिकारकाधिष्ठात्रापि तत्सिद्धेरिति चेत्, न। वादान्तरत्वात्। यदापि तत्प्रस्तावः, तदापि न कार्यमात्रेण कारकाधिष्ठानमात्रेण वा तदनुमानम्। ततः कर्तृमात्रसिद्धेः। किं तु हर्षभयशोकस्मितादिलिङ्गैस्तानुन्नीय तैर्भोक्तुरनुमानमिति न किञ्चिदेतत्।

कल्पलता- द्वितीयेऽपीति। दृश्यादृश्यचेतनसाधारण्येन तदुत्पत्तिग्रहो न शक्य इत्यत्रेत्यर्थः। **कारकव्यापाराविनिर्भागवृत्तिरिति।** कारकव्यापारनियत इत्यर्थः। **निवृत्तश्चेदिति।** नूनमदृश्यचेतनव्यतिरेकोऽपि तत्र त्वया वाच्य इति न व्यतिरेकसंशय इत्यर्थः। ननु तत्र दण्डादिव्यापारे शरीरिचेतनस्यान्वय इति व्यतिरेकोऽपि तस्यैव वक्तव्य इति शङ्कते **तथापीति।** गूढाभिसन्धिः परिहरति **कोऽत्रेति।** उक्तमाशयमाक्षेप्ताह **देहीति।** आशयमुद्घाटयति **किमिति।** चेतनस्य देहित्वं सर्वत्र कार्ये न प्रयोजकमिति समुदायार्थः। **विषेति।** तत्र देहप्रयुक्तेरभावादित्यर्थः। सुगममन्यत्। **देह एवेति।** चैत्रदेहो मैत्रानधिष्ठेयोऽपि चैत्राधिष्ठेय एवेति व्यभिचार इत्यर्थः। **उपयुक्तांशेति।** कारकव्यापारस्तादृशं देहमन्तरेणैवेत्यर्थः। **यथेति।** धूममात्रं प्रति तार्णदहनान्वयव्यतिरेकयोरुप-युक्तांशविवेचने कर्तव्ये यथाऽऽलोकवत्ता स्वमात्मानं न निवेशयति स्वाप्रयोजकत्वात्, तथा कार्यं प्रति चेतनस्यान्वयव्यतिरेकयोः शरीरवत्ताऽप्यप्रयोजिकैवेत्यर्थः। अत्रैव विपक्षे दण्डमाह **यदि चेति।** एकस्यात्मनोऽदृष्टवशात् (कुलालवत्) कुलालकरभशरीरोपग्रहः सम्भाव्यत एव। तथा करभशरीरावच्छेदेनापि तस्यात्मनो घटकर्तृत्वं प्रसज्येतेत्यर्थः। **अतत्प्रयोजकेति।** अकारकव्यापारत्वादेवेत्यर्थः। ननु घटकर्तृत्वे कुलालशरीरोपग्रहः प्रयोजको न तु करभशरीरोपग्रहोऽपीति शङ्कते **कार्यविशेषेति।** कार्यस्याप्रयोजकत्वम्, अपेक्षणीयत्वं चेति व्याहतम्। स्वकर्मोपात्तत्वमात्रेण तदवच्छेदकत्वे दोषस्योक्तत्वादित्यर्थः। **अव्याघात इति।** कर्मोपात्तता-मात्रेणैवापेक्षणीयत्व इत्यर्थः। कारकत्वे सन्दंशो दृष्टान्तः, कारकाश्रयत्वेऽयःपिण्डः। ननु क्षित्यादावपि शरीरं कारकमेव कारकप्रयोजकं वेत्यत आह **न चेति।** पूर्वं निरस्तत्वादित्यर्थः। नन्वेवं किं कुलालादिना ईश्वरेणैव घटादिनिर्वाहादित्याह **एवमिति।** **वादान्तरत्वादिति।** ईश्वरः सिद्ध एव स एव तु साधयितुमुपक्रान्तः, किमधुना कुलादिकर्तृत्वसाधनेनेत्यर्थः। नन्वेवं दृश्यमानस्यापि कर्तृत्वं न

समाहितमिति महानयमपकर्ष इत्यत आह यदापीति। घटादिकर्तृत्वेन कुलालाद्यात्मा न साध्यते येनेश्वरेणान्यथासिद्धिः स्यात्, किन्तु स्मितरुदितकम्पहर्षभय-शोकादीन्युन्नीय तदाधारकुलालाद्यात्मसिद्धिरित्यर्थः।

तृतीयेऽपीर्ष्याकषाये चक्षुषी निमील्य न्यायानुसारः श्रूयताम्। इह जगति नास्त्येव तत्कार्यं नाम, यत्कारकचक्रमवधीर्यात्मान मासादयेदित्यविवादम्। तच्च सर्वं चेतनोपहितमर्यादम्। अन्यथा तल्लक्षणव्यवस्थाऽनुपपत्तेः। तथा हि आधेयकारकोपहित मर्यादमधिकरणस्य रूपम् आधारत्वात्। अपनेयापगन्तृकारकोपहितं च स्वरूपमपादानस्य। तदवधित्वात्। करणीभूतकर्मोपहितं च रूपं सम्प्रदानस्य। तदभिप्रेयत्वात्। करणोपहितं च रूपं कर्मणः। तद्व्याप्यत्वात्। कर्त्रुपहितं च रूपं करणस्य। साक्षात्तद्व्यापारविषयत्वात्। समस्तकारकोपहितं च रूपं कर्तुः, तत्प्रयोजकत्वात्। ज्ञानचिकीर्षाप्रयत्नाधारत्वव्यवस्थितेश्च न चक्रकेतरेतराश्रयदोषः। एवं सति कर्तृव्यावृत्तेस्तदुपहितसीमसमस्ताकारकव्यावृत्तावकारक कार्योत्पत्तिप्रसङ्ग इति स्थूलः प्रमादः।

भवेदेवं यदि कर्त्रा कारकमात्रस्य व्याप्तिः स्यात्, सैव तु कुत इति चेत्, कुतः पुनरव्याप्तिः। न हि षड्भ्योऽन्यत् कर्त्रनुपहितं कारकमस्ति। न चैषामेव कर्त्रुपधानशून्यं लक्षणमस्ति। एकैकमपोह्य शेषतः कार्यसम्भावनायां सर्वापोहसम्भावनाप्रसङ्गात्। न च समस्तविशेषापोहे सामान्यस्थितिः। यतः षड्कारकव्यावृत्तावपि कारकमात्रतः कार्यप्रत्याशा स्यात्। एकप्रवृत्तौ तु सर्वप्रवृत्तिरप्रत्यूहेति शृङ्खलाबन्धेन व्यवस्थितेः।

कल्पलता- तृतीयेऽपीति। विपक्षे बाधकवत्त्वं यत् प्रतिबन्धलक्षणं तत्रेत्यर्थः। आधारमारभ्य कर्तृपर्यन्तं षण्णां कारकत्वं व्युत्पाद्य कर्त्रधीना तदितरकारकव्यापारपरम्परा। अतो न कर्तारमन्तरेण कार्योत्पत्तिरिति। विपक्षे बाधकमाह आधारत्वादिति। आध्रियन्ते गुणकर्मादयोऽस्मिन्नित्याधारस्तं चान्तरेण कार्यानुपपत्तेस्तत्कारकमित्यर्थः। अपनेयेति। अपनेयस्त्याज्यो वृक्षादिः। अपगन्तृ पर्णादि। तथा च वृक्षात्पर्णं पततीत्यत्र विभागक्रियायां वृक्षस्य पर्णस्य च कारकत्वम्। तदवधित्वादिति। तन्निरूप्यत्वादित्यर्थः। यद्वा अपनेयं यदपगन्तृ पर्णादि तदुपहितं तद्विशिष्टं स्वरूपमपादानस्येत्यर्थः। तदवधित्वादिति। अपनयरूपक्रिया-

वधित्वादित्यर्थः। **करणीभूतेति**। कर्मणा यमभिप्रैति स सम्प्रदानमिति सूत्रानुसारेण सम्प्रदानस्वरूपमाह **करणीभूतेति**। विप्राय गां ददातीत्यत्र दानक्रियां प्रति विप्रस्य कारकत्वं तमन्तरेण दानक्रियानुपपत्तेः। अत एव ब्राह्मणस्वीकरणान्तस्त्यागो दानमिति *वृद्धाः*। **तदभिप्रेयत्वादिति**। देयस्वत्वभागित्वेन दातुरभिप्रायविषयत्वादित्यर्थः। **करणोपहितमिति**। करणनिरूप्यमित्यर्थः। तदेवाह **तद्व्याप्यत्वादिति**। करणव्यापारविषयत्वादित्यर्थः। **कर्त्रुपहितमिति** कर्तृनिरूप्यमित्यर्थः। तदेवाह **साक्षादिति**। कर्तृव्यापारविषयः करणमित्यर्थः। साक्षादिति कर्मव्यावर्तनाय, कर्मणोऽपि कर्तृव्यापार्यत्वं परन्तु करणद्वारेति भावः। **समस्तकारकोपहितमिति**। समस्तकारकनिरूप्यमित्यर्थः। तदेवाह **तत्प्रयोजकत्वादिति**। इतरकारकप्रयोक्तृत्वस्य कर्तृलक्षणत्वादित्यर्थः। ननु कर्तृनिरूप्यं करणं करणनिरूप्यं कर्म कर्मनिरूप्यश्च कर्तेति चक्रकम्। एवं कर्तृनिरूप्यं करणं करणनिरूप्यश्च कर्तेत्यन्योन्याश्रय इत्यत आह **ज्ञानेति**। उपादानगोचरापरोक्षज्ञानचिकीर्षाकृतिमत्वं कर्तृत्वमित्यनेन प्रकारेण कर्तुर्लक्षणे करणादिनिरूप्यत्वं नास्तीति न चक्रकादिरित्यर्थः। इदानीं विपक्षबाधकं स्फुटयति **एवं सतीति**। **प्रमाद इति**। कर्तारमन्तरेण कार्यमभ्युपगन्तुः पूर्वपक्षिण इति शेषः।

ननु यत् कारकं तत् सर्वं कर्तुर्व्यापारविषय एवेति न व्याप्तिरतः किञ्चित् कारकं कर्त्रव्यापार्यमस्तु तत एव चाङ्कुरादिरित्याह **भवेदेवमिति**। **न हीति**। षट्सु कारकेषु तावत्कर्त्रपेक्षा दर्शितैव, तदन्यत्तु कारकं नास्त्येवेत्यर्थः। नन्वेतेष्वेव मध्ये किञ्चित्कर्त्रव्यापार्यमस्त्वित्याह **न चैषामिति**। ननु कर्तारमन्तरेणापि कार्यं स्यादित्यत आह **एकैकमिति**। तर्हि कर्मान्तरेण करणमन्तरेणेत्यपि सम्भाव्येतेत्यर्थः। करणकारणनिरूप्यं च परस्परसहकारिता शृङ्खलार्थः।

अथ मतं तवैवेयं प्रक्रिया, अस्माकं तु कार्येणानुविहितभावाभावं चेतनमचेतनं वा कारणमुच्यते। संहतौ तु सर्वं स्वप्रधानम्। उपादानेतरव्यवस्था तु कथञ्चिदिति चेत्, न। तथापि निरुपादानत्वप्रसङ्गात्। जातिप्रतिनियतहेतुत्वेन तदवश्यमभ्युपेयम्। तस्य प्रमाणसिद्धतया ऽपह्नोतुमशक्यत्वादिति चेत्, न, उपादानमात्रस्य तद्धेतुत्वं निमित्तवैचित्र्येऽप्येकजातीयत्वप्रसङ्गात्। निर्निमित्तं वा प्रसज्येत, उपादानादेव तथाविधात्तदुपपत्तेः। न किञ्चिदेकमेकस्मात्, सामग्र्याः सर्वसम्भव इति चेत्, कुत एतत्। निमित्तसहितस्यैवोपादानस्य

प्रत्यक्षानुपलम्भाभ्यां कारणत्वावधारणादिति चेत्, न। दृश्यमात्रविषयत्वात्तयोः। दृश्यत्वं तस्य कथञ्चिदविवक्षितमिति चेत्, न। चेतनेऽपि तथा किं न स्यादिति। तस्मादुपादाननिमित्तयोर्यथा परस्परसहितयोरेव कार्यशक्तिस्तथा चेतनाचेतनयोरपीत्येक-निवृत्तावितरनिवृत्तिप्रसङ्गः।

अपि च मृत्पिण्डदण्डादिषु स्वव्यापारे पारतन्त्र्यं तावन्नियमेनोपलभ्यते। तदिदं दण्डादित्वमात्रानुबद्धं वा स्यात्, अदृष्टविशेषोपग्रहानुबद्धं वा, अचैतन्यमात्रानुबन्धं वेति निपुणं निरूपय।

कल्पलता- इयमिति। सर्वकारकसमवधाननियमप्रक्रियेत्यर्थः। अस्माकमिति। अर्थव्यतिरेके कर्त्रादिसमवधाननियम इत्यर्थः। उपादानेतरव्यवस्थेति। समवाय्यसमवायिनिमित्तापेक्षा तु नियतेत्यर्थः। एवं सति कार्यमुपादानं नापेक्षेतेत्याह तथापीति। पृथिवीजातीयकार्यं पृथिवीजातीयसमवायिकारणकमेवेति व्यवस्था निरुपादानत्वे न स्यादित्याह जातिप्रतिनियतेति। एवं सति उपादानमात्रमेव कारणमस्तु किं निमित्तकारणेन। तथा च दण्डवेमादिनिमित्तवैचित्र्येऽपि घटपटादीनामेकजातीयत्वप्रसङ्ग इत्यत आह उपादानमात्रस्येति। तथाविधात्–विचित्रात्। तदुपपत्तेः–कार्यवैचित्र्योपपत्तेः। एकमात्रकारकत्वे सततोत्पत्तिप्रसङ्गात्सामर्थ्यापेक्षेत्याह न किञ्चिदिति। साम्यमापादयितुं पृच्छति कुत एतदिति। प्रत्यक्षानुपलम्भाभ्यामन्वयव्यतिरेकाभ्यां पुनः साम्यापादनमाह दृश्यमात्रेति। चेतनेऽपीति। तत्रापि दृश्यत्वादिस्त्यज्यता-मित्यर्थः। प्रकृतमुपसंहरति। तस्मादिति। अचेतनत्वावच्छेदेनैव पारतन्त्र्यमतस्तदवच्छेदेनैव चेतनाधिष्ठेयत्वम्। तेन परमाण्वदृष्टादीनामपि चेतनाधिष्ठेयत्वमवश्यं वाच्यं न चास्मदादिभिस्तदधिष्ठानं सम्भवतीति ईश्वरस्तधिष्ठाताऽवश्यं स्वीकर्तव्य इत्यभिधातुं पीठमारचयति अपि चेति।

तत्र न प्रथमः। वेमादीनां स्वातन्त्र्यप्रसङ्गात्। तेषां वेमादित्व-मात्रानुबद्धमिति चेत्, न। दण्डादीनां स्वातन्त्र्यप्रसङ्गात्। न चैतत्कार्य-विशेषनियतं, गवाभ्याजनादौ दण्डादीनां स्वातन्त्र्यप्रसङ्गात्। न द्वितीयः। तस्य जातिविशेषानियतत्वे घटार्थमपि तेषां कदाचित् स्वातन्त्र्यप्रसङ्गात्। तन्नियतत्वे स एवोच्यताम्। न च घटपटशकटकटाहादिगतं दण्डवेमवासीसन्दंशादिगतं वा सामान्यविशेषमुपलभामहे। अस्त्यसौ यतः

शरीरिकर्तृकत्वानुमानमिति चेत्, न। घटत्वादेरेव तथाभावात्। अस्तु वा संस्थानविशेष:। न च स एवात्र निबन्धनम्। तस्याभावेऽपि जलानलादीनां चेतनप्रेर्यत्वदर्शनात्। न च शरीरप्रयोज्यं यत् तदेव चेतनप्रेर्यमिति नियम:। शरीरस्यैव स्वातन्त्र्यप्रसङ्गादित्युक्तप्रायम्।

तस्मादचैतन्यमात्रनिबन्धनमेतद्दण्डादिषु तथा च परमाण्वदृष्टादिष्वपि तस्य भावात्तथाभावो दुर्वार:। तदेतत् कार्यं कारणवत्तया व्याप्तं, सा च विपक्षेऽसंभवन्ती स्वव्याप्यमुपादाय व्यावर्तमाना सपक्षे विश्राम्यतीत्युभयमुखी प्रतिबन्धसिद्धि:।

कल्पलता- तेषामिति। वेमादीनां वेमादित्वेनैव पारतन्त्र्यमित्यर्थ:। ननु दण्डादीनां पारतन्त्र्यं घटादावेव जनयितव्ये, न त्वन्यत्रापीत्यत आह **न चेति। तस्येति।** दण्डादावदृष्टविशेषोपग्रहोऽस्ति येन घटादिकं जनयति तत्रैव पारतन्त्र्यं, क्षित्यादौ तु तत्कारणानां स्वातन्त्र्यमेवेति तदा स्याद्यदि जातिविशेषनियतोऽदृष्ट विशेषग्रह: स्यात्। न च तादृशो जातिविशेषोऽस्ति। तथा च घटेऽपि जनयितव्ये कदाचिद्दण्डादि: स्वतन्त्र: स्यादित्यर्थ:। **तन्नियतत्वत इति।** यज्जात्यवच्छिन्नं जनयद्दण्डादि परतन्त्रं स एव जातिविशेषोऽभिधीयतामित्यर्थ:। **न चेति।** कार्ये कारणे च तादृशं सामान्यं नास्ति, यत्प्रयुक्तमचेतनानां पारतन्त्र्यमित्यर्थ:। **असाविति।** सामान्यविशेष इत्यर्थ:। शरीरिकर्तृकत्वव्याप्यतावच्छेदकं सामान्यमस्तीत्यर्थ:। **घटत्वादेरेवेति।** व्याप्ये चानुगमो न दोषमावहतीत्यर्थ:।

ननु तथाप्यनुगमकं किञ्चिदास्थेयमेवेत्यत आह **अस्तु वेति।** यद्दृष्टेरक्रियादर्शिनोऽपि कृतबुद्धिरुत्पद्यते तदङ्कुरादिव्यावृत्तं घटपटाद्यनुगतं संस्थानविशेषवत्त्वमेव शरीरिकर्तृकत्वव्याप्यतावच्छेदकमस्त्वित्यर्थ:। ननु चेतनपूर्वकत्वेऽपि तदेव प्रयोजकमस्तु न त्वचेतनत्वमात्रमित्यत आह **न चेति।** तादृशसंस्थानविशेषविरहिणामपि जलानलादीनामपि चेतनप्रेर्यत्वदर्शनादेवेत्यर्थ:। ननु तथाप्यचेतनत्वनिबन्धनं मास्तु। किन्तु शरीरप्रेर्यत्वनिबन्धनमेवास्तु चेतनप्रेर्यत्वमत आह **न चेति।** शरीरं न शरीरप्रेर्यमथ च परतन्त्रमेव तदिति न तन्निबन्धनमित्यर्थ:।

यदर्थोऽयमारम्भस्तदुपसंहरन्नेव स्फुटयति **तस्मादिति। तस्य भावादिति।** अचेतनत्वस्य भावादित्यर्थ:। **तथाभाव इति।** चेतनप्रेर्यत्वमित्यर्थ:। **सा च** कारणवत्ता विपक्षेऽसकर्तृके गगनादावसम्भवन्ती स्वव्याप्यं कार्यत्वमुपादायैव

व्यावर्तमाना सपक्षे सकर्तृके विश्राम्यतीत्यर्थः। उभयमुखी अन्वयमुखी व्यतिरेकमुखी च। यद्यत् कार्यं तत्तत् सकर्तृकं, यन्न सकर्तृकं तत् न कार्यमिति प्रतिबन्धसिद्धिरित्यर्थः।

कः पुनरयं प्रतिबन्धः? स्वाभाविकः संबन्धः। कः स्वाभाविकार्थः? निरुपाधित्वम्। कः पुनरुपाधिः? साध्यप्रयोजकं निमित्तान्तरम्। किमस्य लक्षणम्? साधनाव्यापकत्वे सति साध्यव्यापकत्वम्। कथं पुनरेवं लक्षणकोऽर्थः प्रत्येतव्यो निराकर्तव्यो वा? विपर्ययाविरोधबाधकाभ्याम्। किं बाधकं? अन्वयव्यतिरेकभूयोदर्शनसाहायकमाचरन्ननुत्तरस्तर्कः। स चाऽऽत्माश्रयेतरेतराश्रयचक्रकानवस्थानिष्टप्रसङ्गभेदेन पञ्चविधोऽपि क्वचिद् व्यभिचारं निराकुर्वाणः क्वचित्तन्निबन्धनमुपाधिमवधून्वन् सहायीभवतीति फलतो न कश्चिद्विशेषः। तदुदाहरणानि चात्रैव यथायथं परिचेयानीति।

कल्पलता- **निमित्तान्तरमिति।** साध्यप्रयोजकान्तरमित्यर्थः। समव्याप्योपाधौ तात्पर्यम्। **विपर्ययाविरोधेति।** विपक्षबाधकाभावेन निराकर्तव्य इत्यर्थः। **अन्वयेति।** अन्वयसहचारग्रहे व्यतिरेकसहचारग्रहे वा साहायकं सहायत्वमाचरन्नुत्तरस्तर्क एव विपक्षे बाधक इत्यर्थः। साहायकमिति योपधाद्गुरूपोत्तमाद्वुञिति (पा.सू. ५।१।१३२) भावे वुञ्प्रत्ययान्तं पदम्। **अनुत्तर इति।** नास्त्युत्तरं यस्मादित्यर्थः। कर्त्तारं विनापि कार्यं स्यादिति विपक्षशङ्का, सा च न भवति। एतावता प्रबन्धेनाचेतनव्यापारस्य कर्तृव्यापारसहभावनियमे दर्शिते अकारणककार्योत्पत्तिशङ्कापर्यवसन्नायास्तस्याः स्वक्रियाव्याघातादिनाऽनुदयादित्यर्थः। **स चेति।** स्वापेक्षित्वमात्माश्रयः। स्वापेक्षापेक्षित्वमन्योन्याश्रयः। स्वापेक्षापेक्षापेक्षित्वादिश्चक्रकम्। आपत्तिप्रयोजकीभूतरूपवदापाद्यापादनमनवस्थेत्यादि *वादिविनोदे* स्फुटम्। व्याप्तेरुपाधेश्च लक्षणं, ग्रहणोपायो विवेचनं *चानुमानमयूखे लीलावतीकण्ठाभरणे* च दर्शितमिति तत्रैव अन्वेष्टव्यम्। ननु किं कुर्वंस्तर्कः सहाय इत्यत आह **क्वचिदिति। तदुदाहरणानीति।** आत्माश्रयादीनामुदाहरणानि। **अत्रैवास्मिन्नेव** ग्रन्थे क्षणिकतावादेऽपोहवादे विज्ञानवादादौ च परिचेयानीत्यर्थः।

अथ न्यायदुर्बलस्य प्रतिबन्दीकरणं, यदुतैवं शशविषाणस्यापि सिद्धिः स्यात्। दृश्यमात्रनियतत्वात् प्रत्यक्षबाधस्य। न च दृश्यत्वनिवृत्तेरेव

विषाणत्वनिवृत्तिः, अव्यापकनिवृत्तावव्याप्यनिवृत्तेरयोगात्। विषाणगतकार्यत्वप्रयुक्तत्वाच्च दृश्यत्वव्याप्तेः। तेन तन्निवृत्तावपि नाकार्यस्य शृङ्गस्य निवृत्तिरिति। तच्च महार्थसिध्या कृतकृत्यस्य न परिभ्रंशाय, निष्प्रयोजनविषयत्वात्। तथापि सम्भावितस्याकीर्तिभिया नोपेक्षामर्हति प्रतिबन्दिरिति चेत्, तर्हि मा भैषीरियमुन्मोच्यते। तथा ह्यर्थात् स्वशिरःशृङ्गसाधनप्रवृत्त इदं प्रष्टव्यः, किं ते विषाणशब्देनान्यदेव किञ्चिदभिप्रेतं रोमादिविषाणजातीयं वा द्रव्यम्?। प्रथमे सिद्धसाधनं, लोकविरोधश्च। लोके तद्विपरीतस्यैवार्थस्य विषाणशब्देनाभिधानात्। द्वितीये त्वन्वयव्यतिरेकाभ्यां संस्थानविशेषकार्यत्वात्, व्यवहारलक्षणायास्तदभिव्यक्तेः। कथं तद्रहितेषु परमाण्वादिषु तत्सम्भवः। सम्भवे वा कथं न तत्र घटत्वादिकमपि। ओमिति ब्रुवतः कथं न जातिसङ्करप्रसङ्गः। कारणं विना कार्यसम्भवप्रसङ्गो वा। न वान्वयव्यतिरेकौ कार्यकारणभावे प्रमाणमिति सर्वं समाकुलमेवाकुलमतेः। तस्मादतीन्द्रियं नित्यं वा विषाणमेव न भवति यच्च विषाणं तत् प्रत्यक्षबाधितमेव कुतस्तदनुमानावकाशः।

कल्पलता- न्यायेन दुर्बलो न्यायदुर्बलः। न्यायेनास्मत्प्रयुक्तेन दुर्बलस्य सदुत्तराफुरणेन हीनशक्तेरिति वार्थः। सुगममन्यत्। महार्थसिद्ध्येति। महार्थ ईश्वरस्तत्सिद्ध्या तत्र त्वया दूषणानभिधानात्। परिभ्रंशो भङ्गः। निष्प्रयोजनेति। नहि प्रतिबन्दिर्दूषणफला, नापि साधनफलेत्यर्थः। मा भैषीरिति। प्राणित्वादिना स्वशिरस्यपि विषाणसिद्धिभयं मा कार्षीरित्यर्थः। अत एवोक्तमर्थादिति। लोकेति। लोभादौ लोके विषाणपदप्रयोगाभावादित्यर्थः। तद्विपरीतस्येति। लोमादिभिन्नस्येत्यर्थः। विषाणत्वं जातिर्घटत्वादिवत् संस्थानविशेषव्यङ्ग्यैव। तथा च यत्र संस्थानविशेषो नास्ति तत्र विषाणत्वमपि नास्ति, सम्भवे वा परमाणुषु घटत्वपटत्वादिकमपि स्यादित्यर्थः। पटत्वादिकमपि तत्रास्तु को दोष इत्यत आह ओमिति। तादृशावयवसंयोगं विनापि यदि विषाणरूपं द्रव्यं स्यात्, तदाऽकारणकार्योत्पत्तिरित्याह कारणमिति।

यद्वा संस्थानविशेषमन्तरेणापि यदि विषाणत्वाभिव्यक्तिः स्यात् तदाऽकारणककार्योत्पत्तिरित्यर्थः।

न चेति। अन्वयव्यतिरेकाभ्यां तादृशावयवसंयोगस्यैव विषाणारम्भकत्वं विषाणत्वाभिव्यञ्जकत्वं च गृहीतं तत्तिरस्कारे कारणत्वनिश्चयस्तु क्वापि न

स्यादित्यर्थः।

एवं तर्हि नित्यं ज्ञानमित्यपि व्याहतम्। इन्द्रियादि विकारमात्र-व्यक्तिमात्रव्यङ्ग्यत्वात् ज्ञानत्वसामान्यस्येति चेत् न, अतद्भावत्वात् अतदाक्षेपकत्वाच्च। न हि मातृत्वस्य वन्ध्यात्ववत् नित्यत्वस्याभावो ज्ञानत्वम्। अचेतनानामपि चेतनत्वप्रसङ्गात्। नापि नित्यत्वं ज्ञानत्वाभावमाक्षिपेत्। ज्ञानत्वेनाविरोधात्। विरोधमूलस्य विपक्षे बाधकस्याभावात्, दर्शनादर्शनयोश्चार्थप्रवणत्वाप्रवणत्वोपाधिग्रस्तत्वात्। रूपत्वानित्यत्वयोश्चक्षुर्मात्रग्राह्यव्यक्तित्ववत्। न चेन्द्रियादिविकारो ज्ञानत्वाभिव्यक्तिहेतुरर्थप्रवणव्यक्तिमात्रस्यैव तन्निरपेक्षस्य तथाभावात्। एतदनपेक्षस्य तस्यातिप्रसञ्जकत्वादिति।

कल्पलता- एवं तर्हीति। इन्द्रियादिविकारमन्तरेणैव ज्ञानत्वाभिव्यक्तौ तवापि दोषाः समाना एवेत्यर्थः। **अतद्भावत्वादिति।** ज्ञानत्वनित्यत्वयोः परस्परविरहलक्षणस्तावन्न विरोधः। न हि ज्ञानत्वाभाव एव नित्यत्वं नित्यत्वाभावो वा ज्ञानत्वमित्यर्थः। कुत एवमित्यत आह **नहीति।** जनकस्त्रीत्वं मातृत्वमजनकस्त्रीत्वं च वन्ध्यात्वमत्र जनकत्वाजनकत्वयोर्यथा परस्परविरहरूपत्वं न तथा प्रकृत इत्यर्थः। कथं न तथा प्रकृत इत्यत आह **अचेतनानामिति।** अचेतनानां नित्यत्वाभाववतां घटपटादीनां चेतनत्वप्रसङ्गो ज्ञानत्वाधिकरणत्वप्रसङ्ग इत्यर्थः। ननु परस्परविरहाक्षेपकत्वं विरोधोऽस्त्वित्यत आह **नापीति।** नित्यमपि भवतु ज्ञानं चेति विपक्षबाधकमिह नास्तीत्यर्थः। ननु यद्यज्ज्ञानं तत्सर्वमनित्यमेव दृश्यते। यच्च नित्यं तन्न ज्ञानात्मकं दृश्यते। तथा च नित्यं ज्ञानमित्यपि व्याहतमित्यत आह **दर्शनेति।** नित्यमनित्यं वा यदर्थप्रवणं तदेव ज्ञानं न तु दर्शनादर्शने तन्त्रमित्यर्थः। तथा च विवादाध्यासितं न ज्ञानं नित्यत्वादाकाशवदित्यत्रार्थाप्रवणत्वमुपाधिः। विवादाध्यासितं ज्ञानमनित्यं ज्ञानत्वान्मतवदित्यत्र जन्यत्वमुपाधिः, धर्मिग्राहकमानाबाधो वेति भावः। **रूपत्वेति।** अन्यथा यद्रूपं तदनित्यमेवेति व्याप्त्या जलपरमाणुरूपं न सिध्येत्। तत्र सहचारदर्शनव्यभिचारादर्शने चक्षुर्मात्रग्राह्यव्यक्तित्वौपाधिके यथा, तथा प्रकृतेऽपीत्यर्थः। ग्राह्यत्वमिह ग्रहणयोग्यत्वं। नन्विन्द्रियादिविकारव्यंग्यत्वनिवृत्त्या तत्र ज्ञानत्वं निवर्ततामत आह **न चेति।** **अर्थप्रवणत्वमर्थ**निरूपणाधीननिरूपणत्वं स्वरूपसंबन्धेन सविषयत्वं वा इच्छादौ तु विषयेण न स्वरूपसंबन्धः किन्तु

ज्ञानमेव संबन्ध इति भावः। तस्येति। इन्द्रियविकारमात्रस्यार्थप्रवणत्वनिरपेक्षस्य ज्ञानत्वाभिव्यञ्जकत्वे सुखादीनामपि ज्ञानत्वप्रसङ्ग इत्यर्थः।

अथ क्षुद्रोपद्रवाः। केवलस्य कर्तृत्वे विश्वस्य वैश्वरूप्यव्याघातः, सततोत्पत्तिप्रसङ्गश्च। अदृष्टापेक्षायां कल्पनागौरवम्, तत एव तदुत्पत्तेः। स्वार्थं प्रवृत्तावनीश्वरत्वप्रसङ्गः। परार्थं प्रवृत्तावदुःखमयसर्गप्रसङ्गः। एवमेव प्रवृत्तावचैतन्यम्। एकत्वे प्रमाणाभावः। अनेकत्वे त्वसार्वज्ञ्यम्, प्रतिनियतसामग्रीविज्ञत्वादित्येवमादयः।

कल्पलता- उपद्रवाणां क्षुद्रत्वं सिद्ध्यसिद्धिपराहतत्वम्। **केवलस्य** अदृष्टनिरपेक्षस्य। **वैश्वरूप्यम्** वैचित्र्यम्। तथा च सर्वमेकजातीयं स्यादित्यर्थः। **सततेति।** एकस्य न क्रमः क्वापीत्यर्थः। **कल्पनागौरवमिति।** ईश्वरकल्पनागौरवमित्यर्थः। **तत एवेति।** अदृष्टादेवाङ्कुराद्युपपत्तेरित्यर्थः। **स्वार्थमिति।** स्वसुखार्थं प्रवृत्तौ सुखवत्त्वेन संसारित्वापत्तेरित्यर्थः। **एवमेवेति।** प्रयोजनं विनैवेत्यर्थः। **प्रमाणाभाव इति।** नह्युक्तमीश्वरानुमानं तदेकत्वमपि विषयीकरोतीत्यर्थः। **नियतेति।** क्षितिकर्तुस्तदुपादानमात्राभिज्ञत्वम्। अङ्कुरकर्तुश्च तदुपादानमात्राभिज्ञत्वमित्यसार्वज्ञ्यमित्यर्थः।

तत्र कारणचक्रस्यैकमुपादाय शेषवैय्यर्थ्यप्रसञ्जने सर्ववैयर्थ्यप्रसङ्गः। अन्वयव्यतिरेकाभ्यां सिद्धकारणभावस्य न वैयर्थ्यमिति चेत्? अनुमितकारणभावस्याप्येवम्, प्रमाणसिद्धत्वाविशेषात्। यच्च यदनुगुणत्वेन कल्पितं तस्य तेनैव विफलीकरणे सर्वत्रादृष्टमुपादाय दृष्टवैफल्यप्रसङ्गः। तथा च तदपि न स्यात्, प्रमाणाभावात्। दृष्टेन ह्यदृष्टमुन्नीयते। परार्थं च प्रवृत्तिः, स्वार्थाभावात्। न च दुःखसृष्ट्या कारुण्यापवादः। जनकाध्यापकचिकित्सादिषु व्यभिचारात्।

अथ दौर्जन्यादेव किन्नैवमिति चेत्, न। दोषाभावात्। तदभावश्च मोहाभावात्। तदभावोऽपि सर्वज्ञत्वादिति।

कल्पलता- सिध्यसिद्धिपराघाते सत्यपि प्रकारान्तरेणापि परिहरति **तत्रेति।** अदृष्टमुपादायेश्वरवैयर्थ्यापादाने करणमुपादाय कर्मवैयर्थ्यं, कर्मोपादाय करणवैयर्थ्यमित्याद्यपि प्रसज्येतेत्यर्थः। उपजीव्यविरोधमाह **यच्चेति।** अदृष्टाधिष्ठातृत्वेन सिद्ध ईश्वरो नादृष्टेनान्यथा सिद्धः कर्तुं शक्य इत्यर्थः। **तदपीति।**

अदृष्टमपीत्यर्थः। जनकेति। पित्रादयः। पुत्रादिहितार्थं पुत्रादौ दुःखमुत्पादयन्त्येवेत्यर्थः। दौर्जन्यं कौटिल्यम्।

एकद्व्यणुककारी च परमाणुमदृष्टमुपकार्यत्र्यणुकादिभोगपर्यन्तं द्रव्यादिपदार्थषट्कं च जानाति नूनमित्यविवादम्। एषामुपादानादिरूपत्वात्। अवच्छेद्यावच्छेदकभावापरिज्ञानेन वोपादानादिपरिज्ञानानुपपत्तेः। यश्च यज्जातीयमेकं कर्त्तुं ज्ञातुं वा समर्थः, स तज्जातीयं सर्वमेवेति नियमः। सामर्थ्यस्य जातिनियतत्वात् केवलं समर्थोऽपि सहकार्यसन्निधेर्न कुर्यान्न जानीयात्। तत्र प्रथममिष्यते। कार्यस्य कालदेशनियमोपलम्भात्। द्वितीयस्तु संभवेदपि यदि कार्यमस्य ज्ञानं स्यात्। न च तत्तथा। कथमिति चेत्? शरीरापाये तदाश्रितानामिन्द्रियादीनामपायात्। न चान्वयव्यतिरेकसिद्धहेतु भावस्याभावेऽपि हेत्वन्तरात् कार्यजन्म, निर्हेतुकत्वप्रसङ्गात्। न चाहेतुकं कार्यं नाम। ततः स्वतःसिद्धैवास्य ज्ञानचिकीर्षाप्रयत्नशक्तिर्यत्गोचरा तज्जातीयसमस्तगोचरेति सार्वज्ञ्यसिद्धिः।

कल्पलता- असार्वज्ञ्यं परिहरति एकेति। एषामिति। परमाण्वदृष्टादीनामुपादाननिमित्तादिरूपत्वादित्यर्थः। तर्हि तदुपादानादिज्ञानात्तद्-गतसामान्यज्ञानं कुतस्त्यमित्यत आह अवच्छेद्येति। यश्चेति। यथा घटपटादिकर्तुः कुलालकुविन्दादेः सर्वतदुपादानजातीयताभिज्ञत्वामित्यर्थः। सततोत्पत्तिप्रसङ्गमपाकरोति केवलमिति। शरीरोपाय इति। ज्ञानकारणं नास्ति ज्ञानं चास्तीति तन्नित्यत्वमवर्जनीयमित्यर्थः। ननु शरीरादिभिन्नमेव तत्र कारणं स्यादित्यत आह न चेति। स्वतःसिद्धेति नित्येत्यर्थः।

शरीरापाय एव कथमिति चेत्? दृश्यस्य प्रत्यक्षबाधितत्वात्, अदृश्यस्यापि सावयवतया मूर्ततया च निविडतरपाषाणमध्यवर्तिनि भेकादौ कार्ये कर्तव्ये नाभग्नस्य प्रवेशः। न च परमाणुरूपं तच्छरीरम्। अनन्तरालत्वेन निर्मनस्कतया इन्द्रियाश्रयत्वानुपपत्तेः। न च बहिर्वृत्ति मनोज्ञानजननोपयोगि शरीरवैयर्थ्यप्रसङ्गात्। न च दविष्ठ एव सूर्यादिस्तत्कुर्यादिति साम्प्रतम्। कारकानधिष्ठानात्, शरीरस्य तदायतनतया प्रयत्नस्याव्यापकत्वात्। तथापि व्यापकत्वे त्वसमवायिकारणाननुरोधेना कारणकतया तदेव नित्यत्वम्। न चोद्देशमात्रसंबन्धेन क्रियाहेतुत्वमस्मदादिप्रयत्नस्यापि तथाभावप्रसङ्गात्। न च

संयुक्तसंयोगादधिष्ठानं, साक्षादधिष्ठानस्य विवक्षितत्वात्। विषापनोदादौ कथमिति चेत्, न। तत्रास्मदादेर्ज्ञानमात्रं प्रति यत्नस्याविरोधात्। विषापनोदादौ तु तत्सहकारिणस्तज्जन्यादृष्टसहकारिणो वा अन्यस्यैव तत्रत्यो यत्नः क्रियाहेतुरिति। सर्गादौ तु न शरीरगन्धोऽपीति सर्वथा कलेवरविगमात् अकारणतया बुद्धेः सर्वज्ञत्वमनिवार्यं विश्वेषां कर्तुरेकस्येति।

कल्पलता– भग्नस्य च प्रवेशे भेकादेः शरीरजन्यत्वं सिद्धमित्यर्थः। ननु पाषाणस्य सच्छिद्रतया परमाणुरूपं शरीरं तत्र प्रविशेदेवेत्यत आह **न चेति**। शरीरान्तर्गतमेव च मनोज्ञानं जनयतीति भावः। **तत्कुर्यादिति**। पाषाणमध्यवर्तिभेकादि कुर्यादित्यर्थः। **कारकेति**। भेकशरीरं प्रति यत् कारकं तदधिष्ठानं तत्र व्यापारोपधानं तद्विषयेण प्रयत्नेन भवेत्। न च विदूरवर्तिना प्रयत्नेनान्यत्र व्यापार आधातुं शक्य इत्यर्थः। ननु तस्य प्रयत्नो व्यापक एवास्त्वित्यत आह **तथापीति**। तथा च सूर्यपदेन नित्यव्यापकप्रयत्नवानीश्वर एवाभिधीयत इत्यायातमिति भावः। ननु दविष्ठोऽपीच्छाविषयतया प्रयत्नविषयः स्यादित्यत आह **न चेति**। उद्देश इच्छा। **तथाभावेति**। विदूरे क्रियाजनकत्वप्रसङ्गादित्यर्थः। ननु सूर्यादिशरीरसंयुक्तमाकाशं तत्संयुक्तं च भेककारकचक्रमिति तत्प्रयत्नेन तत्र क्रिया स्यादित्यत आह **न चेति**। **साक्षादधिष्ठानस्येति**। प्रयत्नवदात्मसंयोगेनाधिष्ठानं विवक्षितम्। तत्रास्मदादीनां शरीरद्वारमीश्वरस्य तु न तद्द्वारमित्यर्थः। ननु गारुडिकप्रयत्नेन व्यवहितेनापि दष्टविषापनोदः कथं क्रियत इत्याह **विषेति**। **तत्रेति**। गारुडिकमन्त्रपाठादिना गरुडदेवतायास्तादृशं ज्ञानं जन्यते, येन दष्टो जीवति। तत्र चास्मदादेर्गारुडिकस्य प्रयत्नो न विरुद्ध इत्यर्थः। ननु तथापि दष्टनिष्ठं विषं गारुडिकप्रयत्नेन व्यवहितेन कथं चलति कथं वाभिध्यानेन विषशकलं(न) चलतीत्यत आह **विषापनोदादाविति**। **तत्सहकारिण इति**। मन्त्रादिपाठसहकारिण इत्यर्थः। **तज्जन्येति**। मन्त्रादिपाठजन्यादृष्टसहकारिणोऽन्यस्यैवेश्वरस्येत्यर्थः। **सर्गादौ तु न शरीरगन्धोऽपीति**। न सूर्यादिशरीरगन्धोऽपि येन तत्प्रयत्नाधिष्ठेयत्वं स्यात्। तथा चेश्वर एवाशरीरोऽप्यधिष्ठातेति सिद्धमित्यर्थः। अत एव ज्ञानकारणशरीराद्यभावात्तदधीनप्रतिनियमानुपपत्तेः **सर्वज्ञत्वमनिवार्यमित्याह सर्वथेति**।

अस्तु तावदसौ सर्वज्ञः कर्त्ता, वक्ता तु कथमिति चेत्? न। वचनशक्तौ सत्यां परार्थैकतानत्वात्। यो हि हिताहितविभागं विद्वान् परार्थमभिप्रायः

संस्थानकरणपाटवे सत्यविदुषे ऽवश्यमुपदिशेत्। यथा अन्धाय दक्षिणेन याहि वामेन मा गाः इति पृथग्जनोऽपि तथा भगवानिति। स्थानकरणपाटवमसिद्धं देहाभावात्। तेषां ताल्वादिविवृतादिरूपत्वात्। न च तदन्तरेण वर्णनिष्पत्तिः, तदुत्पत्तेरवधारणात्। न च तत्कारणान्यनधितिष्ठितः तत्कर्तृत्वमीश्वरस्यापीति चेत्? न। यस्य कार्यस्य यत्कारणमन्वयव्यतिरेकसिद्धं तत्कारणाधिष्ठानयोः स्थूलसिद्ध्यर्थं तदवयवपरम्पराकारणाधिष्ठानवदवश्यम्भावनियमात्। ननु सर्वत्र कार्ये कायः कारणमिति प्रागुपेक्षितः। पितृत्वाद्वोपदेशानुमानम्। तथापि कतम आगमस्तेन प्रणीत इति चेत्? वेदायुर्वेदादिरित्यरिकरिकर्णज्वरः सिहंनादः।

कल्पलता- ईश्वरस्य शरीराभावादुक्तत्वमाक्षिपति अस्त्विति। परार्थैकतानत्वादिति। परप्रयोजनैकपरत्वादित्यर्थः। परार्थैकतानत्वमेव कथयति यो हीति। स्थानं कण्ठताल्वादि। करणं संवृतविवृतादिलक्षणः प्रयत्नः। तथा चेति। स्थानकरणपाटवे सति हिताहितविद्वानित्यर्थः। पूर्वपक्षी आशयमुद्घाटयति स्थानेति। तदुत्पत्तेरिति। वर्णं प्रति ताल्वादीनां कार्यकारणभावावधारणादित्यर्थः। नन्वीश्वरस्तदन्तरेणापि वर्णान् संजनयेदित्यत आह न चेति। करणाधिष्ठानयोरवश्यंभावनियमादिति। वाक्यं यावन्न परिसमाप्यते तावदेवानुरूपं दृष्टान्तमाह स्थूलेति। तर्ह्यङ्कुरादौ जनयितव्ये कथमीश्वरस्य कायो नाभ्युपगम्यत इत्यत आह न चेति। पितृत्वादिति। जनकत्वादाप्तत्वाद्वेत्यर्थः। पिता पुत्रं जनयित्वोपदिशत्येव, यो यदाप्तः स तमनभिज्ञमुपदिशत्येवेति भावः। कतम इति। भवदभ्युपगतोऽस्मदभ्युपगतो वेत्यर्थः। अरिकरीति। तवातिदुःसहं मम वचनं यतस्त्वदनुन्नीयमानमण्डलीकरणादीनामप्रामाणिकत्वेन तव श्रमवैयर्थ्यमिति भावः।

तथाहि न तावदयमायुर्वेदोऽप्रमाणं, संवादस्य प्रायिकत्वात्। विसंवादस्य काकतालीयतया कर्तृकर्मसाधनवैगुण्यहेतुकत्वात्। पुनस्तत्साद्गुण्ये तत एव फलसिद्धेः। न च निर्मूलस्तथा भवितुमर्हति। अतिप्रसङ्गात्। न चान्वयव्यतिरेकभावोऽस्य मूलं आवापोद्वापेन योगानामनन्ततयाऽर्वाचीनेनाशक्यत्वात्। विषादौ तथाकरणे बहुतरानर्थप्रसङ्गात्। कः प्रेक्षावान् अनाकलितवस्तुतत्त्वः। पाटवपोषणच्छेदनक्षारणशिरावेधनलङ्घनादि योग्यायै कारयेत्, कुर्याद्वा।

न चोपदेशस्य उपदेशपारम्पर्यमात्रं मूलं, अवश्यमुपदेशस्य क्वचित् प्रमाणे विश्रान्तेरिति हि व्याप्तेः। न च नित्यागमसम्भवो वाक्यत्वात्। तस्मादतीन्द्रियार्थदर्शिपूर्वकोऽयमिति परिशेषः। तथा चानेन दृष्टान्तेन महाजनपरिगृहीतत्वाद्वेदा अपि सर्वज्ञपूर्वका इत्युन्नीयते।

कल्पलता– प्रथमं दृष्टान्तमुपपादयितुमाह **कर्तृकर्मेति**। दशमूलीकषायपानं ज्वरोपशमहेतु तुलनाद्यसाद्गुण्यं कर्तुश्चाजीर्णज्वरत्वाद्यसाद्गुण्यमित्यर्थः। तत एव दशमूलीकषायपानादेरेव। **अस्य मूलमिति**। दशमूलीकषायपानं ज्वरोपशमहेतुरित्यस्येत्यर्थः। **योगानामिति**। तत्तद्भेषजसंयोगानामित्यर्थः। **तथा करण इति**। स्वयमुत्प्रेक्ष्य योगकरण इत्यर्थः। किञ्चाप्तोपदेशमन्तरेण पाठनादौ प्रवृत्तिरेव न स्यादित्याह **कश्चेति**। योग्यायै अभ्यासाय। **अवश्यमिति**। प्राथमिकस्योपदेश्यसाक्षात्कार एव मूलमित्यर्थः। यदर्थं दृष्टान्तोपपादनं तत्राह **तथा चेति**।

ननु महच्छब्दोऽत्र यदि प्रामाणिकवचनस्तदा सन्दिग्धासिद्धविशेषणो हेतुः। अथ बह्वर्थः? तदा सुगताद्यागमैरनैकान्तः। तेषामपि वा सर्वज्ञपूर्वकत्वमिति चेत्, न। बहुत्वातिशयस्य विवक्षितत्वात्। कोऽतिशयः। सर्वदर्शनान्तःपातित्वम्। कस्तैः परिग्रहः? तदर्थानुष्ठानं, स्वीकृतव्यवहारव्याकरणादिपालनीयत्वं, स्वीकृतप्रामाण्यायुर्वेदादिस्वीकृतार्थत्वञ्च। तथाहि नास्त्येव तद्दर्शनं यत्र सांवृतमित्युक्त्वापि गर्भाधानाद्यान्त्येष्टिपर्यन्तां वैदिकीं क्रियां जनो नानुतिष्ठति। स्पृश्यास्पृश्यादिविभागं वा नानुमनुते, व्यतिक्रमे चाऽऽचमनादिस्नानादि प्रायश्चित्तं वा नानुतिष्ठति। न सर्वत्र सर्वो जन एवमिति चेत्? मा भूत्, न हि सर्वै रोगिभिरायुर्वेदार्थो नानुष्ठीयत इति न तस्य महाजनपरिग्रहः। अपि तु सर्वदर्शनान्तः पातिभिरित्येव। तथापि न सर्वो वेदार्थ एवमिति चेत्? मा भूत्। न हि सर्वो वैद्यकार्थ एवमपि तु कश्चित् केनापि। एवं तर्हि *सौगता*द्यागमार्थोऽपि कश्चिदहिंसादिः सर्वदर्शनान्तः पातिभिरनुष्ठीयत एव कैश्चिदिति सोऽपि महाजनपरिगृहीतः स्यात्। न, सन्देहात्। किमयमहिंसादिर्वैदिक एवार्थो विडालव्रतन्यायेन श्रद्धाऽऽपादनाय *शौद्धोदनि*प्रभृतिभिरुपनिबद्धः, आहो स्वयं दृष्ट एवेति। न तावत् स्वयं दृष्टः, *श्रमणका*द्यागमसाधारणत्वात्। यस्त्वसाधारणो मण्डलीकरणादिः

केशोल्लुञ्चनादिर्वा नासौ सर्वैरनुष्ठीयते। वैदिकस्तु असाधारण एव निषेकादिस्तथेति। अपि च वाचकापभ्रंशविभागोऽस्तु न वा, तद्व्यवहारस्तावत् सर्वैरेव *तीर्थिकै*रविगानेन स्वीकृतः। तथा शिक्षाज्योतिश्छन्दोनिगमनिरुक्ताद्यर्थश्च। तेषां च वेदरक्षैव परमं प्रयोजनमिति।

कल्पलता- संदिग्धेति। *मन्वादी*नां प्रामाणिकत्वसन्देहादित्यर्थः। **तदेति।** बहुपरिगृहीतस्यापि *सुगताद्यागमस्य* त्वया सर्वज्ञपूर्वकत्वानभ्युपगमादित्यर्थः। **तेषामिति।** सुगताद्यागमानामपि त्वदुक्तहेतुबलात् सर्वज्ञपूर्वकत्वं स्यादित्यर्थः। **बहुत्वेति।** अतिशयितानां बहूनां महच्छब्देनाभिधानादित्यर्थः। **सर्वेति।** सर्वाणि दर्शनानि *न्यायमीमांसाप्रभृतीनि* तदन्तःपातित्वं तत्प्रतिपाद्यमुख्यार्थ स्वर्गापवर्गादिस्वीकर्तृत्वमतिशयः। *सौगतादिदर्शनानि* तु दर्शनप्रतिरूपकाणि न तु दर्शनानीति भावः। **कस्तैरिति।** एते तावन्महाजना भवन्तु परिग्रहस्तु तेषां क इत्यर्थः। एकं परिग्रहमाह **तदर्थेति।** अस्मदभिमतस्य *वेदस्यार्थो* निषेकादिस्तैरनुष्ठीयते न तु त्वदागमस्यार्थो मण्डलीकरणादिरित्यर्थः। द्वितीयं महाजनपरिग्रहमाह **स्वीकृतेति।** स्वीकृतप्रामाण्यं यद्*व्याकरणं पाणिन्यादि*प्रणीतं तत्साधितासाधारणपदकत्वं महाजनपरिगृहीतत्वमित्यर्थः। छन्दसि बहुलम् (पा.सू.४।२।७६।) छन्दसि परेऽपि (पा.सू. १।४।८१।)। व्यवहिताश्चेत्यादि (पा.सू. १।४।८२) सूत्रप्रतिपादितासाधारणपदकत्वं यथास्मदागमे न तथा त्वदागमेऽपीति। तृतीयमाह **स्वीकृतेति।** आयुर्वेदबोधितविध्यर्थविषयकत्वमित्यर्थः। शतकृत्वो गायत्रीमभ्यस्य नीरुग्भवतीत्यादौ गायत्र्या अस्मदागम एव सत्त्वादिति भावः। प्रथमं महाजनपरिग्रहं विवेचयति **तथा हीति। नास्त्येवेति।** तद्दर्शनं नास्ति यदन्तःपाती जनो वैदिकक्रियां नानुतिष्ठतीत्यर्थः। *वेदान्तमत*माश्रित्याह **सांवृतमिति। एवमिति,** वैदिकक्रियानुष्ठातेत्यर्थः। **अपि त्विति।** भूयःसर्वदर्शनान्तःपातिजनानुष्ठीय मानार्थतेत्यर्थः। **अपि त्विति।** भूयः सर्वदर्शनान्तःपातिजनानुष्ठीयमानार्थत्वेनैव महाजनपरिगृहीतत्वनिर्वाहादित्यर्थः। **न सर्व इति।** न राजसूयादिरपीत्यर्थः। **न हि सर्व इति।** अनेकधनव्ययाऽऽयाससाध्य महाकुब्जप्रसारिण्यादिरित्यर्थः। *एवं तर्हीति*। यदि क्वाचित्की कतिपयमहाजनप्रवृत्तिः परिग्रहार्थ इत्यर्थः। सन्देहाकारं दर्शयति **किमित्यादि** स्वयं दृष्ट एवेत्यन्तेन। **श्रमणकः** *क्षपणकः*, तदागमस्य *सौगतै*रपि प्रामाण्यानभ्युपगमात्। तत्राप्यहिंसाश्रवणाद्वैडालव्रतन्यायेनैव तदनुष्ठानं

सौगतानामिति भावः। *केशोल्लुञ्चनं* व्रतान्ते निर्विण्णत्वज्ञानाय गुरुणा शिष्यस्य केशोत्पाटनम्। तथेति। सर्वानुष्ठानगोचर इत्यर्थः। द्वितीयं महाजनपरिग्रहं स्फुटयति अपि चेति। ननु वाचकापभ्रंशविभागफलं व्याकरणं, तद्विभाग एव वस्तुगत्या नास्तीत्यत आह वाचकेति। तद्व्यवहारश्चेत् अस्ति सोऽपि *व्याकरणा*धीन एवेत्यर्थः। *व्याकरणं* हि प्रकृतिप्रत्ययागमादिपरिकल्पवाक्यम्। न च गोशब्दवद्गाविशब्देऽपि तत्कल्पनास्ति। तथा च तत्परिकल्पकत्वेन सर्वैरनुमतेन व्याकरणेन बहुलं छंदसीत्यादिना, *भद्रं कर्णेभि*रित्यादीनां समाधानात्तत्पालनीयत्वं सिद्धम्। किञ्च व्याकरणव्याख्यातृभि*र्महाभाष्यकारादिभिः सुगताद्यागमा*-नामप्रमाण्यस्यैव व्युत्पादनादिति भावः।

स्यादेतत्, *व्याकरणादीति* तावत् सर्वैरभ्युपगतार्थानि, *वेदा* अपि तैः पालनीया भवन्तु। त एवेति तु कुतः, *संसारमोचकागमोऽपि* तत्पालनीयः किन्न स्यादिति चेत्, न। तत्कर्तृभिस्तथानभ्युपगमात्, अव्युत्पादनात्, असाधारणलिङ्गाभावात्, विरुद्धलिङ्गसद्भावाच्च। न हि वेदशब्दार्थाविव सुगताद्यागमासाधारणशब्दार्थावनुरुध्य तेषां प्रवृत्तिः। यत एवमुन्नीयेत, प्रत्युत विरोध एव, तैस्तदप्रामाण्य व्युत्पादनात्। तस्मात् सर्वाभ्युपेतव्यवहारव्याकरणादिपालनीयत्वमपि *वेदानामेव* नान्येषाम्। सर्वाभ्युपेतप्रामाण्यै*रायुर्वेदादिभिः* स्वीकृतश्चैषामर्थः। प्रतिपदं तदीयशान्तिकपौष्टिकप्रायश्चित्ततपोजपदानहोमाद्युपदेशात्। न चैष भागस्तत्राप्रमाणमेव, तुल्ययोगक्षेमत्वात्। एतदेवासिद्धं, प्रक्षेपस्यापि संभवादिति चेत्, न। अध्येत्रध्यापयितृसंप्रदायाविच्छेदात्।

"अन्यथाकरणे चास्य बहुभ्यः स्यान्निवारणम्"। इति न्यायात्।

तस्मादेवंरूपोऽपि महाजनपरिग्रहो *वेदाना*मिति। सोऽयमीदृशो महाजनपिग्रहोऽसर्वज्ञपूर्वकत्वेऽसंभवन् सर्वज्ञपूर्वकत्वेन व्याप्यते।

कल्पलता- संसारमोचकागमोऽपीति। तत्रापि पञ्चस्कन्ध-मनस्काराऽपोहादि पदमसाधारणं यदस्ति तदपि व्याकरणव्युत्पाद्यमेवेत्यर्थः। तत्कर्तृभिरिति। व्याकरणकर्तृभि*रिन्द्रपाणिनि*प्रभृतिभिः। तथानभ्युपगमात् '*संसामोचकागम*प्रतिपाद्यार्थशब्दयोरनभ्युपगमादित्यर्थः। अनभ्युपगमे हेतुमाह अव्युत्पादनादिति। यथा *छन्दःसूत्रै*र्वैदिकानि पदानि व्युत्पाद्यन्ते तथा न

त्वदागमस्थान्यपि। पञ्चस्कन्धादिपदानि तु भाषायामेव सिद्धानीति भावः। अव्युत्पादने हेतुमाह **असाधारणेति**। भाषायां यत् पदं न प्रयुज्यते तदसाधारणं लिङ्गं, तदभावादित्यर्थः। **न हीति**। वैदिकाः शब्दाः उषादयः, अर्थाश्च यागादयः षडोंकारादयः, *सुगताद्यागमेषु* शब्दस्तादृशो नास्त्येव, अर्थोऽपि मण्डलीकरणादिः। **तेषामिति**। इन्द्र*पाणिनि*प्रभृतीनामित्यर्थः। विरुद्धलिङ्गसद्भावाच्चेति विवृणोति **प्रत्युतेति**। उपसंहरति **तस्मादिति**। **नान्येषामिति**। न संसारमोचकाद्यागमानामित्यर्थः। तृतीयमहाजनपरिग्रहं स्पष्टयति **सर्वेति**। **तदीयेति**। वेदे यच्छान्तिकपौष्टिकाद्यस्ति तस्याऽऽ*युर्वेदे*नोपदेशादित्यर्थः। शान्त्यै प्रभवतीति **शान्तिकम्**। पुष्ट्यै प्रभवतीति **पौष्टिकम्**। तस्मै प्रभवति सन्तापादिभ्यः इति ठञ्। **एष भाग इति**। शान्तिकाद्युपदेशभाग इत्यर्थः। **तथेति**। *आर्युवेदे* इत्यर्थः। तथा च नैतन्महाजनपरिगृहीतमिति शङ्कार्थः। **तुल्ययोगेति**। तथा च दशमूलीकषायाद्युपदेशभागोऽपि न प्रमाणं स्यात्। न चेष्टापत्तिः, तत्प्रामाण्यस्य संवादेन गृहीतत्वादिति भावः। ननु तुल्ययोगक्षेमत्वं तदा स्यात् यदि शान्तिकादिविधिरायुर्वेदे भवेत्, तदेव नास्ति, अनुभूयमानस्तु तद्भागः प्रक्षिप्त इत्याह **एतदेवेति**। **अध्येत्रिति**। *चरकसुश्रुता*दिपरंपरागतत्वान्न शान्तिकादिभागस्तत्र प्रक्षिप्त इत्यर्थः। **अन्यथाकरण इति**। **अस्य**–*आर्युवेद*भागस्य। **अन्यथाकरणे**–प्रक्षेपशङ्काकरण इत्यर्थः। **बहुभ्य इति**। बहूनामित्यर्थः। भवदागमेऽपि सर्वत्र प्रक्षेपशङ्का स्यादित्यर्थः। महाजनपरिगृहीतत्वे हेतौ सिद्धे तत्साध्यमाह **सर्वज्ञपूर्वकत्वेनेति**। *वेदाः* सर्वज्ञपूर्वकाः एतादृशमहाजनपरिग्रहविषयत्वात् यन्नैवं तन्नैवमिति व्यतिरेकीत्यर्थः।

यथा हि पूर्वविरुद्धापूर्व*व्याकणादिवैद्यकादि*षु विगानादपरिग्रहः। न च तथाविधे धर्मशास्त्रेऽपि। व्यामोहाद्भवन्नपि कस्यचिदेव न तु सर्वेषाम्। अथ पूर्वविरुद्धं चेत्तथापि पूर्वस्य पूर्ववदपरिग्रहे केनचित् परिग्रहे वा कथं तन्मूलस्यान्यस्य सर्वैः परिग्रहः। न च नासीदेव पूर्वं *धर्मशास्त्रं* मानान्तरस्यात्र वस्तुनि कुण्ठतयाऽनुष्ठानाभावप्रसङ्गात्। तथा च धर्माभावे तत्कार्यस्य सुखस्याप्यभावे रागानुत्पत्तौ लोकसमीहोच्छेदे लोकोच्छेदप्रसङ्गः।

कल्पलता- अत्र तर्कमाह **यथा हीति**। विवादाध्यासितं *धर्मशास्त्रं* यदि सर्वज्ञपूर्वकं न भवेत् उक्तमहाजनपरिग्रहविषयो न स्यात्, आधुनिक*व्याकरण वैद्यकादि*वदित्यर्थः। व्यामोहपूर्वकत्वं परिग्रहस्य निवर्तयितुमाह **न चेति**।

व्यामोहादिति। सर्वतादृशपुरुषपरिग्रहो न व्यामोहपूर्वको भवितुमर्हतीत्यर्थः। इदानीन्तनं *धर्मशास्त्रं* पूर्व*धर्मशास्त्रा*विरुद्धमेव यदि तदपि *धर्मशास्त्रं* स्वमूलभूतपूर्वाविरुद्धमेवेति तत्पूर्वमपीति स्वीकर्तव्यमेव, यदि तादृशं न स्यात् तदा महाजनपरिग्रहविषयो न स्यादिति तर्कस्य तत्र तत्र प्रवृत्तेरित्याह **अथेति।** ननु येन *धर्मशास्त्रे*णेदानीन्तन*धर्मशास्त्रा*विरोधस्तत्रासीदेवेत्यत आह **न चेति। अत्र वस्तुनीति।** यागदानादीनामिष्टसाधनत्व इत्यर्थः। तथा च यागादौ प्रवृत्तिमन्तरेण धर्मो न भवेत्, तदभावे तदसाधारणकारणकं सुखं न स्यात्, सुखाभावे तदनुभवाधीनः सुखान्तरे रागो न भवेत्, तदभावे तदधीना प्रवृत्तिर्न स्यादिति निरीहं जगज्जायेत्। तथा च पुत्राद्युत्पत्तिरपि न स्यादिति लोकोच्छेद इत्यर्थः।

तस्मान्महाजनपरिगृहीतपूर्वपूर्वागमपूर्वकत्वात्, प्रवाहनित्यत्वाद्वा, प्रलयविच्छेदे सर्गादौ सर्वानुविधेयपुरुषधौरेयपूर्वकत्वाद्वा महाजनपरिग्रहो, न तु पूर्वागमानपेक्षार्वाचीनपुरुषपशुपूर्वकत्वात्। पूर्वागमप्रामाण्याप्रामाण्ययोरुभयथापि तस्य विप्रलम्भकत्वात्। प्रामाण्ये हि तद्विरुद्धाभिधानं विप्रलम्भ एव। अप्रामाण्येऽप्युपायमविदुषोऽननुष्ठाने तदा भासानुष्ठाने वाऽसर्वज्ञस्योपदेशो विप्रलम्भ एवेति।

कल्पलता- *तत्तत्तीर्थिक*मतानुसारेण विकल्प्योपसंहरति **तस्मादिति।** *संसारमोचकाद्यागमम*भिप्रेत्याह **न त्विति। तस्येति।** अर्वाचीनपुरुषस्य तत्प्रणीतागमस्य वेत्यर्थः। **प्रामाण्ये हीति।** यदि पूर्वागमं *वेदं* प्रमाणं मनुषे तदा तद्विरुद्धार्थनरःशिरःपावित्र्याद्यभिधायकाभिधानं विप्रलम्भ एवेत्यर्थः। पुर्वागमं चेत् प्रमाणं न मनुषे तदा तदुक्तयागाद्यनुष्ठानविमुखीकरणान्नूनमर्वाचीनेन विप्रलब्धोऽसि तदाभासो मण्डलीकरणादिस्तदनुष्ठानोपदेशो वा तदुपदेशको वा विप्रलम्भक एवेत्यर्थः।

तत्र न प्रथमः, *वेद*परम्परानुपलम्भात्, अर्वाचीनानां पाठपारतन्त्र्य मात्रेण प्रवाहोपपत्तौ तत्कल्पनायां प्रमाणाभावात्। नापि द्वितीयः, वेदह्रासदर्शनात्। यत इदानीमश्रूयमाणस्यापि *वेदस्यार्थो*ऽनुष्ठीयते निबध्यते च *मन्वादि*भिः, पुरुषाणामपचीयमानशक्तिकत्वाच्च। यथा ह्यश्वमेधराजसूयाद्यनुष्ठानशक्तेरपचयस्तथाध्ययनशक्तेरपि। न च पूर्वमपि नानुष्ठिता एव राजसूयादयः, तदर्थस्य *वेदराशे*र्वैयर्थ्यप्रसङ्गात्। न च नित्यानुमेयवेदसम्भवः। वर्णानां नित्यत्वेऽप्यानुपूर्व्याः पाठाश्रयत्वात्। न

चानुपूर्वीशून्यवर्णाः पदं नाम, न चाऽऽकाङ्क्षाद्युपेतपदकदम्बादन्यद्वाक्यं नामेति गुरुरपि लघुरेव। तस्मात् पुरुषाणामनुष्ठानशक्तिवत् अध्ययनशक्तिरपि युगक्रमेणापचीयते। ततो *वेदानां* शाखोच्छेदः, तदर्थानामनुष्ठानोच्छेदः, वर्णाश्रमाचारव्यवस्थाविप्लवश्चेति। अत एव भगवतो *व्यासस्य* पुरुषशक्त्यपचयमवेक्ष्य वचनानि ''अल्पायुषोऽल्पसत्त्वा'' इत्यादीनि। *वेदो*च्छेदमवेक्ष्य ''प्रतिमन्वन्तरञ्चैषा श्रुतिरन्या विधीयते'' इत्यादीनि। अनुष्ठानोत्सादमवेक्ष्य ''दानमेकं कलौ युगे'' इत्यादीनि। आचारविप्लवमवेक्ष्य ''प्रजास्तात्र भविष्यन्ति शिश्नोदरपरायणा'' इत्यादीनि। तथा च श्रूयमाणा अपि *वेदा* उच्छेदमुपयास्यन्ति वेदत्वाद्वाक्यत्वाद्वा उच्छिन्नशाखावदिति न्यायात्। यथा चैतत्तथा पर्वता अपि चूर्णीभविष्यन्ति पार्थिवत्वात् घटवत्। समुद्रा अपि शोषमेष्यन्ति जलाशयत्वात् स्थलीपल्वलवत्। सूर्योऽपि निर्वास्यति तैजसत्वात् प्रदीपवत्। ब्रह्मापि प्रैष्यति शरीरित्वात् अस्मदादिवदित्*याग मा*विरोधेनानुमीयताम्।

कल्पलता- इदानीं स्वमतमात्रस्य प्रामाणिकत्वं सिषाधयिषुर्विकल्पितानि *तीर्थिकमतानि* दूषयति तत्रेति। पूर्वपूर्वागमपरिगृहीतत्वमिदानीन्त*नागमस्ये*ति तावन्न संभवतीत्यर्थः। कुत इत्यत आह वेदेति। ननु गुरुशिष्यपरम्परया वेदपरम्परापि अनुभूयत एवेति कथमनुपलम्भ एव इत्यत आह अर्वाचीनानामिति। तत्कल्पनायामिति। मूलभूत*वेद*कल्पनायामित्यर्थः। नापीति। द्वितीय इति। प्रवाहनित्यतापक्षोऽपि न संभवतीत्यर्थः। ह्रासदर्शनादिति। अध्ययनविच्छेदेन तद्भागविलोपदर्शनात् समस्तवेदस्यापि विलोपस्य साधनीयत्वादित्यर्थः। ननु यावानेव वेदभाग इदानीमध्ययनविषयः, पूर्वमपि तावान्नेवाऽऽसीदिति कुतो ह्रास इत्यत आह यत इति। होलकाकर्तव्यताबोधक *वेदभागस्या*श्रवणेऽपि तदर्थानुष्ठानस्य सार्वजनीनत्वात्। अष्टकाः कार्या इत्यादि वेदाश्रवणेऽपि *मन्वादि*भिः स्मृतत्वाच्चेत्यर्थः। ननु ह्रासोऽस्तु, स कथमित्यत आह पुरुषाणामिति। अनुष्ठानाऽशक्तिवदध्ययनाशक्तिरप्युन्नीयत इत्याह यथेति। तदर्थेति। इदानीं पाठ्यमानस्यापि *वेदरा*शेरश्वमेधराजसूयार्थकत्वोपलम्भेन तद्वैयर्थ्यप्रसङ्गादित्यर्थः। ननु होलकादिकर्तव्यताबोधको *वेदः* कदापि न पाठगोचरः, किन्तु अनुमितादेव तस्मात् स्मृत्याचाराविति *गुरुमत*माशङ्क्य, आह न चेति। अभ्युपेत्याह

वर्णानामिति। **आनुपूर्व्या इति**। घकारोच्चारणानन्तरोच्चारणघटिताया उत्पत्तावभिव्यक्तौ च तुल्यत्वादानुपूर्व्याः पाठाश्रयत्वादित्यर्थः। ननु *स्मृत्या*चारानुमितस्य *वेदस्यार्थ*प्रतिपादकत्वे विलक्षणैव सामग्री, सा च न वर्णानुपूर्वी, न चाकाङ्क्षाद्युपेतपदकदम्बं वाऽपेक्षते तवेश्वरवत् पक्षधर्मताबलेन तदर्थज्ञापकत्वेन ज्ञातादेव फलसिद्धेरिति चेत्, न। उच्छिन्न*वेदा*दर्थं प्रतीत्य *स्मृत्या*चारयोः संभवे विलक्षणसामग्रीकल्पनायां गौरवप्रसङ्गादिति भावः। **गुरुरपीति**। एवं वदन्निति शेषः। सुगममन्यत्। शाखाह्राससिद्धौ किं सिध्यतीत्याह **तथा चेति**। **पार्थित्वादिति**। पृथिवीसमवेतद्रव्यादित्यर्थः। **जलाशयत्वादिति**। जलसमवेतद्रव्यत्वादित्यर्थः। **तैजसत्वादिति**। तेजःसमवेतद्रव्यत्वादित्यर्थः। **प्रोष्यतीति**। ज्ञानजनकमनःसंयोगनाशकज्ञानजनकमनःसंयोगानाश्यात्ममनोविभागवान् भविष्यतीत्यर्थः। द्रव्यत्वं कार्यद्रव्यानधिकरणाधिकरणध्वंसप्रतियोगिवृत्ति कार्यद्रव्यत्वात् शब्दत्ववत् सुखत्वादिवत् अन्त्यावयविकर्मत्वादि-वदित्यवान्तरप्रलये, कर्मानधिकरणाधिकरणध्वंसप्रतियोगिवृत्ति, गन्धानधिकरणाधिकरणध्वंसप्रतियोगिवृत्तीति वा साध्यं प्रक्षिप्य तावेव हेतुदृष्टान्तौ महाप्रलये मान*मागम*संवलितं द्रष्टव्यम्।

स्यादेतत्, भविष्यन्नुच्छेदोऽनुमितः। स तु भूतोऽपीति कुत इति चेत्? यत एव उच्छेदानन्तरं पुनः सर्गेण भाव्यम्। अन्यथा संसारिणां कृतहानप्रसङ्गात्। न हि विश्वनिर्माणमन्तरेण भोगज्ञानयोः संभवः। न च तेन विना कर्मप्रवाहसंरोधः, ततो यथा भविष्यन् विश्वसर्ग उच्छेदपूर्वकस्तथायमपीति। समयनियमस्तु प्राणिनां कर्मवैषम्येऽपि वर्षादिनियमवदुदयास्तनियमवद्वा द्रष्टव्यः। कर्मणामेवैवं स्वभावत्वात्। एतदर्थमेव हि *पुराणेषु* सृष्टिप्रलययोर्दिवसरात्रिव्यवहारः। तथापि सर्वप्राणिनाशयौगपद्ये किं प्रमाणमिति चेत्? द्विः सप्तभौमभुवन-प्रसादभङ्गेऽपि निर्भया एव ग्रामटीहट्टविहारिणः शरीरिण इति महती प्रेक्षा। तस्मात् सर्गादिमहाजनमन्वादिपरिग्रहपूर्वकोऽयमद्ययावदनुवर्तत इति नानवसरदोषावकाशोऽपीति युक्तमुत्पश्यामः।

कल्पलता- **भविष्यन्नुच्छेद इति**। चूर्णीभविष्यन्तीत्यादि साध्यवत्त्वादित्यर्थः। **अन्यथेति**। वर्तमाने सर्गे यत्कर्म संसारिभिः कृतं तस्याग्रिमसर्गं विना विफलत्वं स्यात्। तथा चायमपि सर्गः प्रलयपूर्वकः सर्गत्वाद्भाविसर्गवदिति,

सोऽपि सोऽपीत्यनादिरेवायं सर्गप्रलयप्रवाह इत्यर्थः। **भोगज्ञानयोरिति**। **भोगः**- समानाधिकरणसमानकालीनसाक्षात्कारविषयताव्याप्यजातिमत्साक्षात्कारः। **ज्ञानं** च मोक्षानुकूलं तत्त्वज्ञानम्। ननु मा भूद्भोगज्ञानयोः संभवः किमतोऽत आह **न चेति**। तेनेति (न) उभयसंभवेनेत्यर्थः। न चैवं ब्रह्मशतवर्षादिनियमः कथमत आह **समयेति**। तर्हि **कर्मवैषम्यं** विषमविपाकसमयत्वं कथं समाधेयमत आह **कर्मणामिति**। विषमविपाकसमयान्यप्येकदा निरुद्धवृत्तीनि संभवन्त्येव सुषुप्त्यवस्थावदित्यर्थः। **एतदर्थमेवेति**। युगपद्वृत्तिनिरोधख्यापनार्थमेव दिनरात्रिभ्यां सर्गप्रलयौ *पुराणादिषु* निरूप्येते इत्यर्थः। ननु कतिपयप्राणिकर्मणामेव युगपद्वृत्तिरोधारोधौ स्यातां न तु सर्वेषामिति शङ्कते **तथापीति**। **द्विःसप्तेति**। चतुर्दशभौमभुवनरूपस्य प्रासादस्य कालक्रमाद्यत्र भङ्गस्तत्रास्मदादीनां कतिपयानामवस्थानमसंभावितमित्यर्थः। लघुग्रामो **ग्रामटीः**। ननु सर्गादौ महाजना एव न सन्ति तथा च तदवसरे महाजनपरिग्रहः पराहत एवेत्याशङ्क्य निरस्यन्नेवोपसंहरति **तस्मादिति**। ईश्वरेण *वेद*रचनावसर एव *मन्वादयो* मानसा महाजनाः सृष्टास्तैः परिग्रहः सर्गादावप्यस्त्येवेति नानवसरदोष इत्यर्थः।

तदैवं कथं मन्वादिभिः परिगृह्यन्तां *वेदा* इति चेत्? *आयुर्वेद*वदाप्तोक्तत्वनिश्चयात्। स एव कुत इति चेत्? अध्यक्षतः, तेषामप्यतीन्द्रियार्थदर्शित्वात्। तादृशां तेषां तत्परिग्रहेण किं प्रयोजनमिति चेत्? अस्मद्व्यवहारेणास्मदपत्यादि व्युत्पद्यताम्। तथा च धर्मसंप्रदायः प्रवर्ततामिति भूतदया, स्वाधिकारसम्पादनं च।

अथवा सर्गान्तरगृहीतव्याप्तिप्रादुर्भावे सुप्तप्रतिबुद्धवत् पितृत्वेनाविप्रलम्भकत्वमुच्चावचभूतनिर्माणदर्शनेन सार्वज्ञ्यमनुमायाऽऽप्तत्वनिश्चयस्तस्य तेषाम्।

यद्वा भगवानेव संप्रदायप्रवर्तनव्यसनव्यग्रः कायसहस्राणि व्युत्पाद्यव्युत्पादकभावव्यवस्थितानि निर्माय तदातनं महाजनं परिग्राहितवान्, नटनोपाध्याय इव स्वयं नटित्वेति सर्वं सुस्थम्। पक्षत्रयेऽप्यत्र *पुराणादि*संकथाप्यस्तीति।

कल्पलता- ननु सन्तु तदानीं महाजनास्तैस्तस्य परिग्रहः कथमित्यत आह **तदैवमिति**। **स एवेति**। आप्तोक्तत्वनिश्चय एवेत्यर्थः। **अध्यक्षत इति**।

*वेद*प्रयोक्तुर्यथार्थवाक्यार्थज्ञानवत्त्वमाप्तत्वं *मन्वादिभिः* प्रत्यक्षेणैव गृह्यत इत्यर्थः। ननु परकीयं ज्ञानं कथं तेषां प्रत्यक्षमत आह **तेषामिति**। ननु तेऽपि चेत् सर्वज्ञा एव तदा स्वयमेव धर्माधर्मौ साक्षात्कृत्य व्यवहरन्तु किमिति *वेदं* परिगृह्णन्तीत्याशङ्कते **तादृशामिति**। अस्माभिश्चेद्वेदार्थोऽनुष्ठीयते तथा चास्मदपत्यान्यपि अनुतिष्ठन्तीति तद्दृष्टान्तेनान्येऽपीति भूतदया, तत्परिग्रहहेतुरिति शेषः। **स्वाधिकारेति**। ईश्वरेणैव *वेदं* प्रणीय तत्परिग्रहे *मन्वादयो*ऽधिकारिणः कृता इत्यर्थः। ननु *मन्वादीनां* सार्वज्ञ्ये प्रमाणं नास्तीत्यनुशयेनाह **अथवेति**। ईश्वरो न विप्रलम्भकः पितृत्वात् यो यस्य पिता स तं न विप्रलम्भत इति प्राग्भवीयसंस्काराधीनव्याप्तिस्मृतिबलात्तदाप्तत्वानुमानं तेषामित्यर्थः। ननु नाविप्रलम्भकत्वमात्रमाप्तत्वं किं तु यथार्थज्ञानवत्त्वमपीत्यत आह **उच्चावचेति**। उच्चावचमनेकविधं क्षित्यादि, तत्कर्तृत्वानुमानान्तर्गतैव सार्वज्ञ्यसिद्धिरित्युक्तमेवेत्यर्थः। ननु वर्षशतान्ते संस्कारोद्बोध इत्यसंभावितमित्यनुशयेनाह **यद्वेति**। अत्र संवादमाह **पक्षत्रयेऽपीति**।

स्यादेतत् परमेश्वरप्रवर्तितोऽयमेव *वेदसंप्रदायः* सर्गान्तर*वेदा*पेक्ष एवेति *सेश्वरमीमांसापक्षः कपिल*पक्षो वा स्यादिति चेत्? किमर्थं पुनरियमपेक्षा? पूर्ववेदे जगन्नाथस्य न तावद्वेदार्थोपलम्भाय। नित्यसर्वज्ञत्वात्। नापि रचनार्थम्। स्वभावतः सर्वकर्तृकतया आदर्शानपेक्षणात्। नापि विरोधपरीहारार्थम्। प्रतिपाद्यानां तदनुसन्धानविधुरत्वात्। अवैधुर्ये वा कर्तुः सार्वज्ञ्यविज्ञानादेव समस्तविरोधविधूननात्। तथापि पूर्वसर्गान्तरवेदव्यवहारोऽपि परमेश्वरस्य गोचर इति चेत्? कः सन्देहः, यदि चैतदेव *वेदस्य* प्रवाहनित्यत्वं, न केवलमेतस्य किं तु घटादेरपीति *न्याय* एव दर्शनम्। अन्यथा *मीमांसेति क्व सेश्वरमीमांसेति*। तस्मादुक्तरूपः परिग्रहो नान्यथा संभवतीति प्रसिद्धसम्प्रदायसिद्धिः। तथा चाप्तोक्तत्वात् प्रामाण्यसिद्धिः।

कल्पलता- **सेश्वरेति**। ईश्वरस्य वेदकर्तृत्वाभ्युपगमात् सेश्वरत्वं पूर्वपूर्ववेदापेक्षत्वलक्षणमीमांसात्वमिति *सेश्वरमीमांसापक्षः*। *कपिलस्यैव* धर्मविदः। तैश्च [illegible] सुप्तप्रबुद्धवत् सर्गान्तरगृहीत*वेदस्मृति*मतस्तत्प्रत्यभिज्ञाभवतो वा वेदप्रद्योतकत्वमिति *कपिलपक्षः*। **प्रतिपाद्यानामिति**। *मन्वादीनां* पूर्वं *वेदा*नुसन्धानं यदि स्यात्तदा तद्विरो[illegible]र्थं तत्प्रतिपादितार्थप्रतिपादकत्वबोधनाद्विरोधभञ्जनं भवेत् न त्वेवमित्यर्थः। ननु

*मन्वादयो*ऽपि सर्वज्ञा एव कथं पूर्वसर्गवेदं न प्रतिसन्ध्यास्यन्तीत्यत आह **अवैधुर्यै वेति**। यदि ते सर्वज्ञास्तदा वेदप्रणेतुरेव सार्वज्ञ्यं ज्ञात्वा तत्प्रणीतत्वेनैवाविरोधज्ञानादित्यर्थः। नन्वीश्वरस्य पूर्वसर्गविदज्ञानवत्त्वाभ्युपगमपक्ष एव *सेश्वरमीमांसापक्ष* इत्यत आह **तथापीति**। **एतदेवेति**। ईश्वर-ज्ञानविषयत्वमित्यर्थः। ईश्वरस्य पूर्वसर्गघटादिरपि ज्ञानविषय इति घटप्रवाहोऽपि नित्यः स्यात्तथा चेदं *न्यायदर्शनमेव*। स एव वेदप्रवाह इदानीमप्यस्तीति *मीमांसापक्ष* एव, स च दूषित इति *सेश्वरमीमांसपक्षो* नातिरिक्त इत्यर्थः। **प्रतिबन्धेति**। *वेदा व्यासो*क्ता महाजनपरिगृहीतत्वादिति प्रतिबन्धसिद्धिरित्यर्थः। किमतो यद्येवमत आह **तथा चेति**।

कथं पुनः *सुगताद्यागमेषु* नाऽऽदरश्छान्दसानां, वेदविद्वेषिदर्शनान्तःपातिपुरुषप्रणीतत्वादिति मा शङ्किष्ठाः *जिनेन्द्रजगदिन्द्र* प्रभृति-प्रणीतेष्वप्यादरात्। तत्कस्य हेतोः महाजनपरिगृहीतपूर्वा*गमा*विरुद्धतया तदनुसारित्वात्। कुतस्तर्हि? सिद्धप्रामाण्य*वेद*विरोधात्। कथं तर्हि कतिपयैरपि तत्परिग्रहः? अलसभीरुभिर्दुःखमयजात्यकर्मविद्वेषात्। उदुम्बरगर्तीयतन्तुवायवत्। नत्वेवं वेदे कर्मण्येव निर्भरत्वात्। त्रैवर्णिकबहिष्कृतैरनधिकारिभिरनन्यगतिकत्वात् *कीर्तिप्रज्ञाकर*वत्। न तु एवं *श्रुतौ* परैः पूज्यानामप्यत्राप्रवेशात् इतः पतितानामपि परैरुपादानात्। भक्ष्यपेयाद्यद्वैतरुचिभिश्च रागात् सरभादिवत् न त्वेवमाम्नाये तद्विभागव्यवस्थापरत्वात्। कुतर्काभ्यासिभिश्च मोहात् *काणाचार्या*दिवत् न त्वेवं ब्रह्मणि आबालभावं प्रवृत्तेः। अविवेकिभिश्च पाषण्डिसंसर्गात् शौण्डिकादिवत् न त्वेवं प्रकृते पित्रादिक्रमेण प्रवर्तनात्। योगाभ्यासाभिमानिभिश्चाव्यग्रताभिसन्धः *सुभूत्या*दिवत् न त्वेवं प्रस्तुते प्रथमत कर्मकाण्ड एव नियोगात्। अयोग्यैराजी वनात् सामान्य*श्रमणक*वत् न त्वेवं प्रक्रान्तो आगन्तुकानामनधिकारात्। कुहकवञ्चितैः समीचीनप्रत्ययात् दीपङ्करसुषिरदर्शिबालिशवत् न त्वेवं प्रकृते तदभावात्। किन्तु महाजनपरिग्रहात् वक्तृप्रामाण्यमनुमाय *आयुर्वेदे* नैरुज्यकामवदिति।

कल्पलता- **कथं पुनरिति**। सर्वज्ञप्रणीतत्वाविशेषादिति भावः। स एवैकग्रन्थेनाह **वेदेति**। शङ्काभावे बीजमाह **जिनेन्द्रेति**। **तत्कस्येति**। *जिनेन्द्रा*दीनामेव कथं तदादर इत्यर्थः। *जिनेन्द्रानां* तदादरे हेतुमाह पूर्वपक्षी **महाजनेति**। इयं शङ्का

मास्तु तथापि छान्दसानां कुतस्तत्र न समादर इत्याह कुत इति। सिद्धान्ती तत्र हेतुमाह *सिद्धेति*। नरशिरःपावित्र्यादिविधानाद्विरोध इत्यर्थः। **अलसभीरुभिरिति**। अलसाश्च भीरवश्चेत्यर्थः। **उदुंबरगर्तो** देशः। **तन्तुवायः** कुविन्दः, तेनालस्येन वैदिकं कर्म त्यक्त्वा *संसारमोचकागमो*पदिष्टं कर्म परिगृहीतमित्यर्थः। **कर्मण्येवेति**। कष्टमयबहुविधकर्मप्रतिपादकत्वादित्यर्थः। **अनन्यगतिकत्वात्** वैदिककर्मानुष्ठानरूपगत्यभावात्। **पित्रादीति**। अप्रच्युताधिकारपरम्पराकत्वादित्यर्थः *सुभूति*र्बौद्धविशेषः। **प्रथमत** इति गार्ह्यस्थानन्तरं योगविध्युपासनस्योपदिष्टत्वात्तत्र च कष्टबहुकर्मोपदेशादित्यर्थः। **अयोग्यैरिति**, जीविकायामक्षमैः। **सामान्यश्रमणको** बीजभूतः श्रमणकः स हि बहुधनं दत्वा *बौद्धैः* स्वदर्शने प्रवर्तितः। **आगन्तुकानामिति**। पाखण्डानामित्यर्थः। **कुहकः** ऐन्द्रजालिकः। **दीपंकरः** बहुशुषिरः पुरुषप्रमाणकः तृणकाष्ठखण्डस्तत्र हि एक एव दीपः शुषिरनिस्सरत्प्रभो बहुदीपभ्रमं जनयति। **बालिशो** मूर्खः। **तदभावादिति**। मूलभूतस्य बालिशत्वाभावादिति भावः। **किन्त्विति**। यथायुर्वेदे नैरुज्यकामः प्रवर्त्तते तथा यागादौ स्वर्गादिकामो न तु विप्रलम्भकत्वादित्यर्थः।

किं पुनरमीषां मूलम्, न ह्येतावन्तो ग्रन्थराशयः परविप्रलम्भनार्थं प्रणीयन्ते। न च विश्वमेव विप्रलभ्यमिति चेत्? भवतु किञ्चिन्मूलं किमनेन चिन्तितेन। अतिनिर्बन्धे तु क्षणिकनैरात्म्यादिप्रतिपादकानां तर्काभ्यासः। प्रतिपादितं च तथा। *शून्यसाकारादि*प्रतिपादकानां तु दुरभ्यासः। *योगशास्त्रे*ष्वभ्यस्यतः स्वरूपशून्यमिव भाव्यमेकमेवेति, प्रतिपादनात्। चैत्यचीवरादिप्रतिपादकानां तु स्वस्थितिमभिसन्धाय *दर्शनान्तर*स्थितिद्वेषः। स्वस्थितौ प्रमाणमनपेक्ष्य परस्थितौ विगानात्। ब्रह्मचर्यप्रतिपादकानां तु *वेदा* एव, *न्याया*विरुद्धं परतन्त्रोक्तमप्यानुकूल्यप्रसिद्धेर्गृह्यत इति विमर्शात्। मन्त्रकोषप्रतिपादकानां तु प्रणवबीजजातय सर्वसाधारण्यः, श्रद्धेयदेवतानामाङ्कस्त्वधिकः। श्रद्धापरिगृहीतश्चाकारो देवतेति हस्तसमालोचः। सत्यतपःशालीनां वचनं मन्त्रो विषयवत्यां चिन्तायां चित्तस्थैर्यं प्रयोजनं, कथमन्यथा *महर्षीणां* शापानुग्रहक्षमता, कथं वा चतुर्भुजाष्टभुजाद्यवस्थेति दुरूहत्वादिति। एकविप्रलम्भनार्थं वा केनचित् कियदेव प्रणीतं तेनानुष्ठितं अपरैस्तदनुयायिभिर्गृहीतमनुष्ठितं व्याख्यातं विवर्द्धितं चेति किमनुपपन्नम्। तस्माद्विरु*द्धागम*व्युदासेन *वेदा*

एवार्वाचीनपुरुषपूर्वकत्वशङ्काव्युदासेन परमेश्वरप्रणीतत्वादेव भूतार्थभागस्याप्रामाण्यशङ्काव्युदासेन प्रमाणमेवेति नियमः।

कल्पलता- अमीषां *सुगताद्यागमानाम्।* भवत्त्विति। आगमप्रामाण्यसाधनादेव वयं कृतकृत्या इति भावः। **तर्काभ्यास** इति। कुतर्काभ्यास इत्यर्थः। स्थैर्यं यदि स्यादर्थक्रियायां क्रमयौगपद्ये न स्याताम्, आत्मा यदि स्यादात्मदर्शी तदात्मनो न मुच्येतेत्यादिकुतर्काभ्यासः। **तथेति।** एषां कुतर्कत्वमित्यर्थः। दुरभ्यासमेवाह **योगेति।** बहिर्व्यावृत्तं मनः प्रणिधानबलात् शून्यमेव जगदिति भावयता केनापि *शून्यतैव* सिद्धान्तितेत्यर्थः। **चैत्येति।** चैत्यो बौद्धदेवता। **चीवरं** परित्याज्यमित्यादि प्रतिपादकानामित्यर्थः। चैत्यवन्दनाच्चीवरपरित्यागाच्च न किञ्चिदन्यदुपेयमिति *दिगम्बराणां* स्वस्थितिः स्वाभ्युपगमस्तत्रैव च प्रमाणपरित्यागकल्पनयान्यत्र विगानमित्यर्थः। परमतमप्रतिषिद्धमनुमतमिति ब्रह्मचर्यप्रतिपादकानां मूलमित्याह **ब्रह्मचर्येति।** **मन्त्रकोषो** मन्त्रसमुदायः, यः प्रणवोऽस्माकं तज्जातीय एव, यान्येव तत्तद्देवताबीजाक्षराणि तान्येव च तत्र प्रतिपादितानि तद्बलादेवादित्यस्तम्भनप्रतिमाजल्पनादिशक्तिरपि *बौद्धानामित्यर्थः।* **सर्वसाधारण्य** इत्यत्र मूलमित्यनुषज्जनीयम्। तर्हि सूर्यादिदेवतास्वीकारस्तेषां न कथमत आह **श्रद्धेयेति।** तत्तद्देवतानामेव चैत्यादिनामान्तरधारणं परं विशेष इत्यर्थः। ननु य एवाकारः श्रद्धया ध्यायते सैव देवता न तु त्वदभ्युपगत इन्द्रादिरित्यत आह **श्रद्धेति।** हस्तसमावरणमात्रमेतन्न तु तात्त्विकोऽयमिन्द्र इत्यर्थः। **सत्येति।** तद्वचनमेव मन्त्रो न तु वेदभागस्त्वदभ्युपगतः। अष्टभुजचतुर्भुजादिरपि त्वदभ्युपगता न देवता, किन्त्वेतादृशविषयस्य चेच्चिन्तनं क्रियते तदा मनः स्थिरम्भवतीत्येतावन्मात्रार्थं तदभिधानम्। अत्रैवोपपाद्यद्वये उपपादकद्वयमाह **कथमन्यथेति।** **दुरूहत्वादिति।** नायं पक्ष इति शेषः। यदि तादृशानां वचनमेव मन्त्रस्तदा तद्वचनानामनेकत्वान्मन्त्रत्वेन कस्योहः स्यात्। यदि च चित्तस्थैर्यमात्र एवाष्टभुजाद्युपयोगस्तदा यत्किञ्चिद्विषयवत्यैव चिन्तया चित्तस्थैर्यं भवतीति मूर्तिविशेषो देवतात्वेन दुरूह इत्यर्थः। *वेदा* एव सर्वज्ञप्रणीता एव प्रमाणमेवेति पूर्वप्रघट्टकसाधितं नियमत्रयं हेतुत्रयोपरक्तमुपसंहरति **तस्मादिति।**

कथं चरम इति चेत्? महाजनपरिग्रहस्य तत्साध्यस्य वा सर्वज्ञपूर्वकत्वस्य पुरुषदोषाभावस्य वा प्रामाण्यहेतोर्भूतभाव्यार्थभागयोः

साधारणत्वात्। किं तस्य फलमिति चेत्? स्वार्थप्रतिपादनं, किं तेन प्रयोजनं? यथायथमुपादानं हानं मोक्षश्च। तत्रानर्थहेतूनां तत्त्वज्ञानाद्धानं अर्थहेतूनामुपादानमात्मनो मोक्ष इति।।

कल्पलता- ननु प्रमाणमेवेत्ययोगव्यवच्छेदपरेणैवकारेण सकलवेदप्रमाण्यमभिधीयते। न चैतद्युक्तम्। अर्थवादानामप्रमाणत्वादित्याशङ्कते **कथमिति। किं तस्येति**। भाव्यार्थस्य प्रवृत्तिनिवृत्ती फलम्। न तु भूतार्थस्य तत्फलमित्याह **किमिति। किं तेनेति**। निष्प्रयोजनकप्रतिपत्तिजनकस्य रथ्यापुरुषवाक्यवदनादेयत्वादिति भावः। प्रयोजनमाह **यथायथमिति**। 'वायुर्वैक्षेपिष्ठा देवते'त्यादीनामुपादानं फलम्। 'अन्धं तमः प्रविशन्ति ये के चात्महनो जना' इत्यादीनां हानं फलम्। *उपनिषद्*भागस्य च मोक्षःफलमित्यर्थः।

कः पुनरयं मोक्षः? आत्यन्तिकी दुःखनिवृत्तिरात्मनः। किमात्यन्तिकत्वं? तज्जातीयात्यन्ताभावविशिष्टत्वम्। तेषामभावः कथम्? कारणमात्रोच्छेदात्। अपुरुषार्थोऽयमिति चेत्, न। असत्यस्या-काम्यस्याशक्यस्य दुरन्तस्य तथाभावात्। नत्वयं तथा। सत्योऽयं, प्रमाणसिद्धत्वात्। सर्वैरभ्युपगमात्। काम्यश्च, दुःखस्य स्वभावहेयत्वात्। सुखार्थं तद्धानमिति चेत्, न। अतद्धेतुत्वात्। व्याप्तेरिति, चेत्, न। असिद्धेः। न हि दुःखाभावः सुखेन व्याप्यत इति। सुखं तावत्तेन व्याप्यत इति चेत्? तर्हि सुखे सत्यवश्यं दुःखाभावो भवेदिति सुखप्रार्थनेति विपरीतापत्तिः। नावेद्यत्वादसौ काम्य इति चेत्, न। दुःखार्तानां तदभाववेदनमनभिसन्धायैव तज्जिहासादर्शनात्। कथमन्यथा देहमपि जह्युः। अविवेकिनस्त इति चेत्? किमत्र विवेकेन, इष्यमाणता-मात्रानुबन्धित्वात् पुरुषार्थत्वस्य, गम्यागम्ययोः कामत्ववत्। बहुतरानर्थप्रसक्तिशङ्कया शास्त्रमनुकूलयन्तस्त इतरेभ्यो भिद्यन्ते। अपि चैवं कण्टकादिजन्यदुःखनिवृत्तिरपि पुरुषार्थो न स्यात्, अवेद्यत्वात्। प्रथमं विद्यते तावदसाविति चेत्? तुल्यं मोक्षेऽपि। नाध्यक्षेणेति चेत्। तर्हि दुरितक्षयकामस्य कर्मानुष्ठानानर्थक्यप्रसङ्गः। तदभावतत्फलाभाव-योरप्यनध्यक्षत्वात्। उपलब्धियोग्यतापन्नानिष्टनिवृत्तिरूपत्वादयमदोष इति चेत्, तुल्यं। दुःखवत् सुखस्याप्युच्छेदादकाम्योऽयमिति चेत्, न। तृष्णाया दोषतिरस्कारेण प्रवृत्तिवदलम्प्रत्ययेन गुणातिरस्कारान्निवृत्तेरपि दर्शनात्।

मधुविषसंपृक्तमन्नमत्रोदाहरणम्। सन्ति च केचनालम्प्रत्ययवन्तः। न च समत्वं, दुःखस्यैव प्राचुर्यात्। दुःखे सुखहेत्वननुषङ्गेऽपि सुखे दुःखहेत्वनुषङ्गनियमात्। तथा हि न्यायपार्जितेष्वेव विषयेषु कियती सुखखद्योतिका कियन्ति चार्जनरक्षणादिभिर्दुःखदुर्दिनानि। अन्यायोपार्जितेषु यद्भविष्यति तन्मनसापि चिन्तयितुमशक्यम्। विदाङ्कुर्वन्तु च सन्तो यदि कण्टकादिजन्येषु दुःखेषु लेशतोऽपि सुखानुषङ्गः। अस्ति च स्वर्गादिसुखेष्वपि बहुलो दुःखशल्यसम्भेदः। अत एव विविच्य भुज्यतां तुषतण्डुलवदित्यशक्यमिति। शक्यश्चायं निर्वर्त्यत्वात्। स्वन्तश्च, अपरावृत्तेरनर्थवासनाननुकूलाभिसन्धित्वाच्चेति।

कल्पलता- मोक्षस्यानुपादेयत्वान्न फलत्वमित्याशयेनाह क इति। आत्यन्तिकीति। दुःखात्यन्ताभाव इत्यर्थः। तथा च लोष्टादयोऽपि मुक्ताः स्युरित्यत आह आत्मेति। दुःखवत्यात्मनि कथं तदत्यन्ताभाव इत्याशयेनाह किमिति। दुःखत्वावच्छिन्नप्रतियोगिकदुःखात्यन्ताभाववत्त्वमेवात्यन्तिकत्वमित्याह तज्जातीयेति। ननु पुनः स एव दोष इत्याह कथमिति। उत्तरम् कारणमात्रेति। सर्वदुःखकारणोच्छेदो न लोष्टादिनिष्ठेनापि दुःखात्यन्ताभावेन सहात्मनः सम्बन्ध इत्यर्थः। समानाधिकरणसमानकालीनदुःखप्रागभावासहवृत्तिदुःखध्वंस एव वा मोक्षो, मोक्षेण दुःखात्यन्ताभावेन वा सम्बन्ध इति भावः। स्वरूपतो दुःखं न हेयं किं तु सुखार्थं तद्धानं काम्यमित्यन्येच्छाधीनेच्छाविषयत्वान्नासौ मुख्यः पुरुषार्थ इत्याह सुखार्थमिति। अतद्धेतुत्वादिति। दुःखहानस्य सुखाहेतुत्वादिति भावः। तथापि यदा दुःखाभावस्तदा सुखमस्तीति तद्धानमित्याह व्याप्तेरिति। न हि यदा दुःखाभावस्तत्र सुखमस्त्येवेति व्याप्तिः, सुषुप्त्यादौ व्यभिचारादित्याह नासिद्धेरिति। ननु यदा सुखं तदा दुःखाभावार्थं सुखमुपादेयमिति मुख्यः पुरुषार्थो दुःखभाव एवेत्याह नहीति। नावेद्यत्वादिति।

"दुःखाभावोऽपि नावेद्यः पुरुषार्थतयेष्यते"

नहि मूर्छाद्यवस्थार्थं प्रवृत्तो दृश्यते सुधी।

इति भावः। वेद्यत्वान्तर्भावेण न दुःखाभावस्य पुरुषार्थत्वं किं तु स्वतन्त्रस्यैवेत्याह दुःखार्तानामिति। तर्हि सर्वे तत्र प्रवर्तेरन्नित्यत आह बहुतरेति। तत्प्रेक्षावन्त इतरेभ्योऽप्रेक्षाकारिभ्यः। प्रथममिति। उत्पन्नमात्रेत्यर्थः। मोक्षोऽपि शब्दानुमानादिवेद्य इति वेद्यता तुल्येत्याह तुल्यमिति। वैषम्यमाह नाध्यक्षेणेति।

तदभावतत्फलाभावयोरिति। दुरिताभावतत्फलाभावयोरिति। दुरिताभाव-तत्फलदुःखाभावयोरित्यर्थः। उपलब्धीति। यावद्दुःखनिवृत्तिरुपलब्धियोग्या तत्रैव वेद्यत्वान्तर्भावेण पुरुषार्थत्वं नान्यत्रेत्यर्थः। समव्ययफलत्वमाशङ्क्य निराकरोति दुःखवदिति। तथा च यथा तृष्णया दोषं तिरस्कृत्य अगम्यागमनादौ प्रवृत्तिः तथा विरक्तस्य गुणं तिरस्कृत्यापि निवृत्तिरित्यर्थः। तृष्णेति। केचनेति। दुःखदुर्द्दिनभीरव इत्यर्थः। प्रकारान्तरेण समव्ययफलत्वं निस्यति न चेति। न हि दुःखे सुखहेत्वनुषङ्ग आवश्यकः नरकदुःखादौ सुखलेशाभावात् सुखे तु दुःखहेत्वनुषङ्गध्रौव्यम्। एतदेव उपपादयति तथा हीति। न्यायार्जितधन-त्यन्तन्दुःखहेतुस्तत्रापि सुखमल्पीयम् एतद्धनार्जनपरिपालनदुःखं तु महीय इत्यर्थः। अन्यायार्जिते त्वैहिकं पारलौकिकं चात्यन्तिकं दुःखमित्याह अन्यायेति। साम्याभावमेव पुनराह विदाङ्कुर्वन्त्विति। विविच्येति। दुःखं हीयतां सुखमुपादीयतामित्यपि न सम्भवति। परस्परानुषङ्गादित्यर्थः।

अशक्यत्वं निराकरोति शक्यश्चायमिति। दुःखात्यन्ताभावो विशिष्टदुःखसाधनध्वंससम्बन्धोत्पादनद्वारा साध्यस्तादृशदुःखध्वंसश्च स्वत एव साध्यो यदि च दुःखप्रागभाव एव मुक्तिस्तदा सोऽपि कारणविघटनमुखेन साध्य इत्यर्थः। दुरन्तत्वं परिहरति स्वन्तश्चेति। न तक्षकचूडाहरणवद्दुरन्त इत्यर्थः। स्वन्तत्वे हेतुमाह अपरावृत्तेरिति। पुनर्दुःखानुत्पत्तेरित्यर्थः।

नित्यं तु सुखं न सत्यम्। योग्यानुपलम्भबाधितत्वात्। श्रुतिस्तत्र मानमिति चेत्, न। योग्यानुपलब्धिबाधिते तदनवकाशात्। अवकाशे वा ग्रावप्लवनश्रुतेरपि तथाभावप्रसङ्गात्। नापि काम्यं सदातनत्वात्। न हि यद्यस्यास्ति स तत् कामयते, भ्रान्तेरेवं, कण्ठस्थचामीकरवदिति चेत्, न। स्वसंवेद्ये तदभावात्। नापि शक्यम्। न हि तन्निर्वर्त्यं नित्यत्वात्। नापि विकार्यम्। अपरिणामित्वात्। नापि संस्कार्यमनाधेयातिशयत्वात्। न प्राप्यं नित्यसंबन्धवत्त्वात्। न ज्ञेयं ज्ञानस्यापि नित्यत्वात्। अनित्यत्वे वा शरीरादिकारणापाये तदनुत्पत्तेः। उत्पत्तौ वा तेषामकारणत्वप्रसङ्गात्। तथा च सर्वः सर्वदर्शी स्यात्। आत्ममनःसंयोगादेः सर्वत्राविशेषात्। ज्ञानज्ञेययोर्नित्यत्वेऽपि तत्सबन्धो जन्यते, स च षट्पदार्थव्यतिरेकात् उत्पन्नोऽपि न निवर्तते ध्वंसवदिति चेत्, न। भावाभावयोः प्रकारान्तराभावात्। तत्र स नाभावः। प्रतियोग्यनुपपत्तेः। भावत्वे

त्ववश्यमुत्पन्नो निवर्त्तेत उपाध्यान्तराभावात्। अविद्याविध्वंसनमेव तत्प्राप्तिरिति चेत्?अत्र न नो विवादः। न ह्येकविंशतिप्रभेदभिन्नदुःख-व्यतिरिक्ता अविद्या नाम। तद्विध्वंसनञ्च पुरुषार्थ इति प्रतिपादनादिति। दुरन्तं च तत्। तदभिसन्धेः सुखसंस्कारसहकारितया तदुद्भवे विशिष्टसुखाभिलाषिणो वैषयिकेऽपि प्रवृत्तिसंभवात्।

अलाभे मत्तकाशिन्या दृष्टा तिर्यक्षु कामिता।

इति उदाहरणादिति।

कल्पलता- न सत्यमिति। न परमार्थसदित्यर्थः। सुखत्वं न नित्यवृत्ति। ईश्वरगुणावृत्त्यात्मगुणवृत्तिजातित्वात् दुःखत्ववदिति भावः। **योग्येति**। सुखस्य च योग्यतैकनियतत्वादित्यर्थः। न ह्यसंविदिते सुखे दुःखे वा प्रमाणमस्तीति भावः। श्रुतिसंवेद्यत्वान्नासंविदितत्वमिहेत्याह **श्रुतिरिति**। संसारावस्थायां योग्यतायां सत्यामप्यनुपलम्भेन तद्बोधकश्रुतेरनवकाशादित्याह **योग्येति**। ननु "नित्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्म" "आनन्दं ब्रह्मणो रूपं तच्च मोक्षे प्रतिष्ठितम्" इत्यादिश्रुतयः कथमुपपादनीया इत्यत आह **संभवे वेति**। **तथाभावप्रसङ्गादिति**। ग्रावप्लवनबोधकत्वप्रसङ्गादित्यर्थः। तथाच तद्वदेवेयमपि श्रुतिर्मोक्षावस्थायां दुःखात्यन्ताभावपरेति भावः। भवतु वा नित्यं सुखं तथापि न स पुरुषार्थः, अकाम्यत्वादित्याह **नापीति**। काम्यताविरहे हेतुमाह **न हीति**। ननु ममेदं नास्तीति भ्रान्त्या सदपि काम्यत एव। यथा कण्ठगतं चामीकरमपश्यन् भ्रान्त्या चामीकरमिति शङ्कते **भ्रान्तेरिति**। तत्सुखं विज्ञानात्मकत्वात् स्वसंवेद्यमेव भवताभ्युपगम्यते। तत्र कथमसत्त्वारोपः स्यादित्याह **स्वसंवेद्य इति**। ननु भवतु कथंचित् काम्यं तथापि प्रयत्नाविषयत्वान्न तत्पुरुषार्थ इत्याह **नापीति**। निर्वर्त्यं हि काम्यते वैषयिकसुखवत् इदं तु नित्यत्वादनिर्वर्त्यमित्याह **न हीति**। ननु नित्ये सुखे योगविधिना कथंचिद्विकार आधीयते, येन मोक्षोऽभिव्यज्यत इत्यत आह **नापीति**। विकारो हि तद्गतः परिणामः, स च तत्र नास्तीत्यर्थः। 'ननु ब्रीहीन् प्रोक्षती'त्यत्र ब्रीहेर्यथा संस्कार्यत्वं तथात्रापि स्यादित्यत आह **नापि संस्कार्यमिति**। ननु नित्यस्यापि *वेदस्याध्ययन*लक्षणा यथा प्राप्तिस्तद्वदेवैतत्प्राप्यं कर्म स्यादित्यत आह **नेति**। ननु ज्ञानलक्षणाप्राप्त्याधानात् प्राप्यमेव तत् कर्म स्यादित्यत आह **न ज्ञेयमिति**। ननूत्पाद्यज्ञानवेद्यत्वमेवास्तु को दोष इत्यत आह **अनित्यत्वे वेति**। ननु तद्विजातीयज्ञानं न शरीरादितन्त्रं किन्तु विषयमात्रजन्यमत आह **तथा चेति**।

इदानीमपि सन्ति रूपादयो विषयाः, अस्ति चात्ममनोयोग इति सर्वदर्शितापत्तिरित्यर्थः। ननु इदानीं सर्वदर्शिता नानिष्टेति वाच्यम्। शरीरादिविरहदशायां मया त्वया च तदनभ्युपगमादिति भावः। तत्संबन्धनिवृत्तिदशायां संसारितापत्तिमाशङ्क्याह **स चेति**। स उत्पाद्यो ज्ञानसुखसम्बन्धो भावोऽभावो वा। अन्ते आह **प्रतियोगीति**। न हि निष्प्रतियोगिकोऽभावो नामेत्यर्थः। **उपाधीति**। जन्यस्य विनाशित्वे भावत्वस्यैवोपाधित्वादित्यर्थः। ननु ध्वंस एव नित्यज्ञाननित्यसुखयोः सम्बन्धोऽस्तु, स च न विनाशीत्यत आह **अविद्येति**। एकविंशतिप्रभेदभिन्नदुःखात्मिका चेदविद्या तदा तद्विध्वंसस्य पुरुषार्थत्वमस्मदभिमतमेवेत्याह **न हीति**। नित्ये ज्ञाने सुखे च प्रमाणमेव नास्ति योग्यानुपलब्धिनिरस्तत्वादित्युक्तमिति भावः। **दुरन्तं चैतदिति**। न नित्यसुखकाम्यत्वमित्यर्थः। अत्र हेतुमाह **तदभिसन्धेरिति**। न नित्यसुखाभिलाषिणो वैषयिकसुखेऽप्यभिलाषः स्यात्। स च मोक्षविरोधीत्यर्थः। उत्कृष्टाभिलाषे तदप्राप्तावपकृष्टाभिलाषे दृष्टान्तमाह **अलाभेति**।

स्यादेतत्, आत्मा तु किं स्वप्रकाशसुखस्वभावोऽन्यथा वेति पृच्छामः। श्राद्धोऽसि चेदु*पनिषदः* पृच्छ। मध्यस्थोऽसि चेत्, अनुभवं पृच्छ। *नैयायिको*ऽसि चेत् न वैषयिकसुखज्ञानस्वभाव इति निश्चिनुयाः। तदतिरिक्ते तु सुखज्ञानव्यवहारे बीजाभावात् तद्व्यवहाराभावः। अनुग्रहाभिष्वङ्गेन्द्रियप्रसादादिक्षणं हि कार्यं तद्व्यवहारबीजम्, अर्थप्रवणत्वं स्मृतिसंस्कारादिकार्यं ज्ञानव्यवहारादिबीजं लोके, तदभावश्चात्मनीति।

कल्पलता- सुहृद्भावेन पृच्छति **आत्मेति**। प्रतिभाबलेन नित्यसुखस्वाभाव्ये त्वया निरस्तेऽपि न मम संशयोच्छेद इति भावः। **श्राद्ध इति**। श्रद्धावानसि चेदित्यर्थः। *उपनिषत्सु* ज्ञानसुखभिन्नत्वेनैवात्मनः प्रतिपाद्यत्वात्। यत्रो*पनिषदि* सुखस्वाभाव्यप्रतिपादनं तत्र *तदुपनिषदि* चान्यार्थस्य दर्शितत्वादिति बहुवचनप्रयोजनम्। **अनुभवमिति**। अहं सुखी अहं जानामीत्यनुभवे तदुभयवत्ताप्रतीतेः। माध्यस्थ्यं स्वपक्षे रागाभावः। **नैयायिकोऽसि चेदिति** न्यायसिद्धेन विप्रतिपद्यसे चेदित्यर्थः। *नन्वागम*विरुद्धोऽयं *न्यायः, आगमेन* नित्यस्य ज्ञानस्य सुखस्य च प्रतिपादनादित्यत आह **तदतिरिक्त इति**। वैषयिकज्ञानातिरिक्ते आत्मनीत्यर्थः। **अनुग्रहेति**। अनुग्रहः स्वीयत्वेन विज्ञानं कोऽयं येनानुग्रहादिकार्यं जन्यते तदेव सुखं न हि त्वदभिमतेन सुखेन तज्जन्यते। यत्तज्ज्ञानमर्थप्रवणं

स्मृतिसंस्कारजनकं तदेव ज्ञानव्यवहारविषय इत्यर्थः। तदभावश्चात्मनीति। मुक्तावस्थायामिति शेषः।

तस्मात्–

श्रुतेः श्रुत्वाऽऽत्मानं तदनु समनुक्रान्तवपुषो
विनिश्चित्य न्यायादथ विहतहेयव्यतिकरम्।
उपासीत श्रद्धाशमदमविरामैकविभवो
भवोच्छित्यै चित्तप्रणिधिविहितै *र्योगविधिभि*ः।।

उपास्यमाने च तस्मिन् प्रथमं बहिरर्था एव भासन्ते, यानाश्रित्य *कर्ममीमांसो*पसंहारः। *चार्वाक*समुत्थानं च, तत्प्रतिपादनार्थं च 'पराञ्चि खानीत्यादि। तद्धानाय' 'परं कर्मभ्य' इत्यादि। अथार्थाकारः, यमाश्रित्य *त्रैदण्डिकमतो*पसंहारः, *योगाचार*समुत्थानं च तत्प्रतिपादनार्थमात्मैवेदं 'सर्वमित्यादि तद्धानार्थं" मगन्धमरसमि 'त्यादि। अथार्थाभावः, यमाश्रित्य *वेदान्त*द्वारमात्रोपसंहारः शून्यनैरात्म्यसमुत्थानं च तत्प्रतिपादनार्थं मसदेवेदमग्र आसीदित्यादि' तद्धानार्थं मन्धंतमः प्रविशन्ति ये के चात्महनो जना' इत्यादि। ततो विवेकं यमाश्रित्य सांख्यमतोपसंहारः शक्तिसत्त्वसमुत्थानं च। तत् प्रतिपादनार्थं 'प्रकृतेः परस्तादित्यादि तद्धानाय' नान्यत् सदि' त्यादि। ततः केवल आत्मा प्रकाशते यमाश्रि*त्याद्वैतमतो*पसंहारः, तत्प्रतिपादनार्थं 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा *सहेति*', सा चावस्था न हेया। तत्प्रतिपादनार्थं 'न पश्यतीत्याहुरेकीभवतीत्यादि' तद्धानार्थं 'नाद्वैतं नापि द्वैतमित्यादि'। ततः समस्तसंस्काराभिभवात् केवलोऽपि न विकल्प्यते, यमाश्रित्य चरम*वेदान्तो*पसंहारः। मोक्षनगरगोपुरायमाणत्वात्। निर्वाणं तु तस्याः स्वयमेव यमाश्रित्य *न्यायदर्शनो*पसंहारः तत्प्रतिपादनार्थं मथ यो निष्काम आत्मकाम आप्तकामः स ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति तत्रैव समवलीयन्त' इत्यादीनि। तस्मादभ्यासकामोऽप्यपद्वाराणि विहाय द्वारैरेव प्रविशेत् यतो मार्गविमार्गसंमोहमाशङ्कमानैरुच्यते लक्ष्येण धनुषां योग इति।

कल्पलता– इदानीं दर्शनानामेकवाक्यतां द्रढयितुं प्रतिपत्तिचतुष्टयोत्पादन क्रममुपदिशति श्रुतेरिति। श्रुते*रुपनिषत्प्र*पञ्चात्। आत्मानं श्रुत्वा, समनुक्रान्तवपुषो

न्यायादनेन ग्रन्थेन सम्यक्प्रकारेणानुक्रान्तमुपक्रान्तं **वपुः** शरीरं यस्य तादृशान्निश्चित्य। **उपासीत** निरन्तरमनुचिन्तयेन्निदिध्यासनविषयं कुर्यादित्यर्थः। किंभूतमात्मानमुपासीतेत्यत आह **विहतहेयव्यतिकरमिति**। आत्मशरीरेन्द्रियार्थबुद्धिमनःप्रवृत्तिदोषप्रेत्यभावफलदुःखापवर्गेषु द्वादशविधप्रमेयेष्वत्यन्तवर्ज्यं यत् प्रमेयदशकं तद्व्यतिकरस्तत्संबन्धो विहतो यस्य तादृशं केवलमित्यर्थः। यादृशस्तदुपासनाधिकारी तमाह **श्रद्धेति**। **श्रद्धा** वेदबोधिते फलावश्यंभावनिश्चयः। **शमः** निर्विकारमनस्कता। **दमः**व्रतादिना कायक्लेशसहिष्णुता। **विरामः**उपलब्धेष्वपि विषयेष्वलंप्रत्ययो वैराग्यमिति यावत्। स **एवैको विभवः** सामग्री यस्येत्यर्थः। किमर्थमुपासीतेत्यत आह। **भवोच्छित्यै**–संसारोच्छेदाय। ननु श्रद्धाशमदमादिसम्पत्तिर्दुर्लभेत्यत आह **चित्तेति**। **चित्तस्य** मनसः **प्रणिधिः** प्राणिधानं निरिन्द्रियप्रदेशेऽवस्थानं। तदर्थं **विहितैर्योगिविधि**-भिरित्यर्थः। योगविधिभिरुपासीतेति वा सम्बन्धः। योगविधयश्च *पतञ्जलिपादो*पदिष्टाः। योगविधिश्च*ाक्षपादेनापि* चतुर्थाध्यायशेषेऽभ्यनुज्ञातः यदाह तं गुरुशिष्यसब्रह्मचारिभिः श्रेयोर्थिभिरनसूयिभिरभ्युपेयादित्युक्त्वा (न्या. सू. ४।२।४८।) योगाच्चात्मविध्युपायैरिति (न्या.सू. ४।२।४६।) सूत्रम्।

ननु दर्शनानां वैमत्यात् कथमुपासना स्यादित्यत आह **उपास्यमान इति**। आत्मश्रवणार्थं *जैमिनिमहर्षिणा* श्रुतावनुश्रीयमाणायां कर्मकाण्डप्रतिपादिका एव *श्रुतयः* प्रथमं प्राप्ताः। तत्र च 'ग्रामकामो (सांग्रहणीं) यजेत'। 'पशुकामश्चित्रया यजेत'। 'पुत्रकामः पुत्रेष्ट्या यजेते'त्यादिदर्शनाद्ग्रामपश्वादयो बहिरर्था कथं स्युरित्याकाङ्क्षायां *कर्ममीमांसा* प्रणीता। न तु *ब्रह्मकाण्डे* तस्यौदास्यमित्याह **बहिरर्था इति**। अत एव बहिरर्थमात्रमधिकृत्य *बृहस्पतिनापि चार्वाकमत*मुत्थापितं नाप्रत्यक्षप्रमाणमिति। न तु तस्याप्यात्मोपासनौदास्यमिति। ननु *सुरगुरोरत्र* कीदृशो वेद*भागो* मूलत्वेनाभिमत इत्यत आह **तत्प्रतिपादनार्थमिति**। "पराञ्चि खानि व्यसृजत् स्वयंभूस्तस्मात् परान् पश्यति नान्तरात्मन्" इति। यस्मात् स्वयम्भूः खानीन्द्रियाणि पराञ्चि पर(तात्मदर्शन)मात्रदर्शनफलान्यसृजत्। नात्मदर्शनफलानीति। तस्मान्नात्मा द्रष्टव्य इत्यभिमान इत्यर्थः। नन्वेतावता *चार्वाक*मतमेवायातमत आह *तद्धानायेति*।

कर्मभिर्मृत्युमृषयो निषेदुः प्रजावन्तो द्रविणमीहमानाः।
अथापरे मनीषिणः परं कर्मभ्यो अमृतत्वमानशुः।।

अत्र हि परं कर्मभ्य इत्यनेन कर्मपरतां निरस्यात्मपरतैव दर्शिता। पूर्वमात्मा न भासत इत्युक्तमिदानीमर्थाकार आत्मा भासत इत्युच्यते। **अथार्थाकार इति।** आत्मा भासत इत्यर्थः। *भास्करीया* हि *त्रिदण्डिन* 'आत्मैवेदं सर्वं ब्रह्मैवेदं सर्वमिति' स्वमतमुपसंहृतवन्तः ज्ञानभिन्नं वस्तु नास्त्येवेति ब्रह्मपदेन ज्ञानमेवोक्तमिति व्यामोहनाय स्वगुरुणा *योगाचारमतो*त्थापनं कृतम्। ननु *व्यासबृहस्पत्यो*रत्र कीदृशो वेदभागो मूलमित्यत आह **आत्मैवेदं सर्वमिति।** इदं नामरूपस्कन्धपञ्चात्मकं विश्वात्मैव तत्त्वतो ध्येय इत्युपचारमाश्रित्य *त्रिदण्डिमत*मुपसंहृतं *व्यासेन*। ननु तर्हि सिद्धं *योगाचार*मतमत आह **तद्धानार्थमिति।** 'अगन्धमि'त्यादिना पारमार्थिकगन्धान्योन्याभाववत्तयात्मनः प्रतिपादनात्। **अथार्थाभाव** इति भासते इत्यनुषङ्गेन सम्बन्धः। **यमाश्रित्येति।** *त्रिदण्डिमते*ऽप्यर्थप्रत्ययः स्वीक्रियते किन्तु ब्रह्मपरिणामत्वेन प्रपञ्चमिथ्यात्ववादिभिस्त्वर्थो नाङ्गीक्रियत एव। **द्वारमात्रेति।** अर्थाभावे सिद्धे तद्द्वारिका द्वैतसिद्धिरित्यर्थः। प्रपञ्चमिथ्यात्वदर्शनादेवात्मनोऽपि प्रपञ्चान्तर्गतत्वाभिमानिभि*र्दिगम्बरादिभिः* शून्यतानैरात्म्यादेः सिद्धान्तीकृतत्वात्। ननु तत्र पाखण्डप्रतारणायैव *सुरगुरोः* का *श्रुति*र्मूलं, का च *व्यासस्य* प्रपञ्चभागे अनास्थाहेतुरित्यत आह **असदेवेति।** नन्वेव'मसदेवेति' सर्वमायातमिति नात्मोपासनेत्यत आह **अन्धं तमः प्रविशन्तीति। आत्महन इति।** आत्मानभ्युपगन्तार इत्यर्थः। **ततो विवेक इति।** अर्थादात्मन इत्यर्थः। प्रकाशत इत्यप्यनुषञ्जनीयं। तद्विवेकायैव *कपिलस्य* प्रकृतिपुरुषविभागाय सूत्राणीत्यर्थः। अस्य *सांख्यदर्शनस्य* मननेन परिच्छिद्यमानस्यात्मनः स्मर्यमाणेभ्यो बहिरर्थेभ्यः स्वयमेव भेदं प्रतिपद्यते यस्यामवस्थायां तस्यां समुत्थानमिति भावः। **प्रकृतेः परस्तादिति।** अर्थप्रसवित्री तावत् प्रकृतिः, प्रकृतेः परस्तात् पुरुषस्तु कूटस्थनित्य इत्यर्थप्रतिपादिका *श्रुतिः*। नन्वियमप्यवस्था हेयैव मनसा प्रतियोगित्वेन तदानीं प्रकृतिपरिणामादीनां ग्रहणादित्यत आह **ततः केवल इति। अद्वैतेति।** 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्मेति' मतोपसंहार इत्यर्थः। इयमवस्था न पश्यतीत्यादिनोक्ता। नन्वियमप्यवस्था हेयैव द्रष्टृत्वाभाववत्तयात्मनः प्रतिपादनादत आह **तद्धानार्थमिति।** इयमप्यवस्था नाद्वैतं न वा द्वैतमित्यादिना तिरस्कार्यत्वेनाभिमता द्वैताद्वैताभ्यामपि *त्रिदण्डिमता*नुप्रवेशात्। द्वैताद्वैतविचारोदासीनेन मनसा केवलात्मसाक्षात्कार इहाभिमत इत्यर्थः। **तत इति।** केवलात्मसाक्षत्कारावस्थायां युञ्जानस्य योगिनः सवासनमिथ्याज्ञानसमुन्मूलनात्। **केवलोऽपि न विकल्प्यते।** न सविकल्पकेन

विषयीक्रियत इत्यर्थः। किं तु निर्विकल्पकमात्रमात्मन्युदेति। तदुक्तं यदा पुनरात्मा निर्विकल्पके चेतसि भासते तदाऽपवर्ग इति। अत एव च चरम*वेदान्तो*पसंहारः। तत्र हि स्वप्रकाशचिद्रूपात्मस्वरूपमेव मुक्तिरिति प्रतिपादनात्। तन्निर्विकल्पकरूपज्ञानं न वाक् विषयो निर्धर्मत्वात्। न मनोविषयोऽजन्यत्वादित्याह **यतो वाच इति। सा चावस्थेति।** आत्मनिर्विकल्पकविषयिभावावस्थेत्यर्थः। कुत इत्यत आह **मोक्षेति। गोपुरं** पुरद्वारं मोक्षनगरप्रवेशद्वारभूतत्वादित्यर्थः। **तस्या** इति पञ्चमी तस्याः सकाशान्निर्वाणमित्यर्थः। ननु निर्विकल्पकसत्त्वे कथं मुक्तिः, न च तन्नाशकविरोधिगुणान्तरमस्तीत्यत आह **स्वयमेवेति।** न तु विरोधिगुणान्तरात् किन्त्वदृष्टनाशविशिष्टात् कालात् तन्नाश इत्यर्थः। तदुक्तं *वार्त्तिके* कालात्संस्काराद्वेति। **न्यायदर्शनोपसंहार इति। यमाश्रित्येति।** यामवस्थामनुरुध्य घटादिसत्त्वव्यवस्थापनमारभ्यात्मगोचरनिर्विकल्पकोत्पत्तये प्रमाण-प्रमेयादिषोडशपदार्थोपवर्णनम्। अत एवापवर्गचरमकारणात्मतत्त्वसाक्षात्कार-कारणनित्यत्वज्ञानविषयत्वं प्रमेयलक्षणमाहुः। नन्वेतादृशस्योपसंहारस्य मूलं नास्तीत्यत आह **तत्प्रतिपदानार्थमिति।** निष्कामो विषयेष्वलं प्रत्ययवान्। **आत्मकाम** आत्मगोचरमननसाक्षात्कारपरः। **आत्मकामः** सञ्जातात्मसाक्षात्कारः। **ब्रह्मैव सन्** निरञ्जनात्मस्वरूपः सन् ब्रह्मैव समभ्येति-केवलात्मरूपो भवति। कैवल्यमासादयतीत्यर्थः। **न तस्येति।** ततः परं जीवनमरणे तस्य न भवतो न संसरतीत्यर्थः। **तत्रैव समवलीयन्ते** केवलात्मरूपतया व्यवतिष्ठन्ते विलीयन्त इति यावत्। ननु तान्यपि दर्शनान्येकवाक्यतया व्यवस्थितानि चेत्तदा मुमुक्षुभिस्तान्येवोपास्यन्तां किं न्यायदर्शनेनेत्युपसंहरन्नेव शङ्कां निरस्यति तस्मादिति। तेषां दर्शनानामुत्थाने परमेकवाक्यता, न तूपसंहारेऽपि, भ्रमेण सिद्धान्तान्तरपर्यवसानादनादेयतया विमार्गत्वात्। लक्ष्येण धनुःसंयोगः कदाचिदेवोपपद्यते इति शेषः। लक्ष्यप्रापको धनुर्मार्गो यदि भवतीति। तथा चायमेव मार्गस्तथेति भावः।

बहुतरपरतन्त्रप्रान्तरध्वान्तभीत-
स्तिमितपथिकरक्षासार्थवाहेन यत्नात्।
तदिदमुदयनेन न्यायलोकागमानां
व्यतिहतिमवधूय व्यञ्जितं वर्त्म मुक्तेः।।१।।

नास्य श्लाघामकलितगुणः पोषयन् प्रीतये नः

कोऽन्धैश्चित्रस्तुतिशतविधौ शिल्पिनः स्यात् प्रकर्षः।
निन्दामेव प्रथयतु जनः किन्तु दोषान्निरूप्य
प्रेक्षांस्तथ्यस्खलितकथनं प्रीणयेदेव भूयः।।२।।

इत्याचार्योदयनकृत आत्मतत्त्वविवेकः सम्पूर्णः।

कल्पलता- बहुतरेति। बहुतराणि परतन्त्राणि *वेदान्तादीनि* तान्येव **प्रान्तराणि** दूरशून्याध्वानः, तत्राज्ञानमेव **ध्वान्तं** मोहस्तेन **भीता** अत एव **स्तिमिताः** संज्ञामप्राप्ता निष्क्रिया ये **पथिका** मुमुक्षवस्तेषां **रक्षार्थं सार्थवाहः** वर्त्मदर्शक इति यावत् न्यायश्च लोकश्चागमश्च तेषां **व्यतिहतिर्विरोधस्तमवधूय** निरस्य।

नास्येति। अकलितगुणो **मूर्खः अस्य** ग्रन्थस्य **श्लाघामादरं पोषयन्नपि** कुर्वन्नपि **नोऽस्माकं प्रीतये** सुखाय न भवति। अत्र दृष्टान्तमाह **कोऽन्धैरिति।** विज्ञस्तु **जनः** परं **निन्दामेव प्रथयतु** ख्यापयतु **किन्तु दोषान्निरूप्य।** तथा च दोषनिरूपको विज्ञोऽत्र दोषाभावान्निन्दा न करिष्यत्येवेति भावः। ननु विज्ञनिरूपणाद्दोष एव वास्तवोऽस्तीत्यत आह **प्रेक्षानिति।** प्रकृष्टा ईक्षा येषां ते प्रेक्षाः तान् वास्तवदोषकथनं **प्रीणयेदेव** सुखयेदेवेत्यर्थः।

स्वभ्रातुर्जीवनाथस्य व्याख्यामाख्यातवान्मयि।
मत्पिता ***भवनाथो*** यां तामिहालिखमुज्ज्वलाम्।।

पित्रा यद् ***भावनाथेन*** व्याख्यातं तदिहालिखम्।
व्याख्यानगुणदोषाभ्यां संबन्धो मत्पितुर्न मे।।

अश्रुत्वा मत्पितुर्व्याख्यामदृष्ट्वा मत्कृतामिमाम्।
आत्मतत्त्वविवेकस्य कस्य व्याख्यानकौशलम्।।

इति महामहोपाध्यायश्रीभवनाथात्मजमहामहोपाध्यायसन्मिश्र श्रीशङ्करमिश्रकृतात्मतत्त्वविवेककल्पलता समाप्ता।।

।। शुभमस्तु ।।

परिशिष्टम् (१)

आत्मतत्त्वविवेके तद्व्याख्यायां कल्पलतायाञ्च समुद्धृताः आचार्याः सम्प्रदायाः ग्रन्थाश्च

□□

परिशिष्टम् (२)

१२. एकप्रत्यवमर्शस्य हेतुत्वाद्धीरभेदिनी। ९६, ९७
एकधीहेतुभावेन व्यक्तीनामप्यभेदता।।
(प्र०वा० स्वार्थानुमान परि० १०९)

१३. एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म (पैङ्गल उप० १।१।) १३४, २५९

१४. कर्मणा यमभिप्रैति स सम्प्रदानम् (पाणिनि सू० १।४।३२।) २५०

१५. कर्मभिर्मृत्युमृषयो निषेदुः प्रजावन्तो द्रविणमीहमानाः।
अथापरे मनीषिणः परं कर्मभ्योऽमृतत्वमानशुः।। (?) २५०

१६. ग्रामकामो सांग्रहणीं यजेत (तै०सं० २।३।९।) २५०

१७. चित्रैकव्यवहारोऽपि भेदापोहपरो मतः।
एकानेकत्वविकलः प्रकाशः केवलोऽत्र सन्। ११४
(ज्ञानश्रीमि०नि० अद्वैत बिन्दु ३६३)

१८. तं शिष्यगुरुसब्रह्मचारिविशिष्टश्रेयोऽर्थिभिरनसूयिभिरभ्युपेयात्।
(न्या.सू. ४।२।४८) २५०,

१९. तस्माद् वैधर्म्यदृष्टान्ते नेष्टेऽवश्यमिहाश्रयः।
तद्भावेऽपि तन्नेति वचनादेव तद्गतेः।। ४६
(प्रमाणवार्त्तिकम्, अनु०प० २६ श्लो०)

२०. तया संवृत नानार्थः संवृत्या भेदिनः स्वयम् ।
अभेदिन इवाभान्ति भावारूपेण केनचित् ।। ९५
(प्रमावार्त्तिक अनु०परि० २६)

२१. दानमेकं कलौयुगे .... (?) २३७

२२. दुःखाभावोऽपि नावेद्यः पुरुषार्थतयेष्यते ।
नहि मूर्छाद्यवस्थार्थं प्रवृत्तो दृश्यते सुधीः ।। (?) २४५

२३. दृश्यश्चेद्व्यतिरेकसिद्धिमनसा कर्ता समाश्रियते
तत्त्योगेऽपि तथा तृणादिकमिति व्यक्तं विपक्षे क्षणम्।
कार्यत्वस्य विपक्षवृत्तिहतये सम्भाव्यतेऽतीन्द्रियः
कर्ता चेद् व्यतिरेकसिद्धि विधुराः व्याप्तिः कथं सेत्स्यति।। २१५
(ज्ञानश्रीमि.नि. पृ० २८५)

२४. दृश्यैकव्यतिरेकोऽयं दृश्यादृश्यसमो यदि
तृणादौ व्यभिचारः स्याद् दृश्यैकव्यतिरेकतः
दृश्याभावेऽप्यदृश्यस्य दृगादौ यदि संशयः।
तस्यान्यत्रापि शङ्कायां सन्दिग्धव्यतिरेकिता।। २१५
(धर्मकीर्तिः)

२५. न पश्यतीत्याहुरेकी भवति ... (?) २४९
२६. नाद्वैतं नापि द्वैतम्... (?) २४९
२७. नाद्वैतं न वाद्वैतम्... (?) २५१
२८. नान्यत् सत्... २४९
२९. नित्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्म (?) १२८, २४७
३०. पररूपं स्वरूपेण यया संव्रियते धिया।
एकार्थप्रतिभासिन्या भावानाश्रित्य भेदिनः।। ९५
(प्रमाणवार्तिक अ०प० ४।६८।)

३१. परं कर्मभ्य अमृतत्वमानशुः (?) २४९, २५१,
३२. परस्परविरोधे हि न प्रकारान्तर स्थितिः (न्या.कु. ३।८) १०, १४२
३३. पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भूः २४९, २५०
तस्मात् परान् पश्यति नान्तरात्मन्।
(कठोपनिषद् २।१।१।)

३४. पशुकामश्चित्रया यजेत (तै०सं० ३।४।६।) २५०
३५. पुत्रकामः पुत्रेष्ट्या यजेत (तै०सं०) २५०
३६. प्रकाशमानं नीलादि जडं वाऽजडमेव वा। १२२
इति प्रकरणेऽस्माभिर्बुद्धित्वे हेतुरुच्यते।।
(ज्ञा.मि.नि. अद्वैतबिन्दु ३६० पृ०)

३७. प्रजास्तत्र भविष्यन्ति शिश्नोदरपरायणाः (पुराणवचनम्) २३७
३८. प्रतिमन्वन्तरं चैषा सृष्टिरन्या विधीयते (पुराणवचनम्) २३७
३९. प्रत्यक्षपृष्ठभावित्वे साक्षादेव सवस्तुकः
तदभासे तु मूलेऽस्य पारम्पर्यात् सवस्तुता। १९२
(ज्ञा.मि.नि. अद्वैतबिन्दु ३६० पृ०)

४०. बाह्यं न पश्यति भिदात्मतयार्थसत्त्वा
त्वर्थक्रिया विरहसंकरता त्वभेदे
बुद्धिस्तु नश्यति भिदेव भिदैव सत्वा,
च्चिंत्राप्यतो न भिदमेति किमत्र कुर्मः १०९
(संस्कारसंग्रह १८६ कारिका, ज्ञानश्री नि०)

४१. बुद्ध्या विविच्यमानानां स्वभावो नावधार्यते
अतो निरभिलप्यास्ते निःस्वभावमिदं जगत्। (?) १२७

४२. भद्रं कर्णेभिः श्रृणुयाम देवाः (मुण्डकोपनिषद्) २३४

४३. भावं किञ्चित् पुरस्कृत्य भेदाभेदावुदीरयेत्।
देशकालादिभेदेन चिन्मात्रे तत्र कः क्रमः।।
(ज्ञा.मि.नि. अद्वैतविन्दु ३६२)

४४. मायामात्रमिदं विश्वं जगत् स्थावरजङ्गमम् (?) १४०

४५. मिथस्तथापि वा वित्तौ बाह्यवल्लक्षणस्थितिः। ११७
भेदेऽप्येवं धियस्तेषां प्रकाशघटनाकथम्।। ३५
(ज्ञा.मि.नि. अद्वैतबिन्दु ३५९)

४६. यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्यमनसा सह २४९
(तैत्तिरीयोपनिषद् २।४।१।)

४७. यदि स्वरूपमाकाराश्चित्रतैक धियः कथम्।
भेदप्रत्यर्थताबुद्धेस्तदान्योन्यस्य वेदनम्।।
भेदः प्रत्यणु वा बुद्धेस्तथाऽन्योन्यस्य वेदनम् ११७
(ज्ञा.नि.मि. अ०बि० ३५९)

४८. योगाच्चाध्यात्मविध्युपायैः (न्या०सू० ४।२।४६) २५०

४९. कयोपधाद् गुरुपोत्तमाद् वुञ् (पाणिनि सूत्र ५।१।३८।)

५०. राजद्वारे श्मशाने यतिष्ठति स बान्धवः (पञ्चतन्त्रम्) १३४

५१. वायुर्वैक्षेपिष्ठा देवता (तै०सं० २।१।१।) २४४

५२. विज्ञानं जड़रूपेभ्यो व्यावृत्तमुपजायते। ११९
इयमेवात्मसंवित्तिस्तस्य याऽजडरूपता।।

५३. व्रीहीन् प्रोक्षति (आपस्तम्बश्रौतसूत्र १।१९।१।) २४७

५४. वेद्यवेदकयोरूपं नियतं यदि लक्षितम्
तदुत्पादनपर्येष्टेः सामग्री शक्तिरुच्यताम् (ज्ञा.मि.नि. ३५२)

५५. वेद्यवेदकयोरूपं न चाद्यापि निवर्तते
ततः स्वरूपे वक्तव्ये सामग्री परिकीर्तनम् १२४
(ज्ञा.मि.नि. ३५२ पृ०)

५६. षट्केन् युगपद्योगात्परमाणोः षडंशता।
दिग्देशभेदतश्छाया वृत्तिभ्यां चापि सांशता।। १५५, १५९
(वसुबन्धुः, विज्ञाप्तिमात्रतासिद्धौ)

५७. सर्वाग्रहणमवयव्यसिद्धेः (न्या०सू० २।१।३५।) १४२, १६६

५८. सोऽपि यावत् परासिद्धः स्वयंसिद्धो विधीयते।
भवेत्तत्र प्रतीकारः स्वतोऽसिद्धेतु का क्रिया।। (?) १९०

५९. स्वरूपबुद्धिरपरैर्न याति न भिनत्ति च।
स्वपरप्रविभागो हि धियो याचितमण्डनम्। (धर्मकीर्तिः)

६०. हेयहीनस्य का मुक्तिः केन वाप्युपदिश्यते। (?) १२६

□□

परिशिष्ट - (३)

प्रतिपक्षिसिद्धान्तप्रतिपादकेषु ज्ञानश्रीमित्रपद्येषु वाक्येषु कानिचन पदानि परिवर्त्य तन्मतं निराकरोत्युदयनाचार्यः।

१. अत्र ज्ञानश्री मित्रः अद्वैतबिन्दु प्रकरणे –

तदयमाकारस्य बाह्यवादव्यसनिनो भेदसाधनविधिस्तपनीयमपनीय वाससि ग्रन्थिकरणवृत्तान्तमनुहरति (पृ० ३५६)

अस्यैवोत्तरम् आचार्योदयनस्य

अन्यथा तपनीयमपनीय वाससि ग्रन्थिकर्तारमुपहससि स्वयं च कनकमुपादाय गगनाञ्चले ग्रन्थिं करोषि।

२. ये पुनरगोपोहे गोशब्दसङ्केतविधावन्योन्याश्रयणं ग्राम्य जनधन्धीकरण-मुद्भावयन्ति तेऽपि सामान्ये सामान्यवति वा संकेतवादिनः कथमतो दोषान्मुच्यमानमात्मानं पश्यन्ति (अपोह प्रकरणे ज्ञानश्रीमित्रः पृ० २०३)

इतरेतराश्रयत्वमुक्तम्। संकेते सञ्चार्य यत् परिहृतं ज्ञानश्रिया तदेतद् ग्राम्यजनधन्धीकरणम्।

३. न खलु शास्त्रमनुभवं परिभूय भवितुं क्षमम् ज्ञानश्री उदयनः

न ह्यनुभवमवधूय भवितुं क्षमम्.

४. नाकारभेदमवधूय धियोऽस्ति वृत्ति

स्तद्बाधने बलिनि मध्यनये जयश्रीः।

नो चेदनिन्द्यमिदमद्वयमेव चित्रं

चेतो निराकृतिमतस्य तु कोऽवकाशः। (साकारसिद्धि प्रक० ज्ञानश्रीः पृ० ३८६) अत्रोदयनाचार्यः

न ग्राह्य भेदमवधूय धियोऽस्ति वृत्ति

स्तद्बाधने बलिनि वेदनये जयश्री:।

नो चेदनिन्द्यमिदमद्वयमेव विश्वां

तथ्यं तथागतमतस्य तु कोऽवकाश:।

५. यज्ज्ञानं यत्र भावाभावसाधारण प्रतिभासं न तेन तस्य विषयवत्त्वम्। यथा गोज्ञानस्याश्वेन। (अपोहप्रकरणे ज्ञानश्री: पृ० २१२)

यस्तु निपुणंमन्यो विकल्पमेव पक्षयति स्म, यज्ज्ञानं यद्भावाभाव साधारणप्रतिभासं न तेन तस्य विषयित्वम्। यथा गोज्ञानस्याश्वेनेति इत्युदयनाचार्य:

६. शब्दैस्तावन्मुख्यमाख्यायतेऽर्थ

स्तत्रापोहस्तद्गुणत्वेन गम्य:।

अर्थश्चौकोऽध्यासतो भासतेऽन्य:

स्थाप्यो वाच्यस्तत्त्वतो नैव कश्चित्।। (अपोह प्र० ज्ञानश्री २०३)

कारिका तद्गतो विंचारश्च सूचितौ आत्मतत्त्वविवेके यथा –

'शब्दै: किं वाच्यमित्यनुयोगे किं प्रतिभासात्, अथाध्यवसायात्, यद्वा तत्त्वत इति विकल्पे विकल्पस्थोऽन्यापोढाकार: न्यापोह स्वलक्षणं न किञ्चिदिति यत् क्रमेण प्रत्युक्तम्...।

७. अत्रनियतशक्तयो हि भावा: प्रमाणपरिनिष्ठितस्वभावा: न शक्ति साङ्कर्यपर्यनुयोगभाज: इति (अपोहप्रकरणे ज्ञानश्री: पृ० २२६)

अस्य प्रतिध्वनि: आत्मतत्त्वविवेके एवम् –

'स्वभावादेव कश्चिद् विकल्प: कस्मिँश्चिदेवास्फुरितेऽपि प्रवर्तयति। किमत्र क्रियताम्। स चास्य स्वभाव भेद: स्व कारणादेवायात:। तत्र क: पर्यनुयोज्यताम्

परिशिष्टम् (४)

उदयनाचार्यस्य स्वमतपोषकलौकिक वाक्यानि

१. उष्ट्रलगुड़कम् ११३

२. कर्ण स्पर्शे कटिचालनम् ७९

३. कतम आगमस्तेन प्रणीत इति चेत् वेदायुर्वेदादिरित्यरिकरिकर्णज्वरः सिंहनादः (आत्म त० पृ० २३१)

४. किं कुर्मो यत्र वचनं सर्वथैवानुपपन्नं तत्रावचनमेव श्रेयः। त्वमपि परिभावय तावन्निष्प्रमाणकेऽर्थे मूकवावदूकयोः कतरः श्रेयान् (आत्म त० पृ० १२८)

५. किमार्द्रकवणिजां बहित्रचिन्तया (आत्म त० पृ० – – –)

६. कुलीरस्येव स्वप्रसूतयुत्त्यपत्येनैव प्रतिहतत्वात् । पृ० १३८

७. चौरापराधेनव्यक्तमयं माण्डव्यनिग्रहः १४४

८. तदेतद् विक्रीत गवीरक्षणम् (आत्म त० पृ० १२१)

९. नहि योगविमलाञ्जनधौतदृष्टेरन्यस्य ताराव्यूहगतयः प्रतिभान्तीति शक्यं प्रतिपादयितुम् (आत्म त० पृ० १८८)

१०. भौतविचार कल्पेन पृ० १३४

११. भौतैः क्षेत्रनिलायनम् पृ० ११४

१२. वधूमाषमापनवृत्तान्तमनुहरति (आत्म त० पृ० १७५)

१३. सच फोणिगुड़ायितम्

१४. सुभगाभिक्षुकन्यायः (आत्म त० पृ० ११२)

१५. सोऽयं शिरश्छेदेऽपि शतं न प्रददाति विंशति पञ्चकं तु प्रयच्छति (आत्म त० पृ० ६३)

१६. सोऽयं पवनतनयवार्तामुपश्रुत्य तत्स्पर्द्धया बालवानरः कियदपि दूरमुत्प्लुत्य महार्णवे पतितः प्राह अपार एवायमकूपारः मिथ्या रामायणम्।
(आत्म त० पृ० १२७)

१७. स्वविषमूर्छिता भुजङ्गी आत्मानमेव दशति ११३

❑❑

श्रीमदुदयनाचार्यविरचितम्

न्यायपरिशिष्टम्

(२)

सम्पादकः

किशोरनाथ झा

पूर्व प्रवाचकः

प्रयागस्थ–गङ्गानाथझा–केन्द्रीय–संस्कृत–विद्यापीठस्य

समर्पणम्

जननी तारिणी देवी पिता मे कृष्णमाधवः।
प्रीत्यै भक्त्यार्पितमिदं तयोश्चरणपद्मयोः।।

झोपाह्वेन
किशोरनाथेन

उपक्रम

भगवान योगेश्वर श्रीकृष्ण की कृपा से आचार्य उदयन की कृति इस **न्यायपरिशिष्ट** का यथामति सम्पादन तथा प्रकाशन सम्पन्न हुआ, इसका सन्तोष है। आशा एवं विश्वास है कि न्यायशास्त्र के रसिक सुधीजन मित्र की दृष्टि से इसका अवलोकन कर अनुगृहीत करेंगे। **भट्ट कुमारिल** के शब्द में यहाँ पाठक वृन्द से मेरी प्रार्थना है कि प्रसन्नमन एवं प्रसन्नचक्षुरिन्द्रिय या कर्णेन्द्रिय से इसको पवित्र कर मुझे अनुगृहीत करेंगे। सज्जनवृन्द अपने प्रेमियों के वचन एवं कार्य का असूया–रहित होकर ग्रहण करते हैं –

तद् विद्वांसोऽनुगृह्णन्तु चित्तश्रोत्रैः प्रसादिभिः।

सन्तः प्रणविवाक्यानि गृह्णन्ति ह्यनसूयवः।। (श्लोक वा०)

ग्रन्थ की पुष्पिका से ज्ञात होता है कि यह **परिशिष्ट प्रबोधसिद्धि** या **बोधसिद्धि** नाम से भी अभिहित होता रहा है। मेरे पूज्य गुरुचरण प्रो० अनन्तलाल ठाकुर की धारणा रही है कि यह बोधसिद्धि सम्पूर्ण पञ्चाध्यायी न्यायसूत्र की व्याख्या रही होगी। इनकी आरम्भिक चार अध्यायों की व्याख्या कालकवलित हो गयी, केवल पञ्चम अध्याय की व्याख्या हम लोगों को उपलब्ध हो सकी। (द्रष्टव्य लक्षणावली की भूमिका पृ०२, मिथिला संस्कृत शोध संस्थान, दरभंगा संस्करण)

किसी अन्य का कहना है कि जाति एवं निग्रह स्थान पदार्थों की जटिलता को सुलझाने के लिए केवल पञ्चम अध्याय के सूत्रों की वृत्ति–स्वरूप यह व्याख्या आचार्य ने प्रस्तुत की है। अतएव इसके बोधसिद्धि नामकी सार्थकता प्रतीत होती है। चूँकि *तात्पर्य टीका* की व्याख्या इनकी प्रौढ़ कृति *न्यायनिबन्ध* या *तात्पर्य परिशुद्धि* पहले ही लिखी जा चुकी थी। अतएव इसका नाम परिशिष्ट रखा गया होगा। इससे न्यायदर्शन में पञ्चम अध्याय की गहनता का संकेत

मिलता है। *परिशुद्धि* व्याख्या के बाद पुनः पञ्चम अध्याय पर वृत्तिस्वरूप इस *परिशिष्ट* के प्रणयन से अध्येता के प्रति आचार्य की अनुग्रहबुद्धि एवं प्रतिपाद्य (विषय) की जटिलता अभिव्यक्त होती है। न्यायसूत्र की इस प्राचीनतम वृत्ति में सूत्रगत समस्त अभिप्राय का प्रकाशन हुआ है। व्याख्या की विशदता रहने पर भी शास्त्रार्थ की गहनता वृत्ति में नहीं होती है, न तो सिद्धान्त का खण्डन-मण्डन ही दृष्टिपथारूढ़ होता है। *काव्यमीमांसा* में राजशेखर ने वृत्ति का स्वरूप निरूपित करते हुए कहा है – **'सकलसारविवरणं वृत्तिः'**। इस *परिशिष्ट* में वृत्ति का वह लक्षण सर्वथा घटित होता है। मेरी जानकारी में इससे पहले किसी ने न्यायसूत्र पर वृत्ति की रचना नहीं की है। पश्चात् अनेक वृत्तियाँ न्यायसूत्र पर लिखी गयीं। इनमें सर्वाधिक प्रचार एवं समादर **विश्वनाथ भट्टाचार्य** कृत *वृत्ति* का हुआ। चिरकाल से यह *वृत्ति* भारतभर में पाठ्य के रूप में स्वीकृत एवं प्रचलित है। इसमें यथास्थान विचार का स्वातन्त्र्य भी दृष्टिगोचर होता है।

जहाँ तक मुझे ज्ञात है सर्वप्रथम १९३८ ई० में सम्मान्य नैयायिक **नरेन्द्र चन्द्र** (वागची) वेदान्ततीर्थ ने **वर्धमान उपाध्याय** कृत *प्रकाश* व्याख्या के साथ इस *न्यायपरिशिष्ट* का समीक्षा पूर्वक सम्पादन कर कलकत्ता संस्कृत ग्रन्थमाला संख्या (२२) बाइस में प्रकाशित किया था। पश्चात् १९७६ ई० में केन्द्रीय (अब राष्ट्रीय) संस्कृत विद्यापीठ तिरुपति से **वामेश्वर ध्वज** की *पञ्जिका* व्याख्या के साथ इसका दूसरी बार प्रकाशन हुआ है। राष्ट्रपति सम्मानित विद्वान् **एस०एन० श्रीरामदेशिकन्** महाशय ने इसका समालोचनात्मक संपादन एवं पाण्डित्यपूर्ण उपोद्घात का प्रणयन कर इस प्रकाशन को अलंकृत किया है।

पौरस्त्य एवं पाश्चात्य दर्शनों के क्षेत्र में असाधारण चिन्तक तथा मेरे प्रति सर्वदा कृपालु स्वनामधन्य **गोस्वामी श्याम मनोहर जी** (बम्बई) की प्रेरणा, निदेश एवं प्रकाशन-व्यय की सुविधा पाकर इन पंक्तियों का लेखक ने भी इस विलक्षण ग्रन्थ के प्रकाशन में प्रवृत्त हुआ और इसको भगवदनुग्रह माना।

पहले से उपलब्ध पितृचरण द्वारा संगृहीत तथा मित्रवर प्रो० (डॉ०) **सञ्जीत कुमार साधुखान** (कलकत्ता) के द्वारा प्रेषित कलकत्ता संस्करण का

पाठ ही यहाँ रक्खा गया है। यद्यपि तिरुपति संस्करण से इसमें पाठान्तर दृष्टिगोचर होता है तथापि मैथिल व्याख्याकार वर्धमान उपाध्याय की व्याख्या का आनुकूल्य इस पाठ में देखकर वर्धमान के प्रति अधिक श्रद्धा के कारण इसी पाठ के प्रति मेरा मन अधिक आकृष्ट हुआ।

तत्त्व की जिज्ञासा अथवा पाण्डित्य की प्रतिष्ठा हेतु विजय की लालसा से गुरु शिष्य के मध्य एवं दो प्रतिस्पर्धी वादी तथा प्रतिवादी के मध्य विद्वत्सभा में या अन्यत्र विशिष्ट विद्वान् को मध्यस्थ मानकर चिरकाल से शास्त्र विचार हेतु वाद, जल्प तथा वितण्डा कथा चलती रही है। *ऋग्वेद* के सूक्त में, *रामायण*, *महाभारत* तथा बौद्ध साहित्य में इसका सुस्पष्ट संकेत मिलता है।

'न यः सम्पृच्छे संप्रश्नाय रमते न पुनर्हवीतवे यज्ञाय रमते न संवादाय रमते तस्मान्नोऽद्यास्मान्। अद्य समिते संग्रामात् ऊरुष्व तं रक्षतम्' इत्यादि उक्त आशय के बोधक सूक्त (ऋग्वेद ८।१०१।४।) उपलब्ध है। *शतपथ ब्राह्मण* में शास्त्रार्थ का विस्तृत वर्णन दर्शनीय है, जहाँ याज्ञवल्क्य को विजयश्री मिली थी। वाल्मीकि *रामायण* में 'हेतूपचार कुशलान् हैतुकांश्च बहुश्रुतान्' (उत्तरकाण्ड ७।९४।८।) वाग्मिनः परस्पर जिगीषया हेतुवादान् (१।१४।१९) नावादकुशलो द्विजः (१।१४।२)

कांश्चित् लोकायतिकान् ब्राह्मणांस्तात सेवते।
अनर्थकुशलाह्येते बाला पण्डितमानिनः।।
धर्मशास्त्रेषु मुख्येषु विद्यमानेषु दुर्बुधाः।
बुद्धिमान्वीक्षिकीं प्राप्यं निगर्वं प्रवदन्ति ते।।

(वा०रा०अरण्यकाण्ड १००।३८-३९) आदि, वचन उपलब्ध हैं। *महाभारत* में उक्त है कि यज्ञ उपस्थित होने पर वाग्मी हेतुवादी (नैयायिक) परस्पर विजय की कामना से अनेक प्रकारों के हेतुवाद में प्रवृत्त हुए थे –

तस्मिन् यज्ञे प्रवृत्ते तु वाग्मिनो हेतुवादिनः।
हेतुवादान् बहूनाहुः परस्परजिगीषवः।।

(अश्वमेध पर्व ८५।५७)

आदि पर्व के ७१।४२-४५ पद्यों को देखने से विदित होता है कि कण्व

ऋषि के आश्रम में अनेक नैयायिक रहा करते थे जो न्याय शास्त्र के तत्त्वों के ज्ञाता थे, कार्यकारण भाव, कथा सम्बन्धी स्थापना, आक्षेप और सिद्धान्तों के ज्ञाता थे।

म०म० बालकृष्ण मिश्र स्मृति ग्रन्थ में पण्डित **श्री गोविन्द झा** का निबन्ध 'शास्त्रार्थ परम्परा' में उक्त है कि मिथिला में वैदिक विद्वान् के साथ अवैदिक विद्वान् के शास्त्रार्थ (जल्पकथा) का उल्लेख *दीघनिकाय सापादिक सुत्त* में उपलब्ध है। जहाँ निर्ग्रन्थ नातपुत्त, अजितकेशकम्बल, मक्खलि गोसाल तथा देवदत्त आदि का बुद्धदेव के साथ शास्त्रार्थ की चर्चा है। '**तस्माद् इहचुन्द ये धर्म्या: अभिज्ञदेशिता: तत्र सर्वै: संगम्य समागम्य .... संघायितव्यम् ... बहुजनहिताय बहुजनसुखाय** – यह था बुद्धदेव के समन्वय का प्रयास।

प्रतीत होता है कि इसी कारण से **महर्षि गोतम** को इस शास्त्र में तत्त्वज्ञान के उपयोगी वाद, जल्प तथा वितण्डा स्वरूप कथाओं का पदार्थ रूप में समावेश करना पड़ा होगा। इन्हीं कथाओं का उपयोगी होते हैं किसी न किसी रूप में संशय आदि तेरह पदार्थ। कथा के माध्यम से ही पदार्थों का परीक्षण संभव है और परीक्षणसे तत्त्वज्ञान। परार्थ अनुमान वाद तथा जल्प आदि कथाओं में किया जाता है, उसकी प्रक्रिया संशय आदि पदार्थों से उपपन्न होती है। नैयायिकों के लिये यह प्रयत्नपूर्वक प्रतिपादनीय नहीं है।

इस *न्याय परिशिष्ट* के प्रतिपाद्य जाति तथा निग्रह स्थान का प्रयोग जल्प तथा वितण्डा कथाओं में प्रचुर रूप में किया जाता है। भारत में प्राचीनकाल से इन कथाओं के माध्यम से शास्त्र का चिन्तन (शास्त्रार्थ विचार) होता रहा है। इसका साक्ष्य पहले ही यहाँ प्रदर्शित हुआ है। बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक दक्षिण प्रान्त में वाक्यार्थ विचार नाम से तथा उत्तर प्रान्त में शास्त्रार्थ विचार नाम से प्रचलित शास्त्र–चिन्तन विनोद की दृष्टि से देखा जाता रहा। इससे कथा करनेवाले विद्वानों के पाण्डित्य का (शास्त्र प्रतिपादन कला का) प्रचार प्रसार होता रहा है। पश्चात् यह शास्त्रीय प्रतिस्पर्द्धा द्वेष में परिवर्तित होने लगी। इससे विद्वानों की विरति हो गयी। पथ परिवर्तित हुआ संगोष्ठी, सेमिनार तथा तद्विध संभाषा अर्थात् पुनश्चर्या की ओर विद्वज्जन का आकर्षण हुआ।

इस परिशिष्ट के प्रतिपाद्य जाति तथा निग्रहस्थान का सामान्य परिचय अर्थात् लक्षण कथन यहाँ अप्रासङ्गिक नहीं होगा। सूत्रकार ने प्रथम अध्याय के

अन्त में इन दोनों पदार्थों का यथाक्रम सामान्य लक्षण कहा है। वादी के द्वारा स्थापित मत का जिस किसी तरह साधर्म्य या वैधर्म्य दिखाकर खण्डन करना है जाति। **'साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां प्रत्यवस्थानं जातिः'** (१।२।१८।) सूत्रगत प्रत्यवस्थान का अर्थ होता है – प्रतिकूल रूप से अवस्थान अर्थात् स्थापित मत का प्रतिकूल कथन द्वारा खण्डन।

किसी साध्य के सिद्ध्यर्थ प्रवृत्तवादी साधर्म्य उदाहरण के आधार पर हेतु का प्रयोग करता है, जैसे शब्द अनित्य होता है उत्पत्तिमान् होने से घट की तरह। वादी की इस स्थापना पर प्रतिवादी यदि कहता है कि अनित्य घट के साधर्म्य से यदि उत्पत्तिमत्त्व हेतु शब्द के अनित्यत्व का साधक हो सकता है तो नित्यधर्म के साधर्म्य से अमूर्तत्त्व हेतु से उसका नित्य होना ही क्यों नहीं माना जाये। प्रतिवादी का यह कथन हुआ जात्युत्तर। इसी प्रकार वैधर्म्य उदाहरण नित्य आकाश के बल पर उत्पत्तिमत्व हेतु से यदि शब्द का अनित्यत्व वादी सिद्ध करना चाहता है तो नित्यधर्म का साधर्म्य दिखाकर अमूर्तत्व हेतु से प्रतिवादी उसका नित्यत्व सिद्ध करना चाहता है, जिससे वादी का मत निराकृत हो जाता है। इस प्रकार साधर्म्य या वैधर्म्य उदाहरण प्रस्तुत कर वादी के मत का प्रतिवादी के द्वारा प्रत्यवस्थान (खण्डन) है जाति। ज्ञातव्य है कि व्याप्ति की अपेक्षा किये बिना केवल साधर्म्य या वैधर्म्य दिखाकर वादी के स्थापित मत का उपर्युक्त रीति से प्रतिवादी के द्वारा खण्डन करना ही है जात्युत्तर। अतः यह असद् उत्तर रूप में मान्य है। यद्यपि सदुत्तर से भी प्रतिवादी द्वारा प्रत्यवस्थान किया जाता है एवं असद् उत्तर छल तथा हेत्वाभास का भी व्यवहार प्रतिवादी स्थापित मत के खण्डन हेतु करता है तथापि उन उत्तरों में साधर्म्य तथा वैधर्म्य का प्रदर्शन नहीं होता है। चार प्रकारों से इस जाति का प्रयोग संभव है – १) साधर्म्य उदाहरण के आधार पर स्थापित मत का भिन्न साधर्म्य से प्रतिवादी के द्वारा खण्डन, २ पुनश्च इसी मत का वैधर्म्य प्रदर्शित कर प्रतिवादी द्वारा खण्डन, ३) वैधर्म्य उदाहरण के आधार पर स्थापित मत का भिन्न वैधर्म्य दिखाकर खण्डन ४) और पुनः इसी मत का साधर्म्य दिखाकर खण्डन।

भाष्यकार का यहाँ कहना है कि वादी के द्वारा प्रयुक्त हेतु में प्रसङ्ग अर्थात् आपत्ति का कथन है जाति। इनकी दृष्टि में प्रत्यवस्थान पद प्रसङ्ग अर्थ में व्यवहृत है। उदाहरण के साधर्म्य से वादी के द्वारा साध्य का साधन प्रस्तुत

करने पर उदाहरण के साधर्म्य या वैधर्म्य से आपत्ति का प्रदर्शन (खण्डन) है जाति। जनीप्रादुर्भावे धातु से 'जायते इति' इस व्युत्पत्ति के अनुसार जाति पद निष्पन्न होता है। अतः जाति से जन्म अर्थ लिया जाता है। **'जात्या ब्राह्मणः'** कहने पर जन्म से यह ब्राह्मण है – इस प्रकार का बोध होता है। **'जन्मना ब्राह्मणो ज्ञेयः'** आदि स्मृति वचन भी उपलब्ध है। यद्यपि *वैशेषिक* के सामान्य अर्थ में भी जाति पद का प्रयोग *न्यायदर्शन* तथा व्यवहार में देखा जाता है। **समान प्रसवात्मिका जातिः** (२।२।६६) आदि न्यायसूत्रों में जातिपद सामान्य का वाचक है। मनुष्यत्व, गोत्व तथा अश्वत्व आदि सामान्य लोक में जातिपद से अभिहित होता है। तथापि यहाँ जाति से जन्म अभिप्रेत है। भाष्यकार ने यहाँ कहा है – **जायमानोऽर्थो जातिरिति** (१।२।१८।) *योगसूत्र* में महर्षि पतञ्जलि ने जन्य अर्थ में जातिपद का व्यवहार **जात्यायुर्भोगाः** कहकर किया है।

वार्त्तिकार उद्योतकर ने भाष्यकार से अंशतः अपनी विमति दिखाते हुए कहा है कि यहाँ केवल उदाहरण का ही साधर्म्य या वैधर्म्य सूत्रकार का अभिमत नहीं है अपितु किसी भी प्रकार का साधर्म्य या वैधर्म्य का प्रदर्शन वादी के मत खण्डन हेतु प्रतिवादी कर सकता है। *भाष्य* के अनुसार सभी जातियों में इस लक्षण के नहीं घटने पर लक्षण की अव्याप्ति हो जायेगी। भाष्यकार ने समझाने के लिए उपलक्षण रूप में उदाहरण के साधर्म्य या वैधर्म्य को कहा है। जैसे सिद्धान्त के निर्णय में पक्ष और प्रतिपक्ष की स्थापना होती है इसी प्रकार जल्प तथा वितण्डा कथाओं में मतस्थापन एवं उसमें आपत्ति का प्रदर्शन होता है।

म०म०डॉ० सर गंगानाथ झा ने अपनी भाष्य व्याख्या *खद्योत* में इसकी पुष्टि हेतु विवरणकार का मत प्रस्तुत करते हुए कहा है कि यद्यपि सूत्रगत साधर्म्य या वैधर्म्य का प्रदर्शन सर्वत्र जाति में नहीं होता है तथापि व्याप्ति की अपेक्षा किये बिना दोष के कथन में यह मर्यादित है। अतएव नव्य नैयायिकों ने असद् उत्तर ही जाति का लक्षण कहा है।

वाचस्पति मिश्र ने *तात्पर्य टीका* में वादी के प्रयुक्त हेतु एवं हेत्वाभास दोनों में आपत्ति के प्रदर्शन को जाति कहा है। यह आपत्ति प्रदर्शन जैसे अज्ञान से होता है वैसे ही बुद्धिपूर्वक भी होता है। *वेद* के प्रामाण्य में यदि कुहेतु से नास्तिकों के द्वारा आक्षेप किया जाता है और आस्तिक को तत्काल उसके

निराकरण हेतु सदुत्तर की स्फूर्ति नहीं होती है तो जाति का व्यवहार वह बुद्धिपूर्वक करता है। अन्यथा समाज में *वेद* के प्रति अप्रामाण्य तथा अनास्था का प्रचार प्रसार होगा, ईश्वर में विश्वास उठ जायेगा। आस्तिक समाज में विप्लव फैलने लगेगा। वार्त्तिककार **उद्योतकर** ने जाति का लक्षण करते हुए कहा है कि अपने मत के स्थापनार्थ प्रयुक्त हेतु के प्रतिषेध में असमर्थ हेतु का कथन है जाति। **'तत्र जातिर्नाम स्थापनाहेतौ प्रयुक्ते यः प्रतिरोधासमर्थो हेतुः'** (५।१।१)।

प्रश्न होता है कि जब जाति का व्यवहार वर्जित है। *भाष्य* में (१।१।१।) छल, जाति तथा निग्रहस्थान का अपने वाक्य में परिवर्जन कहा गया है अथ च जाति असद् उत्तर है तब शास्त्र में यहाँ इसका विचार क्या सङ्गत है? वार्त्तिक में इसका समाधान यह कहा गया है कि यह सत्य है कि यथासंभव जाति का प्रयोग नहीं करना चाहिये, किन्तु इसका लक्षण एवं प्रकार भेद का कथन इसलिए अनुचित या असङ्गत नहीं है कि परिज्ञात रहने पर ही यथावसर वादी या प्रतिवादी के द्वारा इसका प्रयोग करने पर मध्यस्थ को वादी या प्रतिवादी इस पर रोक लगाने के लिए कह सकेगा। जाति के उद्घाटन से प्रयोक्ता को निगृहीत किया जा सकता है। अवसर आने पर इसका व्यवहार करके प्रतिवादी को परास्त किया जा सकता है।

जैसे बीज-प्ररोह के संरक्षण हेतु काँट की डालें खेत के चारों ओर लगाये जाते हैं इसी प्रकार जल्प तथा वितण्डा कथा मुमुक्षु के लिए भी आवश्यक है। अन्यथा तत्त्वज्ञान के अधिगत रहने पर भी वार्ता के द्वारा नास्तिक जन बाधा उपस्थित कर सकता है। जल्प तथा वितण्डा कथाओं में उसके अंगभूत छल, जाति तथा निग्रहस्थान का प्रयोग किसी के द्वारा करने पर उसका उद्घाटन इनके परिज्ञात रहने से ही संभव है। फलतः तत्त्व निश्चय का संरक्षण ही असद् उत्तर होने पर भी जाति आदि के प्रयोग का प्रयोजन होता है। अतः इन असद् उत्तर विशेषों का छल, जाति तथा निग्रहस्थानों का परिज्ञान आवश्यक है। शास्त्र में इसके विचार की आवश्यकता उपपन्न होती है।

यद्यपि आचार्य उदयन ने *न्याय परिशिष्ट* में अपने ही व्याघातक उत्तर को जाति कहा है **'स्वव्याघातकमुत्तरं जातिः'**। इनका आशय है कि जो खण्डन-कथन जन्म लेते ही स्वयं अपना ही व्याघात करे, वह है जाति।

भाष्यकार के 'जायमानोऽर्थो जातिः' से इसकी संगति बैठती है। तथापि विचार करने पर असद् उत्तर विशेष अर्थ में जाति पद को पारिभाषिक मानना समुचित प्रतीत होता है, जो नव्य नैयायिकों का अनुमत भी है। यह नवीन नैयायिक का मत **म०म० डॉ० सर गंगानाथ झा** की *खद्योत* व्याख्या में उल्लिखित है। *तार्किक रक्षा* में आचार्य **वरदराज** ने *वार्तिक* एवं *न्याय परिशिष्ट* में उक्त दोनों ही लक्षणों का उल्लेख एवं समर्थन किया है।

> **प्रयुक्ते स्थापनाहेतौ दूषणाशक्तमुत्तरम्।**
> **जातिमाहुरथान्ये तु स्वव्याघातकमुत्तरम्।।**

प्रसिद्ध बौद्ध दार्शनिक **धर्मकीर्ति** ने *न्यायबिन्दु* के अन्त में जाति को दूषणाभास कहा है – **'दूषणाभासास्तु जातयः'**। जो उत्तरवादी के पक्ष का यथार्थ दूषण नहीं होता अपितु दूषण के समान (सदृश) होता है, अतः दूषणाभास पद से अभिहित होता है। इस प्रकार के उत्तर को जाति कहते हैं। **धर्मकीर्ति** ने आगे कहा है कि प्रतिवादी के जिस वाक्य से वादी के स्थापित मत में असत्य दोष का उद्भावन-कथन-होता है, उस वाक्य को जात्युत्तर कहते हैं। **'अभूतदोषोद्भावनानि जात्युत्तराणि'**। आचार्य **धर्मोत्तर** ने इसकी व्याख्या में कहा है कि जाति सादृश्य का बोधक होता है। वादी के द्वारा मतस्थापन होने पर प्रतिवादी उसके खण्डन हेतु उचित उत्तर करने में असमर्थता के कारण उत्तर के सदृश अर्थात् असद् उत्तर कहता है – यही है जात्युत्तर। **'दूषणवदाभासन्ते इति दूषणाभासाः। के ते? जातयः। जातिशब्दः सादृश्यवचनः। उत्तरसदृशानि जात्युत्तराणि। तदेवोत्तरसादृश्यमुत्तरस्थान-प्रयुक्त्वेन दर्शयितुमाह अभूतस्य असत्यस्य दोषस्य उद्भावनानि उद्भाव्यते एतैरित्युद् भावनानि वचनानि तानि जात्युत्तराणि जात्या सादृश्येन उत्तराणीति'**।

यहाँ चौबीस प्रकार के जाति के उद्देश में सम शब्द का प्रयोग सादृश्य अर्थ में हुआ है। प्रतिवादी जाति का प्रयोग करके वादी को समझाना चाहता है कि जैसे आपका साधर्म्य या वैधर्म्य है उसी प्रकार का मेरा भी साधर्म्य या वैधर्म्य है। तब आपका वह साधर्म्य या वैधर्म्य यदि साध्य का साधक है तो मेरा भी वह साध्य का साधक क्यों नहीं होगा? दोनों के इन साधर्म्य या वैधर्म्य में कुछ विशेष तो उपलब्ध नहीं है। इस तरह वादी तथा प्रतिवादी के अपने-

अपने पक्ष के समर्थन में विशेष हेतु का अभाव ही साम्य (सादृश्य) है – यही समझाता है प्रत्येक जाति के नाम में संलग्न सम पद । यहाँ *भाष्य, वार्त्तिक, तात्पर्यटीका, न्यायमञ्जरी, न्यायभूषण* तथा *न्यायपारशिष्ट* के साथ इनके अनुगामी *तार्किक रक्षा* का मतैक्य दर्शनीय है। यद्यपि वादी के यथार्थ साधर्म्य के साथ प्रतिवादी के अयथार्थ साधर्म्य का साम्य वस्तुतः कल्पनाधृत ही होता है तथापि यहाँ आभिमानिक साम्य के कारण व्यवहार होता है।

यद्यपि अनेक न्यायाचार्यों ने साधर्म्यसम आदि चौबीस जातिविशेषों की विचारपूर्ण व्याख्या लक्षण तथा उदाहरण प्रदर्शन के साथ अपनी-अपनी कृतियों में की है तथापि आचार्य **उदयन** की व्याख्या इस *न्यायपरिशिष्ट* में आपेक्षिक अधिक सूक्ष्म, विशद तथा विस्तृत है, जो इनकी असाधारण प्रतिभा तथा विचार-शक्ति की गहराई एवं विशालता का परिचायक है। *तार्किक रक्षा* में वरद राज ने इनका अनुसरण किया है। नव्य न्याय के प्रवर्तक **गंगेश उपाध्याय** ने इस विषय में बहुत विचार नहीं किया है किन्तु इनके पुत्र **वर्धमान उपाध्याय** ने यहाँ *न्यायपरिशिष्ट* की व्याख्या *प्रकाश* में तथा अपनी कृति *अन्वीक्षानय तत्त्वबोध* में इसकी आलोचना हेतु आलोकपात किया है। दार्शनिक **शङ्कर मिश्र** ने *वादि विनोद* में वाद, जल्प तथा वितण्डा कथाओं में शास्त्र सम्मत प्रवृत्तिक्रम का उत्तम रीति से प्रतिपादन करते हुए सभी जातियों तथा निग्रहस्थानों का सम्प्रदायानुमत लक्षण विशदता के साथ प्रस्तुत किया है। इससे प्रतीत होता है कि **शंकर मिश्र** ने न्याय *चतुर्ग्रन्थिका* (भाष्य, वार्त्तिक, तात्पर्य टीका तथा परिशुद्धि) के साथ *न्यायपरिशिष्ट* तथा *अन्वीक्षानयतत्त्वबोध* का अच्छा परिशीलन किया था। जाति का लक्षण करते हुए **शंकर मिश्र** ने कहा है – व्याप्ति के बिना असाधक साधन के प्रयोग से उत्तर करना है जाति। अथवा अपने पक्ष की असाधकता के प्रयोजकरूप में विद्यमान तथा वादी के पक्ष के असाधक साधन का प्रयोग है जाति। **व्याप्तिमपुरस्कृत्यासाधकत्वसाधनाभिप्रायेण प्रयुक्तमुत्तरं जातिः। स्वासाधकताप्रयोजकरूपेण परासाधकतासाधनं वा।** यहाँ पहला लक्षण *न्यायरत्न* में और दूसरा *अन्वीक्षानयतत्त्वबोध* मे उपलब्ध है। यहाँ प्रकरणके उपसंहार में इन्होंने एक परिकर पद्य प्रस्तुत किया है –

बहूनां सम्मतः पन्थाः जातीनामेष दर्शितः।
एकदेशिमतेनासां प्रपञ्चो नोपवर्णितः।।

निग्रहस्थान

वादी या प्रतिवादी का विपरीत ज्ञान (विप्रतिपत्ति) और अज्ञान (अप्रति पत्ति) पराजय-निग्रह (खलीकार) का स्थान कारण होता है। **महर्षि गोतम** के प्रथमसूत्र में उद्दिष्ट सोलहवां पदार्थ निग्रहस्थान का साधारण लक्षण **'विप्रतिपत्तिरप्रतिपत्तिश्च निग्रहस्थानम्।** (१।२।१९।) इस न्याय सूत्र में उक्त है। इसके बाइस प्रकार प्रतिज्ञा-हानि आदि का नाम निर्देश पञ्चम अध्याय के द्वितीय आह्निकगत प्रथम सूत्र में करने के पश्चात् लक्षण का निर्वचन इस द्वितीय आह्निकगत सूत्रों में हुआ है। **तद्विकल्पात्जातिनिग्रहस्थान बहुत्वम्** (१।२।२०) सूत्रगत विकल्पपद का अर्थ विविधः कल्पः तथा नाना कल्पः *भाष्य* में कहा गया है। यहाँ *तात्पर्यटीका* कहती है कि प्रकार का वैविध्य विविधकल्प से और स्वरूप का वैविध्य नानाकल्प से भाष्यकार का अभिप्रेत है। इसी को ध्यान में रखकर इस पञ्चम अध्याय का सप्रयोजनत्व सिद्ध होता है। इस पञ्चम अध्याय के प्रथम आह्निक में जाति के चौबिस प्रकार तथा द्वितीय आह्निक में निग्रहस्थान के बाइस प्रकार अभिहित हैं। इनमें जाति का तो यथास्थान लक्षण के साथ परीक्षण भी हुआ है किन्तु निग्रह स्थान का केवल लक्षण किया गया है अनावश्यकता के कारण परीक्षण की उपेक्षा की गयी है।

जयन्त भट्ट की *न्याय कलिका* के अनुसार पाँच निग्रह स्थान – अननु भाषण, अज्ञान, अप्रतिभा, विक्षेप तथा पर्यनुयोज्योपेक्षण अप्रतिपत्तिमूलक निग्रहस्थान के रूप में मान्य है। किन्तु मेरे परम गुरु महामहोपाध्याय **फणि भूषण तर्क वागीश** तथा **अमरेन्द्रमोहन तर्कतीर्थ** ने मतानुज्ञा नामक निग्रहस्थान का भी समावेश इसी अप्रतिपत्ति कोटि में किया है। (द्रष्टव्य ५।२।१। सूत्र की वङ्लाव्याख्या तथा न्याय प्रवेश) शेष पन्द्रह निग्रहस्थान विपरीत ज्ञान प्रयुक्त होते हैं। अतः इनको विप्रतिपत्तिमूलक निग्रहस्थान कहा जाता है। अन्तिम निग्रहस्थान है हेत्वाभास। वादी या प्रतिवादी अपने पक्ष के साधन में जो अनुमान प्रस्तुत करता है, उसके हेतु में यदि पक्षसत्त्व आदि पञ्च रूपता या चतूरूपता नहीं रहती है और उसका उद्घाटन यदि अपर पक्ष कर देता है तो

वह हेत्वाभास निग्रह अर्थात् पराजय का कारण होता है। यह हेत्वाभास नामक निग्रहस्थान अज्ञान तथा विपरीतज्ञान दोनों से संभव है।

यहाँ ज्ञातव्य है कि अप्रतिपत्ति से वादी या प्रतिवादी के विचार्य विषय का अज्ञान विवक्षित नहीं है अपितु अज्ञता के कारण उपस्थित कर्तव्य का नहीं करना विवक्षित है। *भाष्य, वार्त्तिक* तथा *न्यायमञ्जरी* एक स्वर से कहती है कि विप्रतिपत्ति और अप्रतिपत्ति निग्रह का-पराजय का-मूल कारण है। जो साधन नहीं है किन्तु साधन के समान होने से साधनाभास है, उसको साधन मानना रूप भ्रम एवं जो दूषण नहीं है किन्तु दूषण के समान होने से दूषणाभास है, उसको दूषण मानना रूप भ्रम है विप्रतिपत्ति और अपने कर्तव्य का नहीं करना है अप्रतिपत्ति। वादी के द्वारा पक्ष के साधन करने पर उसका निराकरण करना प्रतिवादी का कर्तव्य होता है। प्रतिवादी के द्वारा खण्डन करने पर पुनः अपने मत का समर्थन एवं प्रतिवादी के मत का खण्डन वादी का कर्तव्य होता है – यही है यथाक्रम साधक तथा बाधकाभाव रूप प्रमाणों की प्रस्तुति। वादी या प्रतिवादी यदि यहाँ प्रमाद करता है, कर्तव्य का पालन किसी कारण से नहीं कर पाता है तो – यह हुई अप्रतिपत्ति। विपरीत समझकर या कर्तव्यच्युत होकर दोनों प्रकारों से वादी एवं प्रतिवादी परस्पर पराजित होता है। इस प्रकार विप्रतिपत्ति तथा अप्रतिपत्ति दोनों ही वादी या प्रतिवादी के परस्पर पराजय का मूल कारण होते है। वार्त्तिककार का यहाँ इतना विशेष कथन ज्ञातव्य है कि इन्होंने पहले निग्रहस्थान के दो प्रकारों की विप्रतिपत्ति तथा अप्रतिपत्ति की बात कहकर पुनः उक्त प्रतिज्ञाहानि आदि के भेद से इसके बाइस प्रकार को कहा है। तात्पर्य है कि निग्रहस्थान सामान्य रूप से दो प्रकार का और विशेष रूप से बाइस प्रकार के होते हैं। इसमें *सूत्रकार* तथा *भाष्यकार* की अनुमति ही देखी जाती है। यहाँ पहले ही इसका उपपादन किया जा चुका है। यह बाइस प्रकार भी निग्रहस्थान दिक् प्रदर्शन ही है। शिष्यों को समझाने के लिए उक्त है। प्रत्येक निग्रहस्थान का आन्तर्गणिक प्रभेद अनन्त हो सकते हैं। **वाचस्पति मिश्र** ने *तात्पर्यटीका* में (५।२।१) स्पष्ट कहा है – **'द्वाविंशतिसंख्यावच्छिन्नो भेद उदाहरणमात्रम् । आन्तर्गणिकभेदविवक्षायां त्वानन्त्यमित्यर्थः।'**

न्याय दर्शन का एक सम्प्रदाय यहाँ विचारान्तर प्रस्तुत करता है। विचार्य विषय में वादी या प्रतिवादी की अज्ञतारूप अप्रतिपत्ति तथा भ्रमादि रूप विप्रतिपत्ति

के अनुमापक निग्रहस्थान सूत्रगत विप्रतिपत्ति तथा अप्रतिपत्ति का अभिप्राय है। क्योंकि वादी या प्रतिवादी के भ्रम या अज्ञान का उद्भावन दूसरा व्यक्ति इसलिए नहीं कर सकता है कि वह प्रत्येक व्यक्ति का आत्मगत धर्म है। अतः वह निग्रहस्थान नहीं हो सकता है। फलितार्थ यह हुआ कि वादी या प्रतिवादी के भ्रम तथा अज्ञान के अनुमापक हेतु निग्रहस्थान होता है। सूत्रगत उक्त दोनों पदों से विचार्य विषय में वादी या प्रतिवादी के अज्ञान एवं भ्रमज्ञान को पहले लक्षणा से परस्पर एक का अपर समझता है पुनश्च उसके अनुमापक हेतु को लक्षणासे समझता है। अतः यहाँ उक्त दोनों पदों में (विप्रतिपत्ति एवं अप्रतिपत्ति में) लक्षितलक्षणा माना जाता है और इससे अनुमित होता है वादी या प्रतिवादी का परस्पर अज्ञान अथवा भ्रम, जो निग्रहस्थान के रूप में मान्य है। यह सामान्य लक्षण प्रतिज्ञाहानि आदि सभी निग्रहस्थानों में समन्वित होता है। महादार्शनिक **शङ्कर मिश्र** एवं काश्मीर के अभिजन **वरदराज आचार्य** ने यथाक्रम *वादि विनोद* तथा *तार्किकरक्षा* में इसका समर्थन किया है।

बौद्ध दार्शनिक आचार्य *धर्मकीर्ति* न्याय के अनुमत प्रतिज्ञाहानि आदि निग्रहस्थानों को नहीं मानते हैं। **धर्मकीर्ति** ने *वाद न्याय* में निग्रहस्थान के दो ही प्रकार का उल्लेख किया है – असाधनाङ्गवचन तथा अदोषोद्भावन।

> **असाधनाङ्गवचनमदोषोद्भावनं द्वयोः।**
> **निग्रहस्थानमन्यत्तु न युक्तमिति नेष्यते।।** वादन्याय २।

वादी या प्रतिवादी जो पक्ष का साधन नहीं है, उसका यदि साधन के रूप में व्यवहार करता है तथा जो दोष नहीं है उसका यदि दोष कहकर व्यवहार करता है तो **धर्मकीर्ति** के मत में वह निग्रहस्थान होता है। अन्य निग्रहस्थान इनका मान्य नहीं है। *न्याय मञ्जरी* में **जयन्त भट्ट** ने तथा *तात्पर्य टीका* में **वाचस्पति मिश्र** ने इस मत का खण्डन किया है। **उद्योतकर** तथा **जयन्त भट्ट** ने कहा है कि **सूत्रकार** ने प्रथम अध्याय के अन्त में दो प्रकार इस निग्रहस्थान का कहा ही है। शब्दान्तर से **धर्मकीर्ति** ने भी उसी को कहा है। निग्रहस्थान का **सूत्रकार** कृत लक्षण पश्चात् आलोचना करने पर प्रत्येक निग्रहस्थान में समन्वित होता है किन्तु **धर्मकीर्ति** का लक्षण सभी निग्रहस्थानों में नहीं घटता है।

जहाँ वादी या प्रतिवादी को उत्तर की स्फूर्ति नहीं होती है, वहाँ नैयायिक ने अप्रतिभा नामक निग्रह स्थान माना है। किन्तु **धर्मकीर्ति** के अनुसार वहाँ किसी का पराजय नहीं हो पायेगा। उत्तर की स्फूर्ति नहीं होना न तो अदोष का उद्भावन हुआ न ही असाधनाङ्ग वचन। अतः यहाँ अप्रतिभ वादी या प्रतिवादी पराजित नहीं कहा जा सकता है। उसका अपराध ही सिद्ध नहीं हो रहा है।

अदोषोद्भावन का अर्थ यदि दोष का उद्भावन नहीं करना मान्य हो तो उत्तर की स्फूर्ति नहीं होने पर वादी या प्रतिवादी कुछ उत्तर नहीं कह पाता है। अतः दोष का उद्भावन नहीं करने के कारण वह निगृहीत होगा – इस प्रकार धर्मकीर्ति का लक्षण यहाँ समन्वित होता है।

अदोष का दोष रूप में कथन (उद्भावन) तथा दोष का अकथन (अनुद्भावन) दोनों ही अर्थ अदोषोद्भावन का होता है। तब तो शब्दान्तर से विप्रतिपत्ति तथा अप्रतिपत्ति रूप न्यायदर्शन संमत निग्रहस्थान भी आपका ही अनुमत हुआ। अतएव सनातन न्याय तथा बौद्ध न्याय में इस सन्दर्भ में परस्पर समन्वय ही दृष्टिगोचर होता है। बौद्धमान्यता में मतभेद या नवीनता नहीं रही।

यह निग्रहस्थान वादकथा मे भी प्रयुक्त होता है किन्तु वहाँ निग्रह या खलीकार का अर्थ पराजय – पराहंकार का निरास नहीं है अपि तु विवक्षित अर्थ का अप्रतिपादन अभिप्रेत है। **वाचस्पति मिश्र** ने तात्पर्य टीका में स्पष्ट कहा है कि वादकथा में हेत्वाभास, न्यून, अधिक तथा अपसिद्धान्त का प्रदर्शन जिज्ञासु शिष्य द्वारा किया जा सकता है। किन्तु सभी निग्रहस्थानों का उपयोग नहीं किया जा सकता है। इससे अभिप्रेत अर्थ का अप्रतिपादन ज्ञात होता है। (१।१।१ सूत्र की *तात्पर्य टीका*) आचार्य **उदयन** तथा इनके अनुगामी **वरदराज** ने सात या आठ निग्रहस्थानों का उद्भावन (कथन) वाद कथा में समर्थित किया है। इनमें उपर्युक्त चार निग्रह स्थानों से भिन्न प्रतिज्ञाविरोध, अननुभाषण, पुनरुक्त तथा अप्राप्तकाल समाविष्ट है। इनमें से हेत्वाभास तथा निरनुयोज्यानुयोग वादकथा का विच्छेदक होते हैं अन्य उसका विच्छेदक नहीं होते हैं। अन्तिम निग्रहस्थान हेत्वाभास के बोधक सूत्रमे ५।२।२४। 'हेत्वाभासाश्च' पद में जो च शब्द समाविष्ट है उसके अभिप्राय कथन में नैयायिकों में मतभेद है। (५।२।२४) *तात्पर्य टीका* में **वाचस्पति मिश्र** की दृष्टि से यह च शब्द समुच्चयार्थक है, उक्त निग्रहस्थानों से भिन्न भी अनेक निग्रहस्थान हो सकते हैं – इस तात्पर्य से

यहाँ च शब्द उक्त है। **यदि अनुक्तमपि किञ्चिदवशिष्यते निग्रहस्थानं तच्चकारेण समुच्चेयम्'** वरदराज ने यहाँ दृष्टान्तदोष, उक्तिदोष तथा आत्माश्रय आदि सत्तर्क के प्रतिघातक का समुच्चय इस चकार से किया है। प्राचीन नैयायिक आचार्य भासवर्ज्ञ ने वादी एवं प्रतिवादी के दुर्वचन, कपोलवादन आदि तथा स्थल विशेष में अपशब्द के प्रयोग आदि को भी निग्रहस्थान कहा है। **एतेन दुर्वचनकपोलवादित्रादीनां साधनानुपयोगित्वेन निग्रहस्थानत्वं वेदितव्यम्। नियमकथायान्त्वपशब्दादीनामपि इति।** (द्रष्टव्य अनुमान परिच्छेदका अन्त, न्यायसार)

शङ्कर मिश्र ने *वादिविनोद* में च शब्द से महर्षि का तात्पर्य को समझाते हुए साध्य विकल, साधन विकल आदि अतिरिक्त बीस बाइस निग्रह स्थानों का समुच्चय किया है। यद्यपि इन सबका हेत्वाभास में अन्तर्भाव संभव है तथापि अपने नाम से ही इन सबका उद्घाटन करने का विधान किया है। (द्रष्टव्य *वादि विनोद* पृ० १४५, सम्पा० डॉ० विश्वम्भरनाथ गिरि, विवेक प्रकाशन, इलाहाबाद १९९५ ई०)

किन्तु विश्वनाथ भट्टाचार्य ने अपनी *वृत्ति* में इस उपर्युक्त मत का खण्डन किया है। च शब्द को समुच्चयार्थक मानने पर सूत्रगत 'यथोक्ता' पद उपपन्न नहीं होगा। सभी अनुक्त निग्रहस्थान यथोक्त नहीं हो सकते हैं।

यहाँ यह भी अवधेय है कि वाद, जल्प तथा वितण्डा रूप कथा मे ही निग्रहस्थान का व्यवहार होता है। लौकिक वार्ता में तथा अन्यत्र नहीं। कथा में भी वादी या प्रतिवादी यदि अपस्मार आदि रोग से पीड़ित होकर चुप हो जायें अथवा भूतावेशवश प्रलाप करने लगे अथवा प्रतिवादीके द्वारा दोषोद्भावन के पहले ही शीघ्र अपनी बुद्धि के बल से अपने वाक्य को ढककर अपना निर्दोषत्व वाक्य द्वारा सिद्ध कर लेता है अथवा प्रतिवादी के कहने से पहले ही अन्य व्यक्ति उत्तर कह देता है इन स्थितियों में कोई निगृहीत नहीं होता है। ऐसे स्थलों में वादी या प्रतिवादी के भ्रम या अज्ञान का अनुमापक हेतु ही नहीं उपलब्ध होता है।

उपसंहार में निवेदन है कि किसी भी प्रकार के महत्त्वपूर्ण कार्य की सिद्धि में प्रभु की अनुग्रह बुद्धि अवश्य सहायिका होती है। कविकुलगुरु कालिदास ने अभिज्ञानशाकुन्तल में कहा है –

सिद्ध्यन्ति कर्मसु महत्स्वपि यन्नियोज्याः
सम्भावनागुणमवेहि तमीश्वराणाम् ।

विद्वज्जनों के मध्य मुझे यह कहने में रञ्चमात्र संकोच नहीं होता कि मेरा सारस्वत अनुष्ठान प्रथम कोटि का नहीं होता है, किन्तु देवता के अनुग्रह एवं गुरु प्रसाद की उपलब्धि के कारण तृतीय या अधम कोटिका भी नहीं होता है। मध्यम कोटि का होता है और भागवत के अनुसार इसमें क्लेश का अनुभव स्वाभाविक है। श्रीमद्भागवत में एक पद्य है –

यश्च मूढतमो लोके यश्च बुद्धेः परंगतः।
द्वावेतौ सुखमेधेते क्लिश्यत्यन्तरितो जनः।।

मैं भी अपने को अन्तरित जन ही मानता हूँ। पुनश्च मानव सुलभ दोष से कहाँ तक रक्षा की जाये। अतएव सुधी पाठकों से मेरी प्रार्थना है कि –

'मधुलिह इव मधुबिन्दून् विरलानपि भजत गुणलेशान्'

जिन लोगों ने यहाँ मेरी किसी भी प्रकार की सहायता की है उनके प्रति कृतज्ञता, प्रणति एवं शुभानुध्यान अर्पित कर उनकी उत्तमर्णता स्वीकार करता हूँ।

सुधीजनों का आश्रव

ग्रा० बिट्‌ठो, पो० सरिसब–पाही — किशोर नाथ झा

जिला–मधुबनी ८४७४२४ (बिहार)

रामनवमी १४।४।२००८ ई०

□□

विषय-सूची

□□

सप्रभेदस्य न्यायशास्त्रीयजातिपदार्थस्य लक्षणसूत्राणां वृत्तिः

न्यायपरिशिष्टम्

(पञ्चमाध्यायस्य प्रथममाह्निकम्)

अथावसरतः कथकाशक्तिलिङ्गविशेषलक्षणम्। तदेवाध्यायार्थः। तत्तल्लक्षणप्रकरणपरम्परासम्पिण्डनेनाह्निकसमूहतया अध्यायभेदस्थितौ न प्रथम-पञ्चमसङ्करः। अत एव छलस्य पञ्चमबहिर्भावः। तत्र जातिविशेषलक्षणं प्रथमाह्निकार्थः। तद्विभागार्थं सूत्रम्- **साधर्म्य-वैधर्म्योत्कर्षापकर्षवर्ण्यावर्ण्य विकल्पसाध्यप्राप्त्यप्राप्ति प्रसङ्ग-प्रतिदृष्टान्तानुत्पत्ति संशय प्रकरणाहेत्वर्थापत्त्यविशेषोपपत्त्युप-लब्ध्यनुपलब्धिनित्यानित्यकार्यसमाः** ५।१।१।

यद्यपि समोत्तरं हेतुतो नोत्कृष्टं तथापि तेन समीकरिष्यामि इति प्रयोगः तादर्थ्यात् तदभिप्रायपूर्वकत्वाद् वे*त्याचार्यः* । यदूचे समार्थः समीकरणार्थः प्रयोगो द्रष्टव्य इति। एतेन बुद्धिपूर्वको जातिप्रयोगः साम्यापादनायेति सूचितं भवति। एतदुक्तं भवति यदि ह्ययं जात्युत्तरेण व्याकुलीकृतो निष्प्रतिभः स्यात्, असद्वा ब्रूयात्, तदा मम निरनुयोज्यानुयोग-वदेतस्यापि पर्यनुयोज्योपेक्षणं निरनुयोज्यानुयोगो वा स्यादिति समौ स्यावः। अन्यथा त्वहमेवापकृष्टः स्यामिति बुद्ध्या प्रवृत्तेरिति। *भाष्यकार*स्तु प्रयोगगतं विशेषहेत्वभावसाम्यमाह। यदवोचत्- साधर्म्येण प्रत्यवस्थानमविशिष्यमाणम् इति। यथा हि त्वदुपन्यस्तं साधर्म्यं तथास्मदुपन्यस्तमपि, यथेदं वैधर्म्यं तथेदमपि, यथेदमेतत्सहचरितमुपलब्धं तथेदमपीत्याकारेण जातिवादिनः प्रत्यवस्थानात्। तेन प्रत्यवस्थानस्वरूपं सर्वजातिसाधारणं सूचितम्। एतच्च तत्र तत्र वक्ष्यते इति।

अन्ये तु वक्तृधर्मं वचने उपचरन्ति। जातिवादी हि समः साधारणो नोत्कृष्टोऽपकृष्ट इत्यर्थः। स च साधर्म्याद्युत्तरद्वारैवोन्नीयत इति उत्तरमेव

सममपकृष्टम् इत्यर्थः। तच्चापकृष्टमुत्तरं द्वेधा भवति। दूषणसमर्थमप्यसिद्धम् सिद्धमपि वा दूषणासमर्थम्। प्रथममपि कल्पितदूष्यं यत्तच्छलमुक्तम्। अकल्पितदूष्यन्तु केवलनिरनुयोज्यानुयोगो वक्ष्यते। शेषं जातिरित्यनेन सामान्यलक्षणं सूचितं भवति। तथा च *वार्तिकम्*– ''जातिर्नाम स्थापनाहेतौ प्रयुक्ते यः प्रतिषेधासमर्थो हेतुः'' इति। *वयन्तु* ब्रूमः, तत् त्रयं, चतुर्थश्चायमर्थः यज्जात्युत्तरं परसाधनमिव स्वात्मानमपि व्याप्नोतीत्यतः स्वपरसाम्यात्सममित्युच्यते। तथा च स्वात्मव्याघातकत्वं नाम सर्वसाधारणं दुष्टत्वमूलमस्य सूचितं भवति। एतच्च प्रत्युत्तरसूत्रे वक्ष्यते। तदेतदेव च सर्वसाधारणमसामर्थ्यं, विशेषासामर्थ्यं त्वग्रे वक्ष्यामः। तदुपाधिविशेषाः साधर्म्यादयः। एवं चान्वर्थसंज्ञानिरुक्तिरेवामीषां यद्यपि विशेषलक्षणं तथापि कारणादिप्रतिसन्धानाय पृथग्लक्षणारम्भः। ते हि प्रतिसंहिताः प्रतिदूषणाय प्रभविष्यन्ति, सदुत्तरापरिस्फूर्तौ जातिप्रयोगे चोपयोक्ष्यन्ते ।।१।।

[साधर्म्यवैधर्म्यसमप्रकरणम्]

तत्र– **साधर्म्यवैधर्म्याभ्यामुपसंहारे तद्धर्मविपर्ययोपपत्तेः साधर्म्य-वैधर्म्यसमौ।५।१।२।**

अत्र सामान्यलक्षणगतं प्रत्यवस्थानपदमनुवर्तनीयम्। साधर्म्य-वैधर्म्याभ्यामिति चावर्तनीयम्। 'तदिति' साध्यपरामर्शः। 'उपपत्तेः' इति तादर्थ्ये षष्ठी, यथासंख्यं योगः। प्रतिषेधभागसूचनाय पुंलिङ्गनिर्देशः। द्विविधं हि प्रत्यवस्थानं परपक्षप्रतिषेधः, स्वपक्षसाधनञ्च। सामान्यलक्षणेनैव सदुत्तरप्रकरणसमत्वोद्भावनव्यवच्छेदः। प्रत्येकं त्रिधा चैते जाती सद्विषये, असद्विषये, असदुक्तिके च। तत्राद्योदाहरणं *वार्तिके*। द्वितीयोदाहरणन्तु, नित्यः शब्दः स्पर्शशून्यत्वात् आकाशवत् इत्युपसंहारे। नैतदेवम्, अस्ति ह्यनित्येनापि साधर्म्यं प्रमेयत्वं, ततः किं नानित्यो घटवत्। न चेदेवं, नित्योऽपि न स्यात्, अविशेषात् इति। यद्वा, अस्त्याकाशेनैव वैधर्म्यमप्य स्मदादिबाह्यकरणग्राह्यत्वं, ततः किं न अनित्यो घटवत्। न चेदेवं, नित्योऽपि न स्यात्, अविशेषात्।

तृतीयोदाहरणं *भाष्ये* 'उक्तिमात्रमत्र दुष्टं नार्थं' इति प्रदर्शनार्थन्तु *वार्तिकतात्पर्य* मुपेक्ष्योक्तं *तात्पर्याचार्यैः*, 'सदुत्तरमप्युक्तिदोषेण जातिरिति।

अस्यार्थस्य प्रतिदृष्टान्तप्रकरणसमादौ स्वयमेव स्फुटीकरणात्। अप्रयोजकविपक्षान्वयिधर्मवत्वदर्शनं कारणमाद्यायाः, अप्रयोजकसपक्षव्यतिरेकिधर्मवत्वदर्शनञ्च द्वितीयाया इति विभावयितुं भेदेनोपन्यास इति।

अन्यथा धर्मान्तरेण तद्धर्मविपर्ययोपपत्तेः प्रत्यवस्थानं प्रतिधर्मसमेत्येकैव स्यात्। कथं पुनः प्रतिधर्मसमप्रकरणसमयोर्भेद इति? 'इयं बाधदेशनाभासा, 'तद्धर्मविपर्ययोपपत्ते' रिति वचनात्। सा सत्प्रतिपक्षदेशनाभासा 'प्रक्रियासिद्धे' रिति वचनादित्येके।

एवञ्च मन्यन्ते, प्रमाणान्तरबाधदेशनाभासोऽप्येवं सङ्गृहीतः स्यादिति। 'प्रत्युत्तरसूत्रपर्यालोचनया व्यत्यय' इति *तात्पर्यटीका*।

इह हि प्रत्युत्तरक्रमे विशेषं दर्शयति, तत्र तु प्रतिसाधने बाधमापादयतीति। किमत्र तत्त्वम्? उत्तरम्, अनन्यथासिद्धेः। नहि सत्प्रतिपक्षदेशनाभासायां प्रतिसाधनबाधक आपाद्यते। सत्प्रतिपक्षत्वं चापन्नमपि न तस्य दोषाय, असाधनात्; प्रत्युत गुणाय, साम्यमात्रापादनप्रवृत्तत्वात्। न च समबलेनैव बाधाभिधायिनो व्याघातमुपेक्ष्य विशेषप्रदर्शनं ज्यायः, उद्भटापराधोपेक्षणायोगात्। तद्धर्मविपर्ययोपपत्तिप्रक्रियासिद्धी तु विपर्ययेणापि व्याख्यातुं शक्येते। प्रमाणान्तरबाधदेशनाभासवच्च प्रमाणान्तरप्रतिरोधदेशनाभासोऽपि सङ्ग्राह्यः। तथा च तदर्थमपि सूत्रमनुसन्धानीयमिति न कश्चिद्विशेषः। यथा हि पीताद्यन्तरितसितिमानं शङ्खमुपलभ्य शुक्लोऽयं शङ्खत्वात्, इतरशङ्खवदित्युक्ते जातिवाद्याह–

नायं तथा, पीतस्योपलब्धेः। न चेदिदं बाधकं, त्वदनुमानमपि न साधनं, प्रमाणत्वेनाविशेषात् इति। तथा प्रतिरोधेनापि प्रत्यवतिष्ठते। यावदनुमानात् शुक्लः तावत् प्रत्यक्षात् पीत एवायं कस्मान्न स्यात्। अस्ति च तदस्मिंस्तथा प्रतिभासमानत्वात्। न च अस्ति कश्चिद्विशेष इति। एवं शब्दोपमानयोरपि द्रष्टव्यम्। न चायं केवलनिरनुयोज्यानुयोगः, प्रत्यक्षादेराभासत्वादिति वाच्यम्। अनाभासत्वेऽप्येवमुक्तेर्दुष्टत्वात् अनुमानवत् तथात्वे वा समस्सङ्ग्रह इति। तस्मादियं सत्प्रतिपक्षदेशनाभासा बाधदेशनाभासेति स्थितम्।

अनैकान्तिकदेशनाभा*सवार्तिक*न्तु साधनगतं समानधर्मत्वं धर्ममपेक्ष्य, न तु प्रतिसाधनमपेक्ष्य, तद्व्यभिचारानुद्भावनात्। अनिर्णायकार्थो वाऽनैकान्तिकशब्दः। तदनयोः प्रतिसाधनद्वारं हेतुर्दूष्यः, सत्प्रतिपक्षत्वमारोप्यम्। तद्भ्रान्तिः फलम्। यदि न मदुक्तो हेतुः तदा त्वदीयस्य प्रतिरोधादसाधनत्वम्। न चेत् विशेषादसाधनत्वमित्युभयथा दूषकत्वम्। प्रमादप्रतिभाक्षयौ चावसरः सर्वत्र।

दुष्टत्वमूलन्तु चिन्त्यते, द्विविधं हि तत्साधारणमसाधारणञ्च। तत्र प्रथमं, नानाप्रकारो व्याघातो वक्ष्यते। द्वितीयं, युक्ताङ्गहीनत्वं, युक्ताङ्गाधिकत्वं, अविषयवृत्तित्वञ्चेति। तत्रानयोर्युक्ताङ्गहीनत्व प्रदर्शनार्थं सूत्रम्।

गोत्वाद्गोसिद्धिवत्तत्सिद्धिः।५।१।३।

गोसिद्धिः गोव्यवहारसिद्धिरित्यर्थः। इहैवं प्रत्युत्तरक्रमः–यदिदं तव नियमानपेक्षप्रत्यवस्थानं तत् किं स्वाभिप्रायेण वा पराभिप्रायेण वा? नाद्यः, व्याघातात्। तथाहि, नेदं स्वासाध्यबुद्धिजनकं नियमानपेक्षप्रतिधर्मप्रतिहतत्वादिति जातिद्वयवाक्यार्थः। स च जात्युत्तरमपि व्याप्नोति। नेदं दूष्यं दुष्टत्वबुद्धिजनकं, नियमानपेक्षप्रतिधर्मप्रतिहतत्वात्। तथा च व्याघातोपाधिव्याप्ततयाऽस्य जीवितमेव कुतः, प्रागेव स्थापनादूषकत्वम्। न चैवमुभयमप्यस्त्यदुष्टं, जातेरदूषकत्वस्थितौ हेतोर्निर्दोषत्वात्। दूषणान्तरदूष्यत्वे वा तदेव वाच्यम्। उभयथापीदमदोषोद्भावनम्। यद्वा, इदं उत्तरम्– यदि न स्थापनादूषकत्वानियतं किमनेन? अथ नियममुपलभ्योच्यते, तर्हि हृदि नियमो, वाचि तद्विपर्यय इति वाङ्मनसयोर्विसंवादः। यद्वा, दूषणसमर्थोऽयमर्थ इति न चेज्जानासि, तदर्थं वाक्यप्रयोगो व्याहतः, ज्ञानपूर्वकत्वात्तस्य। न च सामर्थ्यज्ञानं लिङ्गमन्तरेण। तच्च प्रतिधर्ममात्रप्रतिहतमसाधकमेवेति जानन् कथमाद्रियेथाः। तथाप्यदुष्टत्वे तस्यान्यदपि लिङ्गं कथं तथा दूषयेदिति व्याघातपरम्परा। नापि पराभिप्रायेण। परस्यैवमनभ्युपगमादिति सूत्रार्थः।३।

[उत्कर्षसमादिजातिषट्कप्रकरणम्]

साध्यदृष्टान्तयोर्धर्मविकल्पादुभयसाध्यत्वाच्चोत्कर्षापकर्ष-

वर्ण्यावर्ण्यविकल्पसाध्यसमाः।५।१।४।

'वर्ण्यावर्ण्यसाध्ये'ति भावप्रधानो निर्देशः। समाख्या निमित्तविशेषात् पञ्चलक्षंणानि। 'उभयसाध्यत्वादि'ति षष्ठः। 'साध्यदृष्टान्तयोर्धर्म विकल्पादि'ति अतिप्रसङ्गनिवारणार्थम्, जनकधर्मप्रदर्शनेनोक्तिसंभव ख्यापनार्थञ्च। न हि युक्त्याभासमप्रतिसन्धायैवमेवोत्कर्षादिना प्रत्यवस्थातुमर्हति, सर्वेण सर्वोत्कर्षादिप्रसङ्गात्। कः पुनरयं धर्मविकल्पः? वैचित्र्यम्, अन्यथाभावः सदसत्त्वमिति यावत्। तत्रोत्कर्षसमे तावत् दृष्टान्ते साध्ये च व्याप्यव्यापकयोरन्यतरेण धर्मान्तरस्य योगवियोगौ। उभयत्रापि वियोगे योगे चोत्कर्षाभावात्।

अनित्यं घटादि रूपादिमत् अश्रौत्रं वा दृष्टं, शब्दोऽपि तथा स्यादविशेषात्। तथा च विवक्षितविपरीतसाधनात् विरुद्धो हेतुरिति। तदस्याः साध्यधर्मिणि वियुक्तस्य धर्मस्य दृष्टान्तधर्मिणि सिषाधयिषितधर्म-योगोपलम्भो व्यभिचारानुपलम्भो वा तन्निदानोपाध्यनुपलम्भमात्रं वा कारणं हेतुर्दूष्यः। विरुद्धत्वमारोप्यम्। तद्भ्रान्तिः फलम्। विशेष-विरोधदेशनाभासा चेयम्। द्विविधा च सद्विषयासद्विषयत्वात्। अयमेव जनको धर्मोऽपकर्षेऽपि केवलं व्यापकत्वाभिमानेनैकधर्मनिवृत्त्या साध्ये सिषाधयिषितहेत्वोरन्यतरस्यापकर्षः। दार्ष्टान्तिके व्याप्त्यनभ्युपगमेन दृष्टान्ते तदपकर्षस्या-सम्भवदुक्तित्वात्। धर्मान्तरापकर्षे प्रकृतादूषणे अर्थान्तरमतानु-ज्ञयोरन्यतरेणैव निग्रहात्। जातेश्च निरनुयोज्यानुयोगभेदतया ततो भिन्नत्वात्। सिषाधयिषतापकर्षे तु व्यापकानुपलब्धिलक्षणानुमानान्तरबाधदेशना स्यात्। हेत्वपकर्षे चासिद्धिदेशनाभासा। कथं पुनर्दृश्यमानस्यैव हेतोरपकर्षः, व्यापकानुपलब्धिदार्ढ्यानुमानेन दर्शनस्य भ्रान्तत्वारोपणात्। अत एव ईश्वरानुमानेऽपि विशेषविरोधचोदनायां *शङ्कराचार्य*प्रभृतयः सर्व एव शरीर्याद्यापत्तिमुत्कर्षसमां वर्णयन्तिस्म। तद्व्यावृत्तेश्च कर्तृव्यावृत्तिमपकर्ष-समम्। तस्मात् प्रत्यवस्थानमात्रप्रदर्शनार्थे *भाष्यवार्तिक*योरुदाहरणे। मिथोविरोधान्निग्रहान्तरत्वाच्च।

अत एव *टीकाकार*स्तत्र तूष्णीं बभूव। कार्यसमायां तु गत्वा *दिङ्ना*गोदाहरणमुत्कर्षापकर्षयोरन्तर्भावयन्निममेवार्थं व्यञ्जयति स्म, हेत्वपकर्षश्च तत्र स्फुटः। तदस्याव्यापकत्वाभिमतानुपलब्धिर्द्वारम्। दूष्यो हेतुरेव।

साध्यापकर्षे बाधः सत्प्रतिपक्षत्वं वा हेत्वपकर्षे त्वसिद्धत्वमारोप्यम्। आरोप्यदेशनाभासा चेयमिति।

ख्यापनीयो वर्ण्यः साध्य इति यावत्। पक्षोपसंहार्यहेतुमत्तया सिद्धस्य दृष्टान्तस्य दृष्टान्तानपेक्षपक्षमात्रविवक्षितरूपवद्धेतुमत्तया असिद्धिर्धर्म-विकल्पः। तस्मात् वर्ण्यत्वेन प्रत्यवस्थानं वर्ण्यसमः। असिद्धस्वार्थत्वं संशय-समानविषयत्वं, प्रवृत्तसाध्यज्ञापनशक्तिकत्वं, व्याप्तिग्राहकप्रमाणविरहः, स्वरूपविशेषश्चेति हेतोः पक्षमात्रविवक्षिता धर्माः। न त्वेतेऽतिसंस्पृष्ट दृष्टान्ता एवापेक्षिताः, तदियमेवं प्रवर्तते।

साध्यासिद्ध्यौपयिकसमस्तविशेषणवद्धेतुमत्तया दृष्टान्तः स्यात्। न त्वन्यथा। असिद्धार्थत्वादयश्च हेतोः साध्यसिद्धौपयिकाः। तद्यदि पक्षवदसिद्धार्थहेतुमान् अयं तर्हि साध्यधर्मवत्तया ख्यापनीयः स्यात्। न हि साध्यविकलो दृष्टान्तो नाम। अथ न तथा, तथापि पक्षविवक्षितहेतु रूपवत्तया ख्यापनीयः। न हि साधनविकलो दृष्टान्तः स्यादिति। एवमन्यत्रापि रूपचतुष्टये बोद्धव्यम्।

अस्याश्च पक्षविवक्षितो हेतुविशेषो द्वारं, दूष्यो दृष्टान्तः, तद्द्वारा हेतुर्वा साध्यविकलत्वसाधनविकलत्वे वा विरुद्धत्वासाधारणत्वे वा आरोप्ये। तद्भ्रान्तिः फलम्। तच्चोदनाभासा चेयमिति।

इयमेव विपर्ययेण रीतिरवर्ण्यसमस्य। तथाहि पक्षधर्मतौपयिकरूप वद्धेतुमत्तया सिद्धस्यापि पक्षस्य दृष्टान्तविवक्षितरूपवद्धेतुमत्तयाऽ सिद्धिर्धर्मविकल्पः। तस्मादवर्ण्यत्वेन प्रत्यवस्थानमवर्ण्यसमः। सिद्धार्थत्वमसन्दिग्धविषयत्वं, अप्रवृत्तसाध्यज्ञापनशक्तिकत्वं, साध्यसाधनप्रमाणान्तरवत्ता स्वरूपविशेषश्चेति। एते हि हेतुधर्मा दृष्टान्ते विवक्षिताः, न तु पक्षे। तदिदं द्वारं, दूष्यो हेतुः, आश्रयासिद्धिस्वरूपा सिद्धिव्याप्यत्वासिद्धयश्चारोप्याः, तद्भ्रान्तिः फलम्, तदाभासा चेयमिति। एवञ्च प्रवर्तते यदि दृष्टान्तवत्सिद्धार्थः पक्षो न तर्हि ख्यापनीयस्तस्य सिद्धार्थत्वात्। तथा चापक्षधर्मो हेतुः। अथ न तथा, तथापि न ख्यापनीयः। तादृशहेतुमत्तयाऽननुसंगृहीतत्वात्। तथा च स्वरूपासिद्धो हेतुरित्यादि। विकल्पसमायान्तु हेतोर्धर्मान्तरं प्रति वा धर्मान्तरस्य साध्यधर्मं प्रति वा धर्मान्तरस्यैव धर्मान्तरं प्रति वा व्यभिचारो धर्मविकल्पः। स च दृष्टान्तधर्म

भेदेन वा यथा *भाष्ये* गुरुलघुत्वं, साध्यदृष्टान्तभेदेन वा यथा *वार्तिके* विभागजत्वाविभागत्वं, साध्यमात्रभेदेन वा यथा वाङ्मनसपक्षीकरणे मूर्तामूर्त्तत्वमिति। अनयैव दिशा धर्मान्तरस्य साध्यधर्मं प्रति व्यभिचारो द्रष्टव्यः। यथा अनित्यः शब्दः कृतकत्वादित्युक्ते प्रमेयत्वे समानेऽपि, यथा किञ्चिन्नित्यमाकाशादिकं किञ्चिदनित्यं घटादि तथा कृतकत्वे समानेऽपि किञ्चित् अनित्यं भविष्यति घटादि, किञ्चिन्नित्यं शब्दादि। एवं च धर्मान्तरस्य धर्मान्तरं प्रति व्यभिचारो वाच्यः। तद्यथा अत्रैव प्रयोगे द्रव्यत्वे समाने यथा किञ्चिदुष्णं तेजः, किञ्चिदनुष्णं जलादि। तथा कार्यत्वे समानेऽपि किञ्चिन्नित्यं भविष्यति शब्दादि, किञ्चिदनित्यं घटादि। तदत्र साध्यदृष्टान्तयोरिति प्रत्येकसमुदायोपलक्षकतया योजनीयम्। तस्मात् साध्यव्यभिचारव्यवस्थापनं विकल्पसमः। तदिदं द्वारं, हेतुर्दूष्यः, अनैकान्तिकत्वमारोप्यं, तदाभासा चेयमिति।

साध्यसमायास्तूभयसाध्यत्वं द्वारम्। किं पुनः तदुच्यते पक्षहेतुदृष्टान्ताः हि प्रमाणान्तरसिद्धा अनुमानाङ्गं नासिद्धाः। न च तत एव सिद्धाः। सिषाधयिषितस्तु पक्षे असिद्धः, तत एव सेत्स्यतीति। तदिदं सिद्धमसिद्धमुभयं तत्त्वं धर्मविकल्पः, तत्समुच्चये चकारः। तत्र सिषाधयिषितवत् सिद्धस्याप्यनुमेयत्वं साध्यत्वम्। तस्मादनुमानप्रयोगप्रसञ्जनं साध्यसमः। कथमेतत्? लिङ्गस्य तत्प्रतिपत्तिजनकत्वमेव हि तस्यानुमेयत्वम्। तच्च दृष्टान्ते साध्यप्रयोजकत्वाभ्युपगमात् साधनधर्मस्य धर्मिलिङ्गयोस्तु लैङ्गिकप्रतिपत्त्यन्तर्भावाभ्युपगमात्। तथा ह्येवं प्रयुज्यते उभयधर्मवत्तया सिद्धो हि दृष्टान्तः स्यात्। न च प्रस्तुतोपन्यस्तस्य प्रमाणान्तरं साधकं, लिङ्गस्य अप्रयोजकत्वप्रसङ्गात्। नहि तत्साधनादन्यदस्य प्रयोजकत्वम् नाम तस्मात् तत्सिद्धयेऽप्येतदेव प्रयोक्तव्यम्। तच्च यावन्न प्रयुज्यते तावत् साध्यविकलो दृष्टान्तः। एवं नासिद्धौ लिङ्गधर्मिणावनुमानाङ्गम्। न च तत्सिद्धये प्रमाणान्तरं प्रभवति, लिङ्गस्य तत्राप्रयोजकत्वप्रसङ्गात्। तथा च तस्य साध्येऽप्यप्रयोजकत्वापत्तेः, तदेकप्रतिपत्तिकत्वात्तस्य। न हि लिङ्गिधर्मिणावपोह्य साध्यप्रतिपत्तिः। तस्मात् तत्सिद्धयेऽप्येतदेव प्रयोक्तव्यम्। तथा च तत्प्रयोगात् पूर्वं धर्मिणोरसिद्धेराश्रयासिद्धिः। दृष्टान्तासिद्धेर्व्याप्यत्वासिद्धिः। लिङ्गासिद्धेः स्वरूपासिद्धिरित्येवं त्रिप्रकारेयम्।

तदस्या उभयसाध्यत्वं द्वारम्। हेतुदृष्टान्तौ दूष्यौ साध्यविकलत्वात्सिद्धी आरोप्ये, तदाभासा चेयमिति।

आसां दुष्टत्वमूलचिन्तासूत्रम्–

किञ्चित्साधर्म्यादुपसंहारसिद्धेर्वैधर्म्यादप्रतिषेधः। ५। १। ५।

अत्रैवं प्रत्युत्तरक्रमः। भवेदप्येवं यदि वयमनित्यत्वसहचरितं कृतकत्वं घटे दृष्टं शब्दे धर्मिण्युपलभमानाः तत्रानित्यत्वमुपसंहरामः। न त्वेवं, किन्तु तेन व्याप्तं तदिति। एवं यदि रूपादिमत्त्वेन तद्व्याप्तं भवेत्, कस्ततोऽस्योत्कर्षं नेच्छेत्। न त्वेवम्, तदिदमुक्तं किञ्चित्साधर्म्यान्नियतादित्यर्थः।

उपसंहारः साध्यधर्मस्य। वैधर्म्याद्विशेषमात्रादनियतान्न प्रतिषेधः विपरीतसिद्धिरूप इत्यर्थः। तवायमभ्युपगमो न ममेति चेत्, एवं तर्हि नेदं साधकमुत्कर्षमात्रदुष्टत्वादिति जातिवाक्यार्थः स्यात्। तथा च पूर्ववत् स्वोक्तिव्याघातो वाच्यः। एवमपकर्षसमेऽपि वैधर्म्यादनियामकधर्मव्यावृत्तेर्न प्रतिषेधः, साध्यहेत्वोः अपकर्षरूप इति सूत्रावयवार्थः। एवमनभ्युपगमे तु स एव व्याघातः। एवं वर्ण्यसमेऽपि। किञ्चित्साधर्म्यात् साध्यसामान्य-नियमौपयिकात् सपक्षगतया हेतुव्यक्त्या पक्षगताया हेतुव्यक्तेरुपसंहार-सिद्धेर्वैधर्म्यादसिद्धत्वादेरप्रतिषेधः। न हि व्याप्त्यौपयिकं तत्। अपि तु पक्षधर्मत्वौपयिकं व्याप्त्यौपयिकञ्च सपक्षेऽपि विवक्षितं न तु अन्यत्। एवम् अनभ्युपगमे तु स एवाव्यावृत्तो व्याघातः। यथोक्तवर्ण्यत्वस्य दूषणवाक्यार्थव्याप्तेरिति। एवं विपर्ययेणावर्ण्यसमेऽपि हेतुव्यक्तेर्दृष्टान्तगतया हेतुव्यक्त्या किञ्चित् साधर्म्याद् व्याप्यसामान्यवत्त्वलक्षणादुपसंहार-सिद्धेर्वैधर्म्यात् सिद्धार्थत्वादेरप्रतिषेधः। नहि तत्सपक्षे तल्लिङ्गमिति पक्षेऽपि। तथा सति पक्षत्वव्याघातात्। व्याहन्यतां तदिति चेत्। एवमभ्युपगमे दूषणस्यैव व्याघातात्। एवंभूतेनावर्ण्यत्वेन तस्यापि व्याप्तेरित्यादि।

तदनयोरविषयवृत्तित्वं दुष्टत्वमूलम्। असिद्धार्थत्वादीनाम् लिङ्गधर्माणां पक्षैकविषयाणां सपक्षे नयनात्। सिद्धार्थत्वादीनाञ्च सपक्षैकनियतानां पक्षे नयनादिति। एवं विकल्पसमेऽपि कञ्चित्साधर्म्यात् केनचिद् व्याप्तत्वाल्लिङ्गस्य तत्सिद्धेः पक्षोपसंहारसिद्धेः। वैधर्म्यादर्थान्तरेणा-व्याप्तत्वादप्रतिषेधः। न ह्येकेन व्याप्तं सर्वमित्यभ्युपगमः। नाप्येकव्यभिचारे

सर्वव्यभिचार इति नियमः। तथात्वे वा स्वोक्तिव्याघात इत्येवमादि। अत्राप्यविषयवृत्तित्वं दुष्टत्वमूलम्। व्यभिचारादसाधकमित्युचितम्। किन्तु तत्रैव न त्वन्य व्यभिचारादन्यत्रेति। साध्यसमे तु प्रमाणान्तरसिद्धेन दृष्टान्तेन प्रमाणान्तरसिद्धस्य पक्षस्य प्रमाणान्तरसिद्धात् किञ्चित्साधर्म्यात् व्याप्तात् साध्यधर्मोपसंहारसिद्धेर्वैधर्म्यात् तल्लिङ्गासिद्धत्वादप्रतिषेधः।

नहि पक्षसपक्षलिङ्गानां तत एव लिङ्गात् सिद्धिरनुमानाङ्गं चक्रकेतरेतराश्रयप्रसंगात्। न च एवमस्तु इति वाच्यम्, स्वोक्तिव्याघातात्। दुष्टस्यानङ्गत्वात्। अङ्गत्वे वा दोषानवकाशात्। दूषणद्वारकश्च व्याघातः पूर्ववत्। तस्याप्येवंभूतसाध्यत्वाक्रान्तेः। तदिदमयुक्ताङ्गाधिक्यं पक्षसपक्षहेतूनां सिद्धानामनुमानाङ्गत्वमुचितमेव तल्लिङ्गसिद्धत्वं तु अयुक्तमिति। न त्वेवं सति लिङ्गमप्रयोजकं स्यात्, साध्यस्यान्यत एव सिद्धेरित्युक्तम्। न वैतत्सिद्धिजनकत्वमेवास्य प्रयोजकत्वम्। किन्तु निरुपाधिः सम्बन्धः। अन्यथा हि प्रयोजकत्वव्याघात एव स्यादिति। तदिदमुक्तं किञ्चित्साधर्म्यात् प्रयोजकाद् व्याप्तादित्यर्थः।

वर्ण्यावर्ण्यसाध्यसमानां समाधानान्तरमाह —

साध्यातिदेशाच्च दृष्टान्तोपपत्तेः।५।१।६।

अस्यैवमुत्थानं किं दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकभावमुभयोरभ्युपेत्योभयसाध्यत्वादिति प्रत्यवस्थानमन्यथा वा। अन्यथात्वे धर्मविकल्पो नास्ति; कुतो जातेरुत्थानम्? अभ्युपगमे तु अतिदिश्यमानधर्माधारो दृष्टान्तः, सिद्धेन च अतिदेशो भवति नासिद्धेनेति न्यायात् प्रसञ्जितव्याघातः। यदि हि तद्धर्मातिदेशः, कथं तस्य साध्यत्वं, तच्चेत् कथं तेनातिदेशः? तस्मात्साध्यातिदेशाभ्युपगमाद् दृष्टान्तस्योपपत्तिरभ्युपगमो यतः, ततो न प्रतिषेधोपपत्तिः। यद्वा, दृष्टान्तस्योपपत्तेः सिद्धेः साध्यातिदेशो यतस्तस्मात् प्रतिषेधानुपपत्तिरिति।

(प्राप्त्यप्राप्तियुगनद्धवाहिविकल्पोपक्रमजातिद्वयप्रकरणम्)

प्राप्यसाध्यमप्राप्य वा हेतोः प्राप्त्याविशिष्टत्वाद् अप्राप्त्यासाधकत्वाच्च प्राप्त्यप्राप्तिसमौ।५।१।७।

साधकत्वमिति विकल्पशेषः, जात्युत्थानकथनाय विकल्पोपक्रमः।

साध्यं कार्यं ज्ञाप्यं च। प्राप्तिः प्रत्यासत्तिः। सा च संयोग-समवाय-विशेषणत्व-व्याप्यत्व-विषयत्वाद्यनेकप्रकारेष्वेकतमा। अविशेषः सिद्धत्वम्। तच्च कार्यविषये सत्त्वं, ज्ञाप्यविषये ज्ञातत्वम्। तदियमेवं प्रवर्तते। लिङ्गज्ञानयोर्हि कार्यमनुमितिज्ञानं, अप्राप्य च कार्यकरणे करणस्याति-प्रसङ्गात् प्राप्य करणं वक्तव्यं सच्च प्राप्यते नासत्, विशेषे किं कस्य कारणं कार्यं वेति निष्फलमनुमानम्।

एवमप्राप्यज्ञापनेऽतिप्रसङ्गात् प्राप्यज्ञापनं वक्तव्यं, लिङ्गवच्च ज्ञानमपि ज्ञापकं, न च लिङ्गिना तस्य संयोगादिलक्षणा प्राप्तिरस्ति, ततो विषयित्वमेव वक्तव्यम्। तथा च लिङ्गपरामर्श एव लिङ्गिनः स्फुरणे ज्ञातत्वाविशेषात् किं कस्य ज्ञापकं ज्ञाप्यं वेति निष्फलमनुमानम्। एते एव विपर्ययेणाप्राप्तिसमे। तथाहि, प्राप्त्याविशेषादकरणे अज्ञापने वा अप्राप्य कारणं ज्ञापनं च वक्तव्यं, तच्चायुक्तमतिप्रसङ्गात्। तदुक्तं न ह्यप्राप्य बह्निर्दहति इति करणे। न ह्यप्राप्य प्रदीपः प्रकाशयतीति ज्ञापने। *अन्ये* तु विशेषव्याप्तिप्रतिक्षेपेणैवमाहुः।

एवं हि प्रवर्तते – साधनविशेषः साध्यविशेषेण व्याप्तो न वा? न चेन्न तं गमयेत्, अतिप्रसङ्गात्। व्याप्तश्चेन्नाज्ञातस्तथा तं गमयितुमर्हति, अतिप्रसङ्गात्। ततो लिङ्गविशेषवत् साध्यविशेषोऽपि प्रागेवावगन्तव्यः। तन्निरूप्यत्वात् व्याप्तेः। तथा चानुमानमनर्थकमिति प्राप्तिसमा। द्वितीया तु करणादि हि कर्मप्रत्यासन्नं सत्साध्यसाधनसमर्थं, लिङ्गपरामर्शश्च करणम्। न चास्य साध्यविशेषेण प्रत्यासत्तिरस्ति, ततो न साधनमिति। किमत्र तत्त्वं सर्वमियमेवेति नियमस्त्वनुपपन्नः, अवान्तरवचनभङ्गिभेदाना मनन्तत्वात्। लक्षणन्तु प्राप्तावविशेषणप्रतिक्षेपः। अप्राप्तावतिप्रसङ्गेनेति। तदत्र प्राप्तिसमायां द्वारम् अप्राप्तावसाधनत्वपरिशेषः। हेतुप्रयोगो दूष्यः साधनन्यायातिपातेनासाधनत्वमारोप्यं, तच्चोचितकाललक्षणसहकारि विरहाद्विशेषणासिद्धत्वं तद्देशनाभासा चेयमिति। अप्राप्तिसमायास्तु द्वारं प्राप्तावविशेषः। परिशेषो वा अकारकत्वं वा हेतुर्दूष्यः। प्राप्तिलक्षण-विशेषणासिद्धिः आरोप्या, तद्देशनाभासा चेयमिति।

दुष्टत्वमूलचिन्ता सूत्रम् –

घटादिनिष्पत्तिदर्शनात्पीडने चाभिचारादप्रतिषेधः।५।१।८।

इहैवं प्रत्युत्तरक्रमः – कृतिपक्षे किं भवान् कारणानामन्योन्येन प्राप्तिमभिप्रैति, फलेन वा? प्रथमे सत्वेनाविशेषो गुण एव। मृत्प्राप्तैर्दण्डादिभिर्घटादिनिष्पत्तिदर्शनात्, सत्प्राप्तेश्च। तथापि मिथः प्राप्तानां स्वरूपाभेदः स्यात्, गङ्गासागरवदिति चेन्न। मिथः प्राप्तैरपि असङ्कीर्णस्वरूपैरेव दण्डादिभिर्घटादिनिष्पत्तिदर्शनात्। न द्वितीयोऽनभ्युपगमात्। नहि फलेन साधनानां प्राप्तिं तदुत्पत्त्यङ्गमभ्युपगच्छामः। कुत इति चेत्; अप्राप्तैरेव साधनैर्घटादिनिष्पत्तिदर्शनात्। अतिप्रसङ्गभिया मम तावदेवमनभ्युपगम इति चेत्, न; घटादिनिष्पत्तिदर्शनात्। अन्तत आदिपदसङ्गृहीतस्य त्वदभ्युपगतस्याप्राप्तैरेव साधनैर्निष्पत्तिदर्शनादित्यर्थः।

न चातिप्रसङ्गः, कारणशक्तेर्नियतत्वात्, कालदेशयोरपि समाधाननियतत्वात्। कुत एतत्? घटादिनिष्पत्तिदर्शनादेवेति। तदिदमयुक्ताङ्गाधिकत्वम्। फलप्राप्तेरयुक्ताया एव साधनाङ्गत्वेन स्वीकारात्। ज्ञप्तिपक्षे तु लिङ्गस्य धर्मिणा संयोगादिः, साध्यधर्मेण सर्वोपसंहारवत् व्याप्त्यन्तर्भावश्च प्राप्तिरस्ति ज्ञायते च। विशेषतो व्याप्तेरज्ञानमिति चेत्, किमतो न ह्यनुमितौ विशेषयोर्व्याप्तिज्ञानमुपयुज्यते। कुत इति चेत्, लिङ्गेन घटादिनिष्पत्तिदर्शनात्।

आदिपदसङ्गृहीतेनासाधकत्वानुमानेन विशेषासाधकत्वसिद्धेस्त्वयैवाभ्युपगमाच्च। अनुत्थानं चोत्तरस्य। तदिदमविषयवृत्तित्वं व्याप्तिज्ञानं ह्यङ्गमेव, न तु विशेषविषयम्। अयुक्ताङ्गाधिकत्वं वा विशेषव्याप्तिज्ञानस्य अनङ्गत्वादिति। तथापि लिङ्गज्ञानस्य न साध्यधर्मेण प्राप्तिरस्तीति चेत्, किं विषयित्वलक्षणा नास्ति, अहोस्विदन्यापि। न प्रथमः। प्रतिपत्त्यनुबन्धाभावेऽपि व्यापारानुबन्धस्य सत्वात्। स एव कथ मिति चेत्, तद्व्याप्तविषयत्वात्। अत एव न द्वितीयः। एवंभूतायाः प्राप्तेः सत्त्वादिति। एवमभ्युपगमे वा अनुत्थानमुत्तरस्य। तदिदमयुक्ताङ्गाधिकत्वं लिङ्गज्ञानस्य साध्यधर्मविषयत्व लक्षणाङ्गानङ्गीकारात्। अविषयवृत्तित्वं वा लिङ्गज्ञानं ह्यङ्गमेव, न तु साध्यविषयतयेति।

एतेनाप्राप्तिसमापि निरस्तैव। अपि च सर्वथैवाप्राप्तस्यासाधकत्वं

साध्यं कार्यं ज्ञाप्यं च। प्राप्तिः प्रत्यासत्तिः। सा च संयोग-समवाय-विशेषणत्व-व्याप्यत्व-विषयत्वाद्यनेकप्रकारेष्वेकतमा। अविशेषः सिद्धत्वम्। तच्च कार्यविषये सत्त्वं, ज्ञाप्यविषये ज्ञातत्वम्। तदियमेवं प्रवर्तते। लिङ्गज्ञानयोर्हि कार्यमनुमितिज्ञानं, अप्राप्य च कार्यकरणे करणस्यातिप्रसङ्गात् प्राप्य करणं वक्तव्यं सच्च प्राप्यते नासत्, विशेषे किं कस्य कारणं कार्यं वेति निष्फलमनुमानम्।

एवमप्राप्यज्ञापनेऽतिप्रसङ्गात् प्राप्यज्ञापनं वक्तव्यं, लिङ्गवच्च ज्ञानमपि ज्ञापकं, न च लिङ्गिना तस्य संयोगादिलक्षणा प्राप्तिरस्ति, ततो विषयित्वमेव वक्तव्यम्। तथा च लिङ्गपरामर्श एव लिङ्गिनः स्फुरणे ज्ञातत्वाविशेषात् किं कस्य ज्ञापकं ज्ञाप्यं वेति निष्फलमनुमानम्। एते एव विपर्ययेणाप्राप्तिसमे। तथाहि, प्राप्त्याविशेषादकरणे अज्ञापने वा अप्राप्य कारणं ज्ञापनं च वक्तव्यं, तच्चायुक्तमतिप्रसङ्गात्। तदुक्तं न ह्यप्राप्य बह्निर्दहति इति करणे। न ह्यप्राप्य प्रदीपः प्रकाशयतीति ज्ञापने। *अन्ये* तु विशेषव्याप्तिप्रतिक्षेपेणैवमाहुः।

एवं हि प्रवर्तते – साधनविशेषः साध्यविशेषेण व्याप्तो न वा? न चेन्न तं गमयेत्, अतिप्रसङ्गात्। व्याप्तश्चेन्नाज्ञातस्तथा तं गमयितुमर्हति, अतिप्रसङ्गात्। ततो लिङ्गविशेषवत् साध्यविशेषोऽपि प्रागेवावगन्तव्यः। तन्निरूप्यत्वात् व्याप्तेः। तथा चानुमानमनर्थकमिति प्राप्तिसमा। द्वितीया तु करणादि हि कर्मप्रत्यासन्नं सत्साध्यसाधनसमर्थं, लिङ्गपरामर्शश्च करणम्। न चास्य साध्यविशेषेण प्रत्यासत्तिरस्ति, ततो न साधनमिति। किमत्र तत्त्वं सर्वमियमेवेति नियमस्त्वनुपपन्नः, अवान्तरवचनभङ्गिभेदानामनन्तत्वात्। लक्षणन्तु प्राप्तावविशेषणप्रतिक्षेपः। अप्राप्तावतिप्रसङ्गेनेति। तदत्र प्राप्तिसमायां द्वारम् अप्राप्तावसाधनत्वपरिशेषः। हेतुप्रयोगो दूष्यः साधनन्यायातिपातेनासाधनत्वमारोप्यं, तच्चोचितकाललक्षणसहकारिविरहाद्विशेषणासिद्धत्वं तद्देशनाभासा चेयमिति। अप्राप्तिसमायास्तु द्वारं प्राप्तावविशेषः। परिशेषो वा अकारकत्वं वा हेतुर्दूष्यः। प्राप्तिलक्षण-विशेषणासिद्धिः आरोप्या, तद्देशनाभासा चेयमिति।

दुष्टत्वमूलचिन्ता सूत्रम् –

घटादिनिष्पत्तिदर्शनात्पीडने चाभिचारादप्रतिषेधः।५।१।८।

इहैवं प्रत्युत्तरक्रमः – कृतिपक्षे किं भवान् कारणानामन्योन्येन प्राप्तिमभिप्रैति, फलेन वा? प्रथमे सत्वेनाविशेषो गुण एव। मृत्प्राप्तैर्दण्डादिभिर्घटादिनिष्पत्तिदर्शनात्, सत्प्राप्तेश्च। तथापि मिथः प्राप्तानां स्वरूपाभेदः स्यात्, गङ्गासागरवदिति चेन्न। मिथः प्राप्तैरपि असङ्कीर्णस्वरूपैरेव दण्डादिभिर्घटादिनिष्पत्तिदर्शनात्। न द्वितीयोऽनभ्युपगमात्। नहि फलेन साधनानां प्राप्तिं तदुत्पत्त्यङ्गमभ्युपगच्छामः। कुत इति चेत्; अप्राप्तैरेव साधनैर्घटादिनिष्पत्तिदर्शनात्। अतिप्रसङ्गभिया मम तावदेवमनभ्युपगम इति चेत्, न; घटादिनिष्पत्तिदर्शनात्। अन्तत आदिपदसङ्गृहीतस्य त्वदभ्युपगतस्याप्राप्तैरेव साधनैर्निष्पत्तिदर्शनादित्यर्थः।

न चातिप्रसङ्गः, कारणशक्तोर्नियतत्वात्, कालदेशयोरपि समाधाननियतत्वात्। कुत एतत्? घटादिनिष्पत्तिदर्शनादेवेति। तदिदमयुक्ताङ्गाधिकत्वम्। फलप्राप्तेरयुक्ताया एव साधनाङ्गत्वेन स्वीकारात्। ज्ञप्तिपक्षे तु लिङ्गस्य धर्मिणा संयोगादिः, साध्यधर्मेण सर्वोपसंहारवत् व्याप्त्यन्तर्भावश्च प्राप्तिरस्ति ज्ञायते च। विशेषतो व्याप्तेरज्ञानमिति चेत्, किमतो न ह्यनुमितौ विशेषयोर्व्याप्तिज्ञानमुपयुज्यते। कुत इति चेत्, लिङ्गेन घटादिनिष्पत्तिदर्शनात्।

आदिपदसङ्गृहीतेनासाधकत्वानुमानेन विशेषासाधकत्वसिद्धेस्त्वयैवाभ्युपगमाच्च। अनुत्थानं चोत्तरस्य। तदिदमविषयवृत्तित्वं व्याप्तिज्ञानं ह्यङ्गमेव, न तु विशेषविषयम्। अयुक्ताङ्गाधिकत्वं वा विशेषव्याप्तिज्ञानस्य अनङ्गत्वादिति। तथापि लिङ्गज्ञानस्य न साध्यधर्मेण प्राप्तिरस्तीति चेत्, किं विषयित्वलक्षणा नास्ति, अहोस्विदन्यापि। न प्रथमः। प्रतिपत्त्यनुबन्धाभावेऽपि व्यापारानुबन्धस्य सत्वात्। स एव कथ मिति चेत्, तद्व्याप्तविषयत्वात्। अत एव न द्वितीयः। एवंभूतायाः प्राप्तेः सत्त्वादिति। एवमभ्युपगमे वा अनुत्थानमुत्तरस्य। तदिदमयुक्ताङ्गाधिकत्वं लिङ्गज्ञानस्य साध्यधर्मविषयत्व लक्षणाङ्गानङ्गीकारात्। अविषयवृत्तित्वं वा लिङ्गज्ञानं ह्यङ्गमेव, न तु साध्यविषयतयेति।

एतेनाप्राप्तिसमापि निरस्तैव। अपि च सर्वथैवाप्राप्तस्यासाधकत्वं

साक्षादप्राप्तस्य वा। प्रथमे सिद्धसाधनं द्वितीयस्त्वनुपपन्नः, पीडने चाभिचारात्। दृष्टमेतत् यत्साक्षादप्राप्तस्यापि साधनत्वमिति। सोऽयं युक्ताङ्गत्यागः। अन्वयव्यतिरेकवत्याः परस्पर-प्राप्तेरवधीरणादिति।

(युगनद्धवाहिप्रसङ्गप्रतिदृष्टान्तसमजातिद्वयप्रकरणम्)

दृष्टान्तस्य कारणानपदेशात् प्रत्यवस्थानाच्च प्रतिदृष्टान्तेन प्रसङ्गप्रतिदृष्टान्तसमौ।५।१।९।

अनवस्थाभासप्रसङ्गः प्रसङ्गसमः। अनवस्था च ज्ञप्तौ च कृतौ च। तथा च दृष्टान्तपदं व्यवस्थिततत्वमुपलक्षयति। तदयमर्थः– कृतिज्ञप्त्यो र्व्यवस्थिततत्वस्य कारणं व्यवस्थापकं तस्यानपदेशात् प्रत्यवस्थानं प्रसङ्गसमः। तत्र ज्ञप्तौ प्रमाणेऽपि किं प्रमाणमिति वा, दृष्टान्तेऽपि को दृष्टान्त इति वा प्रवर्तते। किं पुनरेतदुत्थानबीजम्? अनिश्चितस्यानिश्चायकत्वाध्यारोपः। व्यञ्जितं चैतत् प्रमाणपरीक्षायां *सूत्रकारादिभिः*। लिङ्गस्य विशेषणान्तरवत् ज्ञातत्वमपि विशेषणम्।

तथा च तदपि ज्ञेयं तद्वदेवेत्यभिमानो वा। ततः पूर्वत्र स्वरूपासिद्धिः, उत्तरत्र-विशेषणासिद्धिः आरोप्या। कृतौ तु कारणस्यापि कारणान्तरं वक्तव्यम्। न हि तत्सर्वथैव नित्यं, कार्यस्यापि सदातनत्वप्रसङ्गात्। नाप्याकस्मिकं, हेतुतद्वतोरपि सदातनत्वप्रसङ्गात्। नापि स्वस्मादेव स्वस्मिन्, वृत्तिनिरोधात्। कार्यस्यापि स्वत एवोत्पत्तिप्रसङ्गाच्च। नाप्यसत एव कारणत्वं, प्रागपि कार्योत्पत्तिप्रसङ्गात्। एवं कारणकारणेऽपि चिन्तनीयम्। विपरीतप्रसक्तिका च तृतीया प्रसङ्गसमेति *केचित्*। यथा भूतले घटो नास्तीति। नाप्राप्तः प्रतिषिध्यत इति घटप्राप्तिप्रसङ्ग इत्येवमादि। तदशिष्यं, सूत्रस्यैवं भावयितुम् अशक्यत्वात्, प्राप्तिसमायामन्तर्भावाच्च। ज्ञाप्यमपि द्विविधं विधेयं प्रतिषेध्यञ्च। ज्ञापकमपि करणादिष्वन्यतमत्। ततः प्रतिषेधज्ञापकं करणमधिकरणं वा न प्रतिषेध्यमप्राप्य, तस्य प्राप्तिनिवृत्ति-लक्षणत्वात्। ततः प्राप्य वक्तव्यम्। तदपि नास्ति, अविशेषात्। को विशेषः? सत्वमिति। एतदपि असाम्प्रदायिकं, *भाष्यकारा*दिभिरनुदाहृतत्वादिति चेत्, न; *वार्त्तिककृतैव* प्रत्युत्तरसूत्रे दर्शितत्वात्। यदाह– तदिदमुत्तरं प्राप्याप्राप्य वेति। अस्यापि प्रतिषेध्यं प्राप्य वाऽप्राप्य वेति समानो दोष इति। तस्मात्

द्विविधैव प्रसङ्गसमा। सा चापाततोऽनवस्थालक्षणप्रतिकूलतर्कदेशनाभासा। हेतुपर्यन्तचिन्तायां पक्षे अप्रसिद्धविशेषणविशेष्योभयत्वेन, हेतौ स्वरूपासिद्धत्वेन, दृष्टान्ते साध्यसाधनोभयविकलत्वाप्रसिद्धाश्रयत्वेन तद्देशनाभासा, एवं व्यतिरेकेऽप्यूहनीयम्। किं पुनरेतदुत्थानबीजम्? कारणापेक्षामुखेनासत्वारोपः।

प्रत्यवस्थानाच्च प्रतिदृष्टान्तेन प्रतिदृष्टान्तसमः। प्रतीपम् अवस्थानात् प्रतिपक्षावस्थानादिति प्रयोज्यव्यापारमभिप्रेत्य। प्रयोजकव्यापारचिन्तने तु प्रतिदृष्टान्तेन केवलेन प्रतिपक्षावस्थानादिति। स्थापनाहेतोः प्रतिषेधः प्रतिदृष्टान्तसम इति। एवं पञ्चम्युपपत्तिः। प्रयोजको हि प्रतिदृष्टान्तः, प्रयोज्यो हि जातिवादी, तस्य व्यापारः प्रतिषेधः, चस्त्वर्थो लक्षणभेदं सूचयति। इयञ्च बाधप्रतिषेधाभ्यां द्विधा। केवलप्रतिदृष्टान्तबलेन प्रवृत्तेः प्रतिधर्मप्रकरणसमाभ्यां भिद्यते। किं पुनः उत्थानबीजमत्र? न हि युक्त्याभासमनन्तर्भाव्य प्रतिदृष्टान्तमात्रेण प्रतिरोधबाधावभिधातुमर्हति, अतिप्रसङ्गात्। सत्यमेवं हि मन्यते जातिवादी। येन धर्मेण यथात्वं दृष्टान्तस्य तेन तथात्वमुपसंहर्तुमुचितं दार्ष्टान्तिकस्य। तद्यथा, यथा देवदत्तो दीर्घः तथा यज्ञदत्तोऽपीति। न तु यथा चैत्रः काणः तथा मैत्रः खञ्ज इति। तद्वदनेनापि वादिना यथाऽनित्यो घटस्तथा शब्दोऽपीत्युपसंहार्यम्। न तु यथा घटोऽनित्य तथा चायं कृतकः शब्द इति। न ह्यनेन साधनं प्रधानीकृत्य दृष्टान्तस्य यथात्वमुपदर्शितम्। तस्माद्धेतुवादेऽप्रधानमनङ्गमेव अतिदेश इत्यभिमानो बीजमत्रेति। एवञ्च प्रवर्तते यदि घटदृष्टान्तबलेनाप्यनित्यः शब्दोऽथा- काशदृष्टान्तबलेन नित्य एव किं न स्यात्, न चास्ति कश्चिद्विशेषः। येन घट एव दृष्टान्तो नाकाश इति प्रतिरोधपक्षे। बाधपक्षे तु घटदृष्टान्तेन नानित्यः शब्द इति। आकाशदृष्टान्तबलेन नित्यस्यैव सिद्धेरिति। तदस्य हेतोः अप्रधानत्वेनानंङ्गत्वाभिमानो द्वारं, दूष्यो दृष्टान्तः, बाधप्रतिरोधा-वारोप्यौ, तद्देशनाभासा चेयमिति।

प्रसङ्गसमदोषचर्चासूत्रम्-

प्रदीपोपादानप्रसङ्गनिवृत्तिवत्तद्विनिवृत्तिः।५।१।१०।

इहैवं प्रत्युत्तरक्रमः। ज्ञातस्यैव ज्ञापकत्वमिति किमिदं युक्तिसिद्धं

लोकसिद्धं वा। नाद्यः, युक्त्यैव व्यभिचारात्। न द्वितीयः, प्रदीप उपादीयमाने प्रसङ्गाभावात्। भावे वा दृश्यदर्शनं लोके न स्यात्। मा भूदिति चेत्, जातेर नुत्थानं व्याघातात्। लिङ्गस्य हि ज्ञातत्वं तावदवश्यं ज्ञेयं, विशेषणत्वादिति चेत्, न। साध्यविपर्ययसंसर्गव्यवच्छेदकानामेव विशेषणानां ज्ञाननियमाभ्युपगमात्, न तु सहकारितामात्रोपयुक्तानामपि। एवमनभ्युपगमेऽपि दूषणानुत्थानमेव व्याघातात्। तस्माल्लोके घटादिप्रतिपत्त्यर्थं प्रदीपोपादानं न तन्निश्चायकपरम्परां प्रसञ्जयति तथा हेतुदृष्टान्तोपादानमपीति।

तदिदमयुक्ताङ्गाधिकत्वं, ज्ञातत्वनियमस्य ज्ञापकानङ्गस्यैवाङ्गत्वेन स्वीकारात्। अविषयवृत्तित्वं वा, लिङ्गसहकारिमात्रेष्वपि लिङ्गाङ्गस्य ज्ञातत्वस्य प्रवर्तनादिति। कृतौ तु किं परापेक्ष एव दोषः, अपेक्षायां असिद्धिर्वा? न प्रथमः, तथाभूतेनापि प्रदीपेन लोकव्यवहारस्य तथात्वविचारेण परीक्षकव्यवहारस्य सिद्धेः। अनुत्थानं वा जातेः। द्वितीये तु किमसिद्धापेक्षायामसिद्धिः, सिद्धापेक्षायामपि वा। प्रथमे सिद्धसाधनं, द्वितीये तु सूत्रमुत्तरम्। तथानभ्युपगमे वा तस्याप्यसिद्धेर्व्याघातः। तदिदमविषयवृत्तित्वम्। अनवस्था हि दूषणं भवत्येव न तु सिद्धिविषयेति।

अथ प्रतिदृष्टान्तसमे –

प्रतिदृष्टान्तहेतुत्वे च नाहेतुर्दृष्टान्तः।५।१।११।

इहैवं प्रत्युत्तरक्रमः। किं प्रतिदृष्टान्तस्याधिकबलतामभिमन्य दृष्टान्तस्य बाधो देश्यते अन्यथा वा। नाद्यः, साधनप्रयुक्तसाध्यधर्मवत्तामवधीर्य वादिप्रतिवादिविवक्षितधर्मवत्तामात्रेण दृष्टान्तयोर्विशेषाभावात्।

न द्वितीयः, को हि तुल्यबलयोर्बाध्यबाधको वा। तथा स्वीकारे वा दृष्टान्तेनैव प्रतिदृष्टान्तबाधोऽभ्युपगन्तव्यः स्यादिति व्याघातः। तदिदं साधारणमेव दुष्टत्वमभिधेयम्। सूत्रस्य तात्पर्यन्तु युक्ताङ्गहीनत्वं बाधं प्रत्यधिकबलत्वस्य युक्ताङ्गस्यानपेक्षणादिति। प्रतिरोधे तु विशेषग्रहे प्रतिरोधस्तदग्रहे वा? नाद्यः, दृष्टान्तस्य हीनत्वग्रहे तस्यैव वाच्यत्वात्, प्रतिदृष्टान्तस्य हीनत्वग्रहे प्रतिरोधस्याशक्यत्वात्। द्वितीयस्तु नास्त्येव, दृष्टान्तस्य हेतुना परिगृहीतत्वात्। प्रतिदृष्टान्तस्य तद्धीनत्वात्। तदयमर्थः–

प्रतिदृष्टान्त एव हेतु प्रतिदृष्टान्तहेतुः। नाधिकस्ततो हेतुरस्तीति यावत्। तस्य तथात्वे दृष्टान्तोऽपि यद्यधिकहेतुशून्यः स्यात्, प्रतिरोधो भवेत्। न त्वहेतुरविद्यमानहेतुर्दृष्टान्त इति। हेतुमत्तालक्षणो विशेषो नाङ्गमतिदेशे दर्शित इति चेत्, तर्हि रासभो यथा न दूषणं तथा प्रतिदृष्टान्तोऽपीति प्रसक्तो स्वोक्तिव्याघातः। तदिदं युक्ताङ्गहीनत्वं, हेतोर्युक्तस्यैवानपेक्षणात्। अगृह्यमणविशेषत्वं वा प्रतिरोधाङ्गं तस्यानपेक्षणादिति॥११॥

[अनुत्पत्तिसमप्रकरणम्]

प्रागुत्पत्तेः कारणाभावादनुत्पत्तिसमः।५।१।१२।

यस्य कस्यचित्साधनाङ्गस्योत्पत्तेः प्राक् कारणस्य हेतोरभावात् प्रत्यवस्थानमनुत्पत्तिसमः। एवं धर्मि-लिङ्ग-साध्य-दृष्टान्त-तज्ज्ञाना-नामनुत्पत्तिर्व्याप्यते। तत्राद्यमुदाहरणं *भाष्यादौ*, आश्रयभागासिद्धिपर्यवसितं च तत्। द्वितीयन्तु 'गुर्विदं पतनवत्वा' दित्युक्ते पतनोत्पत्तेः प्रागवस्थो भागासिद्धो हेतुः।

तदापि गुरुत्वस्य विवक्षिततत्वेन तदवस्थस्यापि पक्षेऽन्तर्भावादिति। तृतीयं, 'गन्धवदिदं पार्थिवत्वा'दित्युक्ते प्रथमे क्षणे गन्धस्या व्यापकस्यानुत्पत्तेः असिद्धो हेतुः। सिद्धौ वा बाधितविषयः स्यादिति। चतुर्थं, 'द्रव्यम् आत्मा गुणवत्वाद्धटवदि'त्युक्ते प्रथमे क्षणे ऽनुत्पन्नगुणावस्थो घटः स एव निर्गुणः। तथा च दृष्टान्तभागासिद्धो हेतुरिति। पञ्चमं, 'द्रव्यं वायुः स्पर्शवत्वादि' त्युक्तेऽज्ञातस्यापि वायोर्द्रव्यत्वं विवक्षितम्। न च तत्रायं हेतुरुपलब्धवृत्तिरित्यज्ञातभागासिद्धो हेतुरिति। एवं सर्वमेतत् भागासिद्धिपर्यवसितम् अनुत्पत्तिधर्मकं च कथमनित्यं, निष्पतनं च कथं गुरु, अगन्धवच्च कथं पार्थिवम्, निर्गुणं च कथं द्रव्यम्, अनुपलब्धहेतुकञ्च कथं साध्यधर्मवदिति विरोधपर्यवसितञ्चेति। तद्देशनाभासा चेयमिति यो यदर्थं उपादीयते तस्यानुत्पन्नस्य तत्र असामर्थ्यं द्वारम्। अत्र दूष्यो हेतुरिति॥१२॥

दोषचिन्तासूत्रम् - तथाभावादुत्पन्नस्य कारणोपपत्तेर्न कारणप्रतिषेधः।५।१।१३।

इहैवं प्रयुत्तरक्रमः। न तावदनुत्पन्नोऽनुत्पत्तिसमा न समयतया पक्षेऽस्माकमभिमतो येन देश्यावकाशः स्यात्। यो हि यदा स्वयमेव नास्ति

कस्तस्य तदात्मत्वेनाश्रयतामिच्छेत्, तत् कुत आश्रयासिद्धिः? तथापि शब्दमात्रस्य पक्षीकरणे कथं तद्दशाकस्य पक्षत्वव्यवच्छेदः? तत्किं तथापि शब्द एवासौ न तर्हि नास्ति, तथा च उत्पत्तेः प्रागिति व्याघातः। अशब्द एव तर्हि तथावस्थः स्यादिति चेत्, नैतदेवं, व्याघातादेव तत्स्वभावस्य कालान्तरेऽपि स्वाभाववत् स्वेतरतादात्म्यानुपपत्तेः।

तस्मात् स्वसमयभाविना रूपेण कालान्तरभाविनं स्वाभावमुपलक्षयतीति भावः। तथा चेदानीमनुत्पन्नो घटः, शब्दो वा, स एव नष्टो वा नास्ति वेति कोऽर्थः? तस्याभावोऽस्तीति, स पुनरव्यपदेश्य एव। न चाप्यव्यपदेश्याधिकरणतया साध्यसाधनभावः शङ्कितुमपि शक्य इत्यास्तां विस्तरः। तदिदमुक्तमुत्पन्नस्य तथाभावादिति। तदिदमविषयवृत्तित्वमसिद्धत्वं दूषणं वक्तुमुचितमेव। न तु तस्यापक्षो विषयः, न चानुत्पन्नः पक्ष इति। हेतौ तु यदा तदोत्पन्नस्य पतनादेस्तथाभावादिति हेतुभावात् सिद्धव्याप्तित्वादिति यावत्। कारणस्योत्पत्तेः लिङ्गस्योपपत्तेः न कारणाप्रतिषेधः पक्ष इति शेषः। एतदुक्तं भवति, यस्य लिङ्गस्यैकदा वर्तमानस्य त्रैकालिकेन साध्येन प्रतिबन्धसिद्धिः, तस्यैकदा सिद्धस्यैवोपसंहारात् तथाभूतसाध्यसाधकत्वोपपत्तौ नानुत्पत्तिविनाशदशायामसिद्धिः क्षतिमावहति।

तदातनतयानुपसंहारेऽपि तदातनार्थसिद्धेः। यो हि एकदापि पतनवान् स सर्वदा गुरुरिति हि व्याप्तिः। अव्याप्तौ वा न तदातनतया पक्षोऽपीति किमसिद्धिः करिष्यति। तदिदं युक्ताङ्गहीनत्वं व्याप्तिप्रकारमपेक्ष्यासिद्धेर्दूषणत्वात्। अस्य च तदनपेक्षप्रवृत्तेरिति। एतेन साध्यदृष्टान्तद्वारिके व्याख्याते। यथायोगं सूत्रयोजना। साध्यो युक्ताङ्गहीनत्वं व्यापकरूपानपेक्षणात्। दृष्टान्तेऽपि व्याप्यरूपानपेक्षणात्। तज्ज्ञाने तूत्पन्नज्ञानस्य ज्ञातस्येति यावत्। तथाभावात् पक्षभावात्, हेतुभावात्, दृष्टान्तभावादिति।

एतदुक्तं भवति। द्विविधा ह्यनुमानप्रवृत्तिः सम्भावनातो निश्चयाच्च। तत्र यस्य यथा प्रवृत्तिस्तस्य तथा ज्ञानविषयस्यैवोपन्यासात्। तद्विपरीतस्यापक्षादिभावेऽपि न प्रकृतहानिः, उपन्यासानुरूपस्य निर्दोषत्वात्। तदिदमविषयवृत्तित्वम् अज्ञानं पक्षादेः दोष एव। न त्वनुपन्यस्तस्य पक्षादिभावः। न चापक्षादेरज्ञानं दोषः, अन्यथा सर्वत्र व्याघातादनुत्थानमूहनीयमिति॥१३॥

[संशयसमप्रकरणम्]

सामान्यदृष्टान्तयोरैन्द्रियकत्वे समाने नित्यानित्यसाधर्म्यात्संशयसमः।५।१।१४।

समान इत्यन्तमुदाहरणार्थम्। शेषस्योपलक्षणमर्थः। तेन सपक्षासपक्षोत्थापकधर्मादिति सूत्रविपरिणामः। एवं विषयतोऽनुमानान्तरेऽपि कारणतोऽनेकधर्मादेरपि संशयसमव्याप्तिः। तदयमर्थः– निर्णयकारणोपक्षेपे सति संशयकारणेन प्रत्यवस्थानं संशयसमः। एवञ्च प्रवर्तते यथा निर्णयकारणमस्तीति निर्णयः स्यात्तथा संशयकारणमस्तीति संशयेनापि भवितव्यम्। अन्यथा कारणसद्भावेऽपि संशयवन्निर्णयोऽपि न स्यात्, अविशेषात्। अस्ति च संशयकारणं समानानेकविप्रतिपत्तीनामन्यतमत्। न च वाच्यमुभयमपि अस्तु, एकस्यैतदेकस्मिन्निर्णयानिर्णयरूपविरुद्धोभयसंसर्गेण भेदप्रसङ्गादिति। तदत्र संशयकारणमेव द्वारं हेतुर्दूष्यः कार्यापेक्षया सत्प्रतिपक्षत्वमारोप्यं तदाभासा चेयमिति। ज्ञाप्यापेक्षया च विशेषणासिद्धिरारोप्या, तदाभासा चेयम्। संशयहेतुविरहे सति निर्णायकत्वमित्यभिमानात्।

दुष्टत्वमूलचर्चासूत्रम्–

साधर्म्यात्संशये न संशयो वैधर्म्यादुभयथा वा संशयेऽत्यन्तसंशयप्रसङ्गो नित्यत्वानभ्युपगमाच्च सामान्यस्याप्रतिषेधः ५।१।१५।

साधर्म्यं संशायको धर्मः, वैधर्म्यं निर्णायको धर्म इति। निर्णायकाभावे संशयहेतुः संशयं करोति यदि तु तद्भावेऽपि कुर्यात्, अत्यन्तसंशयः स्यात्। अस्त्येवमेवेत्यत आह–नित्यत्वेति। नित्यं संशयकारणत्वानभिगमाच्च सामान्यस्य। मया तावत् एवमेवाभ्युपगम्यत इति चेत् न, अन्ततः कार्यकारणभावेऽपि स्वीकारात्, निर्णयस्य अस्वीकारे वा जातेरनुत्थानं व्याघातादित्यर्थः। तदिदं युक्ताङ्गहीनत्वम्। विशेषादर्शनस्य संशयकारणस्य युक्तस्यैवानपेक्षणात्। अयुक्ताङ्गाधिकत्वं वा साधर्म्यादिविरहस्यायुक्तस्यैव निर्णयाङ्गत्वेन स्वीकारात्। तस्मान्न कार्यापेक्षया सत्प्रतिपक्षत्वं संशयकारणस्य अनङ्गत्वात्। नापि ज्ञाप्यापेक्षया विशेषणासिद्धिः। साधर्म्याद्यभावस्य हेतुविशेषणत्वस्यानभ्युपगमात्।

ननु संशयसमा व्यभिचारदेशनाभासेति *केचित्*। तत्कथं प्रमादात्। नहि स्वरूपतो व्यभिचारदेशनेयं, नापि विकल्पसमावदन्यव्यभिचार-सञ्चारेण, नापि निर्णयहेतुरेव संशयं करोत्विति न्यायेन फलत इति।१५।

[प्रकरणसमप्रकरणम्]

उभयसाधर्म्यात्प्रक्रियासिद्धेः प्रकरणसमः।५।१।१६।

साधर्म्यादित्यस्य प्रतिपक्षसाधकोपलक्षणमर्थः, प्रक्रिया प्रक्रियमाणोऽर्थः, तस्य सिद्धेर्निश्चयात्। तेन स्थापनाहेतौ प्रयुक्तेऽभ्युपगततदनधिकबलेन प्रमाणान्तरेण हेतोर्बाधाभिधानं प्रकरणसम इति सूत्रार्थः। उदाहरणम् अनित्यः शब्दः कार्यत्वादित्युक्ते, नैतदेवं नित्य एव यतः सिद्धः श्रावणत्वात्। न चेदिदं बाधकं कार्यत्वमपि न साधकं, प्रमाणत्वाविशेषादिति। एवं प्रत्यक्षादिभिरपि बाधो यथात्रैव, नैवं प्रत्यभिज्ञानबाधितत्वात्। न चेदिदं बाधकं न तत् साधकमविशेषादिति।

तदत्र प्रतिप्रमाणं द्वारं, हेतुर्दूष्यः, बाधितत्वमारोप्यं, तदाभासा चेयमिति। शेषमशेषं साधर्म्यसमावत्।१६।

दुष्टत्वमूलन्तु चिन्त्यते-

प्रतिपक्षात्प्रकरणसिद्धेः प्रतिषेधानुपपत्तिः प्रतिपक्षोपपत्तेः ।५।१।१७।

प्रतिपक्षसाधनात् स्थापनानधिकबलादपि प्रकरणसिद्धेर्हेतोः स्वसाध्यसिद्धिद्वारा स्थापना-प्रतिषेधस्य अनुपपत्तिः प्रतिपक्षोपपत्तेः। उत्तरापेक्षया स्थापनैव प्रतिपक्षः तस्यानधिकबलेन प्रतिरुद्धादपि अपेक्षितसिद्धिरिति त्वदभ्युपगमवशेनैवोपपत्तेः। अनभ्युपगमे वा न बाधसिद्धिः। सोऽयं साधारणो व्याघातः। असाधारणं तु युक्ताङ्गहीनत्वं बाधं प्रत्यधिकबलवत्वस्य युक्तस्यैव अनपेक्षणादिति।१७।

[अहेतुसमप्रकरणम्]

त्रैकाल्यासिद्धेर्हेतोरहेतुसमः।५।१।१८।

कृतिज्ञप्तिसाधारणीयं जातिः। पूर्वं पश्चात्सह वेति विकल्पोपक्रमः। तत्र सहभावे अविशेषादहेतुः। पूर्वापरभावेऽपि त्वेकतरसम्बन्ध्यनुपपत्तेः,

साध्यसाधनोपहितरूपत्वात्। साधनसाध्ययोः कः पुनरस्याः प्राप्त्य-प्राप्तिसमाभ्यां भेदः? साध्यसाधनभावप्रतिषेधस्योभयत्रापि तुल्यत्वादिति चेत्? तत्र स्वरूपतः सन्निकर्षासन्निकर्षचिन्ता, इह तु कारणतः। ते अर्थद्वारिके, इयं शब्दद्वारिका। ते द्विविकल्पोपक्रमे, इयं त्रिविकल्पोक्रमा। तत्र सहकारिशक्तिर्दूष्या, इह तु स्वरूपशक्तिः। ते विशेणासिद्धिदेशनाभासे, इयं प्रतिकूलतर्कदेशनाभासेति। पूर्वभावे हि तदसाधनत्वप्रसंगः। पश्चाद्भावे तदसाध्यत्वप्रसङ्गः। सहभावे साध्यसाधनभावाभावप्रसङ्ग इति प्रतिकूलतर्कमात्रोक्तिपर्यवसानात्। इतरेतराश्रयप्रसङ्गे च तात्पर्यात्। तदत्र प्रतिकूलतर्कोद्भावनं द्वारं, हेतुहेतुमद्भावो दूष्यः, तर्कप्रतिघातश्चारोप्यः, तदाभासा चेयमिति।१८।

दोषमूलं तु चिन्त्यते

न हेतुतः साध्यसिद्धेस्त्रैकाल्यासिद्धिः।५।१।१९।

त्रैकाल्यासिद्ध्या किल जातिवादी हेतुफलभावमिह प्रतिक्षिपति। न चेह त्रैकाल्यासिद्धिः, यथायथं त्रिकालयुक्ता हेतुतः साध्यसिद्धिदर्शनात्। अत एव भग्नव्याप्तिकतया निर्मूलास्तर्का इत्यर्थः। तदिदं युक्ताङ्गहीनत्वं ज्ञप्तिपक्षे तर्कप्रवृत्तिं प्रत्यङ्गभूताया व्याप्तेरनपेक्षणात्। कृतिपक्षे तु त्रैकाल्यासिद्धिः, हेतुतः पूर्वकालयुक्तात् साध्यस्योत्तरकालयुक्तस्य सिद्धेः। असति साध्ये कस्य तत्साधनमिति चेत्, साध्यस्यैव। असतः कथमुपाधित्वमिति चेत्, व्यवहारं प्रति बुद्धिसिद्धत्वात्। व्यापारं प्रति तूपधानानुपयोगः। स्वभावशक्तेः स्वत एव नियतत्वात्। भिन्नकालयोः कथं सम्बन्ध इति चेत्, सम्बन्धस्यैवास्यैवं स्वभावत्वात्। पौर्वापर्यनियमो हि कार्यकारणभावः, तदिदमनङ्गाधिकत्वम्। न हि भिन्नकालत्वनियमे समानकालता युक्ता, विरुद्धत्वादिति। यद्वा पूर्ववदङ्गहीनत्वम्। सम्बन्धस्य सहभावेन व्याप्त्यसिद्धेः। अविषयवृत्तित्वं वा सहभावेन सम्बन्धो व्याप्यत एव, किन्त्वविरुद्धो न तु विरुद्धोऽपि व्याप्तिविषय इति।१९।

प्रतिषेधानुपपत्तेश्च प्रतिषेद्धव्याप्रतिषेधः।५।१।२०।

स्वोक्तिव्यापनात्साधारणो व्याघात इत्यर्थः।२०।

[अर्थापत्तिसमप्रकरणम्]

अर्थापत्तितः प्रतिपक्षसिद्धेरर्थापत्तिसमः।५।१।२१।

उक्तस्य विपरीताक्षेपशक्तिरर्थापत्तिः। ततस्तदाभासात् प्रतिपक्षसिद्धेः प्रत्यवस्थानादर्थापत्तिसम इत्यर्थः। स च बहुप्रकारः। तथाहि–शब्दोऽनित्य इत्युक्ते अर्थात् आपद्यते नान्योऽनित्य इति। विशेषविधेः शेषनिषेधविषयत्वात्। तथा च साध्यविकलो दृष्टान्त इति विरोधः। अनित्यसाधर्म्यात् अनित्य इत्युक्तेऽर्थादापद्यते नित्यसाधर्म्यान्नित्य इति विरोधः। अनुमानादनित्य इत्युक्तेऽर्थादापन्नं प्रत्यक्षान्नित्य इति बाधः। सामान्यवतोऽस्मदादिबाह्यकरणग्राह्यत्वादित्युक्तेऽर्थादापन्नं तदभावान्नानित्य इति। न हि सर्वः शब्दोऽस्मदादिप्रत्यक्ष इत्यसिद्धिः। अस्मिन्नेव हेतावुक्ते कृतकत्वमनित्यत्वसाधकं न वा। न चेदिदमपि कथं साधकमविशेषात्। साधकश्चेदुच्यतेऽर्थादापद्यते नान्यत्साधकमिति सर्वदोषोपसंहारः। एवमनैकान्तिकत्वमसिद्धत्वमित्यादि। तदस्यानुक्ताक्षेपो द्वारं, हेतुर्दूष्यः, असिद्धत्वादन्यतमदारोप्यं, तदाभासा चेयमिति।२१।

दुष्टत्वमूलं चिन्त्यते–

अनुक्तस्यार्थापत्तेः पक्षहानेरुपपत्तिरनुक्तत्वादनैकान्तिकत्वाच्चार्थापत्तेः।५।१।२२।

इहैवं प्रत्युत्तरक्रमः। उक्तोपपादकमनुक्तमर्थादापद्यते अनुक्तमात्रं वा? आद्ये, युक्ताङ्गहीनत्वं, प्रकृतोक्तस्यानुक्तेनाव्यापनात्। अव्यापकस्य चानुपपादकत्वात्। तदिदमुक्तमनैकान्तिकत्वादिति। द्वितीये स्वोक्तिव्यापनाद्व्याघातः। तदिदुमुक्तमनुक्तस्यानुक्तमात्रस्यार्थापत्तेः पक्षहानेः स्वपक्षहानेः उपपत्तिः, कुतोऽनुक्तत्वात्। दूषणोपाधिसमाक्रान्तत्वादित्यर्थः। वादजल्पयोश्च वादिसाधनवत् प्रतिसाधनमपीयमर्थापत्तिः अभिसंप्लवत इति नैकान्तव्यवस्थितेयम्। तथा च प्रत्याख्येयत्वाददूषणत्वाभ्युपगमेन व्याघातः। अप्रत्याख्येयत्वे वा स्वसाधनस्य स्वयमेवानभ्युपगमात् वादजल्पकथाव्याघातः। तदिदमुक्तमनैकान्तिकत्वादिति।२२।

[अविशेषसमप्रकरणम्]

एकधर्मोपपत्तेरविशेषे सर्वाविशेषप्रसङ्गात् सद्भावोपपत्तेरविशेषसमः ।५।१।२३।

एकधर्मोपपत्तेरविशेष इति जातिवादिनोऽनुशयोद्घाटनं जात्युत्थान-क्रमदर्शनाय प्रत्यवस्थानाकारमाह– 'सर्वाविशेषप्रङ्गादिति।' तत्किं साधनधर्मोपपत्तेरेव, नेत्याह– 'सद्भावोपपत्तेरिति'। तथा चोत्कर्षसमातो भेदः। धर्मान्तरोपलक्षणं चैतत्। प्रमेयत्वद्रव्यत्वादिनापि सम्भवात्। अविशेषसमा चेयं जातिः। उत्कर्षसमादीनामेकत्वं किञ्चित्साधर्म्यादिति वार्तिकदर्शनाच्च सर्वशब्देन च पुनरत्रोपपादकधर्माक्रान्तः समुदायो विवक्षितः। अविशेषस्त्वेकत्वमेकधर्मवत्वमेकाकारधर्मवत्वं वेति। तेनायमर्थः। यत्र कस्मिंश्चित्समुदाये सत्ताद्येकतमं साधनादन्यं धर्ममुपलभ्य तद्बलेन तस्य समुदायस्य धर्मतः स्वरूपतो वा एकाकारत्वमापादयति साऽविशेषसमा इति। एवं प्रवर्तते– यदि कृतकत्वलक्षणैकधर्मोपपत्तेः घटशब्दयोरनित्य-लक्षणोऽविशेषः स्यात्। अथ सद्भावलक्षणैकधर्मोपपत्तेस्त्रैलोक्यस्यैव अविशेषः किं न स्यादिति।

किञ्चातस्तादात्म्येनाविशेषपक्षाद्यविभागः। तज्जातीयत्वेनाविशेषे जातिसङ्करप्रसङ्गः, अवान्तरजातिविलोपो वा। तादृशाकारत्वेनाविशेषे गुणकर्मादीनामप्यनित्यधर्मसंसर्गः स्यादिति। द्रव्यत्वलक्षणैकधर्मोपपत्तेः नवानामविशेषः क्रियावत्वं किं न स्यादैन्द्रियकत्वलक्षणैकधर्मोपपत्तेः वा घटशब्दयोरेव मूर्तत्वमविशेषः किं न स्यात्? घटजातीयं वा, घटतादात्म्यं वेति। न चेयं साधर्म्यसमा, प्रतिधर्मेण प्रत्यवस्थानात्। नापि विकल्पसमा। विकल्पेनानुक्रमात्, अनुपसंहाराच्च। नाप्युत्कर्षसमा, धर्मान्तरोपपत्त्या प्रत्यवस्थाने विशेषविरोधानुद्भावनादिति। तदस्याः कस्यचिद्धर्मस्य किञ्चिद्विशेषं प्रत्यसाधकत्वदर्शनं जनकं हेतुर्दूष्यः, असाधकत्वमारोप्यं, तदाभासा चेयमिति।

अन्ये तु–इदं सूत्रमन्यथा व्याचक्षते। तथाहि–एकधर्मोपपत्तेः साधनधर्मस्य प्रयोजकत्वादविशेषे, साध्यधर्मवत्तालक्षणे पक्षदृष्टान्तयोः सर्वाविशेषः सर्वप्रकारेणाविशेषः प्रसज्येत। सद्भावोपपत्तेः

साहित्यसद्भावोपपत्तेरिति।

स च सर्वप्रकाराविशेषस्त्रिविधः, व्यक्तितो जातितस्साध्यधर्मतश्चेति। यथा घटादौ कृतकत्वं, तद्गतघटरूपत्वादिसर्वाकार सहचरितमुपलब्धमिहानित्यत्वं गमयत्तद्धटरूपतामपि गमयेदविशेषात्। न चेदनित्यतामपि न गमयेदिति। एवं घटत्वादिसहचरितमुपलब्धं घटत्वादिसामान्यमपि गमयेदविशेषात्। एवं महानसे धूमस्तदग्निसहचरित उपलब्धः पर्वते वह्निं गमयंस्तमपि गमयेत्। न चेदेवं न गमयेदेवेति। तदशिष्यमुत्कर्षसमान्तर्भावात्। पक्षदृष्टान्तभेदस्थितावुत्कर्षप्रवृत्तिः, इह तु न तथेति चेत्, न। जातिसाधर्म्याऽविशेषेऽपि धर्मिभेदस्थितेरविरोधात्। व्यक्त्यविशेषापादने भेदाभावादुत्कर्षाभाव इति चेत्, न। अतादात्म्ये सति तादात्म्यस्यैवोत्कर्षणीयत्वात्, अरजते रजतारोपवत्। कस्तर्हि साध्यदृष्टान्तयोर्धर्मविकल्पः? तदतद्रूपतैवेति। न चैवं पूर्वोदाहरणसङ्ग्रहः, न चायं *न्यायसंप्रदायः*। तस्मात् यथान्यासमेवास्तु, कृतमनुन्यासेनेति।२३।

दुष्टत्वमूलानुसन्धानसूत्रम्-

क्वचित्तद्धर्मानुपपत्तेः क्वचिच्चोपपत्तेः प्रतिषेधाभावः।५।१।२४।

क्वचित्सत्तादौ सति तस्य व्यापकतया यो धर्मस्तस्य अनुपपत्तेः, क्वचित्कार्यत्वादौ सति तस्य व्यापकतया यो धर्मोऽनित्यत्वादिकस्तस्योपपत्तेः प्रतिषेधाभावः। एवं चार्थतः परिवर्त्य योजनापि क्वचिदविशेषमात्रे यथोक्ते तद्धर्मानुपपत्तेः व्याप्यतया सत्तादेरनुपपत्तेः क्वचिच्चानित्यत्वादौ कार्यत्वादेः तथोपपत्तेः प्रतिषेधाभावः। तदिदं युक्ताङ्गहीनत्वम्। प्रतिबन्धं युक्तमङ्गमनपेक्ष्य प्रकृतिजातिप्रवृत्तेः। एवं हि प्रत्युत्तरक्रमः। किमयं सद्भावः कार्यत्वस्यासाधकत्वे दृष्टान्तः, तत्साधकत्वे कार्यत्वं वा समानधर्मत्वादिति हेतुपरिगृहीतो वाऽविशेषे स्वतन्त्रं साधनं वा प्रसङ्गो वेति। न प्रथमः, केवलं दृष्टान्तमात्रस्यासाधकत्वात्। अव्यवस्थानाच्च। न द्वितीयः, तत एव, व्याघाताच्च। न तृतीय-चतुर्थौ, प्रतिबन्धासिद्धेः। तद्रहितस्य साधकत्वाभ्युपगमे स्वोक्तिव्याघाताच्च। पञ्चमन्तु यदि सत्वादविशिष्टं स्यादिति वा, यदि कार्यत्वात् अविशेषः स्यात् सत्वादपि स्यादिति वा। न प्रथमः, व्याप्तौ सत्यां सिद्धसाधनात्।

बाधेन विपर्ययापर्यवसानाच्च। अव्याप्तेरेव न द्वितीयः। न हि कृतकत्वानित्यत्वरूपाविशेषसाधकत्वं सत्वस्याविशेषसाधकत्वेन व्याप्तमिति। एतेनेश्वरानुमाने पशुत्वेन शशादीनां विषाणित्वाविशेषप्रसङ्ग इत्यादि व्याख्यातम्।२४।

[उपपत्तिसमप्रकरणम्]

उभयकारणोपपत्तेरुपपत्तिसमः।५।१।२५।

वादिना प्रमाणेऽभिहिते प्रतिवादी यदा स्वपक्षेऽपि प्रमाणमुपपादयति तदोपपत्तिसम इति। अर्थादुभयकारणोपपत्तिर्नात्र साक्षात् प्रतिपक्षं साधयति, किन्तु प्रतिपक्षकारणमुपपादयति साधयतीति यावदिति प्रकरणसमादितो भेदः। तथा च *वार्तिकम्* – ''नित्यानित्यकारणं चैकत्रोपपद्यत इत्युपपत्तिसमार्थः। नित्यानित्यपक्षाभ्यां प्रत्यवस्थानात् प्रकरणसम इति भेद इति''। *टीकाप्येवमेव*। यदाह 'स्वपक्षसिद्ध्येति' प्रकरणसमे ''स्वसाधनेनैवे'' त्युपपत्तिसमे पूर्वत्र सिद्धात् स्वसाधनात् स्वपक्षसिद्ध्येति तात्पर्यम्। उत्तरत्र तु स्वसाधनेन स्वसाधनसिद्ध्येति। किमित्यध्याहार इति चेत्, अन्यथाऽसम्भवात्। न हि प्रतिसाधनेन बाधप्रतिरोधाभ्यां प्रकारान्तरमस्ति। बाध एवैकत्र प्रतिसाधनेनान्यत्र प्रतिपक्षसिद्ध्येति चेत्, न, विपरीतसाधनं बाधनमिति पर्यायत्वात्। प्रतिपक्षसिद्धेश्च साध्यान्तराभावात्। तदियमेवं प्रवर्तते–अनित्यः शब्दः कार्यत्वादित्युक्ते यद्यनित्यपक्षे प्रमाणं कार्यत्वमस्तीत्यनित्यः। ननु नित्यपक्षेऽपि किञ्चित् प्रमाणं भविष्यति, मदुक्तत्वात् त्वत्पक्षवत्, त्वत्पक्षमत्पक्षयोरन्यतरत्वात्, प्रकृतसन्देहविषयत्वात्, विप्रतिपत्तिविषयत्वात्, मद्बुद्धिविषयत्वात् इत्येवमादि *बृहस्पति*मतानुशिष्टमन्यदपि हेतुजातं प्रतिसन्धेयम्। तथा च त्वत्पक्षस्य बाधः, प्रतिरोधो वा प्रसक्तः। तत् अस्याः सामान्यतः प्रमाणसम्भावना द्वारं, हेतुर्दूष्यः, बाधप्रतिरोधावारोप्यौ, तदाभासा चेयमिति।२५।

दोषचिन्तासूत्रम्–

उपपत्तिकारणानुज्ञानादप्रतिषेधः।५।१।२६।

वादिसाध्योपपत्तिकारणानुज्ञानादयमप्रतिषेधो विरोधात्। न ह्यनुज्ञानप्रतिषेधावेकस्य सम्भवत इत्यर्थः। सोऽयं व्याघातः अननुज्ञाने वा स्वीयमपि नानुजानीयादविशेषात्। प्रातिस्विकदुष्टत्वमूलन्तु युक्ताङ्गहीनत्वम्। अनधिकबलस्याबाधकत्वात्। अस्याधिकबलाभ्युपगमे वा स्थापनाहेतोः दोषान्तरवचनमनुपजीवकत्वात्। प्रतिरोधस्तु न हीनाभ्यधिकाभ्यां कस्यचित्। न च तुल्यत्वं वास्तवं मिथोविरुद्धयोः। ततो विशेषजिज्ञासायां प्रतिपक्षोपपत्तेर्विशेषतः प्रतिपत्तेः स्थापनाहेतोरेव विशेषो जिज्ञास्यो न चास्याङ्गान्तरवैकल्यमिति। तेनैव विकलेन भवितव्यम् उपपादय वास्य वैकल्यम्।

स्यादेतत्, उपाधिरेवात्र कश्चिददृश्यो भवेत्। तद्व्यावृत्तिश्च त्वत्साध्यव्यावृत्तिलक्षणे मत्पक्षे प्रमाणं स्यादिति उपाधिरूपं विशेषमदृष्ट्वा च प्रतिरोधदेशनाप्युपपद्येतेति चेत् न, उपाध्यसिद्धौ तद्व्यावृत्तेरप्यसिद्धेः, मदुक्तत्वादीनामपि तथैवोपाध्याक्रान्तिप्रसङ्गेन व्याघाताच्च। उपाधिसन्देहोऽस्त्विति चेत्, न। सन्दिग्धासिद्धेन सिद्धस्य प्रतिरोधानुपपत्तेः। उपाधिसन्देह एव दूषणमस्तु, तद्द्वारेण प्रतिरोधसन्देहो वेति चेत्, न। एवं तर्हि नेदं साधनं सर्वथानुपलभ्यमानोपाधिशङ्काग्रस्तत्वात् प्रतिपक्षशङ्काग्रस्तत्वाद्वेति वा वाक्यार्थः। तदिदमनुत्तरं स्वार्थप्रतिक्षेपकत्वात्। अथ एवं स्यात् नेदं साधनमसिद्धव्याप्तिकत्वात्। असिद्ध व्याप्तिकञ्चेदं सन्दिग्धोपाधिकत्वात्। एवं हि स्वात्मप्रतिक्षेपोऽपि निवर्तते। विपक्षे बाधके न विशेषात्। तथाहि असिद्धव्याप्तिकस्यापि साधनत्वे सर्वं सर्वस्मात् गम्येतेति। सन्दिग्धोपाधिकस्यापि व्याप्तिसिद्धौ विरोधः। उपाधिविरहनिश्चयो हि व्याप्तिसिद्धिरनिश्चयश्च सन्देह इति न प्रकृतेऽपि तर्कसहायस्वीकारे विपक्षबाधकस्य विद्यमानत्वात्। तथा च युक्ताङ्गहीनत्वम्। शङ्कां प्रति बाधकाभावस्य युक्तस्यैवाङ्गस्यानपेक्षणात्। बाधकेऽपि शङ्केति चेत्, न, पुनरपि स्वात्मप्रतिक्षेपो दुर्वारः स इति। तदिदमुक्तम् उपपत्तिकारणानुज्ञानादप्रतिषेध इति।२६।

[उपलब्धिसमप्रकरणम्]

निर्दिष्टकारणाभावेऽप्युपलम्भादुपलब्धिसमः।५।१।२७।

वादिना निर्दिष्टस्य प्रामित्यङ्गस्य व्यापारवतोऽभावेऽपि साध्यस्योपलम्भात् प्रत्यवस्थानमुपलब्धिसम इति सूत्रार्थः। तदेतत्प्रत्यवस्थान रूपमुक्तम्। बीजं त्वस्यावधारणविकल्पः, स चायमर्थलभ्यः, एवकारार्थमनुपक्रम्याप्यर्थेन प्रत्यवस्थानायोगात्। अत एव प्रत्युत्तरसूत्रे *भाष्यं* ''न तु नियम उच्यत'' इति। *वार्त्तिकमपि* ''न कारणान्तरं प्रतिषिध्यत'' इति। एतत्सर्वमभिसन्धाय *टीकाकारो*ऽप्येवमाह–''एवञ्च नायोग-व्यवच्छेदेने''त्यादि। तदियं पञ्चधा– साध्याभावेऽपि धर्म्युपलभ्यत इति बाधः, साधनाभावेऽपि धर्म्युपलभ्यत इत्यसिद्धिः, उभयाभावेऽपि धर्म्युपलभ्यत इत्युभयम्, साधनाभावेऽपि साध्यधर्म उपलभ्यत इत्यव्याप्तिः, साध्यधर्माभावेऽपि साधनधर्म उपलभ्यत इत्यतिव्याप्तिः। तत्र प्रथमैवं प्रवर्तते। पर्वतोऽग्निमानित्युक्ते किं पर्वत एवाग्निमान् उत पर्वतोऽग्निमानेवेति। नाद्यो, महानसादीनामप्यग्निमत्वोपलब्धेः। न द्वितीयः, अग्निं विनाप्यस्य कदाचित् उपलब्धेरिति। द्वितीया तु धूमवत्वादित्युक्ते धूमो धर्मिणा किमन्ययोगव्यवच्छेदेन सम्बध्यते किमुतायोगव्यवच्छेदेनेति। न प्रथमः, पर्वते वृषादीनामप्युपलम्भात्। द्वितीयोऽपि न, धूमस्यापि तस्य कदाचिदुपलब्धेरिति।

तृतीया तूक्तसमाहारेण द्रष्टव्या। चतुर्थी पुनः पर्वतोऽग्निमान्धूम-वत्वादित्युक्ते किमत्रावधार्यते किं पर्वत एवाथाग्निमानेव। यद्वा, धूमवत्वादेवेति। न प्रथमः, महानसादीनामपि तथाभावोपलम्भात्। न द्वितीयः, वृक्षादीनामपि तत्रैवोपलम्भात्। न तृतीयः, तत्रालोकादपि तत् उपलब्धेरिति। एवमेव समव्याप्तिकेऽपि व्यापारमुपादाय। यथोत्पत्तिमत्वस्यापरामर्शेऽपि प्रत्ययभेदभेदित्वादेरपि अनित्यत्वोपलब्धेरिति। पञ्चमी तु अन्वयसम्भवे सदूषणमेवेति जातिसमान्यलक्षणव्यवच्छिन्नेति नातिप्रसङ्गः। केवल-व्यतिरेकिणि तु प्रतिज्ञालक्षणे *दिङ्नाग*चोद्यवदव्याप्त्यतिव्याप्तिप्रसङ्गेन द्रष्टव्या। तदत्रावधारणविकल्पानुपपत्तिर्द्वारं, हेतुर्दूष्यः, बाधोऽसिद्धि-रुभयमव्याप्त्यतिव्याप्ती चेति यथायोगमारोप्याणि, तदाभासा चेयमिति।२७।

दूष्टत्वमूलचिन्तासूत्रम्

कारणान्तरादपि तद्धर्मोपपत्तेरप्रतिषेधः।५।१।२८।

एकस्मिन्नवधारणविकल्पेऽपि नानभ्युपगमं दर्शयन्नुपलक्षणतया विकल्पान्तरेऽप्यनभ्युपगममाह। तेन अनुमानानङ्गानामवधारणानामनभ्युपगमादित्यर्थः। तदिदमयुक्ताङ्गाधिकत्वम्। मया तावदेवमेवाभ्युपगम्यते इति चेत्, न। अभ्युपगमविषयाभावात्, व्याघाताच्च। अवधारणविकल्पानुपपत्त्या स्वात्मनोऽपि व्याप्तेरिति।२८।

[अनुपलब्धिसमप्रकरणम्]

तदनुपलब्धेरनुपलम्भादभावसिद्धौ तद्विपरीतोपलब्धेरनुपलब्धिसमः।५।१।२९।

अस्योपलक्षणमर्थः। अनुपलब्ध्या हि विषयी धर्म उपलक्ष्यते। तेन उपलब्ध्यनुपलब्धी इच्छानिच्छे द्वेषाद्वेषौ कृत्यकृती शक्त्यशक्ती उत्पत्त्यनुत्पत्ती व्यवहृत्यव्यवहृती इत्यादयः सङ्गृहीता भवन्ति। यद्यपि च विषयिधर्माणां मध्ये मूर्द्धाभिषिक्तत्वात् उपलब्धिरेवोपलक्षणं वक्तुमुचिता, तथाप्युलब्धिसमानामसङ्करो मा भूदित्यनुपलब्धिरुक्ता। तेन यद्विषयिधर्मेष्वेव भावभागमाकृष्योपलब्धिसमलक्षणं व्याख्यातम्। अभावभागे चानुपलब्धिसमा व्यवस्थापिता। तदशिष्यमनादेशिकत्वात्। *भाष्यकारा*द्युदाहरणासङ्ग्रहाच्च। न च तत्सदुत्तरमेव, अयुक्ताङ्गाधिकत्वात्। न चासम्भवदुक्तिकम्, व्यवच्छेदवाक्यार्थरुचीनां तथा प्रत्यवस्थानस्य सुलभत्वात्। न चान्यत्रान्तर्भूतं लक्षणसङ्करादिति। तस्माद्भावाभावाभ्यामियमेव द्विमुखी। उपलक्षणार्थानुगमाभ्यामियमेव द्विनाम्नी अनुपलब्धिसमा विषयिधर्मसमा चेति। कथं पुनरुपलक्षणे *सूत्रकारस्या*भ्युपगम उन्नेयः? अनिष्टसमादीनामपि उदाहरणदर्शनात्। तल्लक्षणान्तराप्रणयनात्। "विप्रतिपत्तौ च संप्रतिपत्तेः" (न्या.सू. २।१।३), "अव्यवस्थात्मनि व्यवस्थितत्वाच्चाव्यवस्थायाः" (न्या.सू. २।१।१४) इत्यादिसूत्रदर्शनाच्च। एतद्वाक्छलेनैव गतार्थम्। तथाच "अन्यदन्यस्मादनन्यदित्यन्यताभावः" (न्या.सू. २।२।५४) "अनियमे नियमान्नानियम" (न्या.सू. २।२।३१) इति सूत्रे वाक्छलतयैव व्याख्यात इति चेत्, नन्वेवं, विवक्षिताप्यनुपलब्धिसमा वाक्छलमेव, तुल्ययोगक्षेमत्वादिति न जातिः स्यात्। अथ

कल्पितदूष्यं दूषणं छलमुक्तं, न चात्रानुपलब्धिपदार्थः। कल्पितोऽपि त्वनुपलब्धिः स्वात्मन्यपि अनुपलब्धिर्न वेत्युपक्रम्य दूषणमतो न छलं तल्लक्षणायोगात्। न च विशेषलक्षणात्तथा हि अभिधोपचार-तात्पर्यवृत्तिव्यत्ययाभावादिति। तदेतत्तुल्यमन्यत्रापि। कथं तर्हि *टीकाकारो*ऽप्यन्यनियमयोरनन्यत्वनियमाभ्यां प्रत्यवस्थानं वाक्छलमित्याह? शब्दान्तरनिमित्तकल्पनाद्वारेणार्थान्तरकल्पनमाश्रित्य। तथा हि कञ्चिद्विषयं सम्बन्धिनमवधिञ्चापेक्ष्य केचिद्विषयिणः सम्बन्धिनो व्यावृत्ताश्चेति तच्छब्दा अपि तन्निमित्ता एवेति व्यवस्थिते विषयान्तरसम्बन्ध्यन्तरा-वध्यन्तरनिमित्ततां कल्पयित्वा वचनं विहन्ति चेत्, छलमेव। यदा तु नैवं तदा जातिरिति सङ्क्षेपः। तदयं सूत्रार्थः– यथानुपलब्धेर्विषयिणो धर्मस्य आपादितानुपलम्भात् विषयतुल्यतया दूषणमनुपलब्धिसमः, तथान्यत्रापि विषयिणि धर्मे बोद्धव्यः। एवञ्च प्रवर्तते। उपलब्धं लिङ्गादि सिद्ध्यङ्गमिति। तदर्थमयं प्रयोगः। उपलब्धिश्चोपलब्धिरूपेण यत्र प्रवर्तते तदुपलब्धमित्य-विवादम्। तदियमात्मन्यपि ताद्रूप्येण वर्तते न वा? वर्तते चेत्, इयमपि उपलब्धा स्यात्, विषयवत्। तथा च नोपलब्धिरुपलब्धत्वाद्विषयवदेव। नेतिपक्षे, स्वात्मनि स्वरूपेणावृत्तेर्नासावुपलब्धिरिति कथं तद्वृत्तेर्हेत्वादिरुपलब्धः स्यादिति व्यर्थः प्रयासः। एवमनुपलब्धाव-प्यनुपलब्धिः स्वात्मनि स्वरूपेण वर्तते न वा? वर्तते चेत् विषयवदनुपलब्धा स्यात्। तथा च तद्वदेव तदभावः स्यात्। स चोपलब्धिरूप इति विपरीतापत्तिः। न वेति पक्षेऽपि, स्वात्मनि स्वरूपेणावृत्तेः न स्यादेवेति विपरीतापत्तिः। उभयथापि हेत्वंशोऽसिद्धः। ताद्रूप्येण वृत्तावप्यनुपलब्धिर्नानुपलब्धा न वा नास्ति।

तद्वृत्तं हि विषयोऽपि नानुपलब्धो न वा न स्यादिति अनैकान्तिको हेतुरिति। एवमिच्छानिच्छादिष्वपि नामपरिवर्तनेन प्रयोगा द्रष्टव्याः। तद्विशेषे खल्वपि। सन्दिग्धे न्यायः प्रवर्तते, सन्देहविषयश्च सन्दिग्धः। अथ सन्देहः स्वात्मनि ताद्रूप्येण वर्तते न वा? प्रथमे सन्दिग्धः सन्देहः कथमन्यं व्यवच्छेदं कुर्यात्, नेतिपक्षे तु सन्देहो न स्यादेव, स्वात्मनि ताद्रूप्येणा-वृत्तेरिति न्यायविषयाभावः। एवं भ्रमकामादिषु अपि बोद्धव्यम्। तदस्य विषयी धर्मो द्वारं, प्रयोगो दूष्यः, प्रतिकूलतर्कत्वमारोप्यम्, अतिपीडयाऽ-

सिद्धिरनैकान्तिकत्वं वा, तदाभासा चेयमिति।२९।

दुष्टत्वमूलन्तु

अनूपलम्भात्मकत्वादनुपलब्धेरहेतुः।५।१।३०।

अस्याप्युपलक्षणे तात्पर्यम्। ''उपलम्भात्मकत्वादुपलब्धो रहेतुरित्यादि सूत्रविपरिणामेन सर्वत्र समाधानप्रवृत्तेरिति। अक्षरार्थस्तु- अनुपलब्धिः स्वात्मनि तादूरूप्येण वर्तते इत्यद्धा न त्वस्यायमर्थः स्वविषयेति, अपि तु, तदात्मिकेति। तथा चासावनुपलब्धिरुपलभ्यवन्न स्यादित्यहेतुः। उपलभ्यं नास्तीत्यवधार्यते तन्निषेधकात् प्रमाणाद- नुपलब्धेरुपलम्भात्। न चासौ स्वात्मनोऽपि प्रतिषेधकं प्रमाणं, निषेधो वा नह्युपलम्भाभावः स्वप्रतियोगिनं विधत्ते स्वप्रतियोगिरूपो वा। तथात्वे वा स एव न स्यात्। को विदधीत को वा तद्रूपः स्यादित्यहेतुः। तदिदं युक्ताङ्गहीनत्वं निषेधकप्रमाणमनपेक्ष्य निषेधसाधनात्। अयुक्ताङ्गाधिकत्वं वा। अयुक्तस्यैव स्वात्मनि निषेधकत्वस्य निषेधरूपत्वस्य वा स्वीकारादिति अनेकान्तोऽनुपलम्भः सत्यपि गतत्वादित्यप्यहेतुः। अनुपलम्भात्मकत्वा- दनुपलब्धेर्विशेषणान्तररहितत्वादिति यावत्। तदिदमविषयवृत्तित्वम्। यदि हि निर्विशेषणा व्यभिचरेत् किमायातं विशिष्टायाः एकदेशगुणदोषयोः समुदायाविषयत्वात्। अन्यथा विशेषणोपादानवैयर्थ्यात्। योग्यानुपलब्धिस्तु भावाभावयोरप्यभावन्नातिवर्तते इति। एवं तर्हि विशिष्टानुपलब्धि- रनुपलब्धेरप्यभावमुपलब्धिं गमयेत्। न चेदेवं विवक्षितमप्यभावं न गमयेदविशेषात्। तत्र गतावितरेतराश्रयदोषः अगतावप्यनुपब्धिरसमर्थेति। एतदपि अहेतुः। अनुपलम्भात्मकत्वादनुपलब्धेः निषेधकप्रमाणात्मकत्वात्। तथा च स्वविषये समर्थत्वेऽन्यत्रासामर्थ्यं न क्षतिमावहतीत्यर्थः।

अथोभयोरपि विधायकप्रमाणगोचरत्वं किं न स्यात्? अभावोच्छेद- प्रसङ्गात्। अथ विपर्ययः कस्मात् न भवति? स्वभावविपर्ययप्रसङ्गात्। तदिदम् अविषयवृत्तित्वमन्यत्रासामर्थ्ये- नान्यत्राशक्तेरदूष्यत्वात्। भावे तु उपलभ्यमानेऽभावानुपलब्धिः पृष्टलग्नेति।३०।

तथापि भावाभावयोः विधिनिषेधप्रमाणगोचरता कथमवधार्यत इत्यत आह

ज्ञानविकल्पानाञ्च भावाभावसंवेदनादध्यात्मम्। ५।१।३१।

अस्ति नास्त्युपलभे नोपलभे इति ज्ञानविकल्पाः, तेषां भावाभावविषयत्वसंवेदनात् अध्यात्मं मनसा नोपपत्तिसाध्यमित्यर्थः। यस्तु स्वात्मनि निषेधकं स्वरूपनिषेधरूपं वा प्रमाणमभ्युपगच्छेत्, अन्यदोषेण दुष्टं वा अन्यत्रासामर्थ्ये अन्यत्रासामर्थ्यं वा तस्य स्वोक्तिव्यापनात् सर्वत्र व्याघात इति। एवमुपलब्धावप्युपलब्धिः स्वात्मनि तादूरूप्येण वर्तत इत्यद्धा न त्वस्यायमर्थः स्वविषयेति, किन्तु तदात्मिकेति। तथा च तदनुपलब्धेः सैव न स्यात्। तदभावाद्धेत्वादिरपि तद्विषयः कथमुपलब्धः स्यादित्यहेतुः। उपलम्भात्मकत्वादुपलब्धेः। न हि स्वविषयत्वव्यावृत्तेः स्वयमेव व्यावर्तते चक्षुरादेरपि तथाभावप्रसङ्गात्। नापि स्वरूपवेदनमस्याः स्वविषयवेदनमपि तु तद्वेदनरूपतैव। अन्यथा सर्ववित्तीनां सर्वविषयत्वप्रसङ्गात्। तदवित्तौ तद्विशिष्टार्थव्यवहारविलोपप्रसङ्ग इति चेत्, इष्ट एवायमर्थः।

एतावता हि तद्विशिष्ट व्यवहारकाले तद्वेदनं सिद्ध्यति न तु तेनैवेति। सेयं जातिरन्तः *कीर्ति*मपि व्यामोहितवती। यदाह–

'अप्रत्यक्षोपलम्भस्य नार्थसिद्धिः प्रसिद्ध्यतीति।'३१।

[अनित्यसमप्रकरणम्]

साधर्म्यात्तुल्यधर्मोपपत्तेः सर्वानित्यत्वप्रसङ्गादनित्यसमः ।५।१।३२।

अस्याप्युपलक्षणमर्थः। साधर्म्यवद्वैधर्म्येणापि प्रत्यवस्थानसम्भवात्। तथा शब्दानित्यत्ववत्पर्वताग्निमत्वादावपि साध्यान्तरे सावकाशत्वात्। तथा हि प्रकृतोदाहरणे तावत् यद्याकाशवैधर्म्यादनित्यः शब्दः त्रैलोक्यमेव तद्वैधर्म्यात् अनित्यं भवेत्। यदि महानससाधर्म्यात् पर्वतोऽग्निमान् तत्साधर्म्यात्त्रैलोक्यमग्निमद्भवेत्। एवं प्रकाराणामन्यत्रानन्तर्भावात्। प्रकृतेन तुल्ययोगक्षेमत्वाच्च। तस्माद् दिगुपदर्शनमात्रमेतत्। अत एवोपक्रमे 'साधर्म्यात् तुल्यधर्मोपपत्ते' रित्याह, न तु अनित्योपपत्तेरिति। तेनायं सूत्रार्थः– अनित्यत्वप्रयोगसाधर्म्यात्सर्वानित्यत्वप्रसङ्गवत् धर्मान्तरात् साध्यधर्मोपपत्ति-प्रसङ्गेन प्रत्यवस्थानमनित्यसमः। अन्वर्थसंज्ञा तु साध्यधर्मसमेति। कथं

पुनरियमविशेषसमातो भिद्यते। तत्र पक्षादेरविशेषमात्रापादनात्, इह तु विपक्षस्य सपक्षत्वापादनाद्विशेषः। परिकरस्तु तद्वदेव।३२।

दुष्टत्वचिन्तासूत्रम् –

साधर्म्यादसिद्धेः प्रतिषेधासिद्धिः प्रतिषेध्यसाधर्म्यात्। ५।१।३३।

इदं विवक्षितासाधकमसाधकसाधर्म्यात्। अस्ति च तदस्य घटधर्मत्वं नामेति जातिवाक्यार्थः। अयं च स्वात्मानमपि व्याप्नोति। इदमपि वाक्यं विवक्षितमर्थं न प्रतिपादयति तदप्रतिपादकसाधर्म्यात्। अस्ति च तदस्य प्रतिज्ञाद्यवयवयोगित्वं स्थापनावाक्येनेति व्याघातः। तदिदमुक्तं प्रतिषेध्येन साधर्म्यदिति।

अथ वा, नेदं विवक्षितार्थसाधकं समानधर्मत्वात् सत्ववदिति जातिवाक्यार्थः। सोऽपि तथा समानधर्मत्वादित्यस्मादपि न विवक्षितसिद्धिः समानधर्मत्वात्, यथा प्रतिषेध्यसाधर्म्यात्। प्रतिषेध्यञ्च तत् साधर्म्यञ्च इति कर्मधारयः। यद्वा, नेदं विवक्षितार्थसाधकं घटधर्मत्वात् सत्वधर्मवदिति जातिवाक्यार्थः। सोऽपि तथा नियमानभ्युपगमात्। तथा हि नेदं प्रतिषेधसाधकम् आकाशधर्मत्वात् स्थापनावाक्यवदिति व्याघातः। तस्मात्साधर्म्यवैधर्म्यरूपत्वमात्रमत्राविवक्षितम्।३३।

अपि तु नियमः। तत्प्रतिपादनार्थमाह –

दृष्टान्ते च साध्यसाधनभावेन प्रज्ञातस्य धर्मस्य हेतुत्वात् तस्य चोभयथाभावान्नाविशेषः।५।१।३४।

निगदव्याख्यानमेतत्। 'धर्मस्य' इति 'तस्य चोभयथाभावात्' इति च वचनाल्लक्षणसूत्रमुपलक्षणं बोध्यम्। अनेन नियमरूपयुक्ताङ्गहीनत्वं दर्शितम्। अविशेषसमावच्च समाधेरुपक्रम इति।३४।

[नित्यसमप्रकरणम्]

नित्यमनित्यभावादनित्ये नित्यत्वोपपत्तेर्नित्यसमः।५।१।३५।

अत्राप्यनित्यशब्देन सर्व एव विशेषणधर्मा उपलक्ष्यन्ते। 'नित्यमनित्यभावात्' इत्यनेन तदतद्रूपताविकल्पः। स च सारूप्यवैरूप्याभ्यां

द्विरूपः। 'नित्यत्वोपपत्ते'रित्यनेन विवक्षितानुपपत्तिमात्रम्। तेनायमर्थः– विवक्षितधर्मस्य तदतद्रूपता-विकल्पानुपपत्त्या धर्मिणस्तद्विशिष्टत्वखण्डनं नित्यसमः। इयं च संज्ञा धर्मान्तरे सुखदुःखशब्दवद्गौणी। गुणयोगश्च लक्षणमुक्तम्–अन्वर्था तु उपरञ्जकधर्मसमेति। तेन नित्यानित्य-भिन्नाभिन्नकार्याकार्यास्तिनास्तिसत्यासत्यसदसत्-स्थिरास्थिरैकानेकानुवृत्ता। ननु वृत्तविशेषणाविशेषण-सापेक्षानपेक्षक्रमाक्रमवाच्यावाच्य-परोक्षापरोक्ष-वर्तमानावर्तमान-हेयाहेय-सहितासहित-विरुद्धाविरुद्ध-ज्ञाताज्ञात-इष्टानिष्ट-द्विषाद्विष्ट-कृताकृत-शक्ताशक्तोत्पन्नानुत्पन्न-व्यवहृता-व्यवहृतेत्याद्यवान्तरघटाघटसन्दिग्धासन्दिग्धादि- सर्वविकल्पोपक्रमाः सङ्गृहीता भवन्ति।

तदियमेवं प्रवर्ततेऽनित्यः शब्द इति प्रतिज्ञायामाह–अनित्यत्व-योगादनित्यः, तदनित्यत्वमनित्यं, नित्यं वा? प्रथमे तदभावात्कथमनित्यः? द्वितीयेऽपि धर्मस्य सदातनत्वात् धर्मिणोऽपि तथात्वे कथमनित्यः? न हि धर्मिनिरपेक्षस्य धर्मस्यावस्थानसम्भव इति *भाष्यादौ* सुव्यक्तमेतत्।

अपि च, अनित्यत्वं यदि नित्यं कथमतदाकारमन्यत्र तदाकारतामापादयेत, अतिप्रङ्गात्। न हि नीलं नीलीपुष्पं स्फटिके रक्ताकारतामापादयति। नाप्यनित्यमेव तदेतदाकारतामापादयति। रक्तजपाकुसुमयोगात् स्फटिकारुणिमवत् भ्रान्तत्वप्रसङ्गात्, अतिप्रसङ्गाच्च। तदाकारघटयोगात् पटस्यापि घटाकारतापत्तेः। अपि च, तदाकारमपि अनित्यत्वमनित्यत्वान्तरयोगात् स्वभावतो वा। न प्रथमोऽनवस्थानात्। न द्वितीयः, अतत्स्वभावानां घटादीनां नित्यत्वप्रसङ्गात्। तेषामपि तत्स्वाभाव्ये द्रव्यत्वव्याघात इति सर्वथा न सम्भवति प्रतिज्ञार्थः। एवं हेतुदृष्टान्तयोरप्यनेनैव क्रमेण धर्मान्तरेऽप्युत्थानमस्य स्वयमूहनीयम्। *बौद्धचार्वाकवेदान्तिनां* चात्रैव निर्भरः। सेयं स्वरूपेण विरूपेण तु नित्यत्वे भिन्नत्वाभिन्नत्वादिना अनित्यत्वे कार्यत्वाकार्यत्वादिना घटत्वादौ नित्यत्वानित्यत्वादिनेत्यादि। तथा हि नित्यः शब्द इति प्रतिज्ञायां नित्यत्वयोगान्नित्यः। तत्किं ततो भिन्नमभिन्नं वा? भिन्नं चेत्तदपि भिन्नत्वयोगादित्यनवस्था। अन्यस्यान्यधर्मत्वेऽतिप्रसङ्गो वा? अभिन्नत्वे त्वेकशेषस्थितावाश्रयासिद्धिर्वा, कालात्ययापदेशो वा घटादेरतद्रूपतायामसाधारण्यं वेति।

अनित्यः शब्द इत्युक्ते अनित्यत्वं कार्यमकार्यं वा? कार्यत्वे न सहोत्पत्तिः धर्मधर्मिभावानुपपत्तेः। अत एव न पूर्वोत्पत्तिः। पश्चादुत्पत्तौ तदभावे नित्यश्शब्द इति स्यात्। तथा च न तत्र अनित्यत्वावकाशो विरोधात्। अकार्यत्वे तु धर्मिणोऽप्यकार्यत्वं, तथापि कुतो नित्यत्वं विरोधादित्यादि। घट इत्युक्ते घटत्वयोगात् घटः, तत् किं नित्यमनित्यं वा? प्रथमे घटस्यापि नित्यत्वप्रसङ्गः तद्धर्मित्वात् नित्यपरममहद्धर्मिव्योमवत्। अनित्यत्वे सामान्यरूपत्वव्याघातः। कार्याकार्यविकल्पानुपपत्तिश्चेत्यादि शुष्कतर्कवादिमतानुसारतः प्रतिपत्तव्यम्। तदस्या धर्मधर्मिभावो द्वारं स एव दूष्यः, प्रतिकूलतर्कत्वमारोप्यं, तदाभासा चेयमिति।३५।

दुष्टत्वमूलचिन्तासूत्रम्–

प्रतिषेध्ये नित्यमनित्यभावादनित्येऽनित्यत्वोपपत्तेः प्रतिषेधाभावः ।५।१।३६।

अनित्यतया प्रतिषेध्ये शब्दे नित्यमनित्यभावादित्ययं हेतुः यदि सिद्धः, प्रतिज्ञार्थो न सिद्ध्यति। प्रतिज्ञार्थश्चेन्न हेत्वर्थः, व्याघातात्। अनित्येऽनित्यत्वोपपत्तेर्यः प्रतिषेधः तस्याभाव इति योजनेत्यक्षरार्थः।

तात्पर्यन्त्वस्य यथायथं व्याघातमात्रोपलक्षणे। यत्तु तदाकारमतदाकारं वा नान्यत्र तदाकारतामापादयेत् अतिप्रसङ्गात्। तदसत्, धर्म एव धर्मिणस्तदाकारता, न तु तेनापाद्यमर्थान्तरम्। तदिदमयुक्ताङ्गाधिकत्वं तदाकारतापादकत्वमयुक्तमधिकृत्य चोद्यप्रवृत्तेः। कथमन्यस्य अन्य आकार इति चेत्, न; आकारशब्देनात्मनोऽनभिधानात्। धर्मस्तु भिन्न एव धर्मिणः। अन्यथा विरोधात्। काल्पनिकेऽपि धर्मधर्मिभावे तथाभूतस्यैव भेदस्य पुरस्कारात्। न हि सर्वथा भेदानुल्लेखे स एव तद्विशिष्ट इति व्यवहारः। तथाप्यतिप्रसङ्गः कुतो न स्यात्। यथादर्शनं स्वभाव एव व्यवस्थानात्। अत एव अन्यसमवेतोऽप्यन्यस्य धर्म उपलब्ध्यादिः स्वभावादेव व्यवतिष्ठते। तदिदं युक्ताङ्गहीनत्वम्। नायमेतस्य धर्मोऽन्यत्वादन्यसमवेतत्वाद्वेति व्याप्त्यसिद्धेः स्वोक्तिव्यापनाच्च व्याघातः। इदमसाधकमित्यत्र असाधकत्वयोगात् असाधकम्। तत्किं तदाकारमतदाकारं वा भिन्नमभिन्नं वेत्यादिविकल्पोपक्रमस्य दुर्वारत्वात्। एवमन्यत्वादन्यसमवेतत्वादि च हेतौ

घटादिदृष्टान्तो च द्रष्टव्यम्। तदिदमुक्तं 'नित्यमनित्यभावादनित्ये नित्यत्वोपपत्तेरिति। धर्मधर्मिभावानभ्युपगमे तवापि हेतुसाध्यौ न स्यातां दुपपत्तौ वा न प्रतिषेध इत्यर्थः। तदेवं स्फुटो व्याघातः। व्याप्तिभङ्गात्तु युक्ताङ्गहीनत्वमर्थलभ्यम्। यथायथं चात्राभ्युपगमो द्रष्टव्यः। यथोपलब्धि-योगादुपलब्धव्यवहारः। तत्रापि तथेति। उक्तियोगादुक्तस्तत्रापि तथा। कृतियोगात् कार्यं तत्रापि तथेति। तस्मात्तर्काङ्गपञ्चकान्यत-महानिरत्रानुसन्धेया इति सङ्क्षेपः।३६।

(कार्यसमप्रकरणम्)

प्रयत्नकार्यानेकत्वात्कार्यसमः।५।१।३७।

यत्तावद् *बौद्धेन*– साध्येनानुगमात्कार्यसामान्येनापि साधने।
सम्बन्धिभेदाद्भेदोक्तिर्दोषः कार्यसमो मतः॥
(प्रमाणवार्त्तिकम् १।१६।)

इति दर्शितं तद्व्यापकानुपलब्धिपर्यवसानमपकर्षसमसङ्गृहीतमेव। तथा हि अनित्यश्शब्दः कार्यत्वात् घटवदित्युक्ते घटस्याप्यन्यत्कार्यत्वं मृद्दण्डादिपूर्वकं शब्दस्याप्यन्यत् ताल्वादिसंयोगविभागपूर्वकमिति वदन् व्यक्तं मृद्दण्डादिव्यापकव्यावृत्तेः व्याप्यकार्यत्वव्यावृत्तिरित्याह। तथा चापकर्षक एव। भेदोक्तिमात्रपर्यवसाने त्ववर्ण्यसम इति।

यत्तु *न्यायभाष्यादौ* प्रयत्नानन्तरीयकत्वादित्युक्ते किमिह प्रयत्नानन्तरं जन्म विवक्षितं उपलम्भो वेति विकल्प्य प्रथमेऽसिद्धिः, द्वितीयेऽनैकान्तिकत्वमिति तज्जात्युत्तरमेव न भवति। अन्यतरासिद्धेरनैकान्तिकत्वस्य च प्रतिषेधसमर्थत्वात्। अनात्मव्याप्तेश्च। असिद्धत्वादसिद्धिर्जात्युत्तरम् असिद्धस्यासामर्थ्यात् इति चेत्, न। एवंरूपस्यासामर्थ्यस्य छलादावपि गतत्वात्। आरोप्यदोषाभिधानात् जातिः इति चेत्, न। तस्य छलधर्मत्वात्।

न चारोपेऽपि विकल्पतो विवक्षितस्यापि अर्थस्य दूषणादिति। तत्कथमेतत्? यथाकरमेव। तथा हि, प्रयत्नस्य कार्यं विषयः। हेयोपादेयतया व्यवहर्तव्य इति यावत्। तस्यानेकत्वं पारमार्थिकत्वापारमार्थिकत्वम्। तस्मात्प्रत्यवस्थानमिति।

एवञ्च प्रवर्तते–अनित्यश्शब्दः कार्यत्वादित्युक्ते भवेदेवं यदि शब्दः कार्य इति परमार्थतो निश्चीयेत, तदेव तु दुर्लभं प्रमाणाभावात्। प्रयत्नानन्तरोपलब्ध्या हि तत् साधनीयं सा चानैकान्तिकीति।

एवमियं सर्वव्यापिका स्यादपकर्षावर्ण्यसमाभ्यां च भिद्यते। न च प्रसङ्गसमेयं अनवस्थानुत्थापनात्। प्रमाणदूषणव्यवस्थानाच्च। न च छलमिदं वाद्यभिप्रायवर्णनेऽपि शब्दार्थविकल्पोपपत्तेरभावात्। न च समर्थमिदं स्वयमुत्थापितस्य हेतोर्दोषेणानुत्थापितस्य पराभिप्रेतस्य दूषयितुमशक्यत्वात्। एवमेव *भाष्या*देरपि तात्पर्यम्। उदाहरणानुरोधात् अक्षरार्थस्तु तथा व्याख्यातः। अत एवाव्याप्तिभीत*ष्टीकाकार* आह– 'उदाहरणपूर्वकं व्याचष्ट' इति। तथा हि 'प्रयत्नानन्तरमात्मलाभश्च' इत्यादि *भाष्यं* तावत्सुगमं प्रयत्नापेक्षत्वस्य हेतोः स्वयमुत्थापितस्यानैकान्तिकत्वमुपवर्ण्य 'तत्किमि'त्यादिना मौलस्य हेतोः सन्दिग्धासिद्धत्वव्यवस्थापनात्। तदेव *वार्तिककारो*ऽप्याह–'किञ्चित्' इत्यादि। वादिना हि कार्यत्वेन हेतुना शब्दानित्यत्वं साधयितुं प्रयोगः कृतो न तु कार्यत्वमेव साधयितुं किञ्चिदुपन्यस्तम्। तत्रासिद्धं कार्यत्वं मन्यमानो जातिवादी तत्साधनाय प्रयत्नानन्तरोपलब्धिरेव हेतुरनेन वक्तव्य इति स्वयमुत्प्रेक्ष्य दूषयति स्म। सोऽयं स्वयमुत्प्रेक्ष्याध्यारोपः। यदाह– 'कार्यः शब्दः प्रयत्नानन्तरोपलब्धेः' इति हेतुमनैकान्तिकं देशयतीति मौले हेतौ दोषमाह– 'अथेति'। अथ प्रयत्नानन्तरं जन्मासादितमेवेति शेषः। सुगममन्यत्। अनेनाभिप्रायेण मूलमूलिप्रयोगसङ्करभ्रमं निवारयन्नाह *टीकाकारः*, 'कार्यत्वादनित्यश्शब्द' इति। एवमवस्थिते प्रयोगेऽसिद्धत्वमुद्भाव्य तत्साधनाय स्वयमुत्प्रेक्षितं हेतुं प्रयत्नानन्तरीयकत्वमाश्रित्य यदाह जातिवादी तद्दर्शयति'प्रयत्नानन्तरीयकत्व' मित्यादि। तत्किमसिद्धत्वो द्भावनभाग एव जागर्ति नेत्याह। तस्मात् प्रयत्नानन्तरोपलम्भ आस्थेयः, कार्यत्वसिद्धय इति शेषः।

तत्र कार्यसमं प्रतिषेधमाहेति। सुगममन्यत्। अनयैव दिशा दूषणान्तरोपसंहारेणापीयं प्रवर्तते। एवमेव पक्षदृष्टान्तयोरपि प्रतिसन्धेया। तदयमर्थः–पक्षहेतुदृष्टान्तेषु मध्ये कस्यचिदनुमानाङ्गस्या सिद्धत्वमुद्भाव्य तत्साधकतया किञ्चित्स्वयमुत्प्रेक्ष्य तद्दूषणेनैव तत्साधकभावोसंहारः कार्यसमेति। तदत्र व्यवहर्तव्यद्वैतमेव द्वारं, व्यवहर्तव्यस्य पारमार्थिकत्वं दूष्यं,

मौलस्याङ्गसिद्धिरारोप्या, तदाभासा चेयमिति।३७।

दुष्टत्वमूलप्रदर्शनसूत्रम्–

कार्यान्यत्वे प्रयत्नाहेतुत्वमनुपलब्धिकारणोपपत्तेः।५।१।३८।

प्रयत्नशब्देनात्र तत्कार्यौ पारपम्पर्येण ताल्वादिसंयोगविभागौ गृह्येते। कार्यान्यत्वे अभिव्यक्तिलक्षणे प्रयत्नस्याहेतुत्वम्। कुतः? अनुपलब्धिकारणोपपत्तेस्तथा स्यात्। न च शब्दस्य अनुपलब्धिकारणं किञ्चिदुपपद्यत इत्यर्थः। एतेन कार्यत्वसिद्धावनन्यचरितार्थसंयोगविभागानन्तरोपलब्धेरिति हेतुं दर्शयताऽसिद्धिः कण्ठतः परिहृता। अन्यदूषणस्यान्यो विषयो न भवतीति। अविषयवृत्तित्वञ्च दुष्टत्वमूलमर्थतो दर्शितम्। तदुत्थापितस्य न चानभ्युपगमेन दूषणास्थितावपि न वादिनो हानिः काचिदिति प्रतिपादयतानुक्ते दूषणाभिधानमविषये प्रवर्तते इति सूचितमतोऽप्यविषयवृत्तित्वम्। तस्मात् उक्ते दूषणं वाच्यं तच्चेत्तद्विषयमेव स्यात्, अन्यथा तु व्याघात इति संक्षेपः।

एवं तावत्परेण जातौ प्रयुक्तायां वादिना सदुत्तरेणैवोद्धारः कर्तव्यः। एवं हि वादे तत्वनिर्णयः, जल्पवितण्डयोश्च जयपराजयव्यवस्था स्यात्। अन्यथा तु षण्डमैथुनवन्नैकमपीति।३८।

[षट्पक्षीरूपकथाभासप्रकरणम्]

तत्प्रदर्शनार्थं कथाभासरूपां षट्पक्षीमाह–

प्रतिषेधेऽपि समानो दोषः।५।१।३९।

तथा हि, उक्तो हेतुरसिद्धः, तत्सिद्धिहेतोः प्रयत्नानन्तरोपलब्धेरनैकान्तिकत्वादिति योऽयं दोषः, स प्रतिपक्षेऽपि त्वत्पक्षेऽपि समानस्तुल्यः। तत्रापि प्रयत्नस्य व्यञ्जकत्वमसिद्धं तत्सिद्धिहेतोः तदनन्तरोपलब्धेरनैकान्तिकत्वादिति सेयं कार्यसमैव जातिरिति भवति समानो दोषः। अथवा, प्रतिषेधोऽपि प्रतिषेधहेतावपि अनैकान्तिकत्वादित्यत्र समानो दोषः। शब्दसाम्ये वाक्छलमाह, अनैकान्तिकत्वाद्यसाधकः स्यात् प्रतिषेधोऽप्यनैकान्तिको न स्वार्थं साधयेत्। न ह्ययमेकान्ततः प्रतिषेधात्मक एव, स्वसत्ताया अनिवारणात्।

अथवा समानो दोष इति दोषवत्वमात्रेण। तेन तवापि पक्षः सदोषस्त्वदुक्तः प्रतिषेधहेतुरपि वा सदोष इत्युक्त्वा यं कञ्चिद्दोषमाहेति। तदत्र प्रथमे पक्षे, प्रतिवन्दिमात्राभिप्रायेण प्रवृत्तिर्मतानुज्ञा, दोषमनु द्धृत्येष्टापादनात्। द्वितीयपक्षे तु, अनैकान्तिकदोषाभिप्रायेण प्रवृत्ति-र्निरनुयोज्यानुयोगश्च वाक्छलत्वात्। तृतीयपक्षे तु साम्याभिप्रायेण प्रवृत्तिः, मतानुज्ञा तु दुष्परिहारा, दोषान्तराभिधानेन पूर्वदोषे विरोधाभास-स्याप्यनुल्लेखात्।३९।

तत्किमेतस्यामेव जातावेवं प्रत्युत्तराभासक्रमो, नेत्युच्यते। किन्तु–

सर्वत्रैवम्।५।१।४०।

तथा हि, अनित्यश्शब्दः कार्यत्वादैन्द्रियकत्वाद्वेति सदसत्प्रयोगे तद्वदाकाशसाधर्म्यादस्पर्शवत्वान्नित्यः किं न स्यादिति साधर्म्यसमः। अस्पर्शवदाकाशंनित्यपरममहद्दृष्टं शब्देन अपि। नित्येन सता परममहता भवितव्यमित्युत्कर्षसमः।

ननु– यथाकाशदृष्टान्तेन परममहत्वं शब्दस्य उच्यते, तद्वद्रूपदृष्टान्तेन तद्रहितत्वमेव किं न स्यादिति प्रतिदृष्टान्तसमः। एवं तर्हि तथा निःस्पर्शमुभयथा दृष्टम् किञ्चिदश्रावणं रूपादि किञ्चिच्छ्रावणं शब्दादि तथा किञ्चिन्नित्यं भविष्यत्याकाशादि, किञ्चिदनित्यं शब्दादीति विकल्पसमः। ननु तथापि कार्यत्वम् ऐन्द्रियकत्वं वा साध्यम् प्राप्य कथं साधयेदतिप्रसङ्गादिति। प्राप्य वक्तव्यम्, तथा चाविशेषात्, किं तस्य साधनं साध्यं वेति प्राप्तिसम इति षट्पक्षाः। एवमन्यत्रापि स्वयमूहनीया इति सूत्रार्थः। यद्यपि चैतत्सूत्रं षट्पक्षी सूत्राणामनन्तरमुचितं तथापि त्रिपक्ष्यादिसूचनार्थमर्धोक्त एवोक्तम्। उभया सुज्ञत्वप्रतिपत्तिफला हि षट्पक्षी, तच्च फलं त्रिचतुःपञ्चपक्षीष्वपि समानम्। तथापि किं चतुर्थादिपक्षावकाशदानेन तृतीय एवोभयोरसुज्ञत्वावधारणादिति चेत्, अत्र *कश्चिदाह*–

मृदुमध्यातिमात्रप्रज्ञत्वान्निष्ठुरानिष्ठुरहृदयत्वाद्वा न द्रागित्येव सभ्या उभयोरसुज्ञत्वमुद्भावयन्तीति अनियमादिति। तदशिष्यमसभ्यत्वप्रसङ्गात्। कथं तर्हि, अवसरापेक्षयेति ब्रूमः। यथा हि, सभ्यैस्तावत् पर्यनुयोज्योपेक्षणमेव मुख्यत उद्भाव्यमन्यत्तु नान्तरीयकतया। तच्च असत्साधनोपक्रमायां कथायां

प्रथमद्वितीययोरसम्भावितमेव। तृतीये तु सम्भावितमपि नियुक्तैरुद्भाव्यम्। नियोगकालातिपाते तु अनियुक्तैरेवेति नियमः। त्रये च नियोक्तारः वादिप्रतिवाद्यनुविधेयाः। तत्र प्रतिवादिनियोगमपेक्षमाणाश्चतुर्थं पक्षमनुमन्यन्ते। तस्मिन् अपि यत्किञ्चिद्वादिनि प्रतिवादिनि पर्यनुयोज्योपेक्षणमापतितमिति वादिनियोगमपेक्षमाणाः पञ्चमं पक्षमनुमन्यन्ते। वादिन्यपि प्रलपति अनुविधेयप्रश्नावसरमुभयोः स्तम्भमपेक्षमाणाः षष्ठमपि पक्षं समीक्षन्ते। इत्येवं प्रश्नसमयातिक्रमे सभ्यैरनियुक्तैरपि वादिनौ निवार्य कुकथात्वमावेदनीयम्। अन्यथा तेषामप्यवसरं प्राप्तस्य पर्यनुयोज्यस्योपेक्षायामज्ञत्वप्रसङ्गात्। एतदुत्तरकालं हि सद्वादो नोपयुज्यते, प्राप्तोद्भावनावसर दोषोपेक्षणस्यासमाधेयत्वात्। कुतः पुनः सभ्यानां प्रश्नापेक्षेति चेत्, कथायास्तदकर्तृकतया तेषामुत्थाप्य विवक्षितत्वात्। सा च प्रश्नेन वोभयोरप्रतिभया वा कथाभासप्रबन्धेन वेति। तत्र प्रतिवादिप्रश्ने त्रिपक्षी। वादिप्रश्ने चतुःपक्षी। उभयोरतप्रतिभाया-नुविधेयप्रश्ने पञ्चपक्षी। कथाभासप्रबन्धे षट्पक्षी। वादे तु तृतीयपदे परेण निरनुयोज्यानुयोगोद्भावनं चतुर्थे स्वयमपि स्वदोषोद्भावनं तत्वबुभुत्सुत्वात् पञ्चमेऽपि तथा। षष्ठस्य चाप्रतिभाप्रतीत्यर्थमवकाशः। यदा तु न अनयोः परस्परमसदुत्तरोद्भावनं, नापि स्वदोषं स्वयमुद्भाव्य सदुत्तरोपादानं, नाप्यप्रतिभा, तदा सभ्यावसरः। यदि तु चतुर्थादौ सदुत्तरं स्यात् तदा वादे दुष्टपरिहाणे न कथा प्रवर्तते एव। अन्यत्र तु हेत्वन्तरहानि सन्न्यासवदुत्तरान्तरप्रवृत्तेर्निग्रह एव। तस्याप्यनुद्भावने तु अवष्टम्भ-विजयमात्रम्, एकस्यातिशयेनापकृष्टत्वात्। तदपेक्षया च द्वितीयस्य उत्कृष्टत्वादिति सङ्क्षेपः।४०।

चतुर्थं पक्षमाह

प्रतिषेधविप्रतिषेधे प्रतिषेधदोषवद्दोषः।५।१।४१।

प्रतिषेधविप्रतिषेधः प्रत्युत्तरं तृतीयः पक्ष इत्यर्थः। अत्रापि तुल्यो दोषः तज्जातीयो वा तन्नामको वा दोषरूपतयैव तुल्य इति वा पूर्ववत् नेयम्।४१।

षट्पक्षी वैचित्र्यप्रदर्शनार्थं छलजाती विहाय निग्रहस्थानोद्-भावनेन पञ्चमं पक्षमाह

प्रतिषेधं सदोषमभ्युपेत्य प्रतिषेधविप्रतिषेधे समानदोषप्रसङ्गो मतानुज्ञा।५।१।४२।

द्वितीयः पक्षः प्रतिषेधः। तस्य दोषः मदुक्तमनुद्धृत्य प्रतिषेधविप्रतिषेधे मदुक्ते तृतीये पक्षे समानं दोषं प्रसञ्जयतो भवतो मतानुज्ञा निग्रहस्थानमापतितमिति पञ्चमः पक्षः।४२।

सेयं मतानुज्ञा तवापि मदुक्तं दोषमनुद्धृत्य तृतीयपक्षे समानं दोषं प्रसञ्जयतो भूतेति षष्ठं पक्षं प्रतिवाद्याह—

स्वपक्षलक्षणापेक्षोपपत्त्युपसंहारे हेतुनिर्देशे परपक्षदोषाभ्युपगमात् समानो दोषः।५।१।४३।

वादिनः स्वपक्षः स्थापना, तल्लक्षणो द्वितीयः पक्षो जात्युत्तरं, तल्लक्ष्यीकृत्य प्रवृत्तेः। तस्यापेक्षोपेक्षा, अनुद्धार इति यावत्। ततः परपक्षेऽपि उपपत्त्युपसंहारः परापादितदोषोपसंहारः प्रतिषेधेऽपि समान दोष इति। इत्थमिति हेतुर्निदेशश्च तस्मिन्नुपपत्त्युपसंहारहेतुनिर्देशे तवापि समानो मतानुज्ञादोष इति।४३।

इति श्रीमदुदयनाचार्यकृतौ प्रबोधसिद्धिनाम्नि न्यायपरिशिष्टे पञ्चमस्य अध्यायस्य प्रथममाह्निकम्।

न्यायशास्त्रानुमतस्य सप्रभेदस्य निग्रहस्थानस्य लक्षणसूत्राणां वृत्तिः

पञ्चमाध्यायस्य द्वितीयमाह्निकम्

[निग्रहस्थानप्रभेदोद्देशः]

प्रतिज्ञाहानिः प्रतिज्ञान्तरम् प्रतिज्ञाविरोधः प्रतिज्ञासन्न्यासो हेत्वन्तरमर्थान्तरं निरर्थकम् अविज्ञातार्थमपार्थकमप्राप्तकालं न्यूनमधिकं पुनरुक्तमननुभाषणमज्ञानमप्रतिभा विक्षेपो मतानुज्ञा पर्यनुयोज्योपेक्षणं निरनुयोज्यानुयोगोऽपसिद्धान्तो हेत्वाभासाश्च निग्रहस्थानानि।५।२।१।

अथ निग्रहस्थानविशेषलक्षणमाह्निकार्थः। तद्विभागार्थं सूत्रम् - प्रतिज्ञाहानिरित्यादि निग्रहस्थानानीत्यन्तम्। कथायामखण्डिताहङ्कारेण परस्याहङ्कारखण्डनमिह पराजयो निग्रहः। स एतेष्वियत्स्वेवं नामकेष्वे व तिष्ठति इति वाक्यार्थः। हेतुहान्युदाहरणविरोधादीनाम् एष्वेवान्तर्भावादवसरासङ्करेण सावकाशत्वाच्च। तथा च वक्ष्यामः। एकप्रयोजनानामप्यमीषां शिष्यहिततया व्यवहारोपयोगि-प्रातिस्विकवैधर्म्य-संसूचनार्थमसमासः। स्वकार्ये परस्परनिरपेक्षत्वकथनार्थं च। तच्च प्रतिलक्षणं वक्ष्यते। वस्त्वर्थः। तेनैतेषामेव कथाबाह्यानाम् कथायामप्यपस्मारोन्मादादिदशापन्नानां झटिति संवरणेन तिरोहितावसराणां पुरः स्फूर्तिकानाधिकृतोद्भावितानाञ्च व्यवच्छेदः। तथाविधानां तात्कालिकातत्त्वज्ञानलिङ्गत्वेऽपि प्रतियोगिव्यपेक्षया सुज्ञत्वलिङ्गत्वायोगात् तद्धि निग्रहस्थानस्य स्वरूपमन्यथातिप्रसङ्गादिति।१।

[प्रतिज्ञाहानिलक्षणम्]

प्रतिदृष्टान्तधर्माभ्यनुज्ञा स्वदृष्टान्ते प्रतिज्ञाहानिः।५।२।२।

एतद् यथा *भाष्यं वार्त्तिका*नभिमतं गौणत्वप्रसङ्गात् मुख्यासङ्ग्रहाच्च। यथा *वार्त्तिक*ञ्चाव्यापकम्, पक्षहेतुदृष्टान्तदूषणहानेरसंग्रहात्। न च सा न निग्रहस्थानमविशेषात्। तत् कथमेतत्? उच्यते- उपलक्षकलक्षणपदव्याख्यानपरं *भाष्यम्*। उपलक्षकलक्ष्यपदव्याख्यानपरञ्च *वार्त्तिकम्*। मुख्यार्थद्वारमपहायोपलक्षकत्वायोगात्। किं पुनः अत्रोपलक्ष्यते? प्रतिज्ञापदेन निर्वाह्यनिर्देशः। विवादे हि यद् यथा निर्दिश्यते तत्तथा निर्वाह्यते, तेन यो यथा साध्यत्वादिना निर्दिष्टस्तस्य तथा निर्वाहं पश्यतस्तत्परित्यागः प्रतिज्ञाहानिरिति सूत्रार्थः।

एवञ्च लक्ष्यपदनिरुक्त्यैव लक्षणसिद्धौ द्वितीयप्रकारसूचनार्थं लक्षणारम्भः। यदि दुष्टमेतन्माभूदिति वा कण्ठतः अन्यथास्त्विति वा अर्थतोऽस्याः प्रवर्तनात्। *तद्वार्त्तिक* दिशा दृष्टान्तः पक्षः, स च यथोक्तनिर्देशमुपलक्षयति। *भाष्य*दिशा तु दृष्टान्तशब्द उक्तसम्प्रतिपत्तिमुपलक्षयति, तद्विपरीतोपगमः प्रतिज्ञाहानिरिति सर्वं समञ्जसम्। तत्र साध्यधर्महानि *वार्त्तिके*। साधनधर्महानिस्तु अनित्यः शब्दः प्रमेयत्वादित्युक्तेऽनैकान्तेन च दूषिते अस्तु तर्हि कृतकत्वादिति यथा। पक्षहानिस्तु, अनित्ये वाङ्मनसी कार्यत्वात् इत्युक्ते भागासिद्ध्या च प्रत्युक्ते अस्तु तर्हि वागेव तस्मादनित्येति। यथा एतास्तिस्रो विशेषणद्वारापि द्रष्टव्याः। तद्यथा *कुनैयायिकेन* विवादाध्यासितं बुद्धिमत्कर्तृपूर्वकमिति पक्षिते बुद्धिमदिति विशेषणासामर्थ्ये च वर्णिते तर्हि कर्तृपूर्वकमित्येवास्त्विति साध्यविशेषणहानिः। विवादाध्यासितं क्षित्यादि कर्तृपूर्वकमिति प्रतिज्ञाते *शङ्कराचार्य* दिशा च दूषिते विवादाध्यासितमित्येवास्त्विति पक्षविशेषणहानिः। दृष्टान्तहानिस्तु, अनित्यः शब्दः प्रत्यक्षगुणत्वादद्व्यणुकवदित्युक्ते साधनविकलतया प्रत्युक्ते मा भूद् द्व्यणुकरूपमुदाहरणं घटरूपं भविष्यति। न चोदाहरणमादरणीयमिति न्यायादिति यथा। यथा वा *बौद्धस्य* व्यतिरेकोदाहरणबलेन क्षणभङ्गसाधने प्रवृत्ते अप्रामाणिकत्वेन च दूषितेऽस्तु तर्हि घट एवान्वयेनेति। दृष्टान्तगतत्वेन साध्यधर्महानिस्तु *भाष्ये*।

साधनधर्महानिस्तु पूर्ववत् द्व्यणुक उदाहृते तथैव साधनविकलतया दूषिते अस्तु तर्हि कार्यत्वहेत्वाधारतयेदमेवोदाहरणमिति यथा। अत्रापि विशेषणहानिरूहनीया। तद्यथा यत्कर्तृकं तदनित्यं यथा घटद्रव्यमित्युक्ते द्रव्यपदानर्थक्ये चोदाहृते अस्तु तर्हि घट इत्येवेति दृष्टान्तविशेषणहानिः। एवमन्त्या कारणसामग्रीत्यत्रापि अन्त्यपदानर्थक्ये यत्कार्यं तद्बुद्धिमत्कर्तृपूर्वकं यथा घट इत्युदाहृते पूर्ववच्च दूषिते तर्हि कर्तृपूर्वकमित्येवास्त्विति साध्यविशेषणहानिः। एवं पूर्ववत् साधनविशेषण-हानिर्दृष्टान्ते। दूषणहानिस्तु निरनुयोज्यानुयोगोद्भावनानन्तरं दूषणान्तर-परिग्रहेण द्रष्टव्या। तद् यथा यदि नायमसिद्धः अस्तु तर्हि बाधित इत्यादि। एतासाञ्च हानीनां सर्वत्र संव्यावहारिकत्वात् नोक्तेरसम्भवः। शास्त्रव्युत्पन्ना नैवमभिदधतीति चेत्, न। शास्त्रेऽप्येवंरूपव्यवहारदर्शनात्। प्रक्रान्त-दोषपरिहारौपयिकत्वाच्च। निस्सीमा च प्रतिभाक्षयेण किंकर्तव्यतामोह-महिमेति पूर्वनिग्रहप्रवृत्तावनवसरत्वादप्रवृत्तौ त्यागायोगान्नेदं निग्रहस्थानमिति चेत्, न। त्यागेनैव पूर्वस्य परिहारात्।

न हि त्यक्तस्य दुष्टत्वेऽस्य काचित्क्षतिः अतिप्रसङ्गात्। ततः पूर्वनिग्रहव्यवस्थापनाय त्याग एवोद्भाव्यः। तथा हि, तदर्थमेवास्योपयोग इति चेत्, न। स्वयमप्यशक्तिसूचकत्वात् संन्यासवत्। तथापि विरोध एवास्यान्तर्भावः। परिग्रहत्यागयोरेकत्रासम्भवादिति चेत्, न। त्यागमनुद्भाव्य विरोधस्य व्यवस्थापयितुमशक्यत्वेन जघन्यत्वादिति। सेयं हानिः सदसद्विषया प्रत्युत्तरादिपातिनीतदुत्तरकक्षोद्भाव्या तत्रोपेक्षिता निग्रहहेतुः। आपन्नदोष-परिजिहीर्षाहेतुका सद्धानौ पर्यनुयोज्योपेक्षणसहचारिणी। उद्भाविता चावष्टम्भविषयमावहतीति अवश्यमुद्भाव्या। वादे तु सम्भाविताप्युपेक्षणीया, तदुद्भावनस्य तत्त्वज्ञानानङ्गत्वात्। सद्विषया तूद्भाव्यैव तदुद्भावनस्य तदङ्गत्वात्। उक्तं निर्वाहयेदिति रहस्यमत्रेति।२।

[प्रतिज्ञान्तरलक्षणम्]

प्रतिज्ञातार्थप्रतिषेधे धर्मविकल्पात्तदर्थनिर्देशः प्रतिज्ञान्तरम् ।५।२।३।

प्रतिज्ञातार्थे दूषिते तत्प्रतिचिकीर्षया विशेषणान्तरप्रक्षेपेण पुनस्तद्वचनं

प्रतिज्ञान्तरमिति सूत्रार्थः। तथा हि, 'धर्मविकल्पादिति' विशेषे हेतुमाह। तथा च तदुत्पथा निर्देशस्य दर्शिता ल्यब्लोपे पञ्चमी। धर्मविकल्पं प्रक्षिप्येत्यर्थः। तथापि प्रतिज्ञातार्थोऽपि तत्र निर्दिश्यत इति कुतो लभ्यत इत्यत आह– 'तदर्थे'ति। तस्यैवार्थस्य निर्देश इति वा। तदर्थं साध्यसिद्ध्यर्थं निर्देश इति वा। उभयथापि न कश्चिद् विशेषः। तदर्थं निर्देश इति तु वदता *भाष्यकृता* दोषपरिजिहीर्षास्य मूलमिति दर्शतम्। न हि तामन्तरेण स्वस्थो दूषिते विशेषणं प्रतिक्षेप्तुमर्हत्यतिप्रसङ्गात्। कथं नित्या वर्णाः श्रावणत्वात् शब्दत्ववदित्युक्ते ध्वनिभिरनैकान्तिक इति च प्रत्युक्ते सध्वनय एव वर्णा नित्या इति पक्षविशेषणविधावनैकान्तिकपरिहारात्। शब्दो नित्यः कार्यत्वादित्युक्ते भागे सिद्धसाधनमिति च प्रत्युक्ते वर्णात्मकः शब्दो नित्य इति पक्षविशेषणाधिकोक्तौ सिद्ध साध्यतापरिहारात्। अंग्निमदिदं सुरभि मलिनधूमवत्वादित्युक्तेऽसमर्थविशेषणतया च प्रत्युक्ते साग्निकृष्णागरुमदिदमिति साध्यान्तराधिकोक्तौ विशेषणासामर्थ्यपरिहारात्। विवादाध्यासितं बुद्धिमत्पूर्वकमित्युक्ते सिद्धसाध्यतया च प्रत्युक्ताभासे उपादानाद्यभिज्ञापूर्वकमिति साध्यविशेषणेनाधिकोक्तौ सिद्धसाधनतापरिहारात्। तदेतत्पक्षतद्विशेषणसाध्यतद्विशेषणप्रक्षेपेण चतुर्विधम्। दूषणान्तरपरिहारार्थमपि प्रवर्त्तते अवान्तरभेदाच्चानन्त्यम्।

इदं तु चिन्त्यते, अनित्यः शब्द ऐन्द्रियकत्वात्–इत्युक्ते सामान्येन व्यभिचाराच्च प्रत्युक्ते सामान्यमैन्द्रियकं सर्वगतं शब्दस्त्वनित्योऽसर्वगत इति साध्यान्तरप्रतिक्षेपः किमर्थः? न ह्यनेनानैकान्तिकत्वमापादितमपास्यते, नासर्वगतत्वं प्रसाध्य हेतुं विशिष्य तत्परिहरिष्यामि इति मनोरथेन प्रवृत्त्युपपत्तेः। तर्हि तत्सिद्धये हेतुमपि किञ्चित् ब्रूयात् सभाक्षोभेण स्तम्भितत्वादवचने वा न्यूनं स्यादिति चेत्, न। पूर्वोपक्रान्तस्य हेत्वादेर्विद्यमानत्वेन न्यूनत्वानवकाशात्।

तथा हि पूर्व एव निग्रहोऽनुवर्तते, अपरिहृतत्वात्। न च निगृहीतो निग्रहमर्हति अतिप्रसङ्गादिति चेत्; न। अनुद्भावने किमयमनेन परिहृतोऽथ नेति मत्वा अप्रतिभया तूष्णीमास्ते किं वा पूर्वदूषणानावस्कन्दनात्। किमत्र वक्तव्यमिति मत्वेति परिषत्सन्देहानिवृत्तावुत्कृष्टानुत्कृष्टव्यवस्थानुपपत्ति प्रसङ्गादिति। तथापि पूर्वमेव दूषणमुद्भावयेदिति चेत्, न। एवं हि प्रतिवदेत्

तथापि पूर्वप्रतिज्ञायामैन्द्रियकत्वमनैकान्तिकमेवेति। यद्वा एतस्मिन्नपि प्रतिज्ञार्थे तदनैकान्तिकमेवेति। यद्वा नानेन साध्यान्तरोपक्षेपेण तत्परिहृतमिति। सर्वथा अर्थतः कण्ठतो वा न प्रतिज्ञान्तरमनुद्भाव्य ख्यातुं शक्नुयात्। न चेदमर्थान्तरं प्रक्रान्तोपयोगादिति। अथ हेत्वन्तरं, कुतः पृथगस्मात् क्रियते हेतुहानिवद्धि तदप्युपलक्ष्येत। अन्यथा उदाहरणान्तरमपि लक्षणीयं स्यात्। तद्यथा, अनित्यश्शब्दः सामान्यविशेषवतोऽस्मदादि-बाह्यकरणप्रत्यक्षत्वात्। यदस्मदादिबाह्यकरणग्राह्यं तदनित्यं यथा घट इत्युक्ते प्रयोजकांशन्यूनतया च प्रत्युक्ते सामान्यविशेषवत्वे सतीदमुच्यत इति। एवं तथा चायमस्मदादि-बाह्यकरणप्रत्यक्ष इत्युपनये न्यूनतया प्रत्युक्ते तथैव विशेषणोपादाने उपनयान्तरम्। एवमेव बहुलबाह्यकरणप्रतिज्ञैकदेशोपसंहारे तथैव प्रत्युक्ते पुनस्समस्तोक्तौ निगमनानन्तरमिति। सत्यं, साध्यसाधकभागभेदविवक्षया तु भेदोपन्यासः, वाक्यप्रयोगस्यो भयशरीरत्वात्। तत्र प्रतिज्ञान्तरं प्रयोज्यान्तरं निगमनान्तरमिति प्रतिज्ञान्तरप्रपञ्चः। हेत्वन्तरं प्रयोजकान्तरम् उपनयान्तरं दूषणान्तरमिति हेत्वन्तप्रपञ्च इति। एतस्यापि परिकरशुद्धिः प्रतिज्ञाहानिवत् द्रष्टव्या।

इदं तु चिन्तनीयम्। कथमेतत्प्रतिज्ञाहानितो भिद्यते। यावतात्रापि विशिष्टोपादानादविशिष्टहानिरेव? न, स्वरूपस्यापरित्यागात्। पश्चादुपादीयमानविशेषणाभावस्य प्रागप्यनुपादानात्। न च स्वरूपविशेषणाभावाभ्यामन्योऽविशिष्टो नाम यस्य त्यागात् हानिः स्यात्। अत्र कक्षान्तरेण विशेषयेदिति रहस्यम्।३।

[प्रतिज्ञाविरोधलक्षणम्]

प्रतिज्ञाहेत्वोर्विरोधः प्रतिज्ञाविरोधः।५।२।४।

अत्र 'प्रतिज्ञाहेत्वो' रिति वाक्यगतप्रतियोगिद्वयोपलक्षणपरं विरोधस्यो-भयनिष्ठत्वात्, लक्ष्यगतप्रतिज्ञापदमप्युक्तमात्रपरम्। एकपदोत्कीर्तनञ्च तदंशविरोधसूचनेनावयवान्तरोपलक्षणभ्रमं वारयति। तेनैकस्मिन् वाक्ये तदंशयोरवान्तरवाक्ययोः पदयोर्वा मिथो व्याघात उक्तः विरोध इति सूत्रार्थः। एकवक्तृकवाक्यविषयत्वान्नाप सिद्धान्तसङ्करः। विपरीतव्याप्त्युपदर्शन-प्रयासाभावान्न क्वचिद् विरुद्धहेत्वाभाससङ्करः। यद्यपि च विरोधेऽवश्यं

हेत्वाभासानुप्रवेशः, तथापि तस्य जघन्यप्रतीतित्वात्तमुपेक्ष्य विरोध एवोद्भाव्यः, सांप्रत्यायकत्वेनोपेक्षार्नहत्वात्। स च बहुप्रकारः। प्रतिज्ञापदयोः प्रतिज्ञाहेत्वोः प्रतिज्ञोदाहरणयोः प्रतिज्ञोपनययोर्मन्दः, हेतुविरोधाभ्यामनवकाशात्। प्रतिज्ञानिगमनयोः हेतुस्वपदयोः हेतुदृष्टान्तयोः हेतूपनययोः दृष्टान्तस्वपदयोः प्रतिज्ञातर्कयोः। एवं दूषणवाक्येऽपि स एव प्रपञ्चः। साध्यधर्मिनिषेधाद्वा, यथा नास्त्यात्मेति। धर्मनिषेधाद्वा, यथेश्वरो न कर्तेति। धर्मिविधेर्वा, यथा अतीतमस्तीति। धर्मविधेर्वा, यथा परमाणवः सावयवा इति। स्वरूपतो वा यथा हेतुव्यापारात्प्रागपि सत्कार्यं कार्यत्वादिति। विशेषणद्वारा वा, यथा मध्येऽप्यसत्कार्यमाद्यन्तयोरसत्वादिति। एवंविधानाञ्च परमतप्रतिषेधाभिप्रायदुरवलेपाद्वा दृष्टान्ताभासलाभतरलतया वा प्रमादाद्वा सभाक्षोभाद्वा उक्तिसम्भवः। सोऽयं प्रथमकक्षादिपाती उत्तरकक्षोद्भाव्यः वादेऽपि। अन्यथा, तत्त्वप्रतिपत्तिव्याघातात्। शेषं पूर्ववत्। मिथोव्याहतं न वदेदिति रहस्यम्।४।

[प्रतिज्ञासन्यासलक्षणम्]

पक्षप्रतिषेधे प्रतिज्ञातार्थापनयनं प्रतिज्ञासंन्यासः।५।२।५।

अत्रापि प्रतिज्ञापदम् उक्तमात्रोपलक्षणपरम्। तथा पक्षशब्दोऽपि। अपनयनमपलापः। उक्तसन्न्यास इत्यर्थः। न च स्वस्थोऽकस्मा देवोक्तमपलपतीत्यत उक्तं पक्षप्रतिषेधे परेण कृते सति। तेन तत्परिहारार्थमिति तात्पर्यम्। उक्तदूषणे ह्यस्फूर्तिदशायां कश्चिदुक्तं त्यजेदेव, कश्चिद्विशेषयेत्, एवं कश्चिदपलपेदिति त्रिधा प्रत्यवस्थानसम्भवः। तेन वत् सो ऽपि हि द्रव्यत्यागेन वा निवृत्तिमिच्छेत्, स्वीयतया वा स्वीयताभ्रमेण वा विशेषयेदपलपेदेव वा इति नालौकिकोऽयं प्रकारः। न चातिप्रसङ्गः अपह्नवनिर्वाहेण दूषणपरिहारात् कपोलवादित्रादिना तदसिद्धेः चोरवदेव। न च पूर्वनिग्रहेणैव गते किमनेनेति वाच्यं, तस्य अपह्नवेनापास्तत्वात्। तस्यापह्नवमनुद्भाव्य व्यवस्थापयितुमशक्यत्वात्। न चैवं तादर्थ्यमेवास्य, स्वयमेवापकृष्टत्वसूचकत्वादिति। सोऽयं चतुष्प्रकारः क एवमाहेति वा, परपक्षोऽयं मयोक्त इति वा, स्वोक्त एव त्वयेदमुक्तमिति वा, परोक्तमेव मयेदमुक्तमिति वा। वादासम्भवी चायं, तत्त्वबुभुत्सुतया स्खलित-सङ्गूहनाभावात्। अबुद्धिपूर्वकस्तत्रापीत्येके। शेषमशेषं हानिवत्।

अनुवादप्रोज्ज्वलं दूषणोपारूढं नापलपेदिति रहस्यम्।५।

[हेत्वन्तरलक्षणम्]

अविशेषोक्ते हेतौ प्रतिषिद्धे विशेषमिच्छतो हेत्वन्तरम्।५।२।६।

अत्र हेतुपदेन वाक्यगतसाधकभागमुपलक्षयति। इच्छया तद्वचनम्। तेन प्रथममविशिष्टं साधनभागमभिधाय पुनर्विशेषणवत्तद्वचनं हेत्वन्तरमित्यर्थः। न च स्वस्थस्य एतदकस्मात् संभवतीत्यत उक्तं प्रतिषिद्ध इति। तेन प्रतिषेधोद्दिधीर्षयेति तात्पर्यम्। तदिदं हेतुविशेषणादुदाहरण-प्रयोजकांशविशेषणात् उपनयविशेषणात् दूषणविशेषणाच्चेति चतुर्विधम्।

तत्र प्रथमं यथा *भाष्यं*-तदुत्तरद्वयं प्रतिज्ञान्त उदाहृतम्। चतुर्थं तु हेतौ प्रयुक्ते असाधकोऽयं सपक्षे सत्वादनित्यत्वे प्रमेयत्ववदिति प्रत्युक्ते जात्युत्तरेण जात्युत्तरतया च परिहृते विपक्षगतत्वे सति सपक्षे सत्त्वादिति यथा। एवं विपक्षव्यावृत्तत्वात् इत्युक्ते सपक्षव्यावृत्तत्वे सतीति यथा। एवं सन्दिग्धत्वात् इत्युक्ते असिद्धतया च दूषिते व्याप्तत्वेनेति यथा। एवं प्रत्यभिज्ञानबाधितत्वादित्युक्ते, लूनपुनर्जातकेशाध्वना च प्रत्युक्ते अविसंवादिप्रत्यभिज्ञयेति यथेत्यादि, सर्वं दूषणेषु स्वयमूहनीयम्। एतच्च स्थापनागतं दूषणगतं वा परोक्तदोषप्रतीकारे हेत्वन्तरमेव। अप्रतीकारेऽपि यद्यपि यथाक्रमं हेत्वाभासनिरनुयोज्यानुयोगौ सावकाशौ तथापि हेत्वन्तरमेव वाच्यं, विशेषणाभिधानेनाविशिष्टासामर्थ्यस्य सिद्धस्वीकारत्वात्। उत्तरयोस्तु साध्यत्वात्। यथा अनित्यः शब्दः बाह्यकरणग्राह्यत्वादित्युक्ते योगिप्रत्यक्षैः परमाणुभिरनेकान्तेन च प्रत्युक्ते अस्मदादीति मात्रपद-विशेषणोक्तौ अदुष्टस्यैव दोषाभासदर्शनात्। विशेषमिच्छतस्तु पर्यनुयोज्यो पेक्षणसहवृत्तिकमिदं हानिवत् प्रतिज्ञान्तरवत्। तद्वदेव च परिकर-शुद्धिरप्यस्येति।६।

[अर्थान्तरलक्षणम्]

प्रकृतादर्थादप्रतिसम्बद्धार्थमर्थान्तरम्।५।२।७।

अर्थान्तरमिति लक्ष्यनिर्देशः। अन्यदित्यध्याहारात् पञ्चम्युपपत्तिः, अन्यथा तृतीया स्यात्। लक्ष्यपदावृत्तेर्वा ल्यब्लोपो वा प्रकृतमर्थम-

नपेक्ष्येत्यर्थः। प्रतिसम्बन्धोऽप्रतिरूपसम्बद्ध इत्यर्थः। तेनाप्रतिसम्बन्धमननुरूपसम्बन्धं वचनम् इत्यन्यपदार्थः। एतदुक्तं भवति, प्रकृतं साधनं दूषणं चोपक्रम्य तदङ्गानभिधानमर्थान्तरमिति। तच्च स्वमतपरमतोभयानुभयभेदेन चतुर्विधम्। तद्यथा अनित्यः शब्दः ऐन्द्रियकत्वात् कार्यत्वाद्वा, गुणश्च स आकाशस्य, तदेवोपाधिवशात् श्रोत्रं, तेन चायं गृह्यते समवायादित्यादि। तथैवोपक्रम्य परमते च द्रव्यं शब्दः संयोगग्राह्योऽभिव्यक्तिधर्मा चायमित्यादि। तथैवोपक्रम्यानुमानगम्यस्यानित्यत्वम्। अनुमानञ्च प्रमाणं तच्चतुर्विधम् षड्विधं वा। किञ्चित्सत्तामात्रेण गमयति, किञ्चिज्ज्ञातं सदित्यादि। तथैवोपक्रम्य हेतुरयं हेतुश्च हिनोतेर्धातोरित्यादि। झटित्यसमञ्जसबुद्ध्या समाधानम प्रतिसन्दधानस्य तिरोधित्सयास्योक्तिसम्भवम्। नन्वपूर्णे प्रकृते वाक्येऽर्थान्तरमभिदधतो न्यूनमेवोद्भाव्येत पूर्णेऽप्यदुष्टे किमित्यर्थान्तरमवतारयेत्। दुष्टेऽपि दोषमुपेक्ष्य नार्थान्तरोद्भावनस्योपयोगः। न चार्थान्तराभिधानेऽपि प्रतिज्ञान्तरवत्पूर्वदोषः परिहृतो भवेत् येनोपादीयेत। एवमेवाभिधाने चातिप्रसङ्गादिति। न दुष्टतिरोधित्सायाः सुलभत्वाददुष्टेऽपि दुष्टबुद्धेः कदाचित्सम्भवात्। न्यूनस्याप्यन्यस्य वा दोषस्य तद्वादिन्युपरतवचासि दत्तावसरे चोद्भाव्यत्वात्। अन्यथात्वातिप्रसङ्गात्। एतस्योच्यमानग्राह्यत्वात्। तत्सम्भेदेऽप्येतदेवोद्भाव्यम्। अत एव न्यूनाद्युपेक्षायामपि उपेक्षणं न निग्रहः। अवसरे हि तत्तथा स्यात्, अवसरोद्भावनवदिति। प्रकृतोपयुक्तमेव वाच्यमिति रहस्यम्।७।

[निरर्थकलक्षणम्]

वर्णक्रमनिर्देशवन्निरर्थकम् ।५।२।८।

वतिना अवाचकप्रयोगमुपमिनोति। तेनावाचकप्रयोगो निरर्थकमित्यर्थः। तस्य चतुर्धा प्रयोगसम्भवः। प्रमादात्, यथा लिङ्गविभक्तिवर्णविपर्यासः। वाचकाभिमानात्, यथा कृत्तद्धिताख्यातविपर्यासः। अभ्यासात्, यथा संस्कृतमुपक्रम्यापभ्रंशवचनम्। विकल्पितविशेषोक्तेः, यथार्थपरशब्दे परता प्रकारव्युदासेन स्वरूपपरतायां वाङ्मात्रं चैतदितिवत्। कुतः पुनरेतन्निग्रहस्थानम् एवमप्यर्थप्रतीतेः? शब्दप्रयोगस्य च तावन्मात्रार्थत्वादिति चेत्,

न; *मीमांसकादिकं* प्रति वाचकापभ्रंशविभागस्य सिद्धत्वात्। यस्याप्ययमसिद्धस्तेनापि समानसमयैरेव पदैर्वक्तव्यम्। अन्यथा कथावाक्यनिष्पतेः तादर्थ्यव्याघातात्। के समानसमयाः शब्दा इति दुरूहं परबुद्धेरप्रत्यक्षत्वादिति चेत्, न। प्रागेव तदुपाय*व्याकरणादि*-व्यवहाराभ्युपगमात्।

न चैवम्भूतानां विपर्यासानां परिषत्प्रतिवादिसमानतास्ति, अर्थप्रत्ययस्तु मणिप्रभायां मणिबुद्धिन्यायेन भवन्नपि न तेषां सार्थकत्वमवस्थापयतीति युक्तमस्य निग्रहस्थानत्वम्। अन्यथाऽर्थ असामर्थ्यसंवरणार्थं दाक्षिणात्यस्य स्वदेशभाषया प्रत्यवतिष्ठमानस्य। किं वक्तव्यं पाश्चात्यैरित्य-ज्ञानमेवोत्तरवादिनः सर्वत्रेति। गतं कथाव्यसनेन। तस्मात् समानसमयैरेव पदैर्वक्तव्यमिति रहस्यम्।८।

[अविज्ञातार्थलक्षणम्]

परिषत्प्रतिवादिभ्यां त्रिरभिहितमप्यविज्ञातमविज्ञातार्थम्।५।२।९।

त्रिरभिहितमपि वादिना परिषत्प्रतिवादिभ्यामविज्ञातमर्थवत्तया अविज्ञातार्थमित्यर्थः। वाचकप्रयोगत्वान्निरर्थकाद् भेदः। अनन्वया-निश्चयेनापार्थकत्वात्। पराज्ञाननिग्रहापादनव्यामोहात् सभाक्षोभाद्वा अस्योक्तिसम्भवः। तच्च त्रिविधं स्वीयतन्त्रमात्रारूढम्। यथा पञ्च-स्कन्धद्वादशायतनचतुरार्यसत्यमित्यादि *बौद्धानां*, स्फ्यकपाल-पुरोडाशादि *मीमांसकाना*मित्यादि। गमितयोगमनपेक्षित रूढिकम्। यथा कश्यपतनयाधृति हेतुरयं त्रिनयनतनयनाम समाननामधेयवान् तत्केतुमत्वात् रसिनीवदित्यादि। पदप्रविवेकोपायसमासप्रकरणाद्यपायापादितसन्देहं यथा श्वेतो धावतीति। अत्र प्रथममुभयानुमत्या क्वचिदुपादीयेतापि वादिनोः परस्परमताभि-ज्ञानशौण्डीर्यात्। अन्यथा सोऽप्यर्थः साधारणवचसैव प्रतिपाद्यः। तदुत्तरं तु द्वयमनादेयमेव। परिषत्प्रतिवादिनो जाड्येनापि वादिवाक्यानवबोधोपपत्तेर्नेदं निग्रहस्थानमिति चेत्, न। यथोक्तस्य बोधानुपायत्वात्। लोकरूढमगमितयोगं प्रकरणद्यापन्नं विशुद्धमद्भुतोच्चारितं हि पदजातमर्थप्रतीतेरङ्गम्। एतद्विपरीतमनुपायमुपाददानो वादी निग्राह्य एव। अन्यथा वैयर्थ्यात् प्रतिवाद्यपि गमितयोगादिभिर्जल्पन्न निगृह्यते। तथा च कथा नाभासा

नाप्यनाभासेति स्यात्। तर्हि किं त्रिरभिधानविलम्बेन उक्तमात्रमेव यन्न बुद्धं तत्तथोद्भाव्यतामिति चेत्, न। अनवधानमन्दप्रसिद्धिविपरीत-बोधशङ्काव्युदासार्थं परिषदावश्यं तदपेक्षणात्। परिषदनवबोध एवास्यावतारात्। अन्यथा, अतिप्रसङ्गात्। प्रतिवादिनोऽनवबोधविभावनयैव निवृत्तेः। तथापि त्रिरिति नियमः कुत इति चेत्, ततः प्रतिपत्तेरनन्यहेतुकत्वात्। न हि बुसुत्सया पुनरभिधापयति परिषदनवहिता चेति संभवति। नापि स्थेयत्वयोग्यानां प्राश्निकानां सर्वेषामेव त्रिर्भङ्ग्यन्तराभिहितमसाम्प्रत्यायिकं चेत्यन्यत्रोक्तिकुसृष्टेः। न चावबुद्धेऽपि बोधं नाङ्गीकुर्यात्परिषदिति सम्भवति, वीतरागत्वात्,। तस्मात् त्रिरिति नियम एवेति। रूढैरेव पदैर्वक्तव्यमिति रहस्यम्।९।

[अपार्थकलक्षणम्]

पौर्वापर्यायोगादप्रतिसंबद्धार्थमपार्थकम्।५।२।१०।

पौर्वापर्यं विशेषणविशेष्यभावः। तस्य तेन वा अयोगो निराकाङ्क्षत्वम्। तस्मादप्रतिसम्बद्धार्थमनन्वितार्थमपार्थकं पदजातं वाक्यजातं वेत्यर्थात् एतस्य साभिधेयत्वान्निरर्थकासङ्करः। अनन्विततया चान्वयवतोऽर्थान्तराद्भेदः। तच्च त्रिविधं, मुख्यं यथा- *भाष्यो*दाहृतं, व्यवधानानन्वयम्। यथा गच्छति पयसाश्वेन भुक्त्वा नगरं चैत्र इति। विकल्पशेषानन्वयं यथा पदार्थाभ्युपगमेऽपि सम्भावितसमस्तान्वयप्रकारखण्डनात्तदनभ्युपगमेन द्रष्टव्यम्। विकल्पान्तःपाति प्रकाराभ्युपगमे तु यथोक्तखण्डनमेव निग्रहः। असमर्थविशेषणानन्वयं चतुर्थमपार्थकमस्तीति *केचित्*। तदशिष्यमसाम्प्रदायिकत्वात्। अतिप्रसङ्गाच्च। हेत्वाभासान्तर्भूतं हि तदिति *वार्त्तिकम्*। न च ततोऽन्वय प्रतीतिरेव न स्यात्। भूता त्वसामर्थ्येन बाध्यते। तथापि चापार्थकत्वे विरोधहेत्वाभासादीनामप्यत्रैवान्तर्भावः स्यात्। तस्मात् यत्रैवान्वयानवगतिस्तदेवापार्थकं न तु त्रासौ बाध्येतापीति।

एतेन व्यधिकरणानन्वयमपि अपार्थकमिति निरस्तम्। उक्तिसम्भवस्तत्र प्रकारद्वयस्य पराज्ञानापादनव्यामोहाद्वा, प्रतिवाद्यापादनाद्वा प्रमादाद्वा मुख्यस्य तु कथं? न हि योग्यः स्वस्थः परप्रतिपादनव्यापृतोऽनन्वितं मुख्यतो जल्पतीति सम्भवतीति। नन्वकुशलस्य वास्तवेनानन्वयेन तरलितस्य

यथोक्तेरुपपत्तेः। यथा महाजनपरिगृहीता *वेदाः* नार्वाचीनपुरुषप्रणीताः, अनादिश्च संसारः, अकर्तृकञ्च क्षित्यादि जगद्वैचित्र्यञ्च न निर्हेतुकमित्याद्यनन्वितं सूत्रप्रायमिति। अनन्वितं न ब्रूयादिति रहस्यम्।१०।

[अप्राप्तकाललक्षणम्]

अवयवविपर्यासवचनमप्राप्तकालम्।५।२।११।

निगदव्याख्यानमेतत्। अवयवशब्दस्त्वत्र समस्तकथाभागसङ्ग्रहार्थः। तेन चतुर्विधमेतत्। पादपादांशावयवतदङ्गविपर्यासभेदात्। वादिना हि प्रयोगोऽभिधेयः। तदनन्तरं सङ्क्षेपतो विस्तरतो वा हेत्वाभासोद्धारः कार्यः। प्रतिवादिनापि जल्पे वादिप्रयुक्तं हेतुमुपालभ्य स्वपक्षसाधनं वक्तव्यम्। अथ हेत्वाभासा उद्धरणीया इति क्रमः। तत्र यदि प्रथमत एव हेत्वाभासानुद्धरति पश्चाद् हेतुं प्रयुङ्क्ते तदा पादांशविपर्यासः। प्रतिवादी वा यदि प्रथमतः स्वपक्षे साधनमभिधत्ते, पश्चाच्च परोक्ते हेतौ दोषं, तदा पादविपर्यासः। अवयवविपर्यासस्तु प्रसिद्धः, तदंशविपर्यासो यथा सकर्तृकं विवादाध्यासितमिति। एतस्य सभाक्षोभादुक्तिसम्भवः। अर्थप्रत्यायने क्रमो न विवक्षितः, व्यतिक्रमेणाप्यर्थप्रतीतेरित्यभिमानाद्वा।

ननु युक्त एवायमभिमान इति चेत्, न। अप्रयुक्ते हेतौ दोष चर्याया निराश्रयत्वात्। उपस्थिते दूष्ये हेतौ स्वपक्षसाधनस्याप्रस्तुतत्वात्। तस्मात् पादतदंशानां क्रमो विवक्षित एव। अवयवतदंशानाञ्च चर्चित एव प्रथमेऽध्याये। एवञ्च व्यतिक्रमेणाप्यर्थप्रतीतिः कृतृरासदिवादिवद् द्रष्टव्येति। आकाङ्क्षाक्रमेण ब्रूयादिति रहस्यम्।११।

[न्यूनलक्षणम्]

हीनमन्यतमेनाप्यवयवेन न्यूनम्।५।२।१२।

नन्वसम्बद्धमेतत्वादान्तरलोपप्रसङ्गात्। तथा हि, *सौगतो* यदि द्व्यवयवं प्रयोगं कुर्यात् न्यूनेन निगृह्येत; अनिग्रहे वा वादी निपर्यनुयोज्योपेक्षण-मासादयेत्। पञ्चावयवे त्वधिकेन निगृह्येत। तथा स्वीकारे वा अपसिद्धान्तेन। ततो द्व्यवयवे प्रयुक्ते नियमेन न्यूने चोद्भाविते ऽवयवानामनङ्गता *बौद्धेन* वक्तव्या। *नैयायिकेनापि* अङ्गता तेषां व्युत्पादनीयेति सर्वथा कथानिष्ठा

स्यात्। न चैवमेवास्त्विति वाच्यं, निग्रहस्थानान्तरव्युत्पादनवैयर्थ्यप्रसङ्गात्। प्रतिज्ञाद्यङ्गत्वानङ्गत्वविचारोऽपि वा न स्यात्। प्रयोगस्यानिर्णये प्रयोक्तुमशक्यत्वादिति।

इदमत्र तत्त्वम्–स्वसिद्धान्तनिर्णीतप्रयोगावयवपरित्यागाद्यपेक्षया न्यूनाद्यवतारः। नन्वेवमप्यपसिद्धान्तोऽस्तु, किमनेन? न, नहि स्वसिद्धान्तविपरीताचरणमपसिद्धान्तः, किन्त्वभ्युपगमः। अन्यथा सर्वनिग्रहस्थानानामपसिद्धान्तत्वप्रसङ्गात्। न च न्यूनत्वकरणोऽप्यनेन न्यूनस्यागमकत्वमङ्गीकृतं यतोऽपसिद्धान्तः स्यात्।

ननु तथा नाभ्युपैति करोति चेति व्याहतं, ततो यदि नाम शब्दो नाभ्युपगमः तथापि आभिप्रायिकः स्यादिति। नोपक्रान्तपरिपूर्णवाक्यस्यापि मध्ये सभाक्षोभेण स्तंभितस्यावयवान्तरावचनोपपत्तेः। वचनलिङ्गाश्चा-भिप्राया इति न्यूनाभिधानेनैव तथाभ्युपगमस्याप्युन्नेयत्वेन ततो जघन्यप्रतीतिकत्वादिति।

यद्वा, यथावस्तु यथासिद्धान्तं वा वक्तव्यमिति प्राङ्नियमाद-स्यावतारः। न चैवं सति प्रयोगशरीर चर्चाप्रसङ्गे वादान्तरसंक्रान्तिदोषः। अन्यतरासिद्धत्वोद्भावने सिद्धव्युत्पादनवदस्यापि प्रकृतेन सम्बन्धादिति। परिपूर्णं वदेदिति रहस्यम्।१२।

[अधिकलक्षणम्]

हेतूदाहरणाधिकमधिकम्। ५।२।१३।

अन्वितमुपयुक्तमपुनरुक्तं कृतकर्तव्यमभिधीयमानम् अधिकमिह ग्राह्यम्। तदधिकं निग्रहस्थानं व्यवहर्तव्यमित्यर्थः। तेनापार्थकादिव्यवच्छेदः, अधिकानुवाददूषणाधिकयोश्च सङ्ग्रहः। हेतूदाहरणग्रहणं तु अवयवान्तराधिकाभावप्रतिपादनार्थं न हि प्रतिज्ञानिगमनाधिकं सम्भवति। समानार्थत्वेन पौनरुक्त्याद्विपर्ययेऽनित्यः शब्दः क्षित्यादिकं सकर्तृकमिति वदपदार्थकत्वात्। धर्म्येकत्वेऽनित्यः शब्दो गुणश्चेतिवदर्थान्तरत्वात्। साध्यविशेषणानेकत्वे वर्णात्मको वाचकः शब्दो विनाशीऽनित्यः इतिवदर्थपौनरुक्त्यादिति। एवं निगमनेऽपि। उपनयाधिकन्तु हेत्वधिकान्न

विशिष्यते। हेतूदाहरणयोस्तु नैवमन्यसङ्करः। अग्निमदिदं धूमवत्वादालोकवत्वाच्चेति हि न पुनरुक्तं धूमालोकयो–र्भिन्नत्वादव्याप्तेश्च। नापार्थकम्। प्रतिज्ञार्थेनान्वितत्वात्। नार्थान्तरम्, उभयोरपि प्रकृतोपयोगित्वेनाविशेषात् केवलं वृतकर्तव्यत्वमवशिष्यते। एवं यथा आपाकः यथा महानसमित्यत्रापीति। तदेतदधिकं स्वशब्देन विशेषतः आदिशब्देन सामान्यत इति द्विविधमनुसन्धेयम्। नैतन्निग्रहस्थानमप्रतिपत्तिविप्रतिपत्त्योरसूचकत्वादित्येके।

तदसत्, परिषत्प्रतिवादिजिज्ञासामनिरुद्ध्य कथाप्रवृत्तेः। अन्यथा अर्थान्तरादिकमपि निग्रहस्थानं न स्यादिति। स्वेच्छया तस्यापि प्रस्तुतत्वात्। ततस्तां कथाङ्गभूतामबुद्ध्वा अनङ्गतया वा बुद्ध्वा प्रवृत्तेरप्रतिपत्तिविप्रतिपन्नी कथं न स्तः। यदा तु परिषदः साधनान्तरोदाहरणान्तरयोरपि जिज्ञासा स्यात्, तदा का वार्तेति चेत्, यावत्स्फूर्ति वक्तव्यं न तु सामस्त्यनियमाभ्युपगमेन असर्वज्ञेन तस्याशक्यत्वात्। आभ्यासिकेन यावच्छास्त्रं वक्तव्यं तदवचने न्यूनतावतारः। अगाधप्रज्ञेन यावत्परिषज्जिज्ञासं वा वक्तव्यम्। बहुवासरजल्पे हि सा स्वयमेव निर्वर्त्स्यति। अनिवृत्तौ तु सैव परिपन्थिनी, न चैतत् सम्भवतीति। दोषाभिधाने तु सामस्त्यनियमाभ्युपगमोऽपि शक्यः, तेषां परिमितत्वात्। स्फुटो दृढश्चायमर्थो भवत्विति व्यामोहात् अस्योक्तिसम्भवः। ननु कथमयं व्यामोह इति चेत्, न। स्फुट दृढत्वे हि निश्चयो वा स्यात् निश्शेषनिश्चयो वा, अभ्यासेन संस्कारातिशयो वा। न प्रथमः, प्रथमेनैव सिद्धत्वात्। न द्वितीयः, तस्यानुमानसहस्रेणाप्यशक्यत्वात्। न तृतीयः, तस्य शिष्याद्यनुकम्पनीयविषयत्वात्। परिषत्प्रतिवादिनोश्च तद्विपरीतत्वात्। तथापि प्रमाणमेव तत्, तन ह्यनधिगतार्थगन्त्रेव तत् *नैयायिकानामि*ति चेत्, सत्यम्। अनपेक्षितं तु बोधयन् पुरुषे निगृह्यतेऽवस्थान्तरवदित्युक्तम्। तथापि आत्मप्रौढिख्यापनमत्र फलमस्तीति चेत्, न। तस्य जिज्ञासितविषयस्यैव श्लाघाहेतुत्वात्। अन्यथा त्वतिप्रसङ्गादिति।१३।

[पुनरुक्तलक्षणम्]

अनेनैव न्यायेन सिद्धप्रतिपत्तेरर्थस्य प्रयोजनं विना पुनः प्रतिपादनाय वचनं पुरुक्तं नाम निग्रहस्थानं तदवान्तरभेदेन प्रपञ्चयन् सूत्रयति–

शब्दार्थयोः पुनर्वचनं पुनरुक्तमन्यत्रानुवादात्।५।२।१४।

यद्यपि 'पुनर्वचनं पुनरुक्तमन्यत्रानुवादा' दित्यनेनैव लक्षणेन सर्वसङ्ग्रहः। 'शब्दार्थयो' रित्यनेनैव प्रपञ्चनं, तथाप्युक्तस्य पुनर्वचनं न चार्थापन्नमुक्तं तत्राभिधानाभावादिति शङ्कां निराचिकीर्षुराह-

अर्थादापन्नस्य स्वशब्देन पुनर्वचनम् पुनरुक्तम्।५।२।१५।

पुनरुक्तमिति वर्तते। न ह्यत्र पुनश्शब्द उक्तेरावृत्तिमाह, किन्तु प्रतिपत्तेः। तेन प्रतिपन्नस्योक्त्या पुनःप्रतिपादनमित्यर्थः। तच्च प्रतिपन्नं तत एव शब्दात् तत्पर्यायाद्वा तदाक्षेपाद्वेति। तथा च अर्थापन्नस्य पुनरर्थादापन्नत्वं न दोषाय। अविनाभावस्य पुरुषानधीनत्वात्। शब्दान्तरस्य स्वाभिधेयपरत्वेनोच्चरितत्वादिति। उदाहरणञ्च नित्यो नित्य इति। अनित्यो विनाशी इति। वाक्येऽप्येवमेव। अर्थादापन्ने पूर्वपदाक्षिप्तोक्तिर्यथा अग्निनोष्णेन पर्वतो युक्त इति। इयमेव विपर्ययेणोत्तरपदाक्षिप्तोक्तिः। वाक्ये विध्याक्षिप्तनिषेधोक्तिर्यथा-बहिरस्ति देवदत्त इत्युक्त्वा गेहे नास्तीति जीवन् गेहे नास्तीत्युक्त्वा बहिरस्तीति निषेधाक्षिप्तविध्युक्तिरित्यादि।१५।

[अननुभाषणलक्षणम्]

विज्ञातस्य परिषदा त्रिरभिहितस्याप्रत्युच्चारणमननुभाषणम्। ५।२।१६।

परिषदेति विज्ञाने कर्तारं निर्दिशता प्रतिवादिज्ञानमविवक्षितमिति दर्शितम्। तदभ्युपगममात्रन्तु विवक्षितमनभ्युपगमेऽज्ञानावतारात्। त्रिरभिहितस्यापीत्युच्चारणयोग्यतामात्रप्रदर्शनपरं वादिनेति शेषः। तदनिर्देशस्तु मन्दस्य कदाचित् परिषदाप्यनूद्य दीयत इति सूचनार्थम्। तदयमर्थः - वादिनोक्तस्य परिषदावबुद्धस्य पुनर्वादिना परिषदा वानूद्य दत्तस्यापि योग्यस्य स्वस्थेनानवबोधमनाविष्कुर्वता कथामविच्छन्दता न प्रत्युच्चारणमननुभाषणमिति।

ननु द्वयं पर्युदासवृत्ति। तथा च तदित्यादिना सर्वनाम्नानुवादेन वा एकदेशानुवादेन वा विपरीतानुवादेन वा केवलं दूषणोक्त्या वा स्तम्भेन वेति पञ्चधा विभाव्यते। न ह्येवमज्ञानमप्रतिभा वा निश्चेतुं शक्यते।

ज्ञानसाधनस्यापि स्फुरदुत्तरस्यापि वा कुण्ठत्वेन सभाक्षोभेण वाननुवादोपपत्तेः। अननुभाषणस्य योग्यानुपलब्ध्यैव निश्चयात्। ततो निश्चितानिश्चितयोर्निश्चितमेवोद्भाव्यम्। अनिश्चितनिग्रहोद्भावनेऽतिप्रसङ्गात्। कथमेतन्निग्रहस्थानमिति चेत्, अकिञ्चिद्वचने दूषणायोपादानस्याङ्गत्वाप्रतिपत्तेः। केवलदूषणवचने च निराश्रयदूषणं किं दूषयिष्यतीत्यसाधनोपादानाद्विप्रतिपत्तेः। असाधनमनैकान्तिकत्वादिति हि तत्। अयथानुभाषणेऽव्यधिकरणं दूषणमित्येतदपि तथैव। दूष्यैकदेशानुवादेऽपि तादृगेव। न हि एकदेशदूषणे समुदायो दूषितः स्यात्। तथा चैन्द्रियकत्वस्यानैकान्तिकत्वेन दूषणे गुणत्वे सति ऐन्द्रियकत्वादित्येतदपि दूष्येत्। सर्वनामानुवादेऽपि अननुवादान्न विशेषः। प्रकृतस्य भूयस्त्वेन सन्दिग्धत्वादिति। न च योग्यतया नियतो दूष्यत्वेन सर्वस्यैव तथाभावात्। नापि दूषणस्वरूपपर्यालोचनया, असिद्धत्वादिना पक्षहेतुदृष्टान्तानामपि दूष्यत्वात्। न च यत्र यत्सम्बद्धं तदेव तच्छब्दवाच्यं, असम्बद्धभाषणस्यापि संभवात्। न हि तेन सम्बद्धमेव वक्तव्यमिति नियमोऽस्तीति।१६।

[अज्ञानलक्षणम्]

अविज्ञातञ्चाज्ञानम्।५।२।१७।

परिषद्विज्ञानवादित्रिरभिधानानुकर्षणार्थश्चकारः। तेन वादिना उक्तं परिषदा च बुद्धं पुनः वादिना परिषदा वानूद्य दत्तमपि प्रतिवादी न चेद्विजानीयात्तदाऽज्ञानं तस्य निग्रहस्थानम्। एतच्च न बुद्ध्यते मया किमनेनोक्तमित्यभिधाय तिष्ठासोरिष्यते। एवम् अननुभाषणादस्य भेदः अनवबोधमनाविष्कुर्वतो ह्यनुवादावसरः। अवसरे च क्रियाभ्रंशो दोषाय। अन्यथानुच्यमानदशायामननुभाषणोद्भावनप्रसङ्गात्। तस्मादबोधं विभाव्य तिष्ठासोर्नाननुभाषणावसरः। अत एव, नाप्रतिभेत्यज्ञानमेवावशिष्यते। अविज्ञातं येन तस्याज्ञानमिति सूत्रार्थः।१७।

[अप्रतिभालक्षणम्]

उत्तरस्याप्रतिपत्तिरप्रतिभा।५।२।१८।

अनुवादानन्तरमेवैतदुद्भावनावसरः। अन्यथातिप्रसङ्गात्। तदा हि

नाज्ञानमुद्भाव्यं सन्दिग्धत्वात्। स्वयमनाविष्काराच्च। नाननुभाषणम्, तस्य तत्क्रिययैवापास्तत्वात्। न विक्षेपः, कथाविक्षेपव्याजानुक्तेः। नार्थान्तरं, प्रसक्तानुप्रसक्तेरभावात्। नापार्थकं, अनुक्रमेणान्वयग्रहणादिति। एतस्यां च वेलायामवहितायां परिषदि वादिनि च श्रोतुमेकताने प्रतिवादी यद्युत्तरं अददानः श्लोकं वा पठेत् केशादिकं वा समारचयेदाकाशं वा सूचयेद् राजवार्तां वाऽवतारयेत्, यद्वा तद्वा कुर्यात् सर्वथा अप्रतिभया निग्राह्यः। अन्यत्राहिदंशापस्मारभूतावेशोन्मादादिभ्यः। सत्साधने चेयमसङ्कीर्णा, अन्यत्र पर्यनुयोज्योपेक्षणसहचारिणी अनुद्भाविताापि चेयं निग्रहाय। यथायथं स्मितस्वेदादिनापि सुव्यञ्जितत्वात्। कथाविरामेण तिरोधानासम्भवाच्च। अतो नैतस्यामक्षरैरनुद्भावितायामपि पर्यनुयोज्योपेक्षणमस्ती*त्याचार्यदेशीयाः*।१८।

[विक्षेपलक्षणम्]

कार्यव्यासङ्गात्कथाविच्छेदो विक्षेपः।५।२।१९।

सम्भूय प्रतिज्ञानन्तरं प्रवृत्तायां कथायाम् अद्य मया न वक्तव्यं, इदं मे करणीयमस्ति श्वः परश्वो वा वदिष्यामीति व्याजोत्तरं विक्षेपः। नात्र वादी वचनं नावधत्ते, न वाप्रतिभायां व्याजोत्तरमस्तीति भेदेनोपन्यासः, लोके प्रसिद्धेरनुरोधात्। प्राप्तावसरस्य हि स्वस्थस्य वृथाचेष्टाभिरुन्नीयते शक्तिः, व्याजोत्तरेण वेति लोकप्रसिद्धोऽयमर्थः। अत्र च ताम्बूलभक्षणोद्गिरण प्रस्तावोच्चाराद्यावश्यकमनुष्यधर्मा न व्याजतामुपयान्ति। सर्वप्राणिसाधारणतया सम्भाविततयापकर्षासूचकत्वात्, कथाविच्छेदाहेतुत्वाच्च। कथारम्भादारभ्य परिसमाप्तिपर्यन्तमस्यावसरः। अवश्योद्भाव्यञ्चैतत्। अन्यथाङ्गीकारप्रसक्तावतिप्रसङ्गेना पर्यवसानादिति।१९।

[मतानुज्ञालक्षणम्]

स्वपक्षदोषाभ्युपगमात् परपक्षे दोषप्रसङ्गो मतानुज्ञा। ५।२।२०।

अत्र पक्षः सिद्धान्ते, दोषः प्रतिकूलतामात्रम्, अभ्युपगमोऽनुद्धारः। तेन स्वसिद्धान्ते परोक्तं प्रतिकूलमनुद्धृत्य परसिद्धान्ते प्रतिकूलबुद्ध्या इष्टप्रसङ्गो मतानुज्ञेति सूत्रार्थः। तेन साधनदूषणयोः मतानुज्ञासङ्ग्रहः। कुतः

पुनरियं न जातिः? विशेषलक्षणायोगेन चतुर्विंशत्यामनन्तर्भावात्। प्रतिषेधासमर्थप्रसङ्गमात्रतया सामान्यलक्षणयोगेऽपि पञ्चविंशतितम्या असत्कल्पत्वात्। कथाप्रयोगेऽपि उद्भावनानर्हत्वात्। असामर्थ्योद्भावनेन हि जातित्वमुद्भाव्येत, तच्च प्रकृते दुर्घटम्। यदा खलु पुरुषत्वाच्चेदहं चौरः तत एव भवानपीत्युक्ते प्रतिब्रवीति चौरत्वे पुरुषत्वमनैकान्तिकमप्रयोजकं वा कथमेतस्मादहं चौरः स्यामिति तदा स्वोक्तमप्यनेन दूषितं स्यात्। ततः स्वरूपतो जातित्वेऽपि प्रत्युत्तरे जात्युद्भावनं न सम्भवतीति जातित्वं सदप्यसत्कल्पमेव। मतानुज्ञोद्भावने तु न कश्चित् दोष इति तदवकाशः। एवं हि प्रतिब्रूयात् काममहमपि चौरः किमेतावता न ह्येकमिन्धनमग्निसम्बन्धाद्दग्धमित्यन्यन्न दह्यते। तद्दाहे वा पूर्वस्य दग्धत्वं निवर्तते। न च प्रसङ्गोऽयम्। प्रसञ्जनीयस्यानिष्टत्वासिद्धेः। अत एव व्याघातदेशनेयम्। आत्मनः पुरुषत्वेऽप्यचौरत्वमभ्युपगम्य परस्या पादयतो हि सा स्यादिति उत्कर्षनित्याविशेषसमा अप्येवं परिहरतः को दोषः? तथा च तासामपि मतानुज्ञायामनुप्रवेश इति चेत्, न। प्रसञ्जनीयस्याभ्युपगमेन हि मतानुज्ञोद्भावनमिष्यते, अन्यथा अनिष्टप्रसङ्गेनैवोत्तरनिर्वाहे तदुद्भावकस्य निरुत्तरत्वप्रसङ्गात्। अनिष्टप्रसङ्गो हि दूषणमेव प्रतिकूलदेशनाद्व्याघाताद्वेति। न चात्रापादिताभ्युपगमः शक्यः। न हि घटकार्यत्वात् क्षित्यादिकं सकर्तृकं शरीरपूर्वकमस्त्वित्युक्ते काममस्त्वित्युत्तरम्, उचितमपसिद्धान्तप्रसङ्गात्। तथा घटसाधर्म्याद् यदि अनित्यः शब्दः, सत्वात् तत्साधर्म्यात् त्रैलोक्यमेवानित्यमवशिष्टं वास्तु नवानां द्रव्याणां द्रव्यत्वादविशेषोऽस्त्वित्यादौ काममस्त्वित्युत्तरमिष्टम्। इष्टत्वे वापसिद्धान्तः स्यात्।

तस्मादसमर्थत्वाविशेषेऽपि यत्र मतानुज्ञोद्भावनप्रसङ्गानभ्युपगमः, तदभ्युपगमेऽपसिद्धान्तो वा तत्र जातित्वमेवोद्भाव्यम्। यत्र जातित्वोद्भावनमात्मानमपि प्राप्नोति प्रसंजितस्याभ्युपगमोऽपि निर्दोषस्तत्र मतानुज्ञेति। तथा च साधुन्यसाधुनि वा दूषणे वा साधने वा प्रयुक्ते यदनिष्टभ्रमेणेष्टप्रसञ्जनं सा मतानुज्ञेति संक्षेपः। तत्र साधने तावदुच्यते– शब्दोऽनित्यः कार्यत्वादैन्द्रियकत्वाद्वा घटवदिति सदसत्प्रयोगे यदि ब्रूयात्, तद्वदेव तर्हि मूर्तेऽपि च स्यादिति घटसाधर्म्यात् सत्वात्त्रैलोक्यमेवानित्यमस्त्विति वा

तदा जातिरेवोद्भाव्या, मतानुज्ञायाः प्रसङ्गाविष्कारेणैव तिरोभावात्। यदाप्यैन्द्रियकत्वात् इत्यत्र प्रत्यवतिष्ठते तर्हि तत एव सामान्यमप्यनित्यं स्यादिति, तदा सदुत्तरमेव। कथमस्यानिष्टतया तत्र प्रसङ्गत्वेन साधनस्य प्रतिकूलतर्कप्रतिहतत्वात्। इष्टत्वे वापसिद्धान्तत्वात्। तदविनाभूततया स्वीकृतस्याप्यैन्द्रियकत्वस्य तेन विनापि स्वीकारे व्याघाताच्चेति। यदा पुनः सतोऽपि तर्हि तत एवानित्योऽस्त्विति ब्रूयात् तदा मतानुज्ञोद्भाव्या प्रसञ्जितस्यैवेष्टत्वात्। जात्युद्भावनस्य चाशक्यत्वात्। साधुन्य-सामर्थ्याभावात्। असाधुन्यसमार्थ्याविष्करणेन स्वोक्तस्यापि दूषणप्रसङ्गात्। एवं दूषणेऽप्यूहनीयम्। अनिष्टत्वेन निश्चतमेव परस्य प्रसञ्जयेदिति रहस्यम्।२०।

[पर्यनुयोज्योपेक्षणलक्षणम्]

निग्रहस्थानप्राप्तस्यानिग्रहः पर्यनुयोज्योपेक्षणम्।५।२।२१।

विजातीयप्राप्ताविदमिष्यते। न ह्युपेक्षणस्याप्युपेक्षणं निग्रहाय, अनवस्थाप्रसङ्गात्, प्रयोजनाभावाच्च। अनेकसन्निपाते चैकतमोद्भावने अन्यानुद्भावनं न तन्निग्रहाय। तावतैव प्रकृतसिद्धेः। तदुद्भावनेऽधिकत्व-प्रसङ्गाच्च असमस्तोद्भावनप्रतिज्ञाने तु तथा स्यादेव। पुरःस्फूर्तिकानधिकृतोद्भावितस्याद्यग्रहणं न निग्रहाय। तदुक्तेरफलत्वेनानुक्तेरुचितप्राप्तत्वात्। प्रतिक्रियासंवृतस्याप्येवं यथा नाहमद्य वक्तुं समर्थः प्रतिश्या-याकर्मण्यकण्ठत्वादित्युक्त्यैव तथाप्यारब्धत्वादुच्यत इति विक्षेपो व्यावर्तते। तस्मादवश्योद्भाव्यस्य निग्रहस्थानस्यावसरेऽग्रहणं पर्यनुयोज्योपेक्षणमिति सूत्रार्थः। प्राप्तपर्यनुयोज्यशब्दयोरर्हदर्थत्वात्।

सभ्योद्भाव्यञ्चैतत्। अप्रतिभायां कुत इदं पृथगनुशिष्यते? असत्साधनविषयत्वादिति चेत्, किमनेन विशेषणेन? अनधिकप्रयोजनत्वात्। न प्रतिज्ञाहानिप्रतिज्ञासंन्यासादौ तदुपेक्ष्य सदुत्तरेणापि प्रत्यवस्थाने-ऽस्यावकाशात्। अप्रतिभायास्तत्राभावात्। ननु सदुत्तरं वा प्रौढतया क्षुद्रं स्खलितं यद्युपेक्षितवान् किमेतावतैव निग्रहमर्हति? अर्हत्येव प्रतिज्ञा-सन्न्यासादीनामवश्योद्भाव्यत्वात्। अन्यथा पूर्वोपात्तं दुष्टं त्यजन् विशेष-

यन्नपह्नुवानो यद्युपेक्ष्येत कथमपि कथाप्रतानच्छेदो न स्यादिति।२१।

[निरनुयोज्योनुयोगलक्षणम्]

अनिग्रहस्थाने निग्रहस्थानाभियोगो निरनुयोज्यानुयोगः।५।२।२२।

स चतुर्विधः, छलं जातिराभासानवसरग्रहणञ्चेति। तत्र छलमुक्तम्। जातिश्च। आभासो यथा–अनेकविकल्पस्फुरणे विकल्पतोऽनिष्टकल्पत्यागेन प्रतिज्ञाहानिः। प्रकरणाद्यापन्नविशेषाविष्करणेन प्रतिज्ञान्तरम्। नञ्प्रयोगाप्रयोगमात्रेण विरोधः। आरोपितानभ्युपगमेन संन्यासः। स्वयमगृहीतस्य विशेषणस्य पुरुत्कीर्तनेन हेत्वन्तरम्। वस्तुतः प्रस्तुतानुगुणस्यापाततस्तथानध्यवसायेनार्थान्तरम्। आत्मनोऽ वैयाकरणत्वेन वाचकप्रयोगेऽवाचकत्वाभियोगो निरर्थकम्। आत्मनः परिषदेकदेशस्य वा अनवबोधेनाविज्ञातार्थम्। पौर्वापर्ययोगेऽपि स्वयमप्रतिसन्धानेनापार्थकम्। अनवबोधाद् विपर्ययेणाप्राप्तकालम्। अन्यत्र व्यासङ्गादश्रुतेन न्यूनं, पार्श्वस्थाद्युक्तेन हेत्वादिनाप्यधिकम्। श्रुतिसामान्यमात्रेण पुनरुक्तम्। तदप्रसिद्धपदैरनुवादेनाननुभाषणम्। अनवबोधितायामपि परिषदि स्वावष्टम्भमात्रेणाज्ञानमुत्तरं वदतोऽपि स्वेदादिना प्रतिभाक्षयः। आवश्यकप्राणिधर्मेण विक्षेपः। सिद्धसाधनेन मतानुज्ञा। अदोषोद्भावनेन पर्यनुयोज्योपेक्षणम्। अच्छलजात्योः छलजात्युद्भावनेन निरनुयोज्यानुयोगः। अभ्यस्तशास्त्रातिक्रमेणापसिद्धान्तः। उक्तिमात्रेण हेत्वाभासा इति निग्रहस्थानाभासाः।

तथानुयोज्यत्वेऽपि प्रतिज्ञाहान्यादौ प्रतिज्ञान्तरादि। छलेऽपि जातिः। वाक्छलादावपि छलत्वेनोपचारच्छलादि। साधर्म्यसमादावपि जातित्वेन प्रकरणसमादि। अतन्निग्रहस्थानापन्नो हि निरनुयोज्योऽत्र विवक्षितः। तस्यानियोगेऽपि तन्निग्रहस्थानोद्भावनमेवं सर्वसङ्ग्रहः। तथा चातन्निग्रहस्थाने तन्निग्रहस्थानाभियोगो निरनुयोज्यानुयोग इति सूत्रार्थः। एतदेव महतः सूत्रस्य प्रयोजनम्, अन्यथा त्वनिग्राह्यनिग्रह इति प्रणयेत। अनवसरग्रहणन्तु यथोक्तावसरमप्राप्यातिक्रम्य वा ग्रहणम्। यथा त्यक्षसि चेत् प्रतिज्ञाहानिः, विशेषयिष्यसि चेत् हेत्वन्तरमिति। अयं तावदनेन दोषेण हेतुस्ते दुष्ट एवा

दुष्टो वास्तु तथापि पूर्वस्तावत् त्वया त्यक्त इति हानिः। विशिष्टस्तावदयमदुष्टः विशिष्ट एव त्वयोपात्त इति हेत्वन्तरमित्युक्तग्राह्यम्। तथाचोच्यमानग्राह्यमपशब्दाद्युक्तिपरिसमाप्तौ वा अनुक्तग्राह्यमज्ञानाद्यननु-भाषणाद्यवसरे सर्वं कक्षान्तरितमिति।२२।

[कथकान्योक्तिनिरूप्यनिग्रहस्थानद्वयप्रकरणम्]

सिद्धान्तमभ्युपेत्यानियमात् कथाप्रसङ्गोऽपसिद्धान्तः।५।२।२३।

अभ्युपगतसिद्धान्तातिक्रमेण साधनदूषणयोरभिधानम् अपसिद्धान्त इत्यर्थः। पुरुषान्तरवाक्यव्याघातरूपत्वादस्य स्ववाक्यव्याघात रूपाद्विरोधाद्भेदः। नन्वत्रापि स्वेनैव पूर्वाभ्युपगमे व्याघातः? यदा हि न्यायदर्शनमभ्युपगम्य तत् परिहरेत्, तदायमपसिद्धान्ततामासादयेत्। तथा च स्वीकारपरिहारावेकस्य विरुद्धाविति। न पुरुषान्तरवचनमनुपनीय विरोधस्य साक्षादप्रतीतेः। न हि *नैयायिको*ऽहमित्याभिधाय अभौतिकानीन्द्रियाणीति वचनमिन्द्रियाणि भूतेभ्य इति *गौतमव*चनमवतार्य व्याहतमभिधातुं शक्यमिति। एवं त*र्ह्यागम*विरोधोऽप्यत्रैवान्तर्भवेदिति चेत्, न। उभयवादिसिद्धप्रमाणभावेन स स्यात्। अयन्तु स्वाभ्युपगममात्रविषयेणेति विशेषात्। अत एव, *बौद्धेन* सह कथायां *मीमांसकस्य* वेदविरोधोऽपसिद्धान्त एव, *तीर्थिकेन* सह कथायां प्रवृत्तायां *सौगतस्य* स्वागमविरोधवत्। अथ उभयोरप्यङ्गीकृत*कणादाक्षपाद*प्रामाण्ययोस्तन्मतातिक्रमे कथं? न कथञ्चित्। अविप्रतिपत्तौ कथाया एवाप्रवृत्तेः। विप्रतिपत्तावुभयप्रामाण्याभ्युपगमपरित्यागात् तद्विरुद्धदर्शनान्तरमाश्रित्यैव हि वादप्रवृत्तिः, नान्यथेति। अस्फूर्तिदशायामस्मन्मतानभिज्ञोऽयमिति वाद्यवज्ञानात्। अन्यथा व्याख्यास्यामीति शौटीर्यादे*कदेशिमतं* तदिति वैयात्यात् साक्षान्नोक्तमिति व्यामोहाच्चोक्तिसम्भवः। न हि शास्त्राश्रया वादा भवन्तीति नापसिद्धान्तो ग्रहाधिकरणमि*त्येके*।

तन्न। शास्त्रमनाश्रित्य तदनुगुणकथारम्भानुपपत्तेः। यदा हि *बौद्धः* क्षणभङ्गसाधने प्रयुक्तेऽस्फूर्तिमता *नैयायिकेन* सिद्धसाधनमुद्भाव्य निगृह्येत तदा किं कुर्यात्? प्रथमविप्रतिपत्तिविरोधमुद्भावयेदिति चेत्, एवं तर्हि

विप्रतिपत्त्यनुगुणप्रमेयान्तरव्यतिक्रममप्युद्भावयेदेव अविशेषात्। अन्यथा विप्रतिपत्तिव्यतिक्रममप्युपेक्षेत। न खलु तत्तदनुगुणप्रमेयान्तर व्यतिक्रमयोर्विरोधोपपत्तिं प्रति कश्चिद्विशेषः। न चैकपुरुषार्थानुगुणाङ्गाङ्गिभावव्यवस्थितपदार्थजातव्युत्पादनादन्यच्छास्त्रं नाम। तस्मात् क्षणिकत्वस्वीकारे तदनुगुणापोहादिसमस्तस्वीकारः। तदेकपरिहारे वा समस्ततदनुगुणपरिहार इति परमेश्वरोऽपि नान्यथाकरणक्षमः।

न च समस्ततदनुगुणपदार्थजातं कथारम्भे स्वशब्देनाभिधातुमुचितं, तदैव शास्त्रप्रणयनप्रसङ्गादिति, परिषदनपेक्षिततत्वाच्च। न च तस्यातिक्रमोद्भावनाय समस्ततदनुगुणोहः परस्परशास्त्रमनाश्रित्य शक्यः। न च तदनुगुणव्यतिक्रमे तदुपेक्षणे वा तत्त्वप्रतिपत्तिजयावित्यकामेनापि तदधिकारप्रवृत्तं शास्त्रमेवाश्रयणीयमिति।२३।

[हेत्वाभासमधिकृत्य]

हेत्वाभासाश्च यथोक्ताः। ५।२।२४।

तथैव निग्रहस्थानमिति शेषः। शेषं *भाष्यादौ*। अनुक्तसमुच्चयार्थश्चकारः। विरोधादिनिग्रहस्थानोत्तीर्णस्य साधनप्रयोगस्य चतुर्द्धा दुष्टत्वं भवति। हेतुतो यथानैकान्तिकमित्यादि। दृष्टान्ततो यथा साधनविकलमित्यादि। तर्कतो यथा आत्माश्रयेतरेतराश्रयादि। उक्तितो यथा अनुपदर्शितान्वयविपर्ययोपदर्शितान्वयादि। तत्र स्वशब्देन प्रथमविधायामुपात्तायामनुक्तत्रयमपि निग्रहस्थानत्वेन व्यवहर्तव्यमिति चकारार्थः। अथ पृथगेवाकस्मादेतत्सूत्रकृता नोच्यते, तथा सति गौरवमापद्येत किं नाम शिष्याश्च सुतरामनुकूलिता भवेयुः? सत्यम्, हेत्वाभासानामेवैष विचारतः प्रपञ्च इति प्रतिपादनार्थन्तु पृथगनुपादानम्। कथं साधनविकले हि दृष्टान्ते असाधारणो हेतुः स्यात्, साध्यविकले च विरुद्धः, उभयविकले व्यापयत्वासिद्धः। तथा आश्रयासिद्धेऽपि साध्याव्यावृत्ते रसाधारण्यं साधनावृत्तेर्विरोधः, उभयाव्यावृत्ते व्यतिरेकव्याप्तेरसिद्धिः। आश्रयासिद्धेऽपि तथा, आत्माश्रये परस्पराश्रये चक्रवृत्तौ चासिद्धिः, अनवस्थायामसिद्धिः,

अनैकान्तिकत्वं वा कालात्ययापदेशो वानिष्टप्रसङ्गे व्याप्त्यसिद्धिः, तथानुकूलतर्काभावेऽपि। दुरुक्तौ तु वस्तुतोऽर्थस्य हेतोः शोभनत्वेन उक्त्यनुसारेण दुष्टत्वमेव। अनुपदर्शितस्य सतो हेतुरूपस्यागमकत्वात्। यथावचनं च तस्य रूपस्याप्रतीतेरिति। तर्हि चकारेणापि समुच्चयेऽस्यार्थस्य क उपयोगः सिद्धत्वात्? न। नह्यमीषां हेतुदूषणापर्यवसायित्वेन समुच्चयः। किन्तु पृथक् उद्भाव्यत्वेन विशदप्रतिपत्तिकत्वात् प्रतिज्ञाविरोधवत्। तस्मात् अमीषां हेत्वाभासप्रपञ्चत्वात् पृथगननुपादानम्। पृथक् उद्भाव्यत्वाच्च चकारेण समुच्चितत्वमिति। तर्हि प्रतिज्ञाविरोधादयोऽपि पृथगनुपादेयाः हेत्वाभासप्रपञ्चत्वाच्चकारेण समुच्चेयाश्च पृथगुद्भाव्यत्वादित्यस्तु। न तेषां दूषणेऽपि सम्भवेनासङ्कीर्णोदाहरणसम्भवात्। अपि तर्हि दूषणे प्रतिकूलतर्काः सम्भवन्ति पृथगेव वक्तव्याः? सत्यम्, उक्ता एव ते ये तत्र सम्भविनः सूत्रैरेव जात्युत्तर प्रपञ्चनादिति।२४।

लक्ष्यं लक्षणमुत्थितिःस्थितिपदं मूलं फलं शातनम्
जातीनां सविशेषमेतदखिलं प्रव्यक्तमुक्तं रहः।
तद्व न्निग्रहसंहतेरपि गतिर्विस्पष्टमावेदिता
यस्मिन् विस्तरभीरुभिर्गुरुतरैरालस्यमध्यासितम्॥

गम्भीरेऽस्मिन्नयजलनिधौ सन्ति रत्नानि भूयो
येषामेषा कतिपयपदा लेशदृष्टान्तलक्ष्मीः।
धीश्रीहीने जगति बहुलं ग्राहके नास्ति यस्याः
तस्याः कष्टं क्व नु परिणतो यः परीक्षां विदध्यात्॥

इति न्यायाचार्य श्रीमदुदयनकृतौ बोधसिद्धिनाम्नि
न्यायपरिशिष्टे पञ्चमाध्यायस्य द्वितीयमाह्निकम्।

।समाप्तश्चाध्यायः।

परिशिष्टम्

न्यायपरिशिष्टे समुद्धृता आचार्याः सम्प्रदायाः ग्रन्थाश्च संख्या पृष्ठाङ्कं निर्दिशति

प्रमाणवार्त्तिकपद्यमुद्धृतम् ३३ पृष्ठाङ्के –

साध्येनानुगमात् कार्यसामान्येनापि साधने।
संबन्धिभेदाद् भेदोक्तिर्दोषः कार्यसमो मतः।। (१।१६।)

श्रीमदुदयनाचार्यप्रणीता

लक्षणमाला

(३)

सम्पादकः

किशोरनाथ झा

पूर्व प्रवाचकः

प्रयागस्थ–गङ्गानाथझा–केन्द्रीय–संस्कृत–विद्यापीठस्य

प्राक्कथन

न्यायशास्त्र के साधारण जिज्ञासु सुधीजनों के करकमलों में आचार्य उदयन की कृति इस *लक्षणमाला* को समर्पित करते हुए मुझे हार्दिक प्रसन्नता हो रही है। इसमें न्यायशास्त्र के प्रतिपाद्य प्रमाण आदि सोलह पदार्थों के लक्षण आचार्य द्वारा प्रस्तुत हुए हैं।

(१)

द्वितीय पदार्थ प्रमेयों के लक्षण करते समय आत्मा आदि छह पदार्थों के लक्षण के बाद प्रवृत्ति आदि प्रमेयों के लक्षण का अवसर उपस्थित होने पर आचार्य ने कहा है कि सुगम होने के कारण उनका लक्षण यहाँ नहीं किया है। किन्तु इस क्रम में समानतन्त्र–वैशेषिकदर्शन–के मान्य द्रव्य आदि छह भाव पदार्थों के प्रकार एवं लक्षण यहाँ उनके द्वारा प्रस्तुत हुए हैं।

यद्यपि यहाँ भी चौबीस गुणों के लक्षण के क्रम में अन्यतम गुण बुद्धि का लक्षण इन्होंने नहीं किया है। चूँकि पञ्चम प्रमेय के रूप में उसका लक्षण 'अर्थप्रकाशो बुद्धिः' पहले उक्त है। अतः प्रतीत होता है कि अनावश्यक समझकर उसका लक्षण पुनः यहाँ आचार्य ने नहीं किया होगा।

सर्वतन्त्र स्वतन्त्र धर्मदत्त (बच्चा) झा के प्रमुख शिष्य तथा मेरे परम गुरु, राष्ट्रपति सम्मानित नैयायिक शशिनाथ झा विद्यावाचस्पति (राँटी–मधुबनी) ने बुद्धि का लक्षण **'सर्वव्यवहारासाधारणं कारणं बुद्धिः'** स्वयं प्रस्तुत कर आचार्य की इस त्रुटि का मार्जन इस ग्रन्थ की व्याख्या का प्रणयन करते हुए किया है। अपने परम गुरु के प्रति आदराधिक्य के कारण मैंने भी यहाँ उसको यथास्थान रहने दिया है। तथापि इस प्रसंग में अभिज्ञ विद्वान् का विचार अपेक्षित है।

आचार्य ने नैयायिक के अनियतपदार्थवादिता का संकेत भी इस प्रमेयलक्षण के उपसंहार में किया है। यहाँ इनकी पंक्ति द्रष्टव्य है – **'यद्यपि प्रमेयान्तरमस्ति**

तथापि एतावदेवोक्तम् अपवर्गोपयोगात्'। अर्थात् न्यायशास्त्र में अपवर्ग की प्राप्ति हेतु केवल बारह प्रमेयों का विचार ही अपेक्षित है। अतः उतना ही कहां है, यद्यपि और भी प्रमेय हैं।

न्यायशास्त्र की मुख्यधारा अर्थात् मूल सम्प्रदाय आरम्भिक काल से ही समानतन्त्र–वैशेषिकदर्शन–के साथ समन्वय का प्रयास करता आ रहा है। *न्यायभाष्य* की पंक्ति – '**अस्ति अन्यदपि प्रमेयम्, द्रव्यगुणकर्मविशेषसमवाया इति**'।१।१।९। इसका स्पष्ट साक्ष्य प्रस्तुत करती है। *वार्त्तिक, तात्पर्यटीका,* **अनिरुद्धाचार्य** की *विवरणपञ्जिका, तात्पर्यपरिशुद्धि* तथा **वर्धमान उपाध्याय** कृत *प्रकाश* व्याख्या आदि में अर्थात् न्यायशास्त्र की मुख्यधारा में इसका समर्थन मिलता है। किन्तु न्यायशास्त्र का एक ऐसा भी सम्प्रदाय है, जो इसका खुलकर विरोध करता रहा है। काश्मीर के अभिजन आचार्य भासर्वज्ञ तथा इनके अनुगामी – इनकी कृति *न्यायसार* के व्याख्याकार वृन्द–न्यायदर्शन में अपनी स्वतन्त्र परम्परा की समृद्धि मे संलग्न रहते हुए वैशेषिक के साथ अहि–नकुल की तरह अपना वैर प्रदर्शित किया है। आचार्य भासर्वज्ञ ने *न्यायसार* की स्वोपज्ञव्याख्या *न्यायभूषण* में स्पष्ट कहा है कि 'न्यायशास्त्र की व्याख्या में मैं प्रवृत्त हूँ। अतः वैशेषिक के साथ विरोध मेरे लिए दोषाधायक नहीं है' – '**न्यायशास्त्रं च व्याख्यातुं वयं प्रवृत्तास्तेनास्माकं वैशेषिकतन्त्रेण विरोधो न दोषाय**'।

मुख्यधारा में वैशेषिक के साथ न्यायशास्त्र के समन्वय का क्रम आरम्भ से आधुनिक काल तक इस तरह घुल मिल गया है कि उनको परस्पर विविक्त करना कठिन है। *तर्कसंग्रह, कारिकावली* (भाषापरिच्छेद) *न्यायसिद्धान्त मुक्तावली* तथा इनकी व्याख्या समूह इसके उदाहरणरूप में आज हम लोगों के समक्ष विद्यमान हैं।

(२)

न्यायशास्त्र की मुख्यधारा (मूल संप्रदाय) सप्रतिभ एवं विशेष–जिज्ञासु अध्येतावर्ग के अध्ययन हेतु मर्यादित है। *न्यायभाष्य, वार्तिक* आदि तथा *न्यायसूत्रों की वृत्तियाँ* इस मुख्यधारा में सम्मिलित है, जो नितातन्त व्युत्पादक हैं।

किन्तु स्थूलबुद्धि साधारण-जिज्ञासु तथा कोमलमति बालकों के लिए न्यायशास्त्र के मान्य पदार्थों का संक्षेप में सुलभ रीति से शीघ्रबोध हेतु इस लघुग्रन्थ की उपादेयता माननी होगी। आचार्य द्वारा प्रणीत होने से इसका प्रामाण्य उपपन्न होता है तथा आचार्य के प्रति आदरबुद्धि के कारण इसके अध्ययन में किसी की निःसन्दिग्धप्रवृत्ति संभव है। आचार्य **उदयन** ने इस प्रकार के उद्देश्य की पूर्त्तिहेतु *लक्षणावली* का प्रणयन कर वैशेषिक पदार्थों का परिचय भी प्रस्तुत किया है।

शास्त्रों में लक्षण के दो प्रकार से वर्णित है– तटस्थ लक्षण तथा स्वरूप लक्षण। इनके स्वरूप का परिचय कराते हुए **भिक्षु गौरीशङ्कर** ने अपने *लक्षणसंग्रह* में कहा है - **'कादाचित्कत्वे सति व्यावर्तकत्वम् तटस्थलक्षणम्'**। कदाचित् उपलब्ध हो तथा दूसरों से भेद प्रदर्शित करे, वही पदार्थ का तटस्थ लक्षण कहलाता है। यथा देवदत्त का तिलक, देवदत्त के ललाट में स्नान के पश्चात् तिलक देखा जाता है, किन्तु जनसमूह में उस प्रकार का तिलक दूसरों के ललाट पर नहीं रहने से वह तिलक देवदत्त को अन्य व्यक्ति से व्यावृत्त (भिन्न) प्रदर्शित करता है। इसी प्रकार गन्धवत्त्व या गन्धसमवायिकारणत्व पृथिवी का तटस्थ लक्षण होता है। दूसरों से भेद का बोधक होता है स्वरूपलक्षण **'इतरानिरूप्यम् स्वरूपलक्षणम्'**। अथवा विधिमुख से जो भेदक होता है वह है - स्वरूपलक्षण - **सद्व्यावर्तकं स्वरूपलक्षणम्**। यथा चन्द्रमा का स्वरूप लक्षण है प्रकृष्ट (अधिक) प्रकाशशाली होना। गन्ध के समवायिकारणता का अवच्छेदक होता है पृथिवीत्व और उससे संबद्ध होना पृथिवी का स्वरूपलक्षण हुआ। स्वरूप ही लक्षण है जिसका, इस व्युत्पत्ति के आधार पर यहाँ बहुव्रीहि समास मान्य है। लक्ष्यतावच्छेदक का समनियत धर्म ही लक्षण का लक्षण होता है, जो उपर्युक्त दोनों ही लक्षणों में घटित होता है।

(३)

हस्तलेखागार में इस *लक्षणमाला* के रहने पर भी इसके प्रकाशन की ओर किसी विद्वान् का ध्यान पहले नहीं जा सका था। हम लोग कृतज्ञ हैं श्रेष्ठ दार्शनिक एस० **सुब्रह्मण्य शास्त्री** का, जिन्होंने पहली वार प्राच्यविद्या अनुसन्धान पत्रिका मद्रास (चेन्नई) के उन्नीसवें अंक में बीसवीं शताब्दी के मध्यकाल में

शिवादित्य मिश्र की कृतिरूपमें इसको प्रकाशित कर न्यायशास्त्र के अध्येता का उपकार किया। इन्होंने अनन्तशयनम् हस्तलेखागार से इस लघुग्रन्थ की हस्तलिखित प्रति का संग्रह कर स्वयं सावधानी से संशोधन संपादन किया। चूँकि इस हस्तलिखित प्रति में इसके रचयिता का नाम निर्दिष्ट नहीं था और **चित्सुखमुनि**कृत *तत्त्वप्रकाशिका* की व्याख्या *नयनप्रसादनी* में एवं *महाविद्या विडम्बनम्* की भूमिका में **शिवादित्य मिश्र** की *लक्षणमाला* का उल्लेख देखा गया। अतः उनकी ही कृति इस *लक्षणमाला* को मान ली गयी। यद्यपि दार्शनिक महाकवि **श्रीहर्ष** ने अपनी कृति *खण्डनखण्डखाद्य* में इस *लक्षणमाला* के प्रमालक्षण का खण्डन किया है, जहाँ ग्रन्थ के व्याख्याकार प्रसिद्ध दार्शनिक **शङ्करमिश्र** ने इस खण्डनीय प्रमालक्षण को न्यायाचार्य का लक्षण कहा है तथापि आदरणीय विद्वद्वर **एस० सुब्रह्मण्य शास्त्री** ने न्यायाचार्य से **शिवादित्य मिश्र** का ही ग्रहण किया होगा, जो पश्चात् अग्रिम अनुसंधान से प्रमाद या भ्रम सिद्ध हुआ।

मिथिला में नव्यन्याय के इतिहास `History of Navya Nyaya in Mithila' के लेखक **दिनेशचन्द्र भट्टाचार्य** ने प्रमाण के बलपर इस लक्षणमाला को उदयनाचार्य की कृति कहा है। यहाँ इन्होंने बाह्य एवं आभ्यन्तर दोनों प्रकारों के साक्ष्य प्रस्तुत किये है। चूँकि *लक्षणमाला* तथा *गुणकिरणावली* का मंगल पद्य एक ही है **'तुष्टेर्मोचयतः'** आदि, अतः उक्त दोनों ही कृतियों का प्रणेता एक ही होना चाहिए। *गुणकिरणावली* निर्विवादरूप से आचार्य उदयन की कृति के रूप में मान्य है। अतएव *लक्षणमाला* को भी उक्त आचार्य की ही कृति माननी होगी। यहाँ बाह्य युक्ति यह है कि **वरदराज** ने *तार्किकरक्षा सार-संग्रह* में *लक्षणमाला* से अनेक लक्षणों का उल्लेख किया है। जहाँ व्याख्याकार आचार्य *मल्लिनाथ* ने अपनी *निष्कण्टका व्याख्या* में उन लक्षणों को उदयन का कहा है। यथा **'निरुपाधिकसाध्यसंबन्धशालि लिङ्गम्' इति लक्षणमालायाम्** - *सारसंग्रह* में उक्त है और *निष्कण्टका* यहाँ कहती है - **'उदयनसंमतिमाह - निरुपाधिकेति'**। **वरदराज** ने स्वोपज्ञव्याख्या सहित *तार्किकरक्षा* में तथा *कुसुमाञ्जलि* की व्याख्या *बोधनी* में आचार्य उदयन के प्रति अपनी अधिक श्रद्धा प्रदर्शित की है। *बोधनी* के आरंभ में इन्होंने कहा है -

'औदयने पथि गहने विदेशिकः प्रतिपदं स्खलति लोकः।

तस्य कृते कृतिरेषा'

पुनश्च *सारसंग्रह* के उपसंहार में कहा है–

'आलोड्य दुस्तरगभीरतरान् प्रबन्धान्
वाचस्पतेरुदयनस्य तथा परेषाम्
सारो मयात्र समगृह्यत' आदि।

इस *सारसंग्रह* में आचार्य उदयन के प्रायः सभी ग्रन्थों का उद्धरण उपलब्ध है।

खण्डनखण्डखाद्य की व्याख्या में **शंकरमिश्र** ने जो '**न्यायाचार्य कृत लक्षणमाला ग्रन्थे प्राथमिकं प्रमालक्षणं तत्त्वानुभूतिः**' कहा है। वहाँ उदयन कृत *लक्षणमाला* ही व्याख्याकार का अभिप्रेत है। क्योंकि जनश्रुति के अनुसार कान्यकुब्ज देश के महाराजा **जयचन्द्र** की सभा में उनके द्वारपण्डित श्री हीर नामक पण्डित को **उदयनाचार्य** ने शास्त्रार्थ में पराजित किया था। उस असम्मान को सह्य करने में असमर्थ श्री हीर ने वैकुण्ठवास के समय अपने शिशुपुत्र **श्रीहर्ष** को कहा था कि अवसर आने पर मुझे जिस पण्डित ने पराजित किया है, उसको पराजित कर बदला लेना। चिन्तामणि मन्त्र की उपासना से अप्रतिम विद्वान् दार्शनिक महाकवि **श्रीहर्ष** इसके लिए सदैव तत्पर रहा करते थे। किन्तु जब **श्रीहर्ष** को ज्ञात हुआ कि वह विद्वान् स्वर्गवासी हो गया, तब इन्होंने उनकी कृति का ही खण्डन कर आत्मतोष किया। अतएव *लक्षणमाला* के प्रमालक्षण का तथा *न्यायकुसुमाञ्जलि* के '**शङ्काचेदनुमास्त्येव न चेच्छंका ततस्तराम्**' इस तृतीयस्तवकगत पद्य आदि का खण्डनकर इन्होंने अपने पिता के वचन का अनुपालन मान लिया था।

पश्चात् मिथिला संस्कृत शोध संस्थान दरभङ्गा के सम्मानित अध्यापक मेरे परमगुरु नैयायिक शशिनाथ झा विद्यावाचस्पति ने न केवल इसका सम्पादन किया प्रत्युत विस्तृत व्याख्या भी लिखी और उक्त संस्था से प्रकाशित करबाया। दार्शनिक श्रेष्ठ एस० सुब्रह्मण्य शास्त्री द्वारा (मद्रास) चेन्नई से प्रकाशित ग्रन्थ ही इस प्रकाशन का आधार रहा है, केवल भूमिका एवं व्याख्या के द्वारा गुणाधान कर इसकी उपादेयता में श्री वृद्धि की गयी है।

मेरी धारणा है कि शिवादित्यमिश्र की प्रकाशित कृति *सप्तपदार्थी* से

भिन्न *लक्षणमाला* रही होगी, जिसका उल्लेख *महाविद्याविडम्बन* की भूमिका में तथा *नयनप्रसादनी* व्याख्या में हुआ है। यही *लक्षणमाला* के कर्तृत्व के विषय में प्रथम सम्पादक के समक्ष भ्रम की सृष्टि की होगी।

अब यहाँ मैं अपना पवित्र कर्तव्य समझता हूँ उन गुरुजनों की प्रणति अर्पित कर पूजा करना, जिनका प्रत्यक्ष या परोक्ष साहाय्य मुझे उपलब्ध हुआ है। मित्रमणि तथा मेरी दृष्टि में अद्वितीय दार्शनिक चिन्तक **गोस्वामी श्रीमान् श्याम मनोहर जी** की अधमर्णता स्वीकार करता हुआ उनके प्रति अपनी कृतवेदिता का ज्ञापन आवश्यक है। इनकी प्रेरणा, परामर्श, उत्साह-संवर्धना का ही सुफल है कि लक्षणमाला का तृतीय संस्करण पाठकवृन्द के समक्ष प्रस्तुत हो सका है। मैं आभारी हूँ श्री वल्लभ विद्यापीठ श्री विट्ठलेश प्रभुचरण आ०हो० ट्रस्ट, वैभव को ओपरेटिव्ह सोसाइटी, पुना बेंगलोर रोड, कोल्हापुर का। इसी ट्रस्ट के आर्थिक साहाय्य से यह प्रकाशित हो सका है। एकेडेमी प्रेस के स्वामी श्रीमान् सुरेन्द्रमणि त्रिपाठी तथा कर्मचारी को विशेषकर श्री ब्रह्मानन्द मिश्र को साधुवाद देता हूँ। जिन्होंने धैर्यपूर्वक मेरा सहयोग किया। किसी भी प्रकार के उपकार के लिए उपकारक प्रति '**मय्येव जीर्णतां यातु यत्त्वयोपकृतं सुधीः**' भगवान् राम का वचन यहाँ मेरी शरण है।

मानव सुलभ त्रुटि से रहित कोई भी कार्य हो नहीं सकता है। **सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः।** इसके लिए पाठकों के समक्ष क्षमायाचना ही मेरा संबल है। मित्र की दृष्टि से यह देखा जाये– यही पाठकों से मेरी प्रार्थना है।

सुधीजनों का आश्रव
किशोरनाथ झा

ग्रा० बिट्ठो, पो० सरिसब-पाही
जि० मधुबनी ८४७४२४ (बिहार)
फाल्गुनी पूर्णिमा
२१।३।०८ ई०

विषय-सूची

उदयनाचार्य प्रणीता

लक्षणमाला

[मङ्गलम्]

तुष्टेर्मोचयतो बन्धादतुष्टेर्बध्नतः पुनः।
कारागारमिदं विश्वं यस्य नौमि तमीश्वरम्॥

[प्रमालक्षणम्]

तत्त्वानुभूतिः प्रमेति। तत्त्वेत्यतत्त्वधियां तर्कसंशयविपर्यासानां निरासः। अनुभूतिरिति स्मृतेः। सा नित्याऽनित्या च, आश्रयभेदात्।

[प्रमाणलक्षणम्]

तत्र नित्याया आश्रयः प्रमाणम्। असूत्रयच्च 'आप्तप्रामाण्यात्' (न्या०सू० २-१-६८) इति। अभाष्ययच्च – आप्तानां प्रमाणता साक्षात्कृतधर्मता (न्या०भा० २।१।६८) इति। अनित्यायाः पुनः प्रमायाः साधकतमं प्रमाणम्। अनित्याया इति विषयक्रियासूचनम्। प्रमाया इति च्छिदादीनां व्युदासः। साधकेत्यसाधकानामाकाशादीनां व्युदासः। तममिति प्रमातृप्रमेययोरिति।

[प्रमाणस्य प्रकारभेदः, प्रत्यक्षलक्षणम्]

तच्चतुर्विधं, परिसंख्यानात्। तत्र इन्द्रियजप्रमासाधकतमं प्रत्यक्षम्। इन्द्रियजेति लिङ्गादीनां निरासः। प्रमेति सुखादिसाधनानामाभासानां च। साधकेति अबुद्धिरूपकरणलाभाय। तममित्यकरणस्य निरासः। तदेतत् योग्ययोगिसाधारणम्। लौकिकमात्रस्य तु शास्त्रेऽधिकारादिति। साक्षात्कारिणी प्रमा प्रत्यक्षफलमिति।

[अनुमानलक्षणम्]

लिङ्गपरामर्शोऽनुमानमिति। लिङ्गेति सादृश्यपरामर्शस्य प्रत्यभिज्ञानस्य लिङ्गाभासपरामर्शस्य च निरासः। परामर्श इति द्वितीयलिङ्गदर्शनस्य ततः स्मृतेश्च निरासः। लिङ्गन्तु निरुपाधिसाध्यसम्बन्धशालि। निरुपाधीति मैत्रतनयत्वादीनां निरासः। साध्यसम्बन्धशालीति साध्यरहितानां धर्माणां निरुपाधीनां निरासः। अनुमितिरस्य फलमिति।

[उपमानलक्षणम्]

अकृतसमयसंज्ञास्मरणसहायं तत्समभिव्याहृतवाक्यार्थप्रत्यभिज्ञान प्रत्यक्षमुपमानम्। अकृतसमयेति कृतसमयानां तथाविधप्रत्यक्षनिरासः। संज्ञास्मरणेति विस्मृतोपलब्धसंज्ञानां तथाविधप्रत्यक्षनिरासः। तत्समभिव्याहृतवाक्यार्थेति केवलसंज्ञास्मृतिमतां व्युदासः। प्रत्यभिज्ञेति तथाविधस्मरणमात्रव्युदासः। प्रत्यक्षमिति पुनर्वाक्यादेव प्रत्यभिज्ञानस्य निरासः। उभाभ्यामनुसन्धाननिरासः। वाक्यार्थस्तु क्वचित्साधर्म्यं, क्वचिद्वैधर्म्यमिति नाव्याप्तिः। अस्य फलं समयपरिच्छित्तिः।

[शब्दलक्षणम्]

वाक्यजप्रमासाधकतमः शब्दः। वाक्येति आकांक्षाविरहिणां पदानां व्युदासः। जेति वाक्यविषयश्रौत्रप्रत्यक्षनिरासः। प्रमेति पदार्थस्मरणस्य अनाप्तवचसश्च निरासः। साधकेति फलनिरासः। तम इत्ययमसावश्व इति प्रत्यक्षनिरासः। अर्थप्रमितिरस्य फलम्।

[प्रमेयलक्षणम्]

प्रमाणविषयः प्रमेयम्। मुमुक्षून् प्रति यन्मिथ्याज्ञायमानं साक्षादनुकूलप्रतिकूलयो रागद्वेषहेतुः तत् प्रमेयमित्येकम्। सम्यग् ज्ञायमानं यत् साक्षात् संसारबीजं निकृन्तति तद् द्वितीयम्। तच्च द्वादशविधम् परिसंख्यानात्।

[आत्मलक्षणम्]

तत्र ज्ञानाद्यधिकरणमात्मा। ज्ञानेति गुणान्तराधिकरणानां पृथिव्यादीनां निरासः। आदीति लक्षणान्तरसूचनम्। अधिकरणमिति ज्ञानस्य

व्युदासः। ज्ञानसमवायिकारणमिति न कर्तव्यम्, ईश्वराव्यापकत्वात्।

[शरीरलक्षणम्]

प्रयत्नवदात्मसंयोगासमवायिकारणक्रियाश्रयः शरीरनिरपेक्षोऽन्त्यावयवि शरीरम्। प्रयत्नवदात्मेति अदृष्टवदात्मसंयोगासमवायिकारणक्रियासाधारण्याद्दहनपवनादीनां निरासः। क्रियाश्रय इति प्रयत्नवदात्मेश्वरपरमाण्वादिसंयोगासमवायिकारणक्रियासंयोगाधाराणां द्व्यणुकादीनां निरासः। शरीरनिरपेक्ष इति प्राणरूपवायोर्निरासः। अन्त्यावयवीति करचरणादीनाम्। सोऽयं चेष्टाश्रय इत्यस्यार्थः। सर्वेन्द्रियाधिष्ठानं शरीरमिति द्वितीयम्। सर्वेन्द्रियेति एकैकाधिष्ठान–गोलकादिनिरासः। अधिष्ठानमिति सर्वेन्द्रियनिवृत्त्यर्थम्। सोऽयमिन्द्रियाश्रय इत्यस्यार्थः। यमन्त्यावयविनमाश्रितोऽर्थान् भुङ्क्ते, तच्च शरीरमिति तृतीयम्। अन्त्येति करचरणादीनां व्युदासः। अवयविनमिति मतिनिरासः। अर्थान् भुङ्क्ते इति घटादीनां परमाण्वन्तानां निरासः। सोऽयमर्थाश्रय इत्यस्यार्थः।

[इन्द्रियलक्षणम्]

शरीरसंयुक्तं साक्षात्कारिप्रमासाधनमतीन्द्रियमिन्द्रियम्। शरीरसंयुक्तमिति इन्द्रियसंयोगादीनामतीन्द्रियाणां प्रमासाधनानां निरासः। प्रमासाधनमिति शरीरसंयोगादीनामतीन्द्रियाणां च परमाण्वादीनां विषयाश्रयाणां निरासः।

[अर्थलक्षणम्]

प्रतीतिविषयतया भोगसाधनमर्थः। प्रतीतिविषयतयेति शरीरेन्द्रियादीनां निरासः। भोगसाधनमित्यात्मनः।

[बुद्धिलक्षणम्]

अर्थप्रकाशो बुद्धिः। अर्थेति निर्विषयबुद्धित्वादिमतनिरासः। प्रकाश इत्यप्रतीतिरूपनिराकरणम्।

[मनोलक्षणम्]

सर्वात्मविशेषगुणसाधनं मनः।

प्रवृत्त्यादिषट् प्रमेयाणां लक्षणं सुगमत्वान्नोक्तम्

प्रवृत्तिदोषप्रेत्यभावफलदुःखापवर्गाणां तु सुगमानि शास्त्रे लक्षणानि। यद्यपि प्रमेयान्तरमस्ति तथाप्येतावदेवोक्तम्, अपवर्गोपयोगात्।

[वैशेषिकाभिमत-पदार्थलक्षणप्रकारौ]

तथाहि विधायकप्रमाणगोचरः पदार्थ इति पदार्थसामान्यलक्षणम्। स च षोढ़ा। समानतन्त्रपरिसंख्यानात्।

तत्र गुणवद् द्रव्यम्। गुणवदित्यनेनैव सकलसजातीयविजातीय-निरासः। क्रियावदिति प्रादेशिकम्। समवायिकारणमित्यपि लक्षणम्।

सामान्यवानगुणोऽकर्मरूपो गुणः। सामान्यवानिति सामान्यविशेष-समवायाभावनिरासः। अगुण इति च द्रव्याणाम्। अकर्म इति कर्मणः।

आद्यविभागासमवायिकारणं कर्म। आद्यविभागेति द्वितीयविभागा-समवायिकारणस्य प्रथमविभागस्य निरासः। असमवायिकारणमिति द्रव्यादीनाम्।

नित्यमेकमनेकसमवायि सामान्यम्। नित्यमिति संयोगादिनिरासः। एकमिति सलिलाद्यनेकपरमाणुसमवेतानेकसितरूपादीनां निरासः। अनेकसमवायीति प्रत्येकं नित्यानां द्रव्याणाम्।

एकद्रव्याः स्वरूपसन्तो विशेषाः। एकद्रव्या इति सामान्य-समवाययोर्निरासः। स्वरूपसन्त इति गुणकर्मणां, द्रव्यस्य चाप्रसंग एव।

नित्यप्राप्तिः समवायः। नित्येति संयोगनिवृत्तिः। प्राप्तिरिति तदतिरिक्तस्येति। अत्र चान्तर्गणिको भेदः।

[नवद्रव्याणां लक्षणम्]

तत्र च द्रव्यं पृथिव्यादि नवधा, समानतन्त्रपरिसंख्यानात्। तत्र गन्धवती पृथिवी, स्वभावतो द्रवा आपः, औष्ण्यवत्तेजः, अरूपस्पर्शवान् वायुः, शब्दगुण आकाशः, परापरव्यतिकरानुमेयः कालः, परापरव्यवहारासाधारणकारणं दिक्। आत्ममनसोस्तु लक्षणमुक्तमेव। एवं नव द्रव्याणि।

[चतुर्विंशतिगुणलक्षणम्]

चतुर्विंशतिर्गुणाः, तत्रैव परिसंख्यानात्। तत्र चक्षुर्ग्राह्य एवार्थो रूपम्। रसनग्राह्य एवार्थो रसः। घ्राणग्राह्य एवार्थो गन्धः। स्पर्शनग्राह्योऽर्थः स्पर्शः। यद्विशिष्टे द्रव्ये एकमित्यादिव्यवहारः सा संख्या। यद्विशिष्टे द्रव्ये दीर्घमित्यादिव्यवहारस्तत् परिमाणम्। यद्विशिष्टे द्रव्ये पृथगित्यादि-व्यवहारस्तत् पृथक्त्वम्। कर्मविरोधी गुणः संयोगः। संयोगविरोधी गुणो विभागः। यद्विशिष्टे द्रव्ये परमपरमिति व्यवहारस्तो परत्वापरत्वे। सर्वव्यवहारासाधारणं कारणं बुद्धिः[१]। आह्लादः सुखम्। पीडा दुःखम्। अनुराग इच्छा। असहिष्णुता द्वेषः। उत्साहः प्रयत्नः। पतनासमवायिकारणं गुरुत्वम्। स्यन्दनासमवायिकारणं द्रवत्वम्। यद्विशिष्टे स्निग्धमिति व्यवहारः स स्नेहः। यद् द्वितीयावस्थासमवेत उत्पन्नः तस्य तदवस्थापादको गुणः संस्कारः। श्रुत्यादिविहितानुष्ठानसाध्यः पुरुषगुणो धर्मः। श्रुत्यादि-निषिद्धानुष्ठानसाध्यः पुरुषगुणोऽधर्मः। श्रोत्रग्राह्योऽर्थः शब्द इति।

एते षट् पदार्था ह्युक्ताः समासत इति। अनन्तान्तर्गणिकभेदेन तु अनन्ताः। तत्र युक्ता प्रतिपत्तव्या इति।

[संशयलक्षणम्]

अयं किमेवम् अन्यो वेति विमर्शः संशय इति स्वरूपतः। एकस्मिन् धर्मिणि [१]परस्परविरुद्धधर्मद्वयगोचरं ज्ञानं संशय इति विषयतः। विषय-ज्ञानात् परस्परविरुद्धारोप्यस्मरणान्निर्णायकाभावादुत्पन्नं ज्ञानं संशय इति कारणतः। सामान्यतोऽप्यज्ञातायां स्थूणायां पश्चादवस्थितायां संशयो न भवतीति तद्व्युदासार्थं प्रथमं पदम्। उपलब्धेऽप्यनिर्णीते विमतिविषये [२]परस्परविरुद्धार्थास्मृतेः [३]तत्त्वमनधिगच्छतः संशयो न भवतीति तद्व्युदासार्थं द्वितीयपदम्। विषयोपलम्भे विरुद्धविशेषस्मरणेऽपि सति निर्णयोऽपि तरुमुपलभ्य विदूरवर्तिनो भवति न तत्संशय इति तन्निवृत्त्यर्थं तृतीयपदम्। परस्परविरुद्धारोप्यस्मृतिस्तु क्वचित्समानधर्मदर्शनात् क्वचिदनेकधर्मदर्शनात् क्वचिद् वादिविप्रतिपत्तेरिति। तदेतदाह कारणत्वेन सूत्रकारः - 'समानानेकधर्मोपपत्तेर्विप्रतिपत्तेरुपलब्ध्यनुपलब्ध्य-व्यवस्थातश्च विशेषापेक्षो विमर्शः संशय' इति १।१।२३

[प्रयोजनदृष्टान्तयोर्लक्षणम्]

यमर्थमधिकृत्य प्रवर्तते तत् प्रयोजनमिति (१।१।२४) सुगमं सूत्रम्। व्याप्तिग्रहणविषयो दृष्टान्तः। स द्विविधः साधर्म्यवैधर्म्याभ्याम्। साधनधर्मप्रयुक्तसाध्यधर्मवान् धर्मी साधर्म्यदृष्टान्तः। साध्यधर्मनिवृत्ति प्रयुक्तसाधनधर्मनिवृत्तिमान् वैधर्म्यदृष्टान्तः। एतेनैवादृष्टान्ताः दृष्टान्ताभासाश्च निराकृताः।

[सप्रकारसिद्धान्तलक्षणम्]

प्रामाणिकोऽयमिति कृत्वाऽभ्युपगतोऽर्थः सिद्धान्तः। स चतुर्विधः परिसंख्यानात्। तत्र वचनतो द्विविधः। सर्वतन्त्राभ्युपगतो वचनतः सर्वतन्त्र सिद्धान्त इत्येकः। नियततन्त्राभ्युपगतो वचनतः प्रतितन्त्रसिद्धान्त इति द्वितीयः। अर्थतोऽपि द्वेधा - तन्त्रानुमेयानुषक्तसिद्धिरधिकरणसिद्धान्तः। परतन्त्रोक्तः स्वतन्त्रे चानिषिद्धोऽभ्युपगमसिद्धान्तः।

[अवयवलक्षणम्]

नान्तरीयकप्रतिपादकवाक्यैकदेशा अवयवाः। ते पञ्च परिसंख्यानात्। तत्र साध्यनिर्देशः प्रतिज्ञेति सुगमं *सूत्रम्* १।१।३३। साधनत्वाभिव्यञ्जकविभक्त्यन्तं लिङ्गवचनं हेतुः। धूम इत्यादिरूपस्य निराकरणाय प्रथमं पदम्। व्याप्तिवचनस्य हेतुत्वनिराकरणाय द्वितीयं पदम्। स द्विविधः साधर्म्यवैधर्म्याभ्याम्। विशिष्टमन्वयिलिङ्गवचनं साधर्म्यहेतुः। विशिष्टं केवलव्यतिरेकि लिङ्गवचनं वैधर्म्यहेतुः। व्याप्तिप्रदर्शनपुरस्सरं सम्यग्दृष्टान्तवचनमुदाहरणम्। व्याप्तिप्रदर्शनेति अनुपदर्शितव्याप्तिकस्य घटवदिति दृष्टान्तमात्रस्य निरासः। तदपि द्विविधं दृष्टान्तभेदात्। स चोक्तः। धर्मिणि लिङ्गोपसंहार उपनयः। साध्योपसंहारो निगमनम्।

[तर्कनिर्णययोर्लक्षणम्]

व्याप्याङ्गीकारेऽनिष्टव्यापकप्रसञ्जनं तर्कः। परीक्षासाध्यमर्थावधारणं निर्णयः।

[वादजल्पवितण्डात्मककथालक्षणम्]

साध्यव्यवस्थितये व्याहतविषयनानावक्तृकवाक्यसंदृब्धिः कथा। सा त्रिविधा। तत्र प्रामाणिकवचनमात्रवचनाभिप्रायपूर्विका कथा वादः। विजिगीषमाणयोरुभयोरपि साधनवती कथा जल्पः। स प्रतिपक्ष स्थापनाहीना वितण्डेति सुगमं सूत्रम्।

[सप्रकारहेत्वाभासलक्षणम्]

अहेतवो हेतुवदाभासमाना हेत्वाभासा इति सुगमं *भाष्यम् १।२।४।* ते पञ्च परिसंख्यानात्। तत्र अनैकान्तिकः सव्यभिचार इति सुगमं *सूत्रम् १।२।५।* स च द्विविधः साधारणोऽसाधारणश्च। तत्र विपक्षवृत्तिः साधारणः। पक्षमात्रवृत्तिः विद्यमानसपक्षस्तु असाधारणः। साध्यविपर्ययव्याप्तो विरुद्धः। सत्प्रतिपक्षः प्रकरणसमः। असिद्धः साध्यसमः। स चाविद्यमान पक्षः पक्षेऽविद्यमानः अविद्यमानव्याप्तिक इति त्रिधा। बाधितविषयः कालातीतः।

[सप्रकारछललक्षणम्]

अनभिप्रेतमर्थमभिमतं प्रकल्प्य अभिप्रेतविरोधेन तदुपपादनं छलम्। तत् त्रिविधम् परिसंख्यानात्। तत्र वाक्यान्तरकल्पना यत्र तत् वाक् छलम्। यत्र उक्तस्य हेतुत्वादिकल्पना तत् सामान्यच्छलम्। यत्र उपचरितस्य मुख्यार्थकल्पना तदुपचारच्छलम्।

[चतुर्विंशतिजातीनां लक्षणम्]

विवक्षितवाक्यार्थव्याहत्या दूषणाभासप्रसञ्जनं जातिः। कथायां तत्त्वाप्रतिपादकं निग्रहस्थानम्। वाद्युक्तेऽसम्प्रत्यवस्थानं जातिः। १)गृह्यमाणविशेषत्वेन प्रकरणसमत्वेन साधर्म्येण प्रत्यवस्थानं साधर्म्यसमः।२) गृह्यमाणविशेषत्वेन प्रकरणसमत्वेन वैधर्म्येण प्रत्यवस्थानं वैधर्म्यसमः।३) साध्यदृष्टान्तयोः धर्मवैचित्र्यादविद्यमानधर्मान्तरारोपेण प्रत्यवस्थानमुत्कर्षसमः।४) साध्यदृष्टान्तयोः धर्मवैचित्र्यात् प्रतीतधर्मापवादनेन प्रत्यवस्थानमपकर्षसमः। ५) साध्यदृष्टान्तयोः धर्मवैचित्र्याद् दृष्टान्तस्य ख्यापनीयत्वप्रत्यवस्थानं वर्ण्यसमः।६) साध्य दृष्टान्तयोर्धर्मवैचित्र्यमात्राद्धर्मिणः ख्यापनीयत्वेन प्रत्यवस्थानम्

अवर्ण्यसमः।७) साधनधर्मयुक्ते धर्मान्तरस्य दर्शनाद् धर्मिणि साध्यधर्म-विकल्पेन प्रत्यवस्थानं विकल्पसमः।८) साध्यदृष्टान्तयोः धर्ममात्रहेतु-तद् दृष्टान्ते यत्रावयवानुमानप्रसञ्जनं साध्यसमः।९) हेतोः साध्यप्राप्त्य-विशिष्टत्वेन प्रत्यवस्थानं प्राप्तिसमः।१०) प्राप्तं साध्यमप्राप्य वेति विकल्प्याप्राप्त्या साधकत्वेन प्रत्यवस्थानम् अप्राप्तिसमः।११) उभयसिद्धे प्रमाणमात्रप्रश्नापरिशिष्टतया प्रत्यवस्थानम् प्रसंगसमः।१२) एकहेतु योनित्वे प्रतिदृष्टान्तेन प्रतिदृष्टान्तेन वा प्रत्यवस्थानम् प्रतिदृष्टान्तसमः। १३) अनुत्पत्तेः साध्यकारणाभावात् साध्यविपरीतोपपत्तौ साधनाभावेन प्रत्यवस्थानमनुत्पत्तिसमः।१४) विशेषदर्शनात् निर्णये क्रियमाणे कुतश्चित् संशयहेतोर्धर्मिणि साध्यतद्विपरीतधर्मसंशयेन प्रत्यवस्थानं संशयसमः।१५) प्रत्यनुमानेन स्वपक्षनीत्या प्रत्यवस्थानं प्रकरणसमः।१६) प्रमाणप्रमेययोः परस्परापेक्षया मूर्तापरसहभावासिद्ध्या प्रत्यवस्थानमहेतु समः।१७) आभिमानिकार्थापत्तितो वाद्यभिप्रेतपक्षविपरीतोपवर्णनेन प्रत्यवस्थानमर्थापत्तिसमः। १८) एकधर्मोपपत्तेरविशेषे तेन साधर्म्याद-विशेषेण प्रत्यवस्थानमविशेषसमः।१९) प्रकरणोपपत्तिमात्रेण प्रत्यवस्था-नमुपपत्तिसमः।२०) साध्यसिद्धौ निर्दिष्टस्य प्रमाणस्य भावेऽपि साध्योपलब्ध्या प्रत्यवस्थानमुपलब्धिसमः।२१) उपलब्धेरनुपलम्भादभाव सिद्ध्या प्रत्यवस्थानमनुपलब्धिसमः, विकल्पपुरस्सरं विषयगत स्वरूपारोपणाभावसिद्ध्या प्रत्यवस्थानमनुपलब्धिसम इति वा।२२) सपक्षसाधर्म्याद्धर्मिणि सपक्षतुल्यधर्मोपपत्तेरभिमतसाध्यसमानधर्मवत्ता प्रसञ्जनेन प्रत्यवस्थानं नित्यसमः।२३) धर्मिणि साध्यधर्मस्य नित्यानित्य-विकल्पेन अनुपपत्त्या प्रत्यवस्थानमनित्यसमः।२४) कार्यनानात्वानुमानात् प्रत्यवस्थानं कार्यसमः।

[सप्रकारनिग्रहस्थानलक्षणम्]

कथायां विवक्षिततत्त्वाप्रतिपत्तिर्निग्रहः।१) प्रतिपक्षे धर्मानुज्ञा स्वपक्षे प्रतिज्ञाहानिः।२) प्रतिज्ञातार्थप्रतिषेधे धर्मविकल्पात्तदर्थनिर्देशः प्रतिज्ञान्तरम्।३) तदानीमनुच्चारितायामुच्चारणमात्रतः स्वार्थद्वारेण व्याघातो विरोधः।४) उक्तप्रतिषेधे उक्तार्थापनयनमुक्तसन्न्यासः।५) [४]अविशेषोक्तेः अवयवे प्रतिषिद्धे विशेषणान्तरमवयवान्तरम्।६)

प्रकृतादर्थादप्रतिसंबद्धार्थमर्थान्तरम्।७) असमानसंकेतवचनं निरर्थकम्।
८) समानसंकेतेनैकाभिहितं परिषत्प्रतिवादिभ्यामर्थाविज्ञातमविज्ञातार्थम्।
९) अविरुद्धानां पौर्वापर्ययोगात् एकवाक्यार्थप्रतिपादकत्वम् यत्र नास्ति तदपार्थकम्।१०) प्रामाणिकक्रमव्यतिक्रमेण वचनमप्राप्तकालम्।११) अवयवविहीनं न्यूनम्। केवल प्रतिज्ञाव्यतिरिक्तावयवहीनं न्यूनं वा।१२) अन्यत्रानुवादादज्ञातार्थस्य वाक्यस्य परिषदैकेनाभिहितस्य दूषक-प्रयोजकवतः प्रत्युच्चारणप्रागभावोऽननुभाषणम्।१३) दूष्यविषय-ज्ञानानुमतिरज्ञानम्।१४) असाधने सदुत्तरस्याप्रतिपत्तिरप्रतिभा।१५) अन्यतरनिग्रहास्फुरणे स्वयमेव कथाविच्छेदो विक्षेपः।१६) स्वपक्ष दोषाभ्युपगमात् परपक्षे दोषप्रसङ्गो मतानुज्ञा।१७) असाधने सदुत्तरा-प्रतिपत्तिः पर्यनुयोज्योपेक्षणम्।१८) अतन्निग्रहस्थाने तन्निग्रहस्थानाभि-योगो निरनुयोज्यानुयोगः।१९) प्रदेशान्तरस्थितसिद्धान्तविरुद्ध मपसिद्धान्तः२०) हेत्वाभासाश्चा यथोक्ताः[५]।

[ग्रन्थान्ते मङ्गलम्]

तस्माज्जातं जगत्कार्यं यन्निमित्तं च लीयते।
तस्मै सर्वज्ञरूपाय नमामि परमात्मने॥

□□

टिप्पणी

१. बुद्धेः लक्षणं मूले त्रुटितमतो नोपलभ्यते। व्याख्याता शशिनाथझा, धर्मदत्त (बच्चा) झामहाशयस्यान्यतमश्चक्षुष्मान् शिष्यस्तत् पूरयति।

२. अत्र परस्थाने परस्परपदसमावेश:समुचित: प्रतिभाति।

३. नावमधिगच्छतः इति मूलपाठोऽत्र नानुकूलतां भजति। तत्त्वमनधिगच्छत इति पाठो युक्तोऽत्र।

४. अविशेषोक्ते हेतौ प्रतिषिद्धे विशेषमिच्छतो हेत्वन्तरमित्येवात्र पाठो युक्तः प्रतिभाति इति गुरुचरणाः शशिनाथझामहाभागाः।

५. मूले अधिकपुनरुक्तनिग्रहस्थानयोर्लक्षणं नास्तीति ग्रन्थत्रुटिः संदृश्यते। हेतूदाहरणाधिकम् अधिकम् ५।२।१३। शब्दार्थयोः पुनर्वचनं पुनरुक्तमन्यत्रानुवादात् ५।२।१४। अर्थादापन्नस्य स्वशब्देन पुनर्वचनम् ५।२।१५। इति। पुनरुक्तस्य लक्षणं द्वाभ्यां सूत्राभ्यां कृतमिति ज्ञेयम् ।

❑❑

आवरणचित्र : ख्याति मेहता

संपादक : डा. किशोरनाथ झा
पिता : पण्डित श्रीकृष्णमाधव झा
जन्म : १०/०६/१९४०
स्थायि निवास : ग्राम बिट्ठो, पो. सरिसब - पाही, जिल्हा-मधुवनी ८४७४२४ (बिहार)
कार्यक्षेत्र : रीडर, गंगानाथ केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, इल्हाबाद २११००२।

उपलब्धि :

१)(क) पन्द्रह मौलिक कृतियाँ, (ख) ६३ अनुवाद ग्रन्थ तथा (ग) अट्ठाइस संपादित ग्रन्थ प्रकाशित हैं। तथा चार प्रकाशनाधीन हैं। उनमे से सात उत्तर प्रदेश संस्कृत संस्थान लखनऊ से पुरस्कृत हैं। इनमें शाक्ततन्त्र की चार खंडोमें प्रकाशित महाकालसंहिता, न्यायदर्शनका न्यायतत्त्वालोक, न्यायसिद्धान्तलक्षण-सुबोधनी, मीमांसा-साइन्स औफ सेन्टेस इन्टरप्रिटेशन, तन्त्रवार्तिक व्याख्या अजिता, तार्किकरक्षा तथा न्यायमंजरी विशेष उल्लेखयोग्य हैं।

२) २० से अधिक शोधछात्रों को आपके मार्गदर्शनमे विद्यावारिधि की उपाधि मिली।

३) डा. हरिसिंह गौड विश्वविद्यालय सागर मे आपको विज़िटिङ प्रोफेसर के रूप मे आमन्त्रित कर अनेक सारस्वत कार्य करवाये।

४) पूना विश्वविद्यालय मे न्यायदर्शन पर सप्तदिनव्यापी भाषणमाला दी जिसे सेन्टर औफ एडवान्स स्टडीज़ इन संस्कृत द्वारा प्रकाशित किया गया ।

५) आपने गान्धी नगरमे वल्लभ वेदान्त पर आयोजित संगोष्ठि मे बीज भाषण दिया । उत्तर प्रदेश संस्कृत संस्थान से सात पुस्तकें पुरस्कृत, शारदापीठाधीश्वर जगद्गुरुशंकराचार्य भारती तीर्थ द्वारा गणेशोत्सव शास्त्रार्थसभा (१९९३ ई.) में सम्मानित तथा २००२ ई. में राष्ट्रपतिद्वारा भी सम्मानित।

६) आपने विभिन्न भारतीयविश्वविद्यालयों में दो सौ से अधिक पीएच. डी. एवं डी. लिट् शोध प्रबन्धोंका परीक्षण किया है ।

७) सन् १९५९ से आपने विभिन्न ६४ दर्शनविद्याके सम्मेलनों में भाग लिया तथा निबन्ध पढे।

८) शताधिक शोधनिबन्ध भारतीय शोध पत्रिकाऔं में प्रकाशित हैं।

९)आपको हस्तलेख विज्ञान में पूर्ण परिचय, प्राचीन हस्तलेख पढने एंव सम्पादन